राजनीतिक विचारों का इतिहास

आधुनिक राजनीतिक विचार (बेन्थम से आज तक)

तीसरा भाग

(बेन्थम से मार्क्स तक)

लेखक

ज्योतिप्रसाद सूद एम० ए०

भूतपूर्व अध्यक्ष, राजनीति-विज्ञान विभाग,

मेरठ कॉलिज, मेरठ

अनुवादक

गंगा प्रसाद गर्ग एम० ए०

वैश्य कॉलिज, शामली

प्रकाशक

जयप्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी

पुस्तक प्रकाशक

मेरठ

By the same author :

Manu, Marx and Gandhi
Main Currents of Social and Political Thought in Modern India,
Vol. I (The Liberal and Nationalist Traditions)
Vol. II (The Gandhian Tradition)
Vol. III (The Socialist, Democratic and Communal Traditions)
History of Political Thought, Vol. I Ancient and Medieval
,, ,, ,, *Vol. II Machiavelli to Burke*
,, ,, ,, *Vol. III Bentham to Marx*
,, ,, ,, *Recent Times*
Elements of Political Science
Indian Constitutional Development, 1776 to 1949
Indian National Movement
The Constitution of the Indian Republic
Governments of U.S.A., U.S.S.R. and Switzerland
French Government and Politics
Selected Thinkers (Hindi)
Indian National Movement (Hindi)
[All the books (except the last two) are available in both English and Hindi]

प्रथम हिन्दी संस्करण १६५६
द्वितीय हिन्दी संस्करण १६६१
तृतीय हिन्दी संस्करण १६६३
चतुर्थ हिन्दी संस्करण १६६६
पंचम हिन्दी संस्करण १६७०

मूल्य १०)

प्रकाशक :
कान्ती नाथ गुप्ता
अध्यक्ष
जयप्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी
निकट तहसील, मेरठ

मुद्रक :
निष्काम प्रेस
मेरठ

पूर्व-कथन

अपने 'आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास (बेन्थम से आज तक)' के इस प्रथम भाग को अपने विद्यार्थी मित्रों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे हर्ष होता है। वर्नार्ड, बोज़ान्के, ग्राहम वैलास तथा मैक्डूगल के उल्लेख के अतिरिक्त यह उन्नीसवीं शताब्दी के विचार तक सीमित है और इसमें उपयोगितावाद, आदर्शवाद, वैज्ञानिक विचारधारा, कल्पनावादी समाज़वाद, पूर्व-मार्क्स समाजवाद तथा मार्क्स-वादी समाजवाद का काफी विस्तृत विवरण दिया गया है। बेन्थम तथा मिल, काण्ट तथा हीगल, ग्रीन तथा बोज़ान्के और कार्ल मार्क्स का, उनके महान् महत्त्व के कारण बड़ा विस्तृत विवरण दिया गया है। विकासवादी समाजवाद, सिंडीकलवाद, गिल्ड-समाजवाद, साम्यवाद, अराजकतावाद, गाँधीवाद, लोकतन्त्रवाद, फासीवाद, बहुलवाद तथा रसल और लास्की सरीखे आधुनिक विचारकों के राजनीतिक विचार द्वितीय भाग का विषय होंगे।

मेरे 'राजनीतिक विचारों का इतिहास (अफलातून से वर्क तक)' का जो स्वागत हुआ और प्रस्तुत भाग के विषय में एक बहुत बड़ी संख्या में विद्यार्थियों ने जो जिज्ञासा दिखलाई उससे मुझे परम सन्तोष और प्रोत्साहन मिलना स्वाभाविक ही था। इस विचार ने, कि इस पुस्तक की रचना करके मैं अपने प्रिय विद्यार्थियों की कुछ सेवा कर रहा हूँ, मुझे इस कठिन कार्य की पूर्ति में बड़ा सम्बल पहुँचाया है और इस प्रकार परोक्ष रूप से उन्होंने मेरी जो सहायता की है उसके लिए मैं उनका बड़ा कृतज्ञ हूँ। यदि विद्यार्थीगण उन प्रामाणिक कृतियों को पढ़ने के लिए उत्प्रेरित हों जिनकी सूची प्रत्येक अध्याय के अन्त में दी गई है और प्रस्तुत भाग की रचना में मैंने मुख्य रूप से जिनसे सहायता ली है तो मुझे सचमुच प्रसन्नता होगी। उन सब कृतियों के रचयिताओं का मैं बहुत ऋणी हूँ। एक प्रकार से इस पुस्तक के रचयिता वे ही हैं, मैं नहीं। यदि मेरा नाम भी इसमें कहीं आता है तो वह अन्त में आना चाहिए, आरम्भ में नहीं।

विजय मन्दिर
मेरठ।

ज्योति प्रसाद सूद

दो शब्द अनुवादक की ओर से

प्रस्तुत पुस्तक प्रोफेसर ज्योति प्रसाद सूद के "A History of Modern Political Thought (From Bentham to Present Day), Vol. I Bentham to Marx" नामक ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद है। इसमें मूल पुस्तक के विचारों तथा भावों को यथातथ्य अभिव्यक्त करने का मैंने यथासाध्य प्रयास किया है। भाषा-सौंदर्य, शब्द-विन्यास तथा वाग्विदग्धता के प्रलोभन में पड़ कर कहीं मूल विचार हताहत न हो जायें, इसका मैंने पूरा ध्यान रक्खा है। निरूपित विषय की गहनता के कारण भाषा को अधिक सरल तो न बनाया जा सका; किन्तु जिनके लिए यह पुस्तक लिखी गई है, वे कदाचित् इसे क्लिष्ट नहीं पायेंगे।

राजनीतिक चिन्तन विषयक मूल और प्रामाणिक रचनाओं का हिन्दी भाषा में अब से कुछ ही पहिले तक प्रायः अभाव-सा रहा है; इसलिए राजनीतिक विचारों की विशदता, सूक्ष्मता तथा गाम्भीर्य का भार वहन करने में हिन्दी के प्रचलित शब्द पूर्ण रूप से समर्थ नहीं हैं, उसके लिए नवीन शब्दों का घड़ना अपरिहार्य है। पारिभाषिक शब्दों के विषय में तो यह कठिनाई और भी अधिक बढ़ जाती है क्योंकि हमारे प्रतिपाद्य विषय के लिए सर्वमान्य तथा प्रामाणिक पारिभाषिक शब्दों का प्रचलन अभी नहीं हो पाया है। इसलिए हो सकता है कि अंग्रेजी के कुछ शब्दों का जो अनुवाद मैंने किया है वह मूल शब्दों के अर्थ को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त न करता हो। मैं अनुभव करता हूँ कि अंग्रेजी के 'Nature'; 'Natural Law'; 'General Will'; 'Categorical Imperative'; 'Thesis'; 'Antithesis'; 'Synthesis' इत्यादि शब्दों के लिए जिन हिन्दी शब्दों का प्रयोग इस पुस्तक में हुआ है वे उतने स्पष्ट तथा पूर्णरूप से मूल भाव को अभिव्यक्त नहीं करते किन्तु उनसे अधिक उपयुक्त शब्द उपलब्ध भी न हो सके। अतः अनुवाद के साथ ही साथ मूल शब्दों को भी दे दिया गया है, इससे अनर्थ अथवा अर्थ-विभ्रम होने की आशंका दूर हो गई है।

प्रस्तुत रचना में भाषा सम्बन्धी जो भी त्रुटियाँ रह गई हों उनसे यदि विज्ञ तथा सहृदय पाठक मुझको अवगत कराने का कष्ट करेंगे तो मैं हृदय से उनका कृतज्ञ हूँगा।

—गंगा प्रसाद गर्ग

विषय-सूची

(१)

(२)

(३)

(४)

आदर्शवादी विचारधारा (पिछला शेष) १३५–२१३

अंग्रेज आदर्शवादी : ग्रीन तथा बोज़ान्के

(५)

वैज्ञानिक विचारधारा २१४–२३३

स्पेन्सर का जैविक दृष्टिकोण

(६)

वैज्ञानिक विचारधारा (पिछला शेष) २३४–२५६

मनोवैज्ञानिक विचारधारा

(७)

कल्पनावादी तथा मार्क्स का पूर्ववर्ती समाजवाद २५७–२७९

(Utopian and Pre-Marxian Socialism)

(८)

मार्क्सवादी समाजवाद २८०–३४८

१९वीं शताब्दी के राजनीतिक विचार की पृष्ठभूमि

१

परिचयात्मक— अपने पहले ग्रंथ में हमने प्राचीन यूनान के आरम्भ से लेकर वर्क तक राजनीतिक विचार की समीक्षा की थी। हमने देखा कि यूनान के नगर-राज्यों के स्वरूप तथा यूनानी मस्तिष्क के प्रधानतः बुद्धिप्रधान चरित्र ने किस प्रकार अफलातून तथा अरस्तू के राजनीतिक कल्प-विकल्प को निर्धारित किया। स्टोइक्स के विचार पर नगर-राज्य की स्वतन्त्रता छिन जाने तथा रोमन साम्राज्य की स्थापना का प्रभाव पड़ा। ईसाई धर्म के आविर्भाव ने यूनानी रोमन सभ्यता में एक नवीन तत्त्व का प्रवेश किया; और जब वह रोमन साम्राज्य का राजकीय धर्म बन गया तो राजनीतिक विचार का केन्द्र यह समस्या बन गई कि पोपशाही तथा साम्राज्य में क्या सम्बन्ध होना चाहिये। हमने यह भी देखा कि पश्चिमी यूरोप में राष्ट्र-राज्यों के आविर्भाव तथा १६वीं शताब्दी में सांस्कृतिक पुनर्जागरण और सुधार आन्दोलन ने किस प्रकार मध्यकालीन यूरोप को आधुनिक यूरोप में परिवर्तित किया और आधुनिक राजनीतिक विचार की आधार-शिला रक्खी। आधुनिक राजनीतिक विचार का केन्द्र-बिन्दु है राष्ट्र-राज्य जोकि धर्म-निरपेक्ष तथा संप्रभुतापूर्ण होने का दावा करता है। १७वीं शताब्दी में राजनीतिक दार्शनिकों ने मुख्य अनुराग या तो निरंकुशवाद के समर्थन में या नागरिकों की स्वतन्त्रता को अभिरक्षित रखने के लिये उसके ऊपर आक्रमण करने में दिखलाया है। यदि एक ओर बोदाँ और हॉब्स ने निरंकुशवाद का पक्ष ग्रहण किया तो दूसरी ओर लॉक ने सांविधानिक शासन का समर्थन किया और रूसो ने सर्वाङ्गीण सम्पन्न लोकप्रिय संप्रभुता का पक्ष पोषण किया। मॉण्टेस्क्यू ने भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के पक्ष में अपना योग दिया। तब **'स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व'** का निनाद करती हुई फ्रांस की महान् क्रांति आई। ये क्रांतिकारी घोष-शब्द यूरोप में एक छोर से दूसरे छोर तक गूंज उठे और उन्होंने जन साधारण को न केवल अपने वैध शासकों बल्कि आगे चलकर नेपोलियन के निरंकुश शासन का भी सामना करने के लिये उद्वेलित किया। जैसे-जैसे क्रांति बढ़ती गई; क्रांतिकारियों की उग्रता भी बढ़ी जिसे देखकर इंगलैण्ड में बर्क और अमरीका में हेमिल्टन तथा मेडीसन सरीखे नम्रवादियों को धक्का लगा जिन्होंने राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए बहुत कुछ किया था; क्रान्ति के विरुद्ध एक रूढ़िवादी प्रतिक्रिया का जन्म हुआ। टॉमस पेन ने बर्क के विरुद्ध लोकप्रिय संप्रभुता का एक जोरदार समर्थन पेश किया; फ्रांसीसी क्रांति तथा

लोकतन्त्र के सिद्धान्त के गुणों के मध्य एक लम्बा विवाद उठ खड़ा हुआ जिसमें अटलांटिक महासागर के दोनों ओर के देशों के विचारकों ने भाग लिया। यहाँ उस विवाद की चर्चा करना अप्रासंगिक होगा; यहाँ पर हमारा उद्देश्य तो केवल यह दिखलाना है कि क्रांति के परिणाम केवल फ्रांस तक ही सीमित नहीं रहे; उन्हें सम्पूर्ण यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका में महसूस किया गया। उसने ऐसी शक्तियों को जन्म दिया जिनका १९वीं शताब्दी के राजनीतिक विचारों तथा घटनाओं पर गहरा प्रभाव पड़ा। इससे नेपोलियन बोनापार्ट का प्रादुर्भाव हुआ जिसने फ्रांस में लोकतन्त्र को कुचल दिया और यूरोप के एक बड़े भाग को अपने निरंकुश शासन के पंजों में जकड़ लिया। जिन प्रदेशों को उसने जीता उनमें देशभक्ति तथा राष्ट्रीय भावना की धारा उमड़ पड़ी जिसके फलस्वरूप वह राष्ट्रवाद जोकि गत कुछ शताब्दियों से पनप रहा था १९वीं शताब्दी में मानव मस्तिष्क को उद्वेलित करने वाला एक प्रधान तत्त्व वन गया। यहाँ पर इंगलैंड, जर्मनी तथा आस्ट्रिया-हंगरी की संधि और वाटरलू के युद्ध के बाद यूरोप के चित्र के पुनर्निर्माण का उल्लेख करना तो आवश्यक न होगा; केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि उस शताब्दी में संविधान निर्माण का कार्य एक इतने बड़े पैमाने पर हुआ जिसका जोड़ मानव जाति के इतिहास में उससे पहिले नहीं मिलता।

फ्रांस की क्रांति के अतिरिक्त एक दूसरी क्रान्ति भी हुई जो आरम्भ तो १८वीं शताब्दी में हुई किन्तु जिसके प्रभाव पूर्णरूप से १९वीं शताब्दी में जाकर प्रगट हुए। इसमें तथा इससे उत्पन्न होने वाली यान्त्रिक (Technological) क्रान्ति ने जीवन की भौतिक स्थितियों में एक आमूलचूल परिवर्तन कर डाला जैसा कि मानव इतिहास में उससे पूर्व कभी नहीं हुआ था। दो हजार वर्षों से भी अधिक समय में मानव जाति ने जिस विचार और व्यवहार को अपना रक्खा था उसमें इन दो पीढ़ियों में ही काया-पलट हो गयी; और उसके सामने वे समस्त परिवर्तन मात हो गये जो कि नगर के प्रादुर्भाव के वाद हुए थे। १९वीं तथा बीसवीं शताब्दी के राजनीतिक विचारों को भली प्रकार समझने के लिये उस परिवर्तन के विषय में दो शब्द कह देना आवश्यक प्रतीत होता है जोकि औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप हुआ।

औद्योगिक क्रांति— औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उस क्षण से होता है जबकि भाप से चलने वाले इंजिन का आविष्कार हुआ और मशीनों को चलाने के लिये उसका प्रयोग किया जाने लगा। १९वीं शताब्दी में लगातार बहुत से विलक्षण आविष्कारों के फलस्वरूप उसने एक महाकाय रूप धारण कर लिया। उसके परिणामस्वरूप शिल्पकारी तथा कृषि-प्रधान अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई और उसके स्थान में यांत्रिक उत्पादन-पद्धति तथा एक नवीन सभ्यता का जन्म हुआ जोकि नगरों में केन्द्रित थी। इसके फलस्वरूप सम्पत्ति ने नवीन रूप धारण किये और एक नवीन मध्य वर्ग का जन्म हुआ जिसे अपनी शक्ति का ज्ञान था और जिसे वह राजनीतिक उद्देश्यों के लिये प्रयोग करना चाहता था।

औद्योगिक क्रान्ति ने, जोकि स्वयं यन्त्र-कला का फल थी, यन्त्र-कला के अद्भुत विकास के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया; यहाँ तक कि वर्तमान युग को यन्त्र-कलात्मक युग ही कहा जाता है। वायुयान, वायरलेस, टेलीविजन, परमाणु तथा उद्जन बम— ये सभी कुछ उस यन्त्र-कला के असीम विकास की सृष्टि हैं जोकि वर्तमान शताब्दी में हुआ है।

औद्योगिक क्रांति का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि जन-संख्या में महान् वृद्धि हुई और बहुत बड़ी संख्या में मनुष्य ग्रामों को छोड़कर नगरों की ओर जाने लगे। जन-संख्या की इस द्रुत गति से वृद्धि का यह अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि १८०० ई० में यूरोप की जन-संख्या १८७,६९३,००० थी, १९०० ई० में वह ६००,५७७,००० हो गई; और अमेरिका की जन-संख्या उतने ही समय में ६,०००,००० से बढ़कर ७६,९३८,००० हो गई। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात नगरों की जन-संख्या में वृद्धि थी। उपरोक्त काल में नगर निवासियों का अनुपात इङ्गलैड में ३० प्रतिशत से बढ़कर ७० प्रतिशत और अमेरिका में ४ प्रतिशत से बढ़कर ४० प्रतिशत हो गया। नगरों की जन-संख्या में इस महान् वृद्धि से आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में नवीन समस्याओं का जन्म हुआ; स्वास्थ्य, शिक्षा तथा पारिवारिक जीवन की नवीन समस्यायें उत्पन्न हुईं। नगर जीवन की सुविधाओं तथा आर्थिक उन्नति के अवसरों से आकृष्ट होकर बहुत से युवक तथा युवतियाँ ग्राम छोड़कर नगर में आ बसे। यातायात तथा आवागमन के साधनों में सुधार हो जाने ने ग्राम से नगर की ओर होने वाले इस कूच को बहुत सरल बना दिया। बड़े-बड़े नगरों में जन-संख्या का यह केन्द्रीकरण हमारे दृष्टिकोण से बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इससे लोगों के विचार तथा जीवन की प्रवृत्तियों में एक अद्भुत परिवर्तन आ गया। प्राचीन जन-रीतियों तथा जन-रूढ़ियों का पूर्ण रूप से विनाश हो गया और असंख्य नर-नारियों की मन:स्थिति बिल्कुल आश्रयहीन हो गई।

- औद्योगिक प्रगति तथा यन्त्र-कला की कुशलता के कारण यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका के देशों को पराभूत कर सका। १९वीं शताब्दी में यूरोप का महानतम प्रसरण हुआ और उसके द्वारा होने वाला अन्य देशों का शोषण अपनी चरम सीमा को जा पहुँचा। इङ्गलैण्ड ने भारत पर अपने पंजे को दृढ़ कर लिया, बर्मा तथा मलाया को हड़प लिया और उसका प्रभाव पूर्व में चीन तक और पश्चिम में ईरान तक छा गया। इसी प्रकार अफ्रीका को इङ्गलैण्ड, फ्रांस, बेल्जियम तथा जर्मनी ने आपस में विभक्त कर लिया। आगे चलकर इटली भी इस साम्राज्यवादी दौड़ में शामिल हो गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि १९वीं शताब्दी साम्राज्यवादी प्रसरण की शताब्दी थी; इसमें हमने कई साम्राज्यों को उठते देखा जिनमें सबसे बड़ा था ब्रिटिश साम्राज्य। गत शताब्दी में ग्रेट ब्रिटेन विश्व का प्रमुख औद्योगिक देश था। साम्राज्यवाद के उत्थान का राष्ट्रवाद की भावना के उत्थान से घनिष्ठ सम्बन्ध था जिसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। यह कहना गलत न होगा कि गत तथा वर्तमान शताब्दियों की दो

महान् शक्तियाँ, अर्थात् आर्थिक राष्ट्रवाद तथा साम्राज्यवाद, औद्योगिक क्रांति की सृष्टि थीं। इस सम्बन्ध में यह देखना दिलचस्पी से खाली न होगा कि अपने महान् औद्योगिक विस्तार तथा यन्त्र-कला के कौशल के बल पर अमेरिका ग्रेट ब्रिटेन तथा संसार के अन्य सभी देशों से बहुत आगे बढ़ गया और बीसवीं शताब्दी की विश्व की महानतम शक्ति बन गया और रूस भी उसका घनिष्ठ प्रतिद्वन्द्वी है।

औद्योगिक क्रांति का एक अन्य परिणाम भी उल्लेखनीय है जिसका राजनीतिक विचार के ऊपर राष्ट्रवाद की भावना के विकास की अपेक्षा कहीं अधिक गहरा प्रभाव पड़ा है। उद्योग-धन्धों के यन्त्रीकरण ने उद्योग के क्षेत्र में मालिक तथा मजदूर के बीच पुराने सम्बन्ध को एकदम बदल दिया और एक नवीन श्रमिक वर्ग (Proletariat) को जन्म दिया। १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सरकारों ने १८वीं शताब्दी के लैसे फेयर (Laissez faire) (आर्थिक विषयों में हस्तक्षेप न करने की नीति) के सिद्धान्त को अपनाये रखा और आर्थिक क्षेत्र में 'स्वच्छन्द प्रतिस्पर्धा' के सिद्धान्त की दुन्दुभी बजती रही जिसके फलस्वरूप पूंजीपति मालिकों ने मजदूरों का नितान्त निर्दयतापूर्वक तथा अमानवीय ढंग से शोषण किया। शोषित मजदूर वर्ग के संकटों को देखकर कुछ भावुक तथा पवित्र आत्मायें द्रवित हो उठीं, उन्होंने उस प्रणाली के विरुद्ध आवाज़ उठाई और उसमें बहुत से सुधारों की प्रस्तावना की। इस प्रकार कल्पनावादी (Utopian) समाजवाद का जन्म हुआ। फिर मार्क्स आया जिसने समाजवादी विचार को एक नवीन दिशा दी और उसे वैज्ञानिक आधार पर रखा। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के राजनीतिक विचार की एक मुख्य विशेषता है सामाजिक पुनर्निर्माण के समाजवादी तथा साम्यवादी सिद्धान्तों का व्यापक प्रचार। मार्क्स की शिक्षाओं से प्रभावित होकर नवीन मजदूर वर्ग में राजनीतिक चेतना आई और वह संगठित हो गया। यातायात तथा वाहन के अविरल प्रसरण ने राष्ट्रीय बाजारों को विश्व बाजार तथा राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्थाओं को विश्व अर्थ-व्यवस्था का रूप दे दिया और मजदूरों को विश्व-व्यापक आधार पर संगठित होने का सामर्थ्य प्रदान किया। विश्व-साम्यवाद की संभावना से आंग्ल-अमेरिकी गुट भयभीत होकर साम्यवाद के बढ़ते हुये प्रवाह को रोकने के लिये नाना प्रकार के साधनों का प्रयोग कर रहा है। इसके परिणाम-स्वरूप संसार आज दो विरोधी गुटों में विभक्त है और तृतीय विश्व-युद्ध के बादल हमारे सिरों पर गरज रहे हैं। मार्क्सवादी समाजवाद, जोकि औद्योगिक क्रांति का प्रत्यक्ष परिणाम है, १९वीं शताब्दी के राजनीतिक विचारों में सबसे अधिक विध्वंसकारी है।

बौद्धिक वातावरण में क्रान्तिकारी परिवर्तन— १९वीं शताब्दी में केवल आर्थिक क्षेत्र में ही अद्भुत क्रांति नहीं हुई, उस समय बौद्धिक जगत में भी उतनी महान् क्रांति आई। १८५९ ई० में डार्विन के जगतविख्यात ग्रंथ 'Origin of Species' के प्रकाशन ने एक हलचल उत्पन्न कर दी; उसके बाद लोगों ने विकास की भाषा में

सोचना आरम्भ कर दिया। विकास के सिद्धान्त को एक ऐसी कुञ्जी समझा गया जिससे ज्ञान के गुप्त खजाने के कपाट खोले जा सकते थे ; जीवशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, भू-गर्भ शास्त्र, समाज-रचना शास्त्र, मनोविज्ञान शास्त्र तथा आचार शास्त्र— सभी पर इसका प्रभाव पड़ा ; विकास की भाषा में सोचना उस युग का एक फैशन हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि धर्म तथा मानवीय व्यापार विषयक मनुष्य की परम्परागत धारणायें जिन सरल मान्यताओं पर आधारित थीं उनकी सत्यता में सन्देह होने लगा और उनका परीक्षण किया जाने लगा। वैज्ञानिक ज्ञान की प्रगति से मानव की धार्मिक आस्था का आधार हिल उठा। शिक्षा के प्रसार के फलस्वरूप सर्वसाधारण के मन पर से परम्परा तथा धर्म का अधिकार जाता रहा, उन्होंने नवीन देववाणियों को सुनना सीखा। इस सब का परिणाम यह हुआ कि १६वीं शताब्दी के अंत में सर्वसाधारण का अक्षर ज्ञान एवं सामान्य ज्ञान यद्यपि अपने पूर्वजों की अपेक्षा कहीं अधिक हो गया, किन्तु उनका निर्णय उतना निश्चित तथा उनका आत्म-विश्वास उतना अडिग नहीं रहा।

राजनीतिक विचार के ऊपर प्रभाव— फ्रांसीसी क्रांति, औद्योगिक क्रांति तथा यन्त्र-कला की प्रगति से जो परिवर्तन आये, वे १६वीं शताब्दी के राजनीतिक विचार में पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित हुये। जिस प्रकार की १६वीं शताब्दी से १८वीं शताब्दी तक के मानव-चिंतन पर संविदा सिद्धान्त तथा दैविक जन्म सिद्धान्त आच्छादित रहे, अथवा मध्य काल में मानव बुद्धि विश्व-व्यापक समाज की धारणा से पराभूत रही, उसी प्रकार के किसी एक ही विचार का प्राधान्य १६वीं शताब्दी में असम्भव था। इस काल का राजनीतिक विचार बहुत से असम्बद्ध विचारों का एक जमघट सा बन गया। एक ओर तो हम उपयोगितावादी सिद्धान्त का प्रतिपादन होते हुए देखते हैं जो कि समाज को व्यक्ति के सुख रूपी साध्य का एक साधन मात्र समझता है, दूसरी ओर हम आदर्शवादियों को पाते हैं जिनके विचार का केन्द्र-बिन्दु सामाजिक सम्पूर्ण है और जिसके साथ वे व्यक्ति का सामंजस्य करना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त, यदि हमें एक ओर कुछ ऐसे विचारक मिलते हैं जोकि राज्य तथा उसकी समस्याओं का अध्ययन करने के लिये जीव-शास्त्रीय दृष्टिकोण को अपनाते हैं, तो दूसरी ओर हमें कतिपय ऐसे दार्शनिक मिलते हैं जोकि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को अधिक उपयुक्त समझते हैं। इस प्रसंग में हमें मेन (Maine) तथा सेविग्नी (Savigny) सरीखे विचारकों को भी नहीं भूलना चाहिये जिनकी अध्ययन-पद्धति ऐतिहासिक थी। उस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कार्ल मार्क्स तथा एंगिल्स के सिद्धान्तों ने भी राजनीतिक कल्प-विकल्प पर बड़ा प्रभाव डाला, और वह आज भी कायम है। पूंजीवाद, स्वतंत्र व्यापार तथा प्रतिस्पर्धा और लैसे फेयर के सिद्धान्तों पर, जिनके ऊपर गत युग का सामाजिक ढांचा आधारित था, मार्क्स तथा एंगिल्स ने कड़ा प्रहार किया, और उनसे प्रेरणा प्राप्त करने वाले विचारकों ने सामाजिक पुनर्रचना के विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इस प्रकार हम १६वीं शताब्दी के राजनीतिक विचार में एक

बड़ी और चक्कर में डालने वाली विविधता पाते हैं। यह बात भी उल्लेखनीय है कि इस युग में यद्यपि लोकतन्त्र तथा निरंकुशवाद की परस्पर-विरोधी विचार-धाराओं पर तीव्र वाद-विवाद हुआ, किन्तु विचार की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से लोकतन्त्र की ओर ही दिखाई पड़ती है। २०वीं शताब्दी में साम्यवाद तथा फासिज्म ने लोकतन्त्र के सामने एक संकट उत्पन्न कर दिया है। लोकतन्त्र तथा बहुवाद (Pluralism) के इन प्रतिद्वन्द्वियों का हमें अध्ययन करना है। राज्य की संप्रभुता के परम्परागत सिद्धान्त पर बहुवाद ने जो आक्रमण किया उसके फलस्वरूप विधि के स्वरूप तथा उसके राज्य के साथ सम्बन्ध के विषय में नवीन सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हुआ। इससे पहले किसी भी एक शताब्दी में राजनीतिक विचारों में इतनी विविधता नहीं रही; यह विविधता १९वीं तथा बीसवीं शताब्दी के विचार की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

इस विविधता तथा जटिलता का एक स्वाभाविक परिणाम यह है कि इस पुस्तक में हमारी अध्ययन-पद्धति हमारी पहली पुस्तक की अध्ययन-पद्धति से कुछ भिन्न होगी। हमें बहुत सी विचार-प्रणालियों अथवा 'वादों' (Isms) और बहुत से विचारकों पर ध्यान देना होगा। हम न केवल बेन्थम और मिल का अध्ययन करेंगे बल्कि 'उपयोगितावाद' (Utilitarianism) का भी अध्ययन करेंगे। काण्ट, हीगल, ग्रीन तथा बोजान्के (Bosanquet) के विचारों के अध्ययन के अतिरिक्त हम 'आदर्शवाद' और अन्य इसी प्रकार से अन्य विचार-प्रणालियों की धारणाओं का भी परीक्षण करेंगे। ऐतिहासिक क्रम में उलट-पलट हो जाना अपरिहार्य है; काण्ट तथा हीगल से पहिले हम मिल का अध्ययन करेंगे।

अन्त में, १९वीं शताब्दी के राजनीतिक विचार की एक अन्य विशेषता भी उल्लेखनीय है। इसका विकास अधिकतर ऐसे व्यक्तियों के हाथ हुआ जिनका क्रिया-क्षेत्र पुस्तकालयों तथा अध्ययन मण्डलों तक ही सीमित रहा और राज्य के विषयों से जिनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहा। उनके विचार की भावना बौद्धिक है; न तो व्यावहारिक बातों का उस पर कोई विशेष प्रभाव पड़ा, और न ही राजनीतिज्ञों के ऊपर उसका कोई विशेष प्रभाव पड़ा।

सहायक पुस्तकों की भूमि

Bowle : *Politics and Opinion in the 19th Century*, Individualism.
Brinton : *English Political Thought in the 19th Century*, Chap. I.
Maxey : *Political Philosophies*, Chap. XXI.

उपयोगितावाद (UTILITARIANISM) २

बेन्थम, मिल तथा ऑस्टिन

परिचयात्मक— १६वीं शताब्दी के प्रारम्भिक तथा मध्य भाग में इंगलैंड में राजनीतिक विचार का विकास औद्योगिक क्रान्ति तथा फ्रांस की क्रान्ति की पृष्ठभूमि में हुआ। स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व के फ्रांसीसी क्रान्ति के आदर्शों ने इंगलैंड के निवासियों पर एक गहरी छाप छोड़ी थी। बर्क द्वारा की गई क्रान्ति की निन्दा के उत्तर में लिखे गये टॉमस पेन (Thomas Paine) के लेखों ने बहुत से अंग्रेजों को मनुष्य के इन अधिकारों से परिचित बना दिया। इसलिये ज्योंही फ्रांस के साथ युद्ध समाप्त हुआ त्योंही सांविधानिक सुधारों के लिये तीव्र इच्छा, जोकि युद्ध के कारण दबी हुई थी, फिर से जाग्रत हो उठी, और ब्रिटिश संविधान के ऊपर जनता का आक्रमण उत्तरोत्तर तीव्रतर होता चला गया। लोकतन्त्रीय भावना बढ़ने लगी। शैली (Shelley), बायरन (Byron) तथा बर्न्स (Burns) सरीखे नवीन रोमांचकारी आन्दोलन के कवियों ने जनता को अपने अधिकारों का उपभोग करने तथा राज्य के विषयों में भाग लेने के लिये उत्प्रेरित किया। इसके अतिरिक्त नवीन मध्य वर्ग को, जिसको कि औद्योगिक क्रान्ति ने जन्म दिया था, अपना राजनीतिक विषयों से बहिष्कार बहुत अखरा और इसलिये इसने अल्पमत शासक वर्ग के एकाधिकार के विरुद्ध आन्दोलन को सम्बल पहुँचाया। अपने देश के शासन में अपने उचित भाग का उन्होंने दावा किया।

इसके अतिरिक्त कल-कारखानों में जीवन की जो स्थिति थी उससे मजदूरों में संगठन तथा साहचर्य की भावना इतनी प्रबल हो गई जितनी कि उससे पहिले कभी न थी; वे अब सरलता से संगठित हो सकते थे और कार्य की स्थिति में सुधार तथा ऊँची मजदूरी की अपनी माँगों को जोरदार शब्दों में पेश कर सकते थे। उनके ऐसा करने के प्रयास को कठोरतापूर्वक कुचला गया। संगठन अधिनियमों (Combination Acts) के चालू हो जाने के कारण प्रगतिशील मजदूरों की क्रियाओं ने राजनीतिक क्रान्तिकारी रूप धारण कर लिया, और भाषण तथा समुदाय बनाने की स्वतन्त्रता और विधि के समक्ष समता के अधिकारों की माँग और अधिक जोर के साथ की जाने लगी। इस प्रकार न केवल नवीन व्यापारी वर्ग (Bourgeois) के बल्कि सर्वसाधारण के हित की शिकायत का एक न्यायोचित कारण बन गया।

१९वीं शताब्दी के आरम्भ में जिस धर्म-प्रचार आन्दोलन का विकास हुआ उसने जनता के अन्तःकरण को मजदूरों के दुख तथा दारिद्रय के प्रति अधिक संवेदनाशील बना दिया। धर्म-प्रचारकों ने उन लोगों को मानव-आत्मा के गौरव का संदेश दिया जिन्हें कल-कारखानों में ऐसी शोचनीय स्थिति में काम करना पड़ता था जिसकी कि उन्हें पहले से कोई आदत न थी। उनके उपदेशों ने दलित वर्ग के प्रति सहानुभूति और संवेदना का संचार किया और उसके जीवन-भाग्य में सुधार करने के लिये एक आन्दोलन को जन्म दिया।

जिस समय धर्म-प्रचारक तथा कविगण मानव व्यक्ति के मूल्य तथा गौरव पर बल दे रहे थे तथा मनुष्य के सामने आदर्शों की प्रतिस्थापना कर रहे थे, ठीक उसी समय औद्योगिक क्रान्ति मानव-जीवन को पतित कर रही थी और मनुष्य को हृदय-विदारक स्थिति में कार्य करने को विवश कर रही थी। उस समय आदर्श तथा यथार्थ में सचमुच बड़ा भारी विरोध था। एक नवीन समस्या अर्थात् सर्वसाधारण के कष्टों की समस्या उत्पन्न हो गई। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि बेन्थम सरीखे क्रान्तिकारी सुधारकों ने मनुष्य के सुखोपभोग के अधिकार पर बल दिया और सरकार के सामने जीवन तथा कार्य की स्थितियों में सुधार करने और उन्हें विनियमित करने की तुरन्त आवश्यकता को जोरदार ढंग से रखा। इस प्रकार उपयोगितावाद (Utilitarianism) नामक विचार-पद्धति का जन्म हुआ। इसका शिलान्यास बेन्थम ने किया, और जेम्स मिल, जॉन स्टुअर्ट मिल तथा जॉन ऑस्टिन इसके मुख्य संदेश-वाहक थे। उनके सिद्धान्तों की समीक्षा करने से पहले उपयोगितावाद के स्वरूप तथा अर्थ के विषय में दो शब्द कह देना आवश्यक प्रतीत होता है।

उपयोगितावाद (Utilitarianism)— १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उपयोगितावाद का प्रादुर्भाव होना तथा उसका शीघ्र ही विचार-जगत पर आच्छादित हो जाना ब्रिटिश कल्प-विकल्प के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। यद्यपि इसके किसी भी महान् विचारक, अर्थात् बेन्थम, जेम्स मिल, जॉन स्टुअर्ट मिल तथा जॉन ऑस्टिन, की तुलना बेकन, हॉब्स, लॉक, बर्कले तथा ह्यम सरीखे प्रथम श्रेणी के विचारकों से नहीं की जा सकती, परन्तु उपरोक्त विचारकों में से किसी ने भी कोई एक निश्चित विचार अनुयायी समूह को इस प्रकार प्रदान नहीं किया जिस प्रकार कि बेन्थम ने। हॉब्स ने अवश्य एक क्रमबद्ध विचार-प्रणाली की रचना की, परन्तु उसका कोई अनुयायी न था। लॉक ने एक नवीन मार्ग प्रशस्त किया किन्तु उसके विचारों को आगे चलकर विभिन्न दिशाओं में विकसित किया गया। ह्यूम के विचारों का भी विशेष अनुसरण नहीं किया गया। सारांश यह है कि इनमें से किसी ने भी किसी निश्चित विचार-प्रणाली का शिलान्यास नहीं किया। यह कार्य बेन्थम ही का था कि उसने आचारशास्त्र तथा नीतिशास्त्र के विषय में कुछ ऐसे निश्चित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिनको उसके शिष्यों तथा अनुयाइयों ने विकसित किया जो उपयोगितावादियों के नाम से विख्यात हुए। ऐसी घटना, अर्थात् एक निश्चित विचार-प्रणाली की स्थापना के समानान्तर की

खोज करने के लिये हमें सुदूरभूत में सुकरातवादी, अफलातूनवादी, अरस्तुवादी तथा स्टोइक विचार-प्रणालियों की ओर जाना पड़ेगा या तदुपरान्त हीगलवादी, मार्क्सवादी तथा अन्य विचार-प्रणालियों की ओर झांकना होगा।

हमने बेन्थम को उपयोगितावादी प्रणाली का प्रवर्तक कहकर पुकारा है, किन्तु बेन्थम ने इस शब्द का प्रयोग नहीं किया; इसे तो उसके महान् अनुयायी जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनाया था और उसी ने इसका प्रचलन किया; उसकी एक पुस्तक का तो शीर्षक यही है। वास्तव में उपयोगितावाद एक नैतिक सिद्धान्त है; यह मानव आचरण के स्वरूप तथा उसके उद्देश्यों और नैतिक निर्णय के मापदण्ड का सिद्धान्त है। यह राज्य अथवा राजनीतिक आज्ञा-पालन का सिद्धान्त नहीं है। बेन्थम और मिल ने तो केवल इसके नैतिक सिद्धान्तों को राजनीतिक क्षेत्र में आरोपित किया है। जैसा कि हम आगे चलकर दिखलायेंगे उन्होंने सामाजिक तथा विधि-निर्माण के क्षेत्र में बहुत से कल्याणकारी तथा महत्त्वपूर्ण सुधारों को आयोजित किया और इस प्रकार व्यावहारिक राजनीति को उनकी देन महत्त्वपूर्ण है।

आचारशास्त्र के एक सिद्धान्त के रूप में उपयोगितावाद उन राजनीतिक परिणामों से कहीं पुराना है जोकि बेन्थम और मिल ने १९वीं शताब्दी में इसमें से निकाले, इसका सम्बन्ध प्राचीन यूनान की ऐपीक्यूरियन प्रणाली (Epicurian School) से स्थापित किया जा सकता है। एक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में भी यह बेन्थम से पुराना है, क्योंकि उपयोगितावादी सिद्धान्त का प्रवर्तक सामान्यतया ह्यूम को समझा जाता है, यद्यपि इस शब्द का निर्माण उसने नहीं किया था। जैसा कि सर लेस्ली स्टीफेन ने अपने ग्रन्थ 'History of English Thought in the Eighteenth Century' में कहा है, उपयोगितावाद के सिद्धान्तों को 'ह्यूम ने ऐसे स्पष्ट और संगतिबद्ध रूप में व्यक्त किया है जैसा कि १९वीं शताब्दी के किसी भी अन्य लेखक ने नहीं किया। ह्यूम से जॉन स्टुअर्ट मिल तक इस सिद्धान्त में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं हुआ।' इंगलैंड में प्रीस्टले (Priestley), हचसन (Hutcheson), तथा पैले (Paley) और फ्रांस में हेल्वेटियस (Helvetius) भी इस सिद्धान्त को मानते थे। बेन्थम ने जो कार्य किया वह यह कि उसने उपयोगितावादी सिद्धान्त से भिन्न उपयोगितावादी प्रणाली की आधारशिला रक्खी। अपने इस कार्य में उसे जेम्स मिल से बड़ी सहायता मिली जिसने कि बेन्थम को एक रेडीकलिस्ट बना लिया और उसका सम्बन्ध कुछ मेधावी व्यक्तियों से कराया जोकि उपयोगितावादियों के नाम से विख्यात हुये क्योंकि बेन्थम द्वारा प्रतिपादित सामान्य सिद्धान्तों में उनका दृढ़ विश्वास था। बेन्थम के जॉन स्टुअर्ट मिल सरीखे अनुयायियों ने उपयोगितावाद के नैतिक पहलू को विकसित किया और माल्थस तथा रिकार्डो सरीखे अन्य अनुयायियों ने इस सिद्धान्तों को आर्थिक क्षेत्र में आरोपित किया। महान् न्यायविद् ऑस्टिन ने संप्रभुता के कानूनी सिद्धान्त को विकसित किया; और

ग्रोट (Grote), मोल्सवर्थ (Molesworth) और जॉन स्टुअर्ट मिल ब्रिटिश संसद् में इस विचार-प्रणाली के अभिवक्ता थे।

उपयोगितावादी सदैव अल्पमत में रहते थे और वे कभी भी जनप्रिय नहीं रहे। "वे नितान्त भावहीन बुद्धिवादी, अत्यन्त कठोर और विद्वत्तावादी थे, और मानव के स्वभाव की उनकी जो धारणा थी वह मनुष्य को कुछ खुश करने वाली न थी। परन्तु बहुत दिन तक उनका कोई गम्भीर प्रतिद्वन्द्वी उत्पन्न नहीं हुआ। उनके समकालीन महान् विचारकों— रूसो, काण्ट, सेन्ट साइमन, मार्क्स— का इंगलैण्ड में कोई सम्मान नहीं हुआ; इंगलैण्ड में ही उनके जो आलोचक थे वे अपनी बात का किसी को विश्वास न दिला सके। फलतः उनका प्रभाव उनकी संख्या के अनुपात से कहीं बहुत अधिक था।"* उपयोगितावाद के दो महानतम प्रतिनिधियों, बेन्थम तथा जॉन स्टुअर्ट मिल, के सिद्धान्तों की समीक्षा करने के बाद, आगे चलकर हम यह देखेंगे कि इसका क्या प्रभाव पड़ा और उसके क्या कारण थे। परन्तु इन विचारकों की समीक्षा करने से पूर्व इस प्रणाली के मुख्य सिद्धान्तों का एक संक्षिप्त विवरण दे देना अच्छा रहेगा।

एक नैतिक सिद्धान्त के रूप में उपयोगितावाद का आधार यह मान्यता है कि मनुष्य तत्त्वतः और मूल रूप से एक इंद्रियप्रधान (sentient) प्राणी है; वह भावना की सृष्टि है। वह एक ऐसा प्राणी है जो सदैव सुख की खोज करता है और दुःख से बचना चाहता है; उसकी प्रत्येक बात का आधार, उसके प्रत्येक कार्य का कारण सुख, दुःख है। इस आधारभूत सिद्धान्त का वर्णन बेन्थम इन शब्दों में करता है, "प्रकृति ने मानव जाति को सुख, दुःख नामक दो प्रभुत्वपूर्ण स्वामियों के शासन में रक्खा है। हमें क्या करना चाहिये और हम क्या करेंगे, इसका निर्णय उन्हीं पर निर्भर करता है। इनके सिंहासन के एक ओर तो सदसद् का मापदण्ड बनाया हुआ है और दूसरी ओर कारण तथा कार्य की जंजीर। हमारे मन, वचन, तथा कर्म पर उन्हीं का शासन रहता है, और उनकी अधीनता से मुक्त होने का यदि हम कोई प्रयास करते हैं तो उससे उसकी और भी पुष्टि हो जाती है और उसका प्रमाण मिल जाता है। एक मनुष्य शब्दों में उनके शासन से बचने का बहाना भले ही करले किन्तु वास्तविकता में वह सदैव उनके अधीन ही रहेगा।"† यह है वह पहला सिद्धान्त जिस पर सभी उपयोगितावादी एकमत हैं। यहाँ पर हमारा उद्देश्य उपरोक्त कथन

* "They were too coldly intellectual, too rigid and scholastic, and men were not flattered by their view of mankind. But for long they were without serious competitors. Their great contemporaries— Rousseau, Kant, St. Simon, Marx— were unhonoured in England; their critics at home were unconvincing In consequence their influence was out of all proportions to their numbers." —Wayper : *Political Thought*, page 83.

† "Nature has placed mankind under the governance of two sovereign masters, pain and pleasure. It is for them alone to point out what we ought

की तार्किक असंगतियाँ दिखलाना नहीं है ; हमारा उद्देश्य तो उन परिणामों को स्पष्ट करना है जो कि उस स्थिति में उत्पन्न होंगे जबकि हम यह मान लें कि मानव-स्वभाव के विषय में यह दृष्टिकोण सही है कि मनुष्य एक सुख चाहने वाला और दुःख से बचने वाला प्राणी है और उसे कर्म करने को उत्प्रेरित करने वाली केवल एक ही भावना है और वह है सुख की कामना तथा दुःख से बचने की इच्छा। यदि यह धारणा सही है तो निश्चित रूप से हमें इस परिणाम पर पहुँचना होगा कि प्रत्येक वह कार्य जो दुःख की अपेक्षा सुख की अधिक उत्पत्ति करता है अच्छा है और प्रत्येक वह कार्य जिसका फल सुख की अपेक्षा दुःख अधिक होता है बुरा है। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी कार्य का नैतिक मूल्य इस बात पर निर्भर करता है कि सुख-वृद्धि में वह कहाँ तक उपयोगी है ; वह किसी कार्य का अन्तर्निहित और निरपेक्ष गुण नहीं है। इस प्रकार उपयोगितावाद किसी भी प्रकार के आत्मानुभूतिवाद (Intuitionism) से भिन्न है जिसके अनुसार कुछ कार्य अपने परिणामों से अलग भी स्वभावतः अच्छे अथवा बुरे होते हैं। काण्ट सरीखा एक आत्मानुभूतिवादी तो यह कहेगा कि असत्य भाषण अपने स्वभाव से ही और सदैव बुरा है, एक उपयोगितावादी यह कहेगा कि असत्य भाषण इसलिये बुरा है क्योंकि उससे सुख के कम हो जाने की सम्भावना है ; किन्तु किसी स्थिति-विशेष में, यदि उससे सुख की वृद्धि होती हो, तो वह पूर्णरूप से सही है। अपने देश के हित के लिये एक कूटनीतिज्ञ का झूठ बोलना और एक नागरिक का शत्रु को गलत सूचना देकर उसे भ्रम में डालना एकदम सही है। उपयोगितावादी सिद्धान्त में किसी कार्य का सद्-असद् होना इस बात पर निर्भर करता है कि उसके परिणाम अच्छे हैं या बुरे और परिणामों की अच्छाई-बुराई इस बात पर निर्भर करती है कि वे सुख के देने वाले हैं या दुःख के।

मानव स्वभाव तथा मानव प्रेरणाओं के उपरोक्त सिद्धान्त के आधार पर बन्थम ने अपने प्रसिद्ध उपयोगिता सिद्धान्त की रचना की। इसकी परिभाषा उसने यह की कि यह 'वह सिद्धान्त है जो कि किसी भी कार्य को वांछनीय अथवा अवांछनीय समझने का मापदण्ड इस बात में देखता है कि उस कार्य में सम्बन्धित व्यक्ति के सुख में वृद्धि करने की प्रवृत्ति है अथवा उसे कम करने की।' इस सिद्धान्त का एक बहुत बड़ा राजनीतिक महत्त्व है ; इससे उपयोगितावाद का स्वरूप अत्यन्त व्यवहार-प्रधान (Pragmatic) हो गया है। इससे प्रेरित होकर उपयोगितावादी विचारकों ने मानव-जीवन, मानव-कार्य तथा मानव-कल्याण पर अपना ध्यान केन्द्रित किया और

to do, as well as to determine what we shall do. On the one hand the standard of right and wrong, on the other the chain of causes and effects are fastened to their throne. They govern us in all we do, in all we say, in all we think: every effort we can make to throw off our subjection will serve but to demonstrate and confirm it. In words a man may pretend to abjure their empire: but in reality he will remain subject to it all the while."

—*Principles of Morals and Legislation*, Ch. I.

वैधानिक, आर्थिक तथा राजनीतिक सुधारों का एक संगतिबद्ध कार्यक्रम अपनाया। मताधिकार, संसदीय प्रतिनिधित्व तथा कानूनी सुधारों में उन्होंने गहरी दिलचस्पी ली। उनका आग्रह यह था कि राजनीतिक संस्थाओं तथा राजनीतिक नीतियों की अच्छाई-बुराई उनके परिणामों, तथा जनता के सुख पर पड़ने वाले वास्तविक प्रभाव पर निर्भर करती है, इस बात पर नहीं कि वे नैसर्गिक अधिकारों अथवा निरपेक्ष न्याय के सिद्धान्तों और आदर्श के कहाँ तक अनुकूल हैं। उन्होंने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का बड़ी तत्परता के साथ समर्थन किया और उतनी ही तत्परता के साथ उन्होंने अत्याचार एवं अन्याय का विरोध किया। इसलिये हम कह सकते हैं कि उपयोगितावाद मानव जाति के कल्याण में अन्याय का पर्यायवाची है; डेविसन के शब्दों में वह 'बौद्धिक सिद्धान्तों के आधार पर मानव जीवन को सुखी बनाने तथा राजकीय विधियों द्वारा जन-साधारण का स्तर उठाने के व्यावहारिक प्रयत्न करने का हामी है।'

उपयोगितावाद की उपरोक्त विशेषता से ही सम्बद्ध एक अन्य बात यह भी है कि इस सिद्धान्त को मानने वाले सभी लोग व्यक्तिवादी (Individualists) हैं। हॉब्स तथा लॉक द्वारा स्थापित परम्परा का पालन करते हुए वे भी यह मानते हैं कि राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिये है, व्यक्ति का अस्तित्व राज्य के लिये नहीं। राज्य का एकमात्र औचित्य यह है कि वह अपने नागरिकों को शान्ति, व्यवस्था तथा सुरक्षा प्रदान करता है और अपनी इच्छाओं को तृप्त करने में उनकी सहायता करता है। यदि विभिन्न व्यक्तियों की इच्छाओं में संघर्ष होता हो तो राज्य को 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' के सिद्धान्त के अनुसार आचरण करना चाहिये। उपयोगितावाद व्यक्तिवादी इस दृष्टिकोण से भी है कि वह सामाजिक कल्याण को व्यक्तियों के व्यक्तिगत सुखों का संग्रह मात्र मानता है। राज्य व्यक्तियों का एक संग्रह मात्र है, इसलिये सामाजिक कल्याण राज्य में व्यक्तियों के सुख का योग मात्र है। वह व्यक्तिगत अधिकारों को प्राथमिकता देता है और अधिकतम व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्रदान करता है। इसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की केवल एक सीमा है और वह है सार्वजनिक व्यवस्था तथा शान्ति। परन्तु उपयोगितावाद में व्यक्ति तथा व्यक्ति के सुख के अधिकार को चाहे कितना ही ऊँचा स्थान क्यों न दिया गया हो, वह इस बात को अवश्य मानता है कि व्यक्ति दूसरों से सर्वथा स्वतन्त्र रह कर सुखी नहीं रह सकता; व्यक्ति का सुख राज्य के अस्तित्व तथा संगठन पर निर्भर करता है। इस प्रकार आचार-शास्त्र तथा राजनीति में घनिष्ठ सम्बन्ध है। सुख-प्राप्ति के लिए व्यक्ति को राज्य की आवश्यकता है, और सार्वजनिक नीतियों का मूल्य केवल तभी है जबकि वे समाज-कल्याण में योग देती हों।

अन्त में उपयोगितावाद की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता भी उल्लेखनीय है। इसकी पद्धति आगमनात्मक (Inductive) तथा आधार प्रयोगात्मक है। इस सिद्धान्त का, कि किसी कार्य का सद् होना इस बात पर निर्भर है कि वह सुख-वृद्धि में कहाँ

तक लाभप्रद है, आधार जीवन के तथ्य तथा ठोस वास्तविकतायें हैं; यह कोरी और अमूर्त्त सिद्धान्तवादिता का फल नहीं है; इसका आधार अनुभव है, और अपने प्रमाण के लिए भी यह अनुभव का ही सहारा लेता है। "इसकी उत्पत्ति विद्यार्थियों के अध्ययनागारों तथा कक्षा-कक्षों में इतनी नहीं हुई जितनी कि जीवन की आवश्यकताओं तथा जीवन के लिये प्रतिदिन होने वाले संघर्ष के उतार चढ़ाव में।"* बेन्थम ने, जिसने कि इसे अपने चिन्तन का आधार तथा अपनी प्रणाली का स्तम्भ बनाया, इसे परवान चढ़ाया और इसे विस्तृत किया। एक उपयोगितावादी के लिये किसी विचार अथवा सिद्धान्त के औचित्य की अचूक कसौटी यह है कि वह व्यावहारिक कहाँ तक है, अर्थात् यथार्थ जीवन में उसका क्या स्थान है। अपने व्यावहारिक स्वरूप के कारण ही उपयोगितावाद राजनीति, विधि, समाज-सुधार, शिक्षा, इत्यादि के क्षेत्रों में इतना व्यापक प्रभाव डाल सका जितना कि दार्शनिक विचारों तथा आन्दोलनों का शायद ही कभी पड़ता हो। यह बात दिलचस्पी से खाली नहीं कि अलेक्जेण्डर बेन के अतिरिक्त इस विचार-प्रणाली का कोई भी विचारक प्राध्यापक या अन्य किसी बौद्धिक स्थान पर नहीं रहा; वे सब व्यावहारिक व्यक्ति थे और जीवन की व्यावहारिक समस्याओं में संलग्न थे। उपयोगितावाद का नैतिक नियमों को अनुभूतिप्रधान (Empirical) मानना समस्त प्रकार के आत्मानुभूतिवाद (Intuitionism) के जोकि नैतिक नियमों को शाश्वत सिद्धान्त और चिरन्तनमान मूल्य मानता है, एकदम विरुद्ध है।

जिन सिद्धान्तों को सभी उपयोगितावादी सामान्य रूप से मानते हैं वे संक्षेप में निम्नलिखित हैं— समस्त मनुष्य सुख चाहते हैं, सुख अपने में ही एकमात्र वांछनीय चीज है; बुद्धि हमारे जीवन का साध्य निर्दिष्ट नहीं करती बल्कि उन साधनों को निर्धारित करती है जिन्हें अपनाकर हम उस साध्य पर पहुँच सकते हैं। प्रत्येक वह कार्य सद् है जो कि दुख की अपेक्षा अधिक सुख की उत्पत्ति करता है; और प्रत्येक वह कार्य असद् है जो कि सुख की अपेक्षा अधिक दुख की सृष्टि करता है। उपयोगिता अथवा 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' का सिद्धान्त ही वह मापदण्ड है जिससे हम सार्वजनिक नीतियों तथा सरकार की बनाई हुई विधियों का मूल्यांकन कर सकते हैं। राज्य अपने नागरिकों के कल्याण रूपी साध्य की प्रगति के लिए एक साधन मात्र है, स्वयं अपने में ही एक साध्य नहीं है। दूसरे शब्दों में, उपयोगितावादी व्यक्ति के अधिकारों को प्राथमिकता देते हैं, वे व्यक्तिवादी हैं। अन्त में, उपयोगितावाद व्यावहारिक तथा आगमनात्मक है; प्रोफेसर हैलेन्सी के शब्दों में यह 'न्यूटन के सिद्धान्तों को राजनीतिक तथा नैतिक क्षेत्र में आरोपित करने का प्रयास है।'

---

* "It grew up not so much from the closets of students or from lecture rooms as from the hard necessities of life and fluctuating daily struggle for existence."

— *Rudolf Metz*: A Hundred Years of British Philosophy, page 49.

उपयोगितावाद की इस संक्षिप्त भूमिका के पश्चात् अब हम इसके दो महानतम प्रतिनिधियों तथा प्रतिपादकों, जर्मी बेन्थम तथा जॉन स्टुअर्ट मिल की समीक्षा करेंगे।

जर्मी बेन्थम (Jeremy Bentham)

उसका जीवन तथा कृतियाँ— जर्मी बेन्थम का जीवन विलक्षण था किन्तु उसमें कोई महत्त्वपूर्ण घटना नहीं घटी; उसका वर्णन बहुत सरल है। उसका जन्म १७४८ ई० में लन्दन के एक सम्पन्न परिवार में हुआ और ८४ वर्ष की परिपक्व अवस्था में १८३२ ई० में उसका देहान्त हो गया जबकि उसकी ख्याति चरम सीमा पर पहुँची हुई थी और उसका दल एक महान् विजय के द्वार पर खड़ा था। १८३२ ई० में उस प्रसिद्ध सुधार अधिनियम (Reform Act) को जिसके लिये कि उसने तथा उसके दल ने घोर परिश्रम किया था, उसकी इहलोक लीला के समाप्त होने के एक दिन बाद ही राजकीय स्वीकृति प्राप्त हो गई।

बचपन से ही बेन्थम की प्रतिभा विलक्षण थी। शैशवावस्था में ही, जबकि अधिकतर बच्चे मनोरंजन किस्से-कहानी ही पढ़ना पसन्द करते हैं, बेन्थम ने लेटिन, ग्रीक तथा फ्रेंच भाषाओं का अध्ययन आरम्भ कर दिया। कहा जाता है कि उसने अपनी तीन वर्ष की अवस्था में ही रेपीन द्वारा लिखे हुए 'इंगलैंड के इतिहास' नामक ग्रन्थ को पढ़ लिया था। जब वह १५ वर्ष का था उसने आक्सफोर्ड के क्वीन्स कालिज से स्नातक की उपाधि प्राप्त की और 'लिंकन्स इन' में कानून का अध्ययन करने के उपरान्त १७७२ ई० में उसने वकालत करनी आरम्भ कर दी। उसका पिता जो कि स्वयं एक वकील था अपने पुत्र की विलक्षण प्रतिभा से चकित हो गया और उत्सुकतापूर्वक उसके ऊँचा उठने तथा ख्याति प्राप्त करने की प्रतीक्षा करने लगा। उसे यह भी आशा थी कि एक दिन उसका पुत्र इंगलैंड का मुख्य न्यायाधिपति बनेगा, परन्तु जब उसने यह देखा कि उसके पुत्र का वकालत के पेशे में कोई अनुराग नहीं और वह कानून के सिद्धान्त के पीछे उसके व्यावहारिक पक्ष की अवहेलना कर रहा है तो उसे घोर निराशा हुई। यह महसूस करके कि मैं वकालत के लिये नहीं बनाया गया बेन्थम ने उसको छोड़ दिया और न्यायशास्त्र (Jurisprudence) तथा विधि दर्शन के अध्ययन में लग गया। एक विचारक के रूप में बेन्थम का समुचित मूल्यांकन करने के लिए हमें यह बात याद रखनी चाहिए कि वह मूलतः एक राजनीतिक दार्शनिक नहीं था; सबसे पहले और सबसे आगे वह एक कानून-सुधारक था जिसने वैज्ञानिक पद्धति तथा उपयोगिता सिद्धान्त का प्रयोग कानून के क्षेत्र में उन पुरानी धारणाओं और अन्धविश्वासों को दूर करने के लिये किया जो कि न केवल प्रगति के मार्ग में बाधक थे बल्कि जो जनसाधारण के कष्टों के लिए भी उत्तरदायी थे। कानूनों के सुधार में अपने अनुराग के कारण ही वह अर्थशास्त्र, राजनीति, आचार-शास्त्र तथा दण्ड, न्याय और जेल सुधार के क्षेत्र में आया। डाइसी

का यह कहना एकदम सही है कि बेन्थम 'प्रथम तथा महानतम विधि का दार्शनिक' था।

दो वर्षों को छोड़ कर जबकि वह यूरोप महाद्वीप का भ्रमण करने के लिये गया, बेन्थम ने अपना प्राय: सम्पूर्ण जीवन लन्दन में अथवा उसके आस-पास ही व्यतीत किया। वह पुस्तक लिखने, संसार भर में पत्र-व्यवहार करने तथा कानूनी सुधारों के लिये सामग्री एकत्रित करने में व्यस्त रहता था। उसके विषय में यह कहा जाता है कि उसका मस्तिष्क एक चीनी सन्दूक के सदृश था जिसके कारण वह किसी भी काम को समाप्त किये बिना एक काम से दूसरे काम पर जा पहुँचता था। उसकी प्रकाशित कृतियों का एक बहुत बड़ा अंश टुकड़ों तथा भूमिकाओं के रूप में प्रगट हुआ। उसकी प्रथम प्रकाशित कृति का नाम है "Fragment on Government" तथा उसके महानतम ग्रंथ का, जोकि उसकी ख्याति का आधार है, नाम है "Introduction to the Principles of Morals and Legislation"। इनके अतिरिक्त उसने और बहुत से ग्रन्थ लिखे जिनके नाम यहाँ देना आवश्यक नहीं। उसके लेख उसकी कृतियों के वारिंग संस्करण की ११ बड़ी बड़ी जिल्दों में संकलित हैं। उसके अप्रकाशित हस्तलेखों का आकार भी लगभग इतना ही बड़ा है।

अपने लेखों के रूप के विषयों में बेन्थम बहुत ही बेपरवाह था। जो योजना उसने अपने जीवन के आरम्भ में ही बना ली थी उसके अनुसार वह घोर परिश्रम करता था और विधिपूर्वक एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु पर जाता था। प्रतिदिन वह कुछ पृष्ठ लिखता था और अपनी योजना में उनका स्थान इंगित कर देता था, और तब उन्हें एक ओर उठा कर रख देता था और फिर उनकी ओर आँख उठाकर भी न देखता था। परन्तु सौभाग्यवश वह अपने कुछ ऐसे मित्रों और प्रशंसकों से घिरा रहता था जोकि उसके विचारों के मूल्य को समझते थे और अधिक से अधिक व्यापक क्षेत्र में उनका प्रचार करना चाहते थे। इसलिये चयन, पुनरावलोकन तथा प्रकाशन का कार्य उनके हाथों में छोड़ दिया गया। एक ऐसा ही व्यक्ति डूमॉन्ट (Dumont) था, जोकि जेनेवा का एक नागरिक था और लन्दन में एक सामन्त के पुत्र के शिक्षक के रूप में आया था। बेन्थम के हस्तलेखों को देखकर वह शीघ्र ही बेन्थम का एक उत्साही शिष्य बन गया। डुमॉन्ट ने बेन्थम के लेखों का फ्रेंच भाषा में अनुवाद किया, उन्हें संक्षिप्त किया, उनमें जो आवश्यक बातें रह गई थीं उनकी पूर्ति की और उन्हें अपनी शैली प्रदान की। परन्तु उसका कार्य बेन्थम के विचारों को एक साहित्यिक रूप देना था। पूर्ण संस्करण में उसकी प्रकाशित कृतियों का अंग्रेजी अनुवाद डूमॉन्ट के फ्रेंच अनुवाद से ही किया गया है।

बेन्थम के जीवन को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, एक १८वीं शताब्दी के अन्तर्गत आता है और दूसरा १९वीं के। प्रथम भाग में वह उपयोगिता सिद्धान्त के ऊपर आधारित अपने नवीन दर्शन के प्रकाश में प्रचलित विचारों से द्वन्द्व कर रहा था। इस भाग में उसका अनुराग अपने देश की राजनीति में तो विधि के

सुधार तथा उसे संहिताबद्ध करने तक ही सीमित था ; अपेक्षाकृत उसका अनुराग विदेश में होने वाली घटनाओं में ही अधिक था। इङ्गलैण्ड की अपेक्षा वह विदेशों में अधिक जनप्रिय था क्योंकि १८वीं शताब्दी में इङ्गलैण्ड यूरोप के क्रांतिकारी देशों से राजनीतिक रूप से पीछे था। अपने जीवन की इस अवस्था में बेन्थम एक रूढ़िवादी था, अभी तक वह नवीनतावादी न हो पाया था। परन्तु दो घटनायें ऐसी हुईं जिन्होंने उसकी ब्रिटिश राजनीति के प्रति उदासीनता को भंग कर दिया और उसे एक नवीनतावादी बना दिया। इनमें से प्रथम तो यह थी कि उसकी न्यायिक सुधार योजनाओं का निरंतर विरोध किया गया और बन्दियों को पर्यवेक्षण तथा नियन्त्रण को अधिक सुविधाजनक बनाने के लिये उसने जिस आदर्श कारागार की स्थापना की प्रस्तावना की, उस पर सरकार ने विचार तक करने से इन्कार कर दिया। इससे उसकी अपार आर्थिक हानि हुई। शासक वर्ग के इस रवैये को देखकर बेन्थम इस परिणाम पर पहुँचा कि ब्रिटेन का धनतंत्री शासक-वर्ग केवल अपने हितों की चिंता करता है, शासित के हितों की नहीं। इसी समय वह जेम्स मिल के संसर्ग में आया जोकि एक दृढ़ तथा अटल जनतन्त्रवादी था ; वह ऐसा दार्शनिक था जोकि अपने सामान्य सिद्धान्तों की पुष्टि मनोवैज्ञानिक तथा सामान्य आधारों पर बेन्थम की अपेक्षा अधिक कुशलतापूर्वक कर सकता था। राजनीतिक सुधार की मिल के हृदय में एक तीव्र इच्छा थी ; उसने इस इच्छा का संचार बेन्थम के हृदय में भी किया और उसे दार्शनिक नवीनतावादी बना दिया। यह बात १८०८ के लगभग हुई। इस समय तक उपयोगितावादी दर्शन को राजनीतिक प्रचार के यन्त्र के रूप में अधिक सफलता नहीं मिली थी ; न तो इसका पुराने दलों के ऊपर ही कोई प्रभाव पड़ा और न ही इसका अपना कोई संगठन था। बेन्थम तथा जेम्स मिल के संसर्ग ने इस स्थिति को एकदम बदल डाला। 'दार्शनिक नवीनतावादी' के नाम से एक नवीन संगठन का जन्म हुआ। नवीनतावाद के साथ बेन्थम का गठबन्धन उसके प्रभाव को प्रसारित करने तथा उन सुधारों को, जिनका कि वह प्रचार कर रहा था, क्रियान्वित रूप देने का एक प्रभावक साधन सिद्ध हुआ। १८१६ ई० के उपरान्त हम बेन्थम को अपने उपयोगितावादी दर्शन का प्रयोग नवीनतावादियों के कार्य-क्रम के समर्थन के लिये करता हुआ पाते हैं। यहाँ से एक रूढ़िवादी बेन्थम एक जनतन्त्रवादी बन गया। १८२४ ई० में उसने 'वेस्टमिन्स्टर रिव्यू' नामक पत्रिका की स्थापना की जोकि नवीनतावादियों के एक मुख्यांग के रूप में कार्य करती थी। इस प्रकार अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में बेन्थम अपने देश के राजनीतिक जीवन में अधिकाधिक भाग लेता गया। फलतः १८३२ ई० में जबकि उसका देहान्त हुआ, डॉयल के शब्दों में 'एक शिष्य-समूह ने एक पितामह और एक आध्यात्मिक नेता के रूप में उसका सम्मान किया, उसकी एक देवता के रूप में प्रतिष्ठा हुई जिसका सेन्ट पाल था जेम्स मिल।'

ऊपर यह कहा जा चुका है कि उपयोगिता सिद्धान्त का आदि प्रवर्त्तक बेन्थम नहीं था; उसका प्रतिपादन इङ्गलैण्ड में ह्यूम तथा प्रीस्टले, फ्रांस में हैल्वीटियस,

इटली में बेकेरिया द्वारा पहिले ही हो चुका था। बेन्थम ने उसके महत्त्व को पहिचाना, उसे अपने चिन्तन का मूल सिद्धान्त बनाया और उसके ऊपर सुनिश्चित तथा सुव्यवस्थित विचार-प्रणाली का भवन निर्माण किया। रूडोल्फ का यह कहना एकदम सत्य है कि 'शायद ही कोई दूसरी विचार-प्रणाली ऐसी हो जिसमें किसी एक सिद्धान्त को इतने पूर्ण रूप से क्रमवद्ध बनाकर उसे अनुभव की इतनी अपार विधि से प्रतिष्ठित किया गया हो जितना कि बेन्थम ने किया।' ह्यूम के ग्रन्थ 'Treatise of Human Nature' को पढ़ते समय ही मानव व्यवहार के लिये उपयोगिता की धारणा के महान् महत्त्व का उसे आभास हुआ। प्रीस्टले द्वारा लिखे हुए 'Essay on Government' के पृष्ठों में 'अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख' वाक्यांश को पढ़कर उसके हृदय में क्या भावनायें उठीं, उनका वर्णन उसी के शब्दों में करना अधिक अच्छा होगा। वह कहता है, "उसी पेम्फलेट और उसमें इसी वाक्यांश द्वारा, जन आचार तथा व्यक्तिगत नैतिकता के विषय में मेरे सिद्धान्त निर्धारित हुए। उसी पेम्फलेट और उसके उसी पृष्ठ से मैंने यह वाक्यांश लिया जिसका महत्त्व तथा शब्द सम्पूर्ण सभ्य संसार में इतने व्यापक रूप से व्याप्त है। उसे देखते ही मुझ पर मानो एक आत्मिक उन्माद छा गया और तरल पदार्थ सम्बन्धी शास्त्र के आधारभूत सिद्धान्त की खोज करने पर आर्कीमिडीज जिस प्रकार चिल्लाया था, उसी प्रकार मैं भी चिल्लाया, 'यूरेका'।"* प्रो० सोर्ले (Sorley) का विचार यह है कि बेन्थम ने यह वाक्यांश प्रीस्टले से नहीं लिया, जिसने शायद इसका प्रयोग ही नहीं किया, वल्कि इसे उसने या तो हचसन के ग्रन्थ 'Moral Philosophy' में से लिया या वेकेरिया की पुस्तक 'Crimes and Punishment' में से लिया। इस बात से तो हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है कि बेन्थम ने इस वाक्यांश को किससे लिया, हमारे लिये तो केवल यह जान लेना काफी है कि इसकी मूल उद्भावना स्वयं उसने नहीं की। उपयोगिता तथा अधिकतम मनुष्यों के अधिकतम सुख की धारणा उससे पहिले ही वर्तमान थी, राजनीतिक विचार को उसकी महान् देन तो यह है कि उसने इस धारणा को विकसित करके इसके आधार पर राजनीतिक विचार का एक भव्य भवन निर्माण किया। उसके हाथों में आकर यह विचार १९वीं शताब्दी में राजनीतिक विचार की आधार-शिला बन गया। इसलिये डॉयल का यह कथन एकदम संगत दिखलाई पड़ता है कि बेन्थम ने '१८वीं शताब्दी की भावना को १९वीं शताब्दी के राजनीतिक विचार का रूप देने का प्रयास किया।'

---

* "It was by that pamphlet and this phrase in it that my principles on the subject of morality, public and private, were determined. It was from that pamphlet and that page of it that I drew the phrase, the words and the importance of which have so widely diffused over the civilised world. At the sight of it I cried out, as it were in an inward ecstasy, like Archimedes on the discovery of the fundamental principles of hydrostatics, Eureka."

—Quoted by Wayper, *Political Thought*, page 84.

कानून, न्यायिक प्रक्रिया, संसदीय सरकार, शिक्षा तथा अर्थशास्त्र के क्षेत्र में सुधार करने के बेन्थम ने भी जो सुझाव दिये हैं उन सबका आधार उपयोगिता का सिद्धान्त है, इसलिये इस सिद्धान्त की तनिक विस्तृत समीक्षा करना आवश्यक ही है।

उपयोगिता का सिद्धान्त— यह तो हम पहिले ही देख चुके हैं कि ह्यूम उपयोगिता की धारणा को राज्य तथा राजनीतिक कर्त्तव्य-पालन का आधार बनाने वाला १८वीं शताब्दी का एक प्रथम विचारक था। यह उसके उस प्रयोग का फल था जो कि नैतिक विषयों में तर्क की प्रयोगात्मक पद्धति को प्रवेश करने का किया था। बेन्थम की पद्धति भी ह्यूम का ही अनुसरण है। इङ्गलिश कानून तथा न्यायिक प्रक्रिया का अध्ययन करते समय उसने उनमें बहुत सी ऐसी अस्पष्टतायें तथा औपचारिकतायें पाईं जिनके विरुद्ध उसकी आत्मा एकदम विद्रोह कर उठी। उसने उनके हटाने की माँग की तो उसे यह उत्तर दिया गया कि इङ्गलिश कॉमन लॉ प्राचीन है, शताब्दियों के विकास से उसकी सिद्धि हुई और सुविख्यात न्यायिकों ने उसके विकास में योग दिया है। ऐसी युक्तियों के प्रति बेन्थम के हृदय में कोई सम्मान नहीं हो सकता था, किसी संस्थान की प्राचीनता और उससे सम्बद्ध व्यक्तियों की ख्याति उसकी अच्छाई का कोई न्यायसंगत प्रमाण नहीं हो सकता। उसने अनुरोध किया कि आज की विधियाँ आज के विधि-निर्माता द्वारा आज की आवश्यकताओं के अनुसार बनाई जानी चाहियें, और उन आवश्यकताओं की एकमात्र कसौटी है 'अधिकतम मनुष्यों का अधिकतम सुख'। दूसरे शब्दों में, उपयोगिता के सिद्धान्त की माँग यह है कि प्राचीन विधियों के औचित्य का निर्माण करने तथा उनका मूल्यांकन करने और नवीन विधियों को बनाने की एकमात्र न्यायसंगत कसौटी समाज का हित है। जिससे व्यक्तियों के सुख में कोई योग न मिले उसका कोई स्थान नहीं होना चाहिये। इस सिद्धान्त की कुछ विशेषतायें और परिणाम उल्लेखनीय हैं। **प्रथम**, इसे मान कर बेन्थम ने ह्यूम की भाँति नैसर्गिक अधिकारों (Natural Rights) के उस सिद्धान्त का तिरस्कार कर दिया जो कि अमेरिकन तथा फ्रेंच क्रांतिकारियों द्वारा जनप्रिय हो गया था। बेन्थम ने इस सिद्धान्त को 'आध्यात्मिक तथा विभ्रम और प्रमाद का एक गड़बड़ घोटाला' कहकर पुकारा। सैद्धान्तिक रूप से यह सिद्धान्त बहुमत की निरंकुशता को मर्यादित कर सकता था, किन्तु व्यवहार में फ्रांस में मनुष्य के अधिकारों की घोषणा उन हजारों व्यक्तियों में से एक की भी प्राण-रक्षा न कर सकी जो कि फ्रांस के क्रांतिकारी न्यायालय के सामने खींचकर लाये गये थे। और न ही अमेरिका की स्वाधीनता की घोषणा ने एक भी हब्शी को दासता के बन्धन से मुक्त किया। कहा जाता है कि समानता मनुष्य का नैसर्गिक अधिकार है; किन्तु उसका अर्थ केवल इतना है कि प्रत्येक विषमता का (उसके मान्य होने के लिये) कोई तर्कसंगत औचित्य होना चाहिये; इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि समस्त मनुष्य यथार्थ में समान हैं और विषमता का कोई अस्तित्व

ही नहीं है। क्योंकि नैसर्गिक अधिकारों के सिद्धान्त का व्यावहारिक मूल्य बहुत कम है, इसलिये बेन्थम ने उपयोगिता के आधार पर उसका तिरस्कार करना ही उचित समझा।

द्वितीय, बेन्थम ने क्योंकि तर्क की अनुभूतिप्रधान अथवा वैज्ञानिक पद्धति अपनाई, इसलिये उसकी यह धारणा बन गई कि जिस प्रकार एक भौतिकशास्त्री भौतिक व्यापार की सुनिश्चित रूप से नाप तोल करता है, उसी प्रकार प्रत्येक सामाजिक घटना की भी नाप तोल की जानी चाहिये। नैसर्गिक अधिकारों के सिद्धान्त को यद्यपि उसने अमूर्त्त तथा अस्पष्ट कह कर ठुकरा दिया था तथापि उसका विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति को सुख-प्राप्ति का अधिकार है। सुख-प्राप्ति के लिए मानवीय कर्म को अनुशासित करने वाले नियमों की खोज करने तथा उन्हें एक गणितशास्त्रीय सूत्र की भाँति सुनिश्चित रूप देने की उसकी तीव्र तथा हार्दिक इच्छा थी। सारांश यह है कि बेन्थम के हाथ में जाकर उपयोगिता के सिद्धान्त ने नैतिक तथा राजनैतिक घटना व्यापार के मात्रा-प्रधान निर्धारण को जन्म दिया।

तीसरे, बेन्थम तथा उसके उपयोगितावादी अनुयायियों ने उपयोगिता की जो व्याख्या की वह एकदम सुखवादी (Hedonistic) है। उनकी इस प्रकार की व्याख्या के मूल में उनकी यह धारणा है कि मनुष्य एक इन्द्रियपरक (Sentient) प्राणी है और उसके ऊपर 'सुख-दुख' नामक दो प्रभुत्वपूर्ण स्वामी शासन करते हैं। बेन्थम के मतानुसार किसी वस्तु की उपयोगिता का एकमात्र मापदण्ड यह है कि वह कहाँ तक सुख की वृद्धि करती है और कहाँ तक दुख को कम करती है। वह लिखता है— "उपयोगिता का सिद्धान्त इस बात में है कि हम अपनी तर्कना की प्रक्रिया में दुख और सुख के तुलनात्मक अनुमान को अपना आरम्भ बिन्दु बनाकर चलते हैं। जबकि मैं अपने किसी कार्य (सार्वजनिक या व्यक्तिगत) की अच्छाई अथवा बुराई का निर्णय इस बात से करता हूँ कि उसकी प्रवृत्ति सुख की वृद्धि करने की है या दुख की। जब मैं न्यायपूर्ण, अन्यायपूर्ण, नैतिक, अनैतिक तथा अच्छा या बुरा शब्द का प्रयोग करता हूँ जोकि किसी निश्चित सुख के विचार के तुलनात्मक माप को ही इंगित करते हैं और जिनका कोई दूसरा अर्थ होता ही नहीं तो मैं उपयोगिता सिद्धान्त का ही अनुसरण करता हूँ। इस सिद्धान्त का अनुयायी किसी कार्य-विशेष को केवल इसलिये अच्छा समझता है क्योंकि उसका फल सुख की वृद्धि करना है और इसी प्रकार वह किसी कार्य-विशेष को बुरा भी इसलिये समझता है क्योंकि उसका परिणाम दुख होता है।"

* The principle of utility consists in taking as our starting point, in every process of reasoning, the calculus of comparative estimates of pains and pleasures. I am an adherent of the principle of utility when I measure my approval or disapproval of any act, public or private, by its tendency to produce pains and pleasures; when I use the terms just, unjust, moral, immoral, good, bad, as comparative terms which embrace the idea of certain

इससे यह स्पष्ट है कि उपयोगितावादियों की धारणा के अनुसार एकमात्र सुख ही वांछनीय है ; वह स्वयं अपने में ही जीवन का साध्य है। धन, वैभव, शक्ति तथा संसार की अन्य वस्तुयें, यहाँ तक कि स्वयं सदाचार भी, सुख की प्राप्ति के लिए साधन मात्र हैं। यदि मनुष्य कभी-कभी ऐसे काम करते हुए दिखलाई पड़ते हैं जोकि अधिकतम सुख के मार्ग में बाधा डालते हैं तो उनका कारण केवल यह है कि वे जीवन के सच्चे नियमों से अनभिज्ञ हैं और प्राचीन संस्थानों तथा विश्वासों के प्रति उनमें अन्धी आस्था है।

अन्तिम बात यह है कि अपनी इस धारणा के कारण कि समस्त सुखों और दुखों को मात्रात्मक मापदण्ड से नापा जा सकता है बेन्थम इस परिणाम पर पहुँचा कि औद्योगिक क्रांति द्वारा किये गये महान् परिवर्तनों के कारण समाज में जिस नवीन सामन्जस्य की आवश्यकता है उसका आधार विवेकसम्मत होना चाहिये। मानव व्यापार को अनुशासित करने की बुद्धि की शक्ति में उपयोगिता के सिद्धान्त ने एक अडिग विश्वास उत्पन्न कर दिया। बेन्थम का यह कहना तो सही ही था कि ब्रिटिश संविधान में परिवर्तन और व्यवस्था में सुधार की आवश्यकता है; किन्तु उसका यह कहना कि मानव समाज के समस्त व्यापार का संचालन विशुद्ध रूप से तार्किक नाप-तोल द्वारा होना चाहिए, अयथार्थ आशावाद दिखलाई पड़ता है। तथापि यह धारणा समस्त उपयोगितावादियों के विश्वास और आस्था का केन्द्र थी। इसी विश्वास ने बेन्थम को अपने सुखवादी मापक यन्त्र (Hedonistic Calculus) को विकसित करने को प्रेरित किया।

सुखवादी मापक यन्त्र (Hedonistic Calculus)— उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपयोगिता के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक जीवन में इस प्रकार आचरण करना चाहिये जिससे कि अधिकतम सुख की प्राप्ति हो सके। विधि बनाते समय विधि-निर्माताओं का उद्देश्य जनता का सुख होना चाहिये। इस उद्देश्य को सरलता से तथा कुशलतापूर्वक प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि सुख-दुख की मात्राओं का सही एवं सुनिश्चित अनुमान लगाने के लिये एक पद्धति जनता के सामने रखी जाय, इस विषय में उन्हें अटकलबाजी से काम लेने के लिये अंधेरे में नहीं छोड़ देना चाहिये। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये बेन्थम ने अपने सुखवादी मापक यंत्र (Hedonistic calculus) की प्रसिद्ध धारणा का विकास किया। यह एक ऐसा यन्त्र है जो कि प्रेरक शक्तियों के रूप में सुखों और दुखों को आंकने में सुविधा प्रदान करता है। इसका आधार यह मान्यता है कि उनको आंका जा सकता है और उनकी एक दूसरे

---

pleasures, and have no other meaning whatsoever. An adherent of the principle of utility holds virtue to be a good thing by reason only of the pleasures which result from the practice of it ; he esteems vice to be a bad thing by reason only of the pains which follow in its train.

के साथ तुलना की जा सकती है। जैसा कि पहिले ही इंगित किया जा चुका है यह बेन्थम के इस प्रयास का परिणाम है जोकि उसने मात्रात्मक निर्धारण की पद्धति को सुख और दुख पर आरोपित करने और इस प्रकार आचार-शास्त्र तथा राजनीति शास्त्र को भौतिक विज्ञानों की भाँति सुनिश्चित बनाने का किया था। बेन्थम का कहना है कि अपनी तीव्रता (Intensity), स्थिरता (Duration), निश्चितता (Cretainty), समय की निकटता (Propinquity), अथवा दूरता (Remoteness), जनन शक्ति (Fecundity), विशुद्धता (Purity) तथा विस्तार (Extent) के आधार पर विभिन्न सुखों और दुखों को आंका जा सकता है और उनकी एक दूसरे से तुलना की जा सकती है। किसी सुख की जनन-शक्ति का अभिप्राय यह है कि उसके पीछे उसी प्रकार के अन्य सुख भी आयें; बौद्धिक सुखों में यह गुण बड़ी हद तक होता है; ऐन्द्रिक सुखों में यह नहीं होता। एक सुख की विशुद्धता का अर्थ यह है कि उसके पीछे उसकी विपरीत भावनायें उत्पन्न न हों। बौद्धिक सुख विशुद्ध होता है; उससे दुख उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं है, किन्तु इन्द्रियजनित सुख अशुद्ध होते हैं; रसास्वादन का हद से ज्यादा सुख निश्चित रूप से ही पाचन-शक्ति को दुर्बल और स्वास्थ्य को खराब कर सकता है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का ध्येय अधिकतम सुख की प्राप्ति है इसलिए उसे इस प्रकार आचरण करना चाहिए जिससे निश्चित, विशुद्ध, फलदायक, स्थिर तथा तीव्र सुख उत्पन्न हों। कुछ सुख इस प्रकार के होते हैं कि उनमें तीव्रता तो होती है किन्तु वे अधिक समय तक नहीं रहते, और उनके परिणामस्वरूप कुछ दुख उत्पन्न होता है। इसके विपरीत कुछ सुख ऐसे होते हैं जो विशुद्ध होते हैं, अर्थात् जिनका परिणाम दुख नहीं होता और जो कि काफी समय तक कायम भी रहते हैं, किन्तु उनमें तीव्रता अधिक नहीं होती। इसलिये बेन्थम कहता है कि सुख को विशेष मूल्यवान करने के लिये हमें समस्त सुखों के समस्त मूल्यों को एक ओर और समस्त दुखों के समस्त मूल्यों को दूसरी ओर एकत्रित कर लेना चाहिये। यदि एक को दूसरे में से घटाकर सुख शेष रह जाता है तो समझ लीजिये कि सम्बन्धित कार्य की प्रवृत्ति सुख की ओर है और यदि शेष दुख है तो उसकी प्रवृत्ति दुख की ओर है। यदि किसी कार्य का प्रभाव दूसरों के ऊपर भी पड़ता हो तो हमें उपरोक्त प्रक्रिया को उनमें से प्रत्येक के ऊपर भी करके देखनी चाहिये और उनके हितों को भी ध्यान में रखना चाहिए। इसे सुख का विस्तार कहते हैं। जब प्रत्येक सम्बन्धित और प्रभावित व्यक्ति के ऊपर हम इस प्रक्रिया का प्रयोग कर चुकें तो दुखों के प्रयोग को सुखों के योग में घटा लेने पर शेष सुख इस बात का प्रमाण होगा कि सम्बन्धित कार्य और घटना शुभ तथा श्रेयस्कर, और यदि दुख सुख की अपेक्षा अधिक निकला तो स्पष्टतः वह उस कार्य अथवा घटना के अशुभ एवं अवांछनीय होने का प्रमाण है।

यह सिद्ध करने के लिए कि सुखवादी मापक यन्त्र एक सम्भव तथ्य है, केवल एक हवाई उड़ान नहीं, बेन्थम ने कुछ मुख्य-मुख्य सुखों एवं दुखों को गिनाया है और

उनका विश्लेषण किया है तथा यह बतलाया है कि उनका मूल्यांकन किस प्रकार किया जा सकता है। वह सुखों और दुखों को सरल तथा मिश्रित, दो वर्गों में विभक्त करता है और १४ सरल सुखों तथा १२ सरल दुखों की एक सूची देता है। ये सरल दुख और सुख समस्त मिश्रित दुखों और सुखों के आधार हैं। ये सरल सुख और दुख क्या हैं और मिश्रित सुखों तथा दुखों की सृष्टि वे कैसे करते हैं, यह बतलाना यहाँ आवश्यक नहीं है। इस प्रश्न का सम्बन्ध राजनीतिशास्त्र से इतना नहीं है जितना कि मनोविज्ञान तथा आचार-शास्त्र से। जो कुछ अब तक हमने कहा है उसी से उस सूक्ष्म विवरण का आभास मिल जाता है जोकि बेन्थम ने नीतिवादी तथा विधि निर्माता को अधिक से अधिक निश्चितता के साथ सुखों और दुखों का मूल्यांकन करने में सहायता देने के लिये दिया है। बेन्थम का विश्वास था कि एक स्थिति-विशेष से उत्पन्न होने वाले सुखों और दुखों का योग निकाल लें तो उनमें से एक को दूसरे में से घटाकर शेष निकालने की प्रक्रिया सैद्धान्तिक रूप से पूर्ण एवं निर्दोष है; किन्तु यथार्थ व्यवहार में ब्रिटिश जैसे सभ्य समाज में प्रत्येक नैतिक निर्णय, अथवा प्रत्येक विधायक अथवा न्यायिक क्रिया का मूल्यांकन करने से पहिले इस प्रक्रिया में गुजरना आवश्यक नहीं है। सुसंगठित समाज तथा समुदाय में रहने वाले मनुष्यों के पथ-प्रदर्शन के लिए बहुत से रिवाज, कानून, नियम तथा संस्थान होते हैं; उनका व्यापक तथा विविध प्रकार का अनुभव होता है; उन्हें बहुत से कार्यों के शुभाशुभ गुणों का सामान्य रूप से ज्ञान रहता है और वे उनकी साधारणतया सुखात्मक तथा दुखात्मक प्रवृत्ति से अवगत रहते हैं। इसलिए उनके लिए सुखों और दुखों को नापने की उक्त प्रक्रिया बहुत संक्षिप्त और छोटी हो जाती है। परन्तु बेन्थम इस बात का आग्रह करता है कि हमें सदैव इस प्रक्रिया को ध्यान में रखना चाहिये और व्यवहार में अपनाई हुई प्रक्रिया सैद्धान्तिक रूप से पूर्ण प्रक्रिया के जितनी अधिक निकट होगी उतने ही अधिक पूर्ण एवं निर्दोष परिणाम उससे निकलेंगे। हमारे इस न्यायविद्-दार्शनिक ने जिस आधारभूत बात पर इतना जोर दिया है वह यह है कि किसी कार्य, घटना अथवा नीति के शुभाशुभ का निर्णय हमें उससे सुखोत्पादक तथा दुखोत्पादक परिणामों के आधार पर करना चाहिये, न कि किसी अमूर्त्त सिद्धान्त अथवा नैतिक नियम के आधार पर। बेन्थम का यह उपयोगिता सिद्धान्त बर्क के व्यवहार-बुद्धि के सिद्धान्त (Doctrine of Expediency) से काफी मिलता जुलता है, यद्यपि पूर्वोक्त का परिणाम हुआ नवीनतावाद और उत्तरोक्त का फल हुआ रूढ़िवाद। परन्तु दोनों ने ही नैसर्गिक अधिकारों तथा अमूर्त्त सिद्धान्तों की धारणा को निरस्त कर दिया।

जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है सुखवादी मापक यन्त्र की सम्पूर्ण धारणा का आधार यह मान्यता है कि सुख तथा दुख मापे जा सकते हैं और इनका मात्रात्मक विश्लेषण तथा माप हो सकता है। आधुनिक प्रयोगात्मक मनोविज्ञान यह सिद्ध करता है कि इस पद्धति का प्रयोग मानसिक घटनाओं के अध्ययन में किया

जा सकता है; किन्तु इसका क्षेत्र सीमित ही है। बेन्थम द्वारा दिये गये सूक्ष्म विवरण के बावजूद उसकी कल्पना के नैतिक गणितशास्त्र की व्यावहारिकता में गम्भीर सन्देह उत्पन्न होता है। हमारे सुखों और दुखों के नापने के लिये एक गज या सेर जैसे मापदण्ड के आविष्कार करने की बात पर बेन्थम गम्भीरतापूर्वक विचार करता, और तीव्रता की एक इकाई की स्थिरता की एक इकाई से तुलना करता, तो निश्चय ही एक सुखवादी मापदण्ड को तैयार करना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य पाता। इसके औचित्य का निर्णय पाठक यह देखने का प्रयास करके स्वयं कर सकता है कि आयाकि एक उत्तेजनापूर्ण टेनिस मैच का देखना उसे अधिक सुख प्रदान करता है, या किसी सुन्दर संगीत का सुनना या आध्यात्मिक ध्यान में समाधिस्थ हो जाना। विभिन्न इन्द्रियों द्वारा उपयोग किये जाने वाले सुखों की तीव्रता तथा स्थिरता की माप तथा उनकी एक दूसरे से तुलना की इस कठिनाई की अपेक्षा कहीं अधिक गम्भीर कठिनाई इस सुखवादी मापदण्ड के मार्ग में एक और भी है। इस कठिनाई का कारण यह है कि सुख तथा दुख के मापने में बेन्थम ने व्यक्तिगत भावना की पूर्णतः उपेक्षा की। सुख का उपभोग करने की सामग्री समस्त मनुष्यों की वास्तव में उतनी समान नहीं होती जितनी कि बेन्थम उसे समझता है। यदि सुख तथा दुख सुनिश्चित और एकरस मात्राएँ होते और मनुष्यों की व्यक्तिगत विभिन्न भावनाओं का ध्यान रखे बिना ही उन्हें धन और रोटी की तरह वितरित किया जा सकता, तो वह उपयोगितावादी मापदण्ड अत्यन्त सरल हो जाता। केन ब्रिटन (Cane Brinton) कहता है कि यदि हम यह कहें कि बेन्थम मानव-प्राणियों को केवल ऐसे पात्र समझता है जिन्हें तृप्ति से भरा जाना चाहिये और केवल अतृप्ति से उसे कम से कम खाली रहने देना चाहिये तो यह उसके प्रति कोई अन्याय न होगा। यदि हम ब्रिन्टन से अक्षरशः सहमत न भी हों तब भी इतना तो हम कह ही सकते हैं कि यह मान कर कि किसी अनुभूति से प्रत्येक मानव को समान सुख या दुख प्राप्त होता है बेन्थम ने तथ्यों की घोर अवहेलना की है। क्या ऐसे मनुष्य नहीं हैं जिन्हें टैनिस का मैच देखने से कोई आनन्द नहीं मिलता और जिन्हें आध्यात्मिक साधना एक अत्यन्त नीरस वस्तु दिखलाई पड़ती है; जबकि कुछ व्यक्तियों को वे ही वस्तुएँ कितना आनन्द प्रदान करती हैं? बेन्थम कहता है कि "सुख तथा दुख के विस्तार पर विचार करने के लिये प्रत्येक को एक माना जाना चाहिये तथा किसी को भी एक से अधिक नहीं समझना चाहिये।" यह तो एक निरपेक्ष पूर्णता का सन्देश है जिसकी अनुभूति इस चेतना जगत में कभी नहीं हो सकती।

उपयोगितावादी मापदण्ड की एक दो और विशेषतायें भी उल्लेखनीय हैं; यद्यपि राजनैतिक विचार के दृष्टिकोण से उनका कोई महत्त्व नहीं है, तथापि सुख तथा दुख को मापने की प्रक्रिया का स्वरूप उनसे कुछ अधिक स्पष्ट हो जाता है। नीति तथा राजनीति को मात्रात्मक बनाने की अपनी तीव्र कामना के कारण बेन्थम इस परिणाम पर पहुँचा कि विभिन्न प्रकार के सुखों में केवल मात्रा का भेद है, गुण

का नहीं; उनमें केवल तीव्रता का भेद है, श्रेणी का नहीं। कुछ सुखों को हम अधिक तीव्र और स्थायी कह सकते हैं तथा कुछ को कम, उन्हें हम उत्कृष्ट तथा निकृष्ट नहीं कह सकते। उसका कहना है कि सुख की मात्रा यदि समान हो तो 'बाल-क्रीड़ा (Pushpin) भी उतनी ही श्रेष्ठ है जितना कि काव्य'। उसकी यह धारणा, उसके सुखवाद की आधारभूत मान्यता से एकदम संगत है। यदि सुख ही एकमात्र शुभ (Good) है तो हमें केवल सुख का ही ध्यान रखना चाहिये; हमारा इस विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है कि 'सुख का स्रोत क्या है?' सुखवादी मापदण्ड में सुख के स्रोत का कोई स्थान नहीं। परन्तु हमारी सहज बुद्धि हमें यह बतलाती है कि विभिन्न सुखों में भेद न केवल मात्रा का होता है बल्कि गुण का भी; उन्हें केवल न्यूनाधिक तीव्र तथा स्थायी ही नहीं समझा जा सकता बल्कि उत्कृष्ट एवं निकृष्ट भी माना जा सकता है। आगे चलकर मिल (Mill) ने इस सत्य को पहिचाना और इस प्रकार सुखवाद को नैतिक जीवन के अधिक अनुकूल बनाया; किन्तु ऐसा करने से इस सिद्धान्त की वह तार्किक संगति जाती रही जो कि बेन्थम ने उसमें उत्पन्न की थी। हमने इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट इस कारण किया है क्योंकि इससे उपयोगिता के सिद्धान्त को अन्तिम रूप से मानने अथवा ठुकरा देने पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

इस प्रश्न में ध्यान देने योग्य दूसरी बात यह है कि सुखवादी मापक यंत्र में कर्त्ता के उद्देश्य का कोई ध्यान नहीं रखा जा सकता; इसमें सम्पूर्ण ध्यान कार्य के बाहरी परिणामों पर ही केन्द्रित रहता है। विधि-निर्माता तथा राजनीतिज्ञ के दृष्टिकोण से तो यह एक अच्छी बात है क्योंकि उनका सम्बन्ध मानव कार्यों के केवल बाह्य पक्ष से होता है, उनके आन्तरिक प्रेरणा-स्रोत से नहीं। परन्तु नैतिक दृष्टिकोण से हम कर्त्ता के आन्तरिक ध्येय की अवहेलना नहीं कर सकते। सारांश यह है कि सुखवादी मापक यन्त्र का मूल्य एक आचारशास्त्री की अपेक्षा एक विधि-निर्माता के लिये अधिक है। वास्तव में बात यह है कि बेन्थम उपयोगिता अथवा अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख के सिद्धान्त को विधि-निर्माण एवं प्रशासन की "ही" कसौटी बनाना चाहता था, व्यक्तिगत आचार का आधार नहीं; यह एक राजनैतिक सिद्धान्त था, नैतिक नहीं। हमें याद रखना चाहिये कि एक विधि-निर्माता सुख तथा दुख को मापने में सबसे अधिक ध्यान इसी बात का रखता है कि अमुक सुख अथवा दुख का क्या विस्तार है तथा उससे प्रभावित होने वाले व्यक्तियों की संख्या कितनी है। यदि 'उपयोगिता' शब्द का अर्थ केवल सुख ही न लिया जावे बल्कि उसका एक व्यापक अर्थ लगाया जावे जिसमें समाज का बौद्धिक विकास एवं नैतिक उत्थान भी सम्मिलित हों, तो उपयोगिता सिद्धान्त का मूल्य विधि-निर्माता तथा राजनीतिज्ञ के लिये कहीं अधिक हो जाय।

उपयोगिता सिद्धान्त की मान्यता के आधार— हम देख चुके हैं कि बेन्थम के अनुसार विभिन्न सुखों को यदि हम मापते हैं तो हमें तीव्रता (Intensity),

स्थिरता (Duration), निश्चितता (Certainty), समय की निकटता (Propinquity), प्रजननशीलता (Fecundity), विशुद्धता (Purity) तथा विस्तार (Extent) को ध्यान में रखना चाहिये। यह विस्तार शब्द व्यक्तिगत नैतिकता तथा राजनीति में एक गम्भीर समस्या को जन्म देता है। यदि मानव स्वभाव ऐसा है कि सुख की कामना के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु उसे कर्म करने के लिये प्रेरित ही नहीं कर सकती तो यह स्पष्ट है कि वह केवल अपने निजी सुख के लिये ही कार्य करेगा। परन्तु वेन्थम चाहता है कि व्यक्ति अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख के लिये कार्य करे। यहाँ पर स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न खड़ा होता है कि यदि व्यक्ति का सुख किसी अन्य विषय में है तो वह दूसरों के सुख की चिन्ता क्यों करे? यह तो स्पष्ट ही है कि व्यक्ति के अधिकतम सुख एवं अधिकतम संख्या के अधिकांश सुख में बड़ा अन्तर है। ये दोनों उसे विभिन्न दिशाओं में खींच सकते हैं तथा प्रायः खींचते भी हैं। अतः यदि व्यक्ति को अपने स्वार्थों का त्याग करके भी अधिकतम मनुष्यों के अधिकतम सुख के लिये कार्य करने को तैयार करना है तो उसके लिये किसी महान् तथा सबल प्रेरणा की आवश्यकता है। सारांश यह है कि सुखवाद के आधार पर स्वार्थ एवं परमार्थ में एक स्वाभाविक एकरूपता का होना आवश्यक नहीं। बेंथम इस विडम्बना को जानता था। इसलिये उसने इन दोनों में एक कृत्रिम एकरूपता स्थापित करने का प्रयास किया। उसकी धारणा थी कि कुछ ऐसे सुख तथा दुःख होते हैं (विशेषकर दुःख) जो कि व्यक्ति को दूसरे के सुख के लिये अपने निजी सुख का बलिदान करने के लिये उत्प्रेरित करते हैं। इन्हें उसने नैतिक मान्यता कह कर पुकारा है, और उन्हें भौतिक, राजनैतिक, सार्वजनिक तथा धार्मिक, चार वर्गों में विभक्त किया है। भौतिक मान्यता, जैसे कि अधिक खाने से पीड़ा उत्पन्न होना। किन्तु इस प्रकार की पीड़ा के भय से मनुष्य दूरदर्शी बन सकता है किन्तु कर्त्तव्य-परायण अथवा दूसरों का हितैषी नहीं बन सकता। अतः इसे हम छोड़ सकते हैं। सार्वजनिक शक्ति इस बात में है कि समाज हमारे कुछ कार्यों को पसन्द करता है तथा कुछ को नापसन्द। अपनी कीर्ति का प्रेम, यश की कामना तथा सामाजिक निंदा का भय ऐसे शक्तिशाली भाव हैं जोकि हमें अपने सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करने के लिये विवश कर देते हैं। किन्तु सार्वजनिक शक्ति सदैव क्रियाशील नहीं रहती। बेंथम धर्म की शक्ति पर भी अधिक भरोसा नहीं रखता। इसलिये उसे अधिकतर राजनीतिक शक्ति अर्थात् राज्य द्वारा दिये जाने वाले पुरस्कार तथा दण्ड के ऊपर भी निर्भर करना पड़ता है। पुरस्कार की अपेक्षा दण्ड का भय अधिक शक्तिशाली है; अतः जो चीज व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत सुख की अपेक्षा सामान्य सुख को अधिक महत्त्व देने के लिये विवश करती है वह है दण्ड-विधान। दण्ड के भय के कारण ही मनुष्य अधिकतम मनुष्यों के सुख को अपने निजी सुख पर तरजीह देते हैं। किन्तु दण्ड स्वयं में एक बुराई है; इससे पीड़ा उत्पन्न होती है। अतः यदि किसी अन्य बुराई को रोकने के लिये यह आवश्यक न हो अथवा इससे उत्पन्न होने वाली

बुराई उस बुराई से कहीं अधिक हो जिसको कि यह दूर करने का प्रयास करता है तो किसी को दण्ड नहीं दिया जाना चाहिये। इसका औचित्य तभी हो सकता है जबकि यह अपने से अधिक कष्ट को रोकने के लिये दिया जाय। इस प्रकार बेन्थम दण्ड के प्रतीकारात्मक सिद्धान्त (Retributive Theory) को ठुकराता है जिसके अनुसार दण्ड पाप का एक पुरस्कार है और अपराधी को दण्ड इस कारण दिया जाता है क्योंकि उसने सामाजिक व्यवस्था को भंग किया है; वह Deterrent Theory में विश्वास करता है। इस सिद्धान्त के द्वारा हम दण्ड की मात्रा को एक विवेक-सम्मत रूप से निर्धारित कर सकते हैं। दण्ड की मात्रा परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होनी चाहिये; अतः वह विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न होगी। दण्ड उतनी ही मात्रा में दिया जाना चाहिये जितना कि मानव को अपराध करने से रोकने के लिये पर्याप्त हो; उसका ध्येय अपराध का रोकना और अपराधी का सुधार होना चाहिये। इस विषय पर बेन्थम ने बहुत विस्तारपूर्वक विचार किया है। उसने मनुष्य की अनुभूतिशीलता को प्रभावित करने वाली विभिन्न परिस्थितियों का वर्णन किया है जिनको हमें दण्ड के प्रभाव को मापते समय ध्यान में रखना चाहिये। किन्तु ऐसे विस्तार की बातों में जाने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं। हम तो केवल इतना कहेंगे कि इस विषय में उसकी जो गहरी रुचि थी उसके कारण उसने दण्ड-विधान तथा जेलखानों की व्यवस्था के सम्बन्ध में बहुत से सुधारों के सुझाव रखे। इस प्रसंग में हमें यह भी याद रखना चाहिये कि मानव-आचार की निर्धारक शक्तियों का यह सिद्धान्त कर्त्तव्य-पालन का एक सच्चा सिद्धान्त नहीं हो सकता; क्योंकि जो व्यक्ति केवल दण्ड के भय अथवा सामाजिक कीर्ति की लालसा के वशीभूत होकर सदाचरण करता है उसे हम एक सच्चा सदाचारी तथा नैतिक नहीं कह सकते। सच्ची नैतिकता तो सदैव निष्काम होती है।

उपरोक्त समस्या से भी महत्त्वपूर्ण एक अन्य समस्या इस विषय में उत्पन्न होती है। हमें यह विश्वास कैसे हो सकता है कि विधि-निर्माता तथा राजनीतिज्ञ-गण का मुख्य उद्देश्य समाज का अधिकतम सुख ही रहेगा? हम इस बात की व्यवस्था कैसे करें कि शासक-गण अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर जन-कल्याण को न भूल जायें? यह प्रश्न बेन्थम के सामने बहुत ही स्पष्ट रूप से आया जब उसकी समकालीन सरकार ने उसके द्वारा सुझाये हुए दण्ड-विधान में सुधार तथा आदर्श कारागृह की योजना के प्रति उदासीनता दिखलाई। फलतः अपने समय की धनिक-तन्त्रवादी सरकार में उसका विश्वास हिल उठा; और उसने ऐसे परिवर्तनों का प्रस्ताव किया जो कि उसे एक धनिकतन्त्रवाद से एक आंशिक जनतन्त्रवाद में बदल देते। उसका सबसे पहला सुझाव यह था कि प्रत्येक पुरुष को मताधिकार दिया जाना चाहिये। इसके द्वारा प्रत्येक वयस्क पुरुष को अपना मत देने और उसके द्वारा बहुमत के निर्माण में अपना योग देने की शक्ति प्राप्त हो जाती। दूसरा सुझाव था संसद के लिये वार्षिक-निर्वाचन का होना। केवल यही एक ऐसा उपाय था जिससे कि

शासक-गण शासितों से सम्बन्ध रख सकते थे, जोकि उन्हें अपनी शक्ति और अधिकार का दुरुपयोग करने से रोक सकता था। बेन्थम की यह भी धारणा थी कि संसद के सदस्य डेलीगेट समझे जाने चाहियें, प्रतिनिधि (Representatives) नहीं ; जैसा कि बर्क (Burke) समझता था। उसका विचार था कि एक डेलीगेट की अपेक्षा एक प्रतिनिधि अपने निर्वाचकों की अवहेलना अधिक सरलता से कर सकता है और विचार-स्वातन्त्र्य का बहाना लेकर अपनी स्वार्थ-सिद्धि कर सकता है चाहे उससे उसके निर्वाचकों को हानि ही हो। क्योंकि उसके द्वारा सुझाये गये संशोधित संविधान के अनुसार जो संसद बनती वह एक जनता का निकाय होती, अतः उस व्यवस्था में राजा, लार्ड सभा तथा चर्च का कोई स्थान न होता। लार्ड सभा का विरोध बेन्थम न केवल इसलिये करता था कि वह वंशानुगत निकाय है, बल्कि इसलिये भी कि एक प्रति वर्ष चुनी जाने वाली संसद में द्वितीय सदन बिल्कुल अनावश्यक है। वैसे वह द्वितीय सदन का सामान्य रूप से भी विरोध करता था। इसी प्रकार वह राजतंत्र का सामान्य कारणों से अन्त करना चाहता था। इसके अतिरिक्त उसके राजतन्त्र-विरोधी होने का एक कारण यह भी था कि वह अपने समकालीन राजा जार्ज तृतीय से घृणा करता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि उसका आदर्श राज्य एक गणराज्य है जिसमें वयस्क पुरुष मताधिकार के आधार पर और गुप्त मतदान द्वारा प्रतिवर्ष संसद का चुनाव होता है।

बेन्थम की राज्य-सम्बन्धी धारणा— गत पृष्ठों में हमने इस बात के ऊपर जोर दिया है कि बेन्थम सर्वप्रथम एक विधि-सुधारक था, एक राजनीतिक दार्शनिक नहीं। जो कुछ भी राजनीतिक विचार उसके वृहद् ग्रन्थों में हमें मिलते हैं, वे उसकी विधि, कारागृह तथा संसद सम्बन्धी सुधारों की उत्कृष्ट कामना का परिणाम हैं। उन सबका केन्द्र है उपयोगिता सिद्धान्त जिसकी कि वह एक सुखदायी व्याख्या करता था। यह उसके उस प्रयास का फल है जो कि उसने तर्क की अनुभूति-प्रधान अथवा प्रयोगात्मक विधि को आचार-शास्त्र तथा राजनीति-शास्त्र के क्षेत्र में प्रयोग करने का किया था। उनमें से कुछ का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं, किन्तु उन्हें एक व्यवस्थित रूप में यहाँ देना वांछनीय होगा, भले ही उसमें कुछ पुनरावृत्ति हो जाये।

बेन्थम की सबसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक धारणा यह है कि वह राज्य को एक ऐसा समूह समझता है जिसे मनुष्यों ने अपनी सुख-वृद्धि के लिए संगठित किया है। इस कथन के दो परिणाम होते हैं जिन्हें हमें स्पष्ट रूप से ध्यान में रखना चाहिये। प्रथम, राज्य के उद्देश्य की व्याख्या यह एक संकुचित रूप में करता है; बेन्थम के ऊपर उद्धृत शब्दों में राज्य का उद्देश्य है अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख; उसके अनुसार व्यक्ति के चरित्र का सर्वोत्कृष्ट विकास करना राज्य का कोई कर्त्तव्य नहीं। इस प्रकार यह अफलातून तथा अरस्तू की इस धारणा का कि राज्य का लक्ष्य एक शुभ अथवा नैतिक जीवन का विकास करना तथा रूसो के इस विचार का

कि राज्य का उद्देश्य व्यक्ति को अधिकतम सच्ची स्वतन्त्रता प्रदान करना है के विरुद्ध है। दूसरी बात यह है कि अधिकतम सुख राज्य के सदस्यों के व्यक्तिगत सुखों का एक योग-मात्र है, इसमें सम्पूर्ण समाज का सामूहिक हित सम्मिलित नहीं है जो कि प्रत्येक व्यक्ति के निजी हित को अपने में सम्मिलित तो रखता ही है किन्तु साथ ही साथ उसका अतिक्रमण भी करता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि बेन्थम के लिये व्यक्ति ही अन्तिम सत्य है, समाज उसकी दृष्टि में एक काल्पनिक निकाय है, जिसकी कि उसके घटक नागरिकों के अस्तित्व के अतिरिक्त अपनी कोई निजी सत्ता नहीं है। राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिये है, व्यक्ति का राज्य के लिये नहीं। यह राज्य की एक व्यक्तिवादी धारणा है जो कि हॉब्स तथा लॉक के सिद्धान्तों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है; रूसो तथा अन्य दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित सावयव सिद्धान्त के यह एकदम विरुद्ध है। इसकी संगति बर्क से भी नहीं बैठती। राज्य के इस पहलू का उल्लेख हम पहले भी कर चुके हैं। यही व्यक्तिवादी धारणा उपयोगितावादियों के लिये अहंवाद तथा परमार्थवाद में संगति स्थापित करना तथा 'प्रत्येक अपने लिये' से आरम्भ करके 'प्रत्येक सबके लिये' पर आ जाना बड़ा कठिन बना देता है। जैसा कि हम आगे चलकर बतलायेंगे अपने इसी स्वाभाविक दोष के कारण यह सिद्धान्त १९वीं शताब्दी के अन्त में ब्रिटिश समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल सिद्ध न हुआ तथा इसने ग्रीस के आदर्शवादी सिद्धान्त के लिये मार्ग प्रशस्त कर दिया, जिसका आधार है एक केन्द्रीय सामाजिक व्यवस्था जिसके अनुसार व्यक्ति को अपने आपको ढालना है। राजनीतिक आज्ञा-पालन के कर्त्तव्य की बेन्थम ने जो व्याख्या की है उसका उसकी उपरोक्त धारणा से निकट सम्बन्ध है। उसका कहना है कि संविदा अनुमति तथा समझौता आज्ञा-पालन के कर्त्तव्य का कोई आधार नहीं हो सकता। राज्य की आज्ञा-पालन करने का वास्तविक कारण यह नहीं है कि हमारे पूर्वजों में आज्ञा-पालन करने का कभी कोई समझौता था, और न ही इसका कारण हमारी अनुमति है; राज्य का आज्ञा-पालन हम इस लिये करते हैं क्योंकि ऐसा करना हमारे लिए लाभदायक एवं उपयोगी है और 'आज्ञा-पालन के सम्भावित दोष अवज्ञा के सम्भावित लाभों की अपेक्षा कहीं कम हैं।' कोई भी सरकार तभी तक कायम रहती है और नागरिकों की भक्ति प्राप्त करती है जब तक कि वह समाज के सामान्य सुख का ध्यान रखती है। यदि सरकार अपने प्रमुख कर्त्तव्य का पालन नहीं करती तो जनता को उसकी आज्ञा की अवहेलना करने का अधिकार है। किसी भी शासन-प्रणाली की सही-सही उपयोगिता को एक तर्क-सम्मत तथा विस्तृत प्रक्रिया द्वारा ही मापा जा सकता है। अतः बेन्थम के हाथों में यह सिद्धान्त विस्फोटक सिद्ध नहीं हुआ। इसके विस्फोटक स्वरूप की व्याख्या हम आगे चलकर करेंगे।

बेन्थम के अनुसार राज्य नागरिकों को सामान्य सुख के लिये अपने निजी सुख तक बलिदान करने के लिये पुरस्कार तथा दण्ड-व्यवस्था द्वारा प्रेरित कर सकता

है। इसलिये राज्य एक विधि-निर्माता निकाय है, एक नैतिक समुदाय नहीं जिसका उद्देश्य जनता की नैतिक भलाई हो। जनता के साथ इसका सम्बन्ध केवल कानून के द्वारा स्थापित होता है। कानून एक आदेश है, एक प्रतिबन्ध है, इसलिये यह स्वतन्त्रता का शत्रु है। अतः जीवन की एक उपयोगितावादी योजना में स्वतन्त्रता का कोई विशेष स्थान नहीं हो सकता ; यह सुख का कोई आवश्यक तत्व नहीं है ; इसलिये इसे सुख के सामने समर्पण कर देना चाहिये। मनुष्य की आवश्यकता सुरक्षा की है, स्वतन्त्रता की नहीं। बेन्थम का कहना था कि स्वतन्त्रता को 'एक स्वाभाविक तथा अमर अधिकार' समझना भूल है। बेन्थम की विचारधारा में स्वतन्त्रता को जो नीचा स्थान दिया गया है उसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या प्रोफेसर सोरले (Sorley) ने इन शब्दों में की है :— 'कानून का मुख्य उद्देश्य है सुरक्षा, और सुरक्षा का अर्थ है उन समस्त आशाओं को कायम रखना जिनको स्वयं कानून उत्पन्न करता है। सुरक्षा सामाजिक जीवन और सुखी जीवन की एक आवश्यकता है, समता एक प्रकार की विलासिता है जिसे कानून केवल उसी सीमा तक ला सकता है जहाँ तक कि उसका सुरक्षा से कोई विरोध न हो। जहाँ तक स्वतन्त्रता का सम्बन्ध है, यह कानून का कोई मुख्य उद्देश्य नहीं है, यह तो सुरक्षा की एक शाखा मात्र है, और यह एक ऐसी शाखा है जिसमें कानून काट-छांट किये बिना नहीं रह सकता।'*

इस प्रकार यह तो स्पष्ट ही है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता का, जिसको लॉक, मान्टैस्क्यू तथा रूसो ने इतना ऊँचा स्थान दिया है, बेन्थम के चिन्तन में कोई विशेष महत्त्व नहीं है; व्यक्तिगत स्वतन्त्रता शासन का प्रमुख ध्येय नहीं। वेपर के शब्दों में, "सुख ही एकमात्र अन्तिम कसौटी है और स्वतन्त्रता को उसी कसौटी पर कसा जाना चाहिये। राज्य का ध्येय है अधिकतम सुख, अधिकतम स्वतन्त्रता नहीं।"†

बेन्थम नैसर्गिक स्वतन्त्रता तथा नागरिक स्वतन्त्रता में विभेद करता है। नैसर्गिक स्वतन्त्रता का अर्थ है मनमानी करने की छूट। जाहिर है कि इस प्रकार की स्वतन्त्रता का उपभोग राज्य में रहकर नहीं किया जा सकता। नागरिक स्वतन्त्रता का अर्थ है इच्छानुसार ऐसा आचरण करने की स्वाधीनता जो कि दूसरों की इसी प्रकार की स्वतन्त्रता में बाधक न हो। एक उपयोगितावादी राज्य में विधि द्वारा

---

*"The chief care of law is security, and the principle of security extends to the maintenance of all those expectations which law itself has created. Security, one may say, is a necessity for any moderate degree of human happiness, equality is rather of the nature of a luxury, which legislation could promote when it does not interfere with security. As for liberty, it is not one of the principal objects of law, but a branch of security, a branch which law cannot help pruning." —Sorley : *History of English Philosophy*, page 227.

† "Happiness is the only ultimate criterion and liberty must submit itself to that criterion. The end of the State is the maximum happiness, not the maximum liberty." —Wayper : *op. ct.*, page 96.

इसी प्रकार की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखा जाता है। स्वतन्त्रता के इसी अर्थ के कारण आगे चलकर कुछ उपयोगितावादी व्यक्तिवादी बन गये।

बेन्थम का राज्य एक विधि-निर्मायक निकाय है, और वह व्यक्तिगत हित तथा जनहित में एकरूपता स्थापित करने के लिये मुख्यतया विधि का सहारा लेता है। इसलिये यहाँ पर उसकी विधि सम्बन्धित धारणा के विषय में दो शब्द कह देना आवश्यक प्रतीत होता है। बेन्थम के अनुसार विधि एक आदेश है, यह उस शक्ति की इच्छा की अभिव्यंजना है जिसकी आज्ञा का पालन जनता स्वभावतः करती है। अतः इसका स्रोत न तो नैसर्गिक हो सकता है और न विवेक; 'नैसर्गिक कानून' तथा 'बुद्धि का कानून' ये दोनों ही बातें निरर्थक हैं, इनका परित्याग कर देना चाहिये। मानवाचरण को अनुशासित करने वाले कानून का स्रोत या तो ईश्वर हो सकता है या मानव-इच्छा। दैविक इच्छा हम निश्चयपूर्वक जान नहीं सकते, इसलिये कानून के स्रोत के रूप में हमारे पास केवल मानव इच्छा रह जाती है। कानून सम्बन्धी इस धारणा को 'जॉन आस्टिन' ने और अधिक विकसित किया।

कानून का मुख्य तथा महान् कार्य है "सर्व हित की भावना को इस प्रकार से अनुशासित करना जिससे कि यह अपनी इच्छा के विरुद्ध भी अधिकतम सुख-प्राप्ति में योग दे।" जैसा कि हम पहले ही बतला चुके हैं इस ध्येय की प्राप्ति के लिये यह उन कामों को दण्डनीय बनाता है जोकि सामान्य सुख में बाधक होते हैं। इसका व्यक्ति के उन कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं जो कि सामान्य सुख के दृष्टिकोण से कोई महत्त्व नहीं रखते, जैसे कि खाना, पीना और पहनना। यदि हम ऐसे कामों को स्व-सम्बन्धी (Self-regarding) कहें और ऐसे कामों को जिनका प्रभाव कर्त्ता के अतिरिक्त दूसरों के ऊपर भी पड़ता हो पर-सम्बन्धी कहें, तो हम कह सकते हैं कि यह कानून का सम्बन्ध केवल पर-सम्बन्धी कार्यों से है। ऐसे कार्यों को जिनका कि दूसरों के सुख पर बुरा प्रभाव पड़ता है अपराध कहकर और उन्हें दण्डनीय घोषित करके यह संतुलन स्थापित करना और सामान्य सुख की वृद्धि को सुरक्षित करना चाहता है।

कानून की इस धारणा से यह स्पष्ट है कि बेन्थम के अनुसार राज्य को संप्रभुतासम्पन्न होना चाहिये। संप्रभुता निरपेक्ष तथा अपरिमित है, इसलिये इसके किसी भी कार्य को कानून के विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। यह कहना कि राज्य कभी अपनी सीमाओं का उल्लंघन कर सकता है कोरी मूर्खता है। न तो तथाकथित नैसर्गिक कानून तथा बुद्धि का कानून और न ही मनुष्य के नैसर्गिक अधिकार राज-सत्ता को सीमित कर सकते हैं। बेन्थम ने नैसर्गिक तथा अमर अधिकारों को कोरी बकवास कह कर इनकी निन्दा की। राज्य की संप्रभुता के ऊपर केवल एक सीमा की कल्पना की जा सकती है और वह है प्रजा द्वारा सफल विरोध की सम्भावना। अपने इस विश्वास के कारण बेन्थम ने अपने समय की उस क्रांतिकारी

विचारधारा तथा सुधारक दलों का विरोध किया जिनसे वह बहुत सी बातों में एकमत था। उनकी भांति एक विवेकपूर्ण शासन के लिये वह लिखित संविधान को आवश्यक समझता था किन्तु मूल अधिकार इत्यादि में उसका कोई विश्वास न था।

अन्त में हम बेन्थम की कल्पना के राज्य की एक अन्य विशेषता का उल्लेख कर सकते हैं। वह यह कि बावजूद इस बात के कि वह राज्य को सामान्य सुख की वृद्धि का एक साधन समझता है उसका राज्य एक नकारात्मक (Negative) राज्य है। यह नकारात्मक इसलिये है क्योंकि यह लोगों को दण्ड-विधान द्वारा ही समाज विरोधी कार्य करने से रोकता है, जनता के नैतिक चरित्र को ऊँचा उठाना इसका कोई उद्देश्य नहीं। बेन्थम की धारणा थी कि व्यक्ति के जीवन में शासन का हस्तक्षेप कम से कम होना चाहिये क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने भले-बुरे को सबसे अधिक समझता है।

यद्यपि बेन्थम ने नैसर्गिक अधिकार के सिद्धान्त को ठुकरा दिया तथापि वह निजी सम्पत्ति के अधिकार का तिरस्कार न कर सका। सामान्य उपयोगिता के आधार पर उसने निजी सम्पत्ति का समर्थन किया। उसके अनुसार व्यक्ति का सुख चार वस्तुओं पर निर्भर रहता है: (१) जीवन-सामग्री, (२) सम्पन्नता, (३) समता, तथा (४) सुरक्षा। सुरक्षा के अन्तर्गत वह नागरिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता, प्राणों की सुरक्षा तथा निजी पूँजी के अधिकार को रखता था। विधि-निर्माता जीवन-सामग्री और सम्पन्नता प्रदान करने के लिये तो कुछ अधिक नहीं कर सकता, भूख को शान्त करने के लिये प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए जीवन-सामग्री जुटाने के लिए तो स्वयं ही भरसक प्रयत्न करता है। किन्तु कानून द्वारा धन के वितरण को राज्य अधिक न्याय-संगत अवश्य बना सकता है। धन के न्यायपूर्ण वितरण का औचित्य उपयोगिता के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि धन के असमान वितरण से मुट्ठी भर धनाढ्य व्यक्तियों को इतना सुख नहीं मिलता जितना कि बहुत से गरीब व्यक्तियों का सुख घट जाता है। एक समाज जिसमें कि अमीरी और गरीबी की बहुत ही ऊँची-नीची श्रेणियां पाई जाती हैं उस समाज की अपेक्षा कम सुखी रहता है जिसमें कि धन का वितरण अधिक समान और न्यायपूर्ण होता है, किन्तु विधि-निर्माता को समता की अपेक्षा सुरक्षा को अधिक महत्त्व देना चाहिये और यदि दोनों में संघर्ष हो तो सुरक्षा के लिए समता की बलि देने में नहीं हिचकिचाना चाहिये। सुरक्षा का यहाँ पर सम्बन्ध मुख्य रूप से सम्पत्ति से है। सुरक्षा का अर्थ है कि व्यक्ति के अपने धन के उपभोग में किसी प्रकार की कोई बाधा न हो। अतः बेन्थम का विश्वास था कि सरकार को नागरिकों की सम्पत्ति का हरण बिना उचित तथा पर्याप्त प्रतिकार कभी नहीं करना चाहिये; बिना प्रतिकार के तो वह किसी वस्तु का भी उन्मूलन करने की अनुमति न देता। व्यक्तिगत सम्पत्ति को सुरक्षित रखने के लिये बेन्थम भी उतना ही चिन्तित है जितना कि लॉक, यद्यपि उसका सम्पत्ति के नैसर्गिक अधिकार में विश्वास

न था और न ही उसे वह पूर्णतया कानून की सृष्टि समझता था। वह तो व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन उपयोगिता के आधार पर करता था, जब कि लॉक उसे एक नैसर्गिक अधिकार समझता था।

जहाँ तक कि सरकारों के वर्गीकरण का सम्बन्ध है बेन्थम उनके राजतंत्र, कुलीनतंत्र तथा लोकतंत्र के प्रचलित वर्गीकरण को मानता था। राजतंत्र तथा कुलीनतंत्र को वह बहुत निकृष्ट समझता था; उसका विश्वास था कि इनके दोषों को तो किसी प्रकार दूर ही नहीं किया जा सकता। कुलीनतंत्र को वह राजतंत्र से भी बुरा समझता था। राजतंत्र तथा कुलीनतंत्र के प्रति उसकी इस उपेक्षा का कारण यह है कि इनके अन्तर्गत सम्पूर्ण समाज के हितों को शासक वर्ग के निहित स्वार्थों के लिए बलिदान किया जा सकता है। इनमें अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख की प्राप्ति की अधिक सम्भावना नहीं। इसके विपरीत व्यापक वयस्क मताधिकार, वार्षिक संसद, गुप्त मतदान, संसद द्वारा प्रधान मंत्री का चुनाव, तथा प्रतियोगिता परीक्षाओं के आधार पर सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति जैसे वैधानिक उपयों को अपनाकर एक प्रतिनिधि लोकतन्त्रवादी शासन-व्यवस्था अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम कल्याण अधिक कर सकती है। बेन्थम के लोकतन्त्रवाद का समर्थन करने का एक कारण और भी है। उसने अनुभव किया कि उपयोगिता के सिद्धान्त पर आधारित कानूनों को राजतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र की अपेक्षा एक लोकतंत्रवादी सरकार अधिक स्वीकार कर सकती है। ब्रिटिश प्रणाली का वह विशेष रूप से विरोध करता था क्योंकि उसके मतानुसार 'वह कुलीनतन्त्र से ग्रस्त राजतन्त्र था' जिसमें दोनों ही प्रणालियों के दोष पाये जाते हैं।

काश! कि हम यहाँ बेन्थम द्वारा प्रतिपादित उन विभिन्न कानूनी सुधारों का उल्लेख कर सकते, जिनमें से लगभग सभी को क्रियात्मक रूप दिया जा चुका है, किन्तु ऐसा करना इस ग्रंथ के क्षेत्र से बाहर है। यहाँ हम केवल इतना ही कहेंगे कि कानून की प्रत्येक दशा में उसने पथ-प्रदर्शन किया और जिस असाधारण बुद्धिमत्ता तथा दूरदर्शिता का परिचय उसने दिया उसके कारण न्यायिक सुधार के इतिहास में उसका एक अत्यन्त ऊँचा स्थान सुरक्षित हो गया है। बेन्थम के सम्बन्ध में 'सर हेनरी मेन' कहता है, मैं बेन्थम से लेकर अब तक होने वाले ऐसे "कानून को नहीं जानता जिसका स्रोत इसका प्रभाव न हो"।

बेन्थम के सिद्धान्त का मूल्यांकन— यद्यपि दर्शन तथा राजनीतिक विचार के इतिहास में बेन्थम एक प्रतिष्ठित स्थान रखता है और राजनीतिक विचार को उसकी देन महान् है, तथापि उसे उत्कृष्ट दार्शनिक नहीं समझा जा सकता। जैसा कि हम पहले भी बार-बार कह चुके हैं, सर्वप्रथम तथा प्रमुख रूप से वह एक विधि-सुधारक तथा विधिवेत्ता है। उसके विचार मौलिक न थे, "उसने ज्ञान का सिद्धान्त लॉक तथा ह्यूम से, सुख तथा दुख का सिद्धान्त हैलविटियस से, सहानुभूति तथा घृणा की धारणा ह्यूम से, उपयोगिता का विचार कोई दस लेखकों में से किसी एक से लिया था।

मौलिकता के अभाव में और अपने पक्षपातपूर्ण कल्प-विकल्प के कारण उसके सिद्धान्त परस्पर विरोधी और उतने ही भ्रमपूर्ण हैं जितना कि वह स्वयं खुशफहमी में ग्रस्त है।"*

इन तमाम बातों के बावजूद उसका प्रभाव इतना महान् हुआ और वह उपयोगितावादी विचार-प्रणाली की स्थापना कर पाया। इसका कारण यह है कि "उसके मस्तिष्क में दो गुणों का सम्मिश्रण था— एक सिद्धान्त के ऊपर पूर्ण अधिकार तथा छोटी से छोटी तफसीलों का आश्चर्यजनक ज्ञान। प्रत्येक ठोस स्थिति का उसके तत्वों में विश्लेषण किया गया और इस तत्व के समस्त तत्वों का रहस्योद्घाटन किया गया और फिर इन तत्वों के समस्त रूपों पर प्रकाश डाला गया। जिस चीज का भी इस प्रकार से विश्लेषण न किया जा सका उसे ही 'अनिश्चित सामान्यता' कह कर ठुकरा दिया गया। आचार-शास्त्र, नीति-शास्त्र तथा राजनीति-शास्त्र के सम्पूर्ण क्षेत्र में उसने इसी पद्धति को असीम धैर्य के साथ अपनाया। मानव प्रकृति तथा समाज में जो कुछ भी है उसको उसके मूल तत्वों में खण्डित किया गया और फिर उन मूल तत्वों में से फिर से उनका निर्माण किया गया और प्रत्येक तत्व में शक्ति अथवा मूल के दृष्टिकोण से केवल एक बात का महत्त्व था और वह था उसकी सुख अथवा दुःख की मात्रा। यदि सुखों का एक स्वतन्त्र गुणात्मक विभेद जिसमें कि अफलातून विश्वास करता था और जिसे आगे चलकर जॉन स्टूअर्ट मिल ने उपयोगितावाद में लाने का प्रयास किया, इसमें प्रविष्ट हो जाता तो सम्पूर्ण प्रणाली अस्त-व्यस्त हो जाती।"†

---

* "......... he took his theory of knowledge from Locke and Hume, the pleasure and pain principle from Helvetius, the notion of sympathy and antipathy from Hume, the idea of utility from any of half a score of writers. Lacking in originality and full of prejudice in his speculations, he is as confused and contradictory in his own theoretical adventures as he is complacent." —Wayper : *op. ct.*, page 99.

† "The combination in his mind of two qualities— the firm grasp of a single principle, and a truly astonishing mastery of details. Every concrete situation was analysed into its elements and these followed out into all its elements and these elements followed out into all their ramification .... Whatever did not yield to this analysis was dismissed as 'vague generality'. Applying this method with infinite patience, he covered the whole field of ethics, jurisprudence and politics. Everything in human nature and in society was reduced to its elements and then reconstructed out of these elements and in each element only one feature counted, whether in respect of force or of value— its quantum of pleasure or pain. The whole syst[illegible] would have been upset if an independent qualitative distinction between pleasures had been allowed, such as Plato contended for, or John Stuart Mill afterwards attempted to introduce in his utilitarianism."

—Sorley : *op. ct.*, page 228.

इन अत्यन्त चुने हुए और उपयुक्त शब्दों में प्रोफेसर सोर्ले ने बेन्थम के सम्पूर्ण विचार के गुण और दोष को स्पष्ट कर दिया है। इसका प्रमुख गुण यह है कि यह एक विशिष्ट सिद्धान्त के ऊपर आधारित है जिसे आचार-शास्त्र, विधि-शास्त्र तथा राजनीति-शास्त्र के सम्पूर्ण क्षेत्र पर आरोपित किया गया है; इसकी कमजोरी का कारण यह है कि इसके कारण बेन्थम ने मानव-जीवन की आवश्यकता से अधिक सरल व्यवस्था कर डाली और इसलिये वह जिन समस्याओं को हल करना चाहता था उनका अपूर्ण निराकरण उसने दिया। यहाँ पर हम सबसे पहले बेन्थम के दोषों पर विचार करेंगे।

सुखवादी मान्यता, जो कि बेन्थम का आरम्भ बिन्दु है, उसके दर्शन की सबसे बड़ी कमजोरी है। यह धारणा कि सुख तथा दुःख हमारे सम्पूर्ण आचार को, सम्पूर्ण भाषण को तथा सम्पूर्ण विचार को निर्धारित करते हैं और हमें यह बतलाना कि हमें क्या करना चाहिये और यह निश्चय करना कि हम क्या करेंगे केवल उन्हीं का कार्य है, भ्रमपूर्ण है। यह तो जीवन की एक बहुत ही अधूरी व्याख्या है और उन जटिल प्रेरणाओं की जो कि हमारे आचरण को प्रभावित करती हैं अवहेलना करना है। सुख तथा दुःख हमारे कार्यों की प्रेरक शक्तियाँ नहीं हैं जैसा कि बेन्थम हमसे मनवाना चाहता है; वे केवल सफल अथवा अवरुद्ध क्रियाओं के चिह्न मात्र हैं। कोई व्यक्ति भोजन इसलिये नहीं करता कि उसे स्वादिष्ट व्यंजनों के खाने से सुख मिलने की आशा है; सुख तो उसकी भूख शांत हो जाने का परिणाम है। इसी प्रकार हम टैनिस या क्रिकेट आनन्द के लिये नहीं खेलते, खेल तो हम व्यायाम अथवा मनोविनोद के लिये खेलते हैं, आनन्द तो एक उप-उत्पत्ति के रूप में हमें अनायास मिल जाता है। केवल निकृष्ट तथा अस्वस्थ प्राणी ही सुख की कामना करते हैं। हमें इस विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि सुखवादी इन बातों को भूलता है कि इच्छा सदैव वस्तुओं के लिये ही होती है, और काम करने के लिये प्रेरित हम बाह्य वस्तुओं में करती है। सुखवाद में जो प्रशंसनीय तत्व दिखलाई पड़ता है वह इस कारण कि उसमें आनन्द की धारणा तथा आनन्दमयी धारणाओं को एक समझ लिया गया है। हमें कार्य करने के लिये प्रेरित करने वाला विचार आनन्ददायक तो अवश्य होता है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हमें जो चीज काम करने के लिये प्रेरित करती है वह आनन्द है। इस प्रसंग में हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि अधिकतम सुख को प्राप्त करने का सुगमतम मार्ग है उसे भूल जाना। जो लोग जान-बूझ कर सुख के पीछे दौड़ते हैं सुख उनसे दूर भागता है। सुखवाद में यह विरोधाभास है। जो लोग इस विषय का और अधिक विस्तृत अध्ययन करना चाहते हैं उन्हें प्रोफेसर जेम्स सेथ के ग्रन्थ Ethical Principles अथवा मैकेन्जी की रचना Manual of Ethics का अध्ययन करना चाहिये।

जैसा कि प्रोफेसर सोर्ले ने लिखा है बेन्थम के दर्शन की दूसरी कमजोरी यह है कि यदि विभिन्न सुखों में गुणात्मक भेद को स्वीकार कर लिया जाय तो उसकी सारी विचार-प्रणाली अस्त-व्यस्त हो जायेगी। यदि हम यह मानते हैं, जैसा कि हमें मानना ही चाहिए यदि हम नैतिक जीवन के तथ्यों की अवहेलना नहीं करते, कि विभिन्न क्रियाओं जैसा कि स्वादिष्ट भोजन का रसास्वादन करने तथा मधुर संगीत का रस-पान करने से प्राप्त होने वाला आनन्द विभिन्न प्रकार का होता है तो हमें इस विचार का पूर्ण रूप से परित्याग करना होगा कि हमें कम तीव्र सुख की अपेक्षा अधिक तीव्र की प्राप्ति की चेष्टा करनी चाहिए। 'मिल' के विचारों का अध्ययन करते समय हम इस विषय की फिर विवेचना करेंगे। बेन्थम के दर्शन की तीसरी कमजोरी यह है कि अहंवाद तथा परमार्थवाद में सामंजस्य स्थापित करना बड़ा कठिन है। यदि हम एक बार इस बात को मान लेते हैं कि मनुष्य स्वभावतः अपने सुख की कामना करता है तो हम उससे यह आशा नहीं करते कि वह दूसरों के सुख के लिए भी प्रयत्न करेगा। बेन्थम का कहना है कि सुखों के विस्तार को देखने के लिए हमें प्रत्येक व्यक्ति को एक गिनना चाहिए और किसी को भी एक से अधिक नहीं, परन्तु समता के इस सिद्धांत को उपयोगिता के सिद्धान्त पर कहीं आधारित नहीं करता। चेतना अथवा सुख के दृष्टिकोण से प्रत्येक व्यक्ति को दूसरों के सुख की अपेक्षा अपने ही सुख को अधिक महत्त्व देना चाहिए। दूसरों को समान समझना दरकिनार, उन्हें तो वह शून्य भी समझ सकता है। यदि हम यह कहें कि बेन्थम ने अपने उपयोगिता सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध न होते हुए भी समता के नैसर्गिक नियम को मान लिया तो यह उसके साथ कोई अन्याय न होगा।

सुखवादी मापक यन्त्र की कठिनाइयों का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। यह कोई व्यापारिक चीज नहीं है। सुख अथवा सन्तोष ऐसी चीज है जिसे सरलतापूर्वक मापा नहीं जा सकता। हमारे पास ऐसा कोई मापदण्ड नहीं है जिसके द्वारा हम किसी भावना की तीव्रता की निश्चित मात्रा की किसी अन्य भावना की तीव्रता से तुलना कर सकें। प्रजननशीलता (Fecundity), सामीप्य (Propinquity) तथा विशुद्धता (Purity), ये तत्त्व एक नई कठिनाई उत्पन्न करते हैं; इनके कारण हमें वर्तमान और भविष्य में सन्तुलन स्थापित करना पड़ता है क्योंकि विभिन्न मार्गों में से किसी एक को चुनते समय उसके केवल तत्कालीन परिणामों पर ही ध्यान नहीं रखना पड़ता बल्कि इस बात को भी ध्यान में रखना होता है कि उसके परिणाम सुदूर भविष्य में उत्पन्न सन्तति के लिए क्या होंगे।

उपरोक्त कारणों से भी बढ़कर बेन्थम के सिद्धान्त की कमजोरी यह है कि उसकी आधारभूत मान्यताएँ व्यक्तिवादी हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वह व्यक्ति को ही अन्तिम सत्य समझता है; राज्य को तो मनुष्य ने केवल अपनी सुख-वृद्धि के लिए बनाया है। राज्य के घटक व्यक्तियों के व्यक्तित्व से अलग राज्य का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता। जिसे हम सामाजिक हित अथवा सामान्य सुख

कहते हैं वह समाज घटकों के अलग अलग सुखों के योग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सारांश यह है कि राज्य एक कल्पनात्मक निकाय है। इसके कारण बेन्थम से एक बड़ी भूल हुई और वह यह कि वह व्यक्ति, समाज और सरकार को तीन अलग-अलग सत्तायें समझ बैठा और वह राज्य के, जोकि सम्पूर्ण है, महान निर्मायक प्रभाव को भूल गया। वह यह न देख पाया कि राज्य का घटक होने के नाते ही व्यक्ति का कुछ मूल्य और महत्त्व है। इसी के कारण बेन्थम उस प्रभाव को न देख पाया जो कि इतिहास मानवीय निर्माण पर डालता है। इन्हीं बातों के कारण बेन्थम ने मानव जीवन में विवेक को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है। मनुष्य उससे कहीं अधिक भावुक है और उससे कहीं कम विवेकशील है जितना कि बेन्थम उसे समझता है। अपने व्यक्तिवाद से उत्पन्न होने वाले उपयोगितावाद के इस दोष के कारण ही १६वीं शताब्दी के अन्त में ग्रीन द्वारा प्रतिपादित आदर्शवादी सिद्धान्त ने इसका स्थान ले लिया।

इन तथा अन्य दोषों के बावजूद बेन्थम की राजनीतिक विचार को महान् देन है। उसकी तर्कना और युक्तियाँ आलोचना की कसौटी पर भले ही खरी न उतरें तथापि वह कुछ परिणामों पर पहुँचा है जिनकी सत्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता। उसका यह विश्वास एकदम सही था कि समाज को सुधार की तुरन्त आवश्यकता है और उस सुधार को इंगित करके उसने अपनी बौद्धिक प्रखरता एवं दूरदर्शिता का परिचय दिया। यह कोई कम श्रेय की बात नहीं कि जिन महान् कानूनी तथा संसदीय सुधारों का उसने अधिवक्तन किया उनमें से लगभग सभी को अब तक व्यवहारिक रूप दिया जा चुका है। उसके द्वारा प्रस्तावित सुधारों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे तत्कालीन ब्रिटिश समाज की पूर्ति करने वाले थे। औद्योगिक क्रांति के महान् अभिनेताओं ने यह देखा कि पुराने कानून प्रगति में बाधा डाल रहे थे; उन्होंने इस बात की माँग की कि वह कुशलता, सस्तापन तथा एकरूपता जोकि वे औद्योगिक जगत में ले आये थे, शासन तथा क़ानून में भी आने चाहियें। वे बर्क के रूढ़िवाद तथा भूमिपतियों के कुलीनतन्त्र के प्रति उसके सम्मान को दिल से नापसंद करते थे; किन्तु वे 'गोडविन' (Godwin) तथा शैली (Shelley) के अराजकतावाद से भी घृणा करते थे। वे महत्त्वपूर्ण सुधार तो चाहते थे; किन्तु अति-महत्त्वपूर्ण नहीं; उनकी इच्छा थी कि राजनीतिक शक्ति भूमिपति-वर्ग के हाथ से निकल कर स्वयं उनके हाथ में आ जाये। परन्तु वे यह कदापि नहीं चाहते थे कि शक्ति उनके हाथ में से भी निकल कर सर्वसाधारण के हाथों में चली जाय। जो कुछ वह चाहते थे वह उन्हें बेन्थम तथा उसके अनुयायी रैडिकल दार्शनिकों द्वारा प्रस्तावित सुधारों में मिला। वेपर के शब्दों में "कुलीनतन्त्र के विशेषाधिकारों के ऊपर उन्होंने इतना कटु, जोरदार तथा निर्भीक आक्रमण किया कि जिसकी किसी भी नये उद्योगपति को इच्छा हो सकती थी"; परन्तु साथ ही साथ उन्होंने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त तथा फ्रांस में क्रांतिकारियों की विजय के परिणामों की भी कटु आलोचना की। एक कानूनी तथा

राजनीतिक सुधारक के रूप में बेन्थम ने जो कुछ किया उसके महत्त्व को पूर्ण रूप से समझने के लिए उन कल्याणकारी कानूनों का विवरण देना आवश्यक होगा जोकि ब्रिटेन में १९वीं शताब्दी में बनाये गये और जिनके पीछे उसकी आत्मा स्पष्ट रूप से प्रलक्षित होती है; परन्तु यहाँ हम ऐसा नहीं कर सकते। केवल इतना ही कहना काफी होगा कि बेन्थम के आविर्भाव के साथ विधेयन जड़ता का युग समाप्त हो गया और उसका स्थान उत्तरोत्तर बढ़ती विधेयन-क्रिया के युग ने ले लिया जोकि अभी समाप्त नहीं हुआ। इस सिद्धान्त के समस्त विधि-निर्माण का ध्येय और उद्देश्य जन-सुख है। इसने समाज-सुधार को एक नया मापदण्ड प्रदान किया और राजनीतिक जनतन्त्रवाद को प्रेरित किया। इङ्गलैण्ड के ऊपर उपयोगितावादियों का ऋण कितना बड़ा है इसका उल्लेख हम इस अध्याय के अन्त में करेंगे।

बेन्थम का यह कथन कि मनुष्य राज्य के कानूनों का स्वाभाविक रूप से पालन इसलिए करते हैं क्योंकि वे उन्हें अपने भौतिक हितों की पूर्ति के लिए उपयोगी समझते हैं, क्योंकि जैसा कि बेन्थम स्वयं कहता है कि "आज्ञापालन से संभावित दोष अवज्ञा के दोषों से कम हैं", राजाज्ञा-पालन के कर्त्तव्य की एक समुचित तथा सन्तोष-जनक व्याख्या नहीं मानी जा सकती। यह इतनी सरल है कि यह पूर्ण सत्य नहीं हो सकती; रूसो की सामान्य इच्छा (General Will) का सिद्धान्त जिसका कि स्पष्टी-करण ग्रीन ने "सामान्य उद्देश्यों की सामान्य चेतना" की धारणा के रूप में किया, बेन्थम के उपयोगितावादी सिद्धान्त से कहीं अधिक मान्य है। किन्तु इसमें एक महान् गुण है और वह यह कि यह राजनीतिक समाज अथवा राज्य के आधार को सदैव समकालीन रखता है। आज्ञापालन के आधार की खोज हमें सुदूरभूत में अपने पूर्वजों द्वारा किये गये किसी समझौते अथवा संविदा में नहीं करनी चाहिए जैसा कि १७वीं शताब्दी के संविदावादी करते थे, और न ही संविधान के बाध्यकारी (Prescriptive) स्वरूप में करनी चाहिए जैसा कि बर्क ने किया है; इसकी खोज तो हमें नागरिकों के प्रति की हुई सरकार की प्रत्यक्ष तथा तत्कालीन सेवाओं में करनी चाहिए। इस प्रकार बेन्थम ने इस सिद्धान्त के ऊपर ज़ोर दिया कि सरकार को अपनी दिन-प्रतिदिन की नीति तथा आचरण को जनमत के सामने उचित सिद्ध करना चाहिए। निश्चित रूप से ही यह सिद्धान्त नैसर्गिक अधिकारों के सिद्धान्त से भी अधिक क्रांतिकारी था; इस व्यापारिक प्रवृत्ति से बड़े गम्भीर परिणाम निकलते हैं।

इस व्यापारिक दृष्टिकोण के कारण बेन्थम ने व्यक्ति को इतना ऊँचा उठाया और सामाजिक तथा राजनैतिक संस्थाओं को व्यक्ति के जीवन के अधीन कर दिया। उसने उन्हें उपयोगिता की कसौटी पर कसा। सरकार एक रहस्यमयी चीज न रही और उसे तत्कालीन स्थिति में सुधार करने के लिए एक यन्त्र समझा जाने लगा। इस प्रकार बेन्थम ने संसार भर में अकुशल संस्थाओं के सुधार को प्रेरित किया। वह निरपेक्ष नैतिक नियमों तथा नैसर्गिक कानूनों को निरर्थक समझता था। यहाँ तक कि कानून और राजसत्ता की परिभाषा उसने विधेयात्मक रूप में की है। जैसा कि पहले

ही बताया जा चुका है, कानून को प्रकृति का एक रहस्यमय आदेश अब नहीं समझा जा सकता था; उसे तो अब सम्प्रभु की इच्छा की अभिव्यक्ति-मात्र समझा जाने लगा। इसी धारणा को 'जॉन ऑस्टिन' ने और अधिक विकसित किया है और यह कानून तथा राजसत्ता की न्यायवादी धारणा का आधार बन गई। इस बात से इन्कार करने की आज्ञा देने का राज्य को नैतिक अधिकार है और आज्ञापालन करना नागरिकों का एक नैतिक कर्त्तव्य है। बेन्थम ने राजनीति-शास्त्र तथा आचार-शास्त्र में पूर्ण रूप से पृथक्करण कर दिया जैसा कि उससे पहले मैकियावेली (Machiavelli) तथा हॉब्स (Hobbes) कर चुके थे। यद्यपि एक दूसरे ढंग से और दूसरे अर्थों में उसने इन दोनों में सामंजस्य भी स्थापित किया। बेन्थम की उपरोक्त देन का विवरण तब तक अधूरा रहेगा जब तक कि हम उसकी विधिशास्त्र के क्षेत्र में की गई सेवाओं का उल्लेख न करें। दण्ड विधान के न्यायशास्त्र के क्षेत्र में उसका बड़ा भारी प्रभाव पड़ा है, उसने कानूनों के संहिताकरण पर बड़ा जोर दिया और उनको एक सरल और स्पष्ट भाषा में व्यक्त करने पर बल दिया। उसने कहा कि न्याय प्रबन्ध सरल, सस्ता तथा द्रुतगति से होना चाहिये। राजनीतिक विचार को बेन्थम की क्या देन है, इसका विवरण प्रोफेसर मैक्सी ने निम्नलिखित सुन्दर शब्दों में किया है:—
"यह वह सिद्धान्त था जिसने समस्त माने हुए राजनैतिक सिद्धान्तों की जड़ों को हिला दिया। अपने निर्मम तर्क द्वारा बेन्थम ने नवीनतावादी तथा रूढ़िवादी विचार की प्राचीन धारणाओं को एकदम भुला दिया; स्वतंत्र तथा निरंकुश राज्यों के सैद्धांतिक मतभेद को उसने नष्ट कर दिया; उसने यह घोषित कर दिया कि दैविक अधिकार, ऐतिहासिक अधिकार, नैसर्गिक अधिकार, संविदात्मक अधिकार तथा संविधानी अधिकार सभी मूर्खतापूर्ण हैं। उसने घोषणा की कि शासन करने का स्वतंत्र होने का कोई अधिकार नहीं; यहाँ तो केवल एक बात है और वह है शक्ति तथा वे परिस्थितियाँ जिन्होंने उस शक्ति को सत्य बनाया। किसी निरपेक्ष सत्य में विश्वास करना मूर्खता है; एक विवेकपूर्ण शासन कला तथा नागरिकता के लिए हमें शक्ति के स्वरूप तथा कानूनों को समझना चाहिए और उनका कल्याणकारी उद्देश्य के लिए प्रयोग करना चाहिए।"

जेम्स मिल (James Mill)

जर्मी बेन्थम के जीवन का वर्णन करते हुए हमने एक स्थान पर कहा था कि वह अपने जीवन के प्रथम भाग में, जोकि १८वीं शताब्दी में था, ब्रिटिश राजनीतिक जीवन से बिल्कुल अलग-अलग रहा। इस काल में वह उपयोगिता सिद्धान्त के आधार पर अपना दर्शन विकसित करने में लगा रहा। यद्यपि उसने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अपनी प्रथम कृति "Fragment on Government" में किया था जोकि १७७६ में प्रकाशित हुई थी, तथापि यह इङ्गलैंड में राजनीतिक सुधार आन्दोलन का आधार सन् १८०८ तक नहीं बना। हाँ, विदेशों में यह अधिक जनप्रिय था। इस सिद्धान्त को इङ्गलैंड में एक सजीव शक्ति बनाने का श्रेय जेम्स मिल

को है जोकि उसके शिष्यों में शायद सबसे अधिक योग्य और अपनी बात पर सबसे अधिक अटल रहने वाला था। उसने बेन्थम को रैडिकलवाद का अनुयायी बनाया और वह स्वयं बेन्थम का एक पक्का अनुयायी बन गया। अपने गहरे मनोवैज्ञानिक ज्ञान तथा अपने ग्रन्थ "Essays on Government" में अपने गुरु की शिक्षाओं के अनुसार शासन-सिद्धान्त का विकास करके उसने उपयोगितावाद की बड़ी सेवा की। यद्यपि उसने बेन्थम की आधारभूत धारणाओं में कोई नई बात नहीं बढ़ाई, किन्तु उसने ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के द्वारा उसके उपयोगितावाद को चार चाँद लगा दिये जोकि बेन्थम स्वयं न कर पाया था। उसके "Analysis of the Phenomena of the Human Mind" में उपयोगितवाद को एक स्पष्ट मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक आधार प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है, और उसका "Principles of Political Economy and Taxation" उसे एक आर्थिक आधार प्रदान करता है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण उसकी अपने पुत्र जॉन स्टूअर्ट मिल (John Stuart Mill) को बेन्थमवादी परम्पराओं का एक सच्चा उत्तराधिकारी बनाने की उत्कट कामना थी। तरुण जॉन के मस्तिष्क को समुचित शिक्षा द्वारा पूर्णतया उपयोगितावादी बनाने का उसने भरसक प्रयत्न किया। शील्ड्स के शब्दों में "दैनिक खेल-कूद, पठन-पाठन, भाषण तथा वार्तालाप में जेम्स मिल ने अपने पुत्र के मस्तिष्क को बेन्थम की प्रतिमूर्ति के अनुकूल ढालने का पूरा प्रयत्न किया।" वह अपने इस प्रयास में काफी सफल हुआ; जॉन स्टूअर्ट मिल एक पक्का और उत्साही बेन्थमवादी बन गया, उपयोगिता का सिद्धान्त उसके लिये उसी के शब्दों में "एक विश्वास, एक सिद्धान्त, एक दर्शन तथा एक धर्म" बन गया। उसने उसकी विभिन्न धारणाओं को एकता प्रदान की परन्तु प्रकृति ने उसे उसके पिता की अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण और सूक्ष्म मस्तिष्क प्रदान किया था, इसलिये वह अपने वंशानुगत विश्वास से अधिक दिन तक संतुष्ट न रह सका। उसके खुले हुये मस्तिष्क ने अन्य स्रोतों से भी प्रकाश ग्रहण किया; उसे ऐसे विचारों से भी सत्य का दर्शन हुआ जिनमें एक अधिक पक्के उपयोगितावादी को कुछ भी नहीं मिल सकता था। इसका परिणाम यह हुआ कि उसने बेन्थम के सिद्धान्त में ऐसे परिवर्तन और संशोधन कर डाले जिनका अर्थ था बेन्थमवाद का परित्याग, यद्यपि उसने खुल्लम खुल्ला उसका तिरस्कार कभी नहीं किया।

अब हम जॉन स्टूअर्ट मिल के विचारों पर आते हैं। प्रारम्भ में हम उसके जीवन और रचनाओं का एक संक्षिप्त विवरण देंगे।

जॉन स्टूअर्ट मिल (John Stuart Mill)

उसका जीवन तथा रचनायें— जॉन स्टूअर्ट मिल का जन्म लन्दन में २१ मई सन् १८०६ को हुआ और ८ मई १८७३ को फ्रांस के अविगनॉन नामक स्थान पर उसका देहावसान हो गया। उसकी औपचारिक शिक्षा का आरम्भ उसके पिता के नियन्त्रण में हुआ जोकि कठोर और घोर परिश्रम लेने वाला था। उसने तीन वर्ष की

अवस्था में ग्रीक का और ८ वर्ष की अवस्था में लैटिन का अध्ययन आरम्भ किया। इस अवस्था तक उसने प्लैटो तथा हिरोडोटस को समाप्त कर लिया था और सीनोफॉन (Scenophon) का भी काफी अध्ययन कर लिया था। १२ वर्ष की अवस्था में उसने दर्शनशास्त्र का गम्भीर अध्ययन प्रारम्भ किया और होमर (Homer), थ्यूसीडाइड्स (Thucidides), अरिस्टोफेन्स (Aristophanes), डिमॉन्सथेनीज़ (Demonsthenes) तथा अरस्तु के तर्कवाद (Rhetoric) का अध्ययन किया। फलत: उसने अपने बचपन में ही इतना ज्ञान प्राप्त कर लिया और वह एक इतने कठोर बौद्धिक अनुशासन में से गुजरा जितना कि साधारणतया नहीं होता। परन्तु इसके लिये उसे एक भारी मूल्य चुकाना पड़ा, उसका स्वास्थ्य गिर गया और वह अकाल ही बूढ़ा हो गया। इसके अतिरिक्त इस काल में जॉन की भावनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति न हुई और प्रकृति के सौन्दर्य का आनन्द उठाना उसने नहीं सीखा। एक वर्ष तक फ्रांस में घूमने और दृश्य देखने से इन दोषों की पूर्ति हुई। फ्रेंच भाषा का प्रयोग भी वह धाराप्रवाह रूप से कर सकता था। प्रकृति के प्रति अगाध अनुराग, यात्रा का आनन्द तथा फ्रेंच भाषा के प्रयोग की सुगमता— ये सब बातें जीवनपर्यन्त उसके साथ रहीं।

इङ्गलैण्ड वापिस आने पर उसने बेन्थम का अध्ययन आरम्भ किया। वह एक पक्का बेन्थमवादी बन गया जैसा कि उसका पिता उसे बनाना चाहता था, और उसने अपने आपको राजनीतिक सुधार के कार्यों में लगा दिया। १७ वर्ष की अवस्था में उसने एक मौलिक उपयोगितावादी संस्था को जन्म दिया, जिसका उद्देश्य था रैडिकलिज़्म का अध्ययन तथा प्रचार करना। उसने 'वैस्टमिन्स्टर रिव्यू' के सूत्रपात में भी सहायता दी। उसमें उसने जो लेख दिये उनमें बहुत से महत्त्वपूर्ण और विलक्षण थे, जोकि उसके एक भव्य साहित्यिक भविष्य की सूचना देते थे। वह 'लन्दन रिव्यू' का भी सम्पादक बन गया जोकि आगे चलकर 'लन्दन एण्ड वैस्टमिन्स्टर रिव्यू' हो गया और वह 'Speculative Debating Society' तथा 'Political Economy Club' में भर्ती हो गया। जिस समय वह इन विभिन्न साधनों से रैडिकलिज़्म का पोषण कर रहा था उसका स्वास्थ्य गिर गया। २० वर्ष की अवस्था में उसे हल्के से हृदय-रोग (Nervous breakdown) का सामना करना पड़ा। इसे उसने अपने बौद्धिक इतिहास में एक संकट कहकर पुकारा है। उसका कारण उसने वह शारीरिक तथा मानसिक कार्य-भार बतलाया जोकि उसे अपने बचपन से उठाना पड़ा था। वह बहुत सुस्त रहने लगा। उसे सदाचार तथा सामान्य हित में कोई आनन्द न आ सका, परन्तु किसी अन्य वस्तु में भी उसे कोई सुख न मिल सका। निरन्तर विश्लेषण की आदत की भावनाओं ने उसकी भावनाओं के स्रोत को शुष्क कर दिया। उसकी भावनायें, जिनकी कि उसके भावनाहीन पिता द्वारा थोपे हुए कठोर अनुशासन के कारण घोर अवहेलना की गई थी, अब तृप्ति की माँग करने लगीं। 'जॉन स्टूअर्ट मिल' अब 'वर्ड्सवर्थ' (Wordsworth), 'कोलरिज' (Coleridge) तथा गेटे (Goethe)

की रचनाओं की ओर आकर्षित हुआ और उनके अध्ययन से सत्य की एक ऐसी झाँकी उसे मिली जोकि बेन्थम की दृष्टि में कभी न आई थी। अब 'मिल' ने अनुभव किया जैसा उसने पहले कभी अनुभव नहीं किया था कि बेन्थम हृदय जीवन की अधिक मार्मिक वस्तुओं को स्पर्श नहीं कर पाया था और वह मानव मस्तिष्क की सूक्ष्म क्रियाओं से भी अपरिचित था। जॉन मिल के स्वभाव और चिन्तन में एक क्रांति आ गई; डेविडसन (Davidson) के शब्दों में उसके अन्दर "एक नवीन मानव का आविर्भाव हुआ जिसमें अधिक गहरी सहानुभूति थी, जिसका बौद्धिक दृष्टिकोण अधिक व्यापक था, जिसने मानव-प्राणी की आवश्यकताओं को अधिक समझा था और जिसने बुद्धि के साथ-साथ भावनाओं की तृप्ति के महत्त्व का भी अनुभव किया था।" इस बौद्धिक संकट का अन्त २५ वर्ष की अवस्था में हुआ जबकि एक अत्यन्त प्रतिभा-शाली सुन्दरी श्रीमती 'हेरियट टेलर' (Harriet Taylor) 'मिल' के संसर्ग में आई। 'टेलर' के साथ अपने सम्बन्ध को 'मिल' ने अपने जीवन की सबसे अधिक मूल्यवान मित्रता कहकर पुकारा है। यह मित्रता लगभग २० वर्ष तक चली। इस बीच में दोनों ने बहुत सी रचनाओं में सहयोग किया। उसने श्री 'टेलर' की मृत्यु के बाद श्रीमती 'टेलर' से अपना विवाह कर लिया और दोनों एक शान्तिमय तथा आनन्दपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे। 'मिल' ने अपना 'On Liberty' नामक निबन्ध उसी को समर्पित किया जोकि "मेरे लेखों में जो भी सर्वोत्तम है उसकी प्रेरक है तथा आंशिक रूप से उसकी लेखिका का भी, जोकि मेरी मित्र और पत्नी है जिसकी सत्य तथा सद् की उत्कृष्ट भावना मेरी सबसे सबल प्रेरणा रही है और जिसकी प्रशंसा मेरा प्रमुख पुरस्कार था।" अपने बौद्धिक संकट में 'मिल' को विश्वास हो गया कि एक सुविकसित व्यक्तित्व के लिये भावनाओं की तृप्ति आवश्यक है। उसका यह विश्वास उसके पिता की शिक्षाओं के एकदम विपरीत है। उसकी एक दूसरी धारणा कि आनन्द प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग है बाह्य लक्ष्य को जीवन का उद्देश्य समझना बेन्थम की शिक्षाओं को तिलांजलि देने की सूचना दे सकता है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि यह संकट 'मिल' का अपने पिता के बौद्धिक शासन के विरुद्ध 'विद्रोह' तथा बेन्थमवादी उपयोगितावाद में संशोधन तथा परिवर्तन की प्रक्रिया का आरम्भ बिन्दु है। यह बात उल्लेखनीय है कि उसके चिन्तन पर उसकी पत्नी का गहरा प्रभाव पड़ा जो कि अत्यन्त लाभदायक था। उसकी सबसे अधिक सुन्दर कृति की रचना उसी समय से होनी आरम्भ हुई जबकि श्रीमती 'हेरियट टेलर' से उसका संसर्ग हुआ। वह उसकी रचनाओं में एक समुचित मानवीय तत्त्व का स्रोत बन गई। सन् १८५८ में 'एविगनॉन' में श्रीमती 'हेरियट मिल' का अकस्मात् देहान्त हो गया। सन् १८७३ में एविगनॉन में ही 'मिल' का भी शरीरान्त हो गया और उसे अपनी पत्नी के बराबर ही कब्र में लिटा दिया गया। जॉन स्टूअर्ट मिल को 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' में 'एग्ज़ामिनर ऑफ इण्डियन कारस्पाण्डेंस' के दफ्तर में अपने पिता के अधीन एक नौकरी मिल गई। वह दफ्तर का प्रधान अथवा

एग्ज़ामिनर बन गया; अपने इस पद पर वह १८५८ तक कम्पनी के समाप्त होने तक रहा। यह बात उल्लेखनीय है कि जिस समय कम्पनी का अन्त होने वाला ही था 'मिल' ने पार्लियामेंट के लिए एक याचिका लिखी जिसके सम्बन्ध में 'लार्ड ग्रे' ने यह घोषणा की कि जो राजकीय अभिलेख मैंने पढ़े हैं उनमें यह सर्वोत्तम है। सन् १८५८ में उसने पेंशन लेकर अवकाश ग्रहण किया और अपना समय साहित्य कार्यों में लगाया। तीन वर्ष तक (१८४६ से १८४८ तक) वह 'वैस्टमिन्स्टर' में प्रतिनिधि के रूप में संसद् का एक रैडिकल सदस्य रहा, किन्तु संसद् में उसे कोई विशेष सफलता न मिल सकी।

'मिल' का रचना क्षेत्र बड़ा व्यापक है। उसने न्याय-शास्त्र, अध्यापन-शास्त्र, आचार-शास्त्र, अर्थशास्त्र तथा राजनीति-शास्त्र, सारांश यह है कि मनुष्य से व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से सम्बन्ध रखने वाले लगभग समस्त विषयों पर रचनायें की हैं। उसने कानून या कानून-सुधार के विषय में तो अधिक नहीं लिखा क्योंकि वह वकील नहीं था। सन् १८४१ में प्रकाशित हुआ 'System of Logic' उसका शायद सबसे महान् ग्रन्थ है; न्याय-अनुसंधान में यह एक युग की सूचना देता है और आगमनात्मक प्रमाण के विश्लेषण के लिए यह विख्यात है। १८४८ में प्रकाशित हुई उसकी 'Principles of Politicat Economy' भी एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है, इन दोनों रचनाओं के उसके जीवन में कई संस्करण निकले। आध्यात्मिक-शास्त्र के ऊपर उसकी रचनाओं में 'Examination of Hamilton's Philosophy' and 'Auguste Comte and Positivism' उल्लेखनीय हैं। राजनीति-शास्त्र के ऊपर उसकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं— 'On Liberty' (१८५९), 'Representative Government' (१८६१), 'Utilitarianism' (१८६१), 'Parliamentary Reform' तथा 'Subjection of Women'। ये पुस्तकें उस समय प्रकाशित हुई जबकि 'मिल' एक दार्शनिक के रूप में सुविख्यात हो चुका था और अपने समय का सबसे अधिक प्रभावशाली विचारक माना जा चुका था। ये इतनी बड़ी और विस्तृत नहीं हैं जितनी की न्यायशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा आध्यात्मिक शास्त्र के ऊपर उसकी रचनायें हैं। शायद वह बेन्थमवाद की आधारभूत बातों को इतनी अकाट्य समझता था कि उनके लिये अधिक स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नहीं थी। उसकी आत्म-कथा तथा धर्म के ऊपर निबन्ध उसकी मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित हुए। यहाँ हम केवल उसके आचार-शास्त्र तथा राजनीति शास्त्र सम्बन्धी विचारों की ही समीक्षा करेंगे।

यह कहा जाता है कि लगभग उसकी तमाम कृतियों में, परन्तु विशेष रूप से उसके आचार-शास्त्र तथा राजनीति-शास्त्र सम्बन्धी रचनाओं में "उसकी सामान्य स्थिति यह है कि उसने पुराने उपयोगितावादी सिद्धान्त का एक अत्यन्त अमूर्त वर्णन किया है; किन्तु सिद्धान्त को व्यक्त करने के उपरान्त उसने कुछ रियायतें करनी और कुछ बातों को इस प्रकार व्यक्त करना आरम्भ किया कि अन्त में पुराना

कि बेन्थम के एक अधिक संगतिबद्ध उपयोगिता सिद्धान्त को सचमुच कोई वास्तविक देन तो वह न दे सका। इसके विपरीत मिल ने उपयोगिता सिद्धान्त में तथा परम्परागत आचार की मान्यताओं में संगति स्थापित करने का भी प्रयत्न किया। उससे इसका सच्चा अर्थ और महत्त्व ही धूमिल पड़ गया। बेन्थम के हाथों में यह सिद्धान्त एक ऐसा मापदण्ड था जिससे कि परम्परागत नैतिकता की मान्यताओं का मूल्यांकन किया जा सकता था। मिल के हाथों में पहुँच कर यह एक ऐसा सिद्धांत बन गया जिसकी सहायता से उन मान्यताओं के बौद्धिक स्वरूप की व्याख्या की जा सकती थी।

मिल की शिक्षाओं की असंगतियों पर आवश्यकता से अधिक जोर देना उनके वास्तविक मूल्य को खो देना है। यदि हम उसकी ऐतिहासिक स्थिति को याद रखें तो उसके बारे में हमारी धारणायें अधिक सच्ची और अधिक अच्छी होंगी। उसे उत्तराधिकार में १८वीं शताब्दी के मूल्य मिले थे, इसलिये वह एक ऐसे नवीन दर्शन को जन्म नहीं दे सकता था जो १९वीं शताब्दी की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। किन्तु उसके लेख नवीन दर्शन का संकेत अवश्य करते हैं। हम इस सम्बन्ध में कुछ और अधिक उस समय कहेंगे जबकि हम विचारों के इतिहास में 'मिल' के वास्तविक स्थान की समीक्षा करेंगे।

स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में मिल के विचार—बेन्थमवादी उपयोगितावाद के मूल तत्त्वों से मिल का मतभेद उसके 'On Liberty' नामक सुविख्यात निबन्ध में प्रकट हुआ, जो कि उसके 'Utilitarianism' नामक ग्रन्थ से कुछ ही वर्ष पूर्व १८५९ में प्रकाशित हुआ था। कुछ विलक्षण परिस्थितियों के कारण व्यक्ति की स्वतन्त्रता १९वीं शताब्दी के मध्य में इङ्गलैंड में राजनीतिक चिंतन का प्रधान विषय बन गई थी। बेन्थम तथा उसके उपयोगितावादी अनुयायियों के सुधारवादी कामों के परिणाम-स्वरूप शासन का अधिकार-क्षेत्र बढ़ गया था और नागरिकों की क्रियाओं पर राज्य का नियन्त्रण बढ़ने लगा। संसद द्वारा बनाये हुये बाल-श्रम सम्बन्धी कानूनों ने बच्चों की अपनी आजीविका कमाने की स्वतन्त्रता को और माता-पिता की उसे काम पर भेजने की स्वतन्त्रता को सीमित कर दिया था। फैक्ट्री कानूनों ने अपने दैनिक जीवन को अनुशासित करने की मजदूरों की स्वतन्त्रता पर इसी प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये थे। स्वच्छता के स्तर को ऊँचा उठाने के लिये सरकार ने जो क़दम उठाये उन्होंने व्यक्तिगत स्वच्छता के विषय में नागरिकों की स्वतन्त्रता को सीमित कर दिया था। अधिकतम जनता के अधिकतम सुख की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने के फलस्वरूप सरकार का आकार भी बढ़ गया क्योंकि उसकी सेवाओं का विस्तार हो गया था। दूसरी ओर, मताधिकार को अधिक व्यापक बनाने तथा शिक्षा की सुविधाओं को विस्तृत करने का आन्दोलन चल रहा था ताकि नागरिकगण अपने उत्तरदायित्वों और कर्त्तव्यों को अच्छी तरह समझ सकें। स्वायत्त शासन की पुनर्स्थापना ने नागरिकों की अपने देश के शासन में भाग लेने की इच्छा को और

अधिक तीव्र बना दिया था। "इस प्रकार एक ओर तो केन्द्रीय सरकार की शक्तियों में वृद्धि, तथा सामाजिक व्यवस्थापन जन-कल्याण के लिये सामूहिक कार्य के महत्त्व पर बल देते थे, और दूसरी ओर मताधिकार का विस्तार, शिक्षा का प्रसार तथा स्वायत्त शासन का पुनरुत्थान व्यक्तिगत प्रयत्न के महत्त्व पर बल देते थे।"*

व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा समाज और व्यक्ति में परस्पर सम्बन्ध की समस्या को विचार-क्षेत्र में सबसे आगे लाने में हीगल द्वारा प्रतिपादित सामाजिक विकास के सिद्धान्त तथा हर्बर्ट स्पेंसर द्वारा उसे दिये रूप ने भी योग दिया। यह प्रश्न पूछा जाने लगा कि क्या सामाजिक संस्थायें सामाजिक विकास की उत्पत्ति हैं या उन्हें व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा नियंत्रित किया जा सकता है और उनकी रूपरेखा निर्धारित की जा सकती है। बेन्थमवाद को राजनीतिक जीवन पर आरोपित करने के परिणामों ने भी विचारशील व्यक्तियों को समाज तथा व्यक्ति के सम्बन्धों पर फिर से विचार करने के लिये प्रेरित तथा विवश किया। यद्यपि बेन्थम एक व्यक्ति-वादी था क्योंकि वह व्यक्ति को ही अन्तिम इकाई और सत्य समझता था तथापि डॉयल के शब्दों में 'उसकी प्रवृत्ति विधायक की शक्तियों को अत्यन्त ऊँचा उठाने की थी। ...... व्यवस्थापिका सर्वोच्च थी; उसके कार्य जो कि बहुमत की इच्छाओं के योग का प्रतिनिधित्व करते थे, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकते थे। ... . बेन्थम के सिद्धान्त में निहित बहुमत द्वारा कठोर नियंत्रण अब सिद्धान्त से व्यवहार का रूप ले रहा था। ...... (इस समय) कार्य तथा विचार की स्वतन्त्रता जोकि अहमंन्यता का परिणाम है और आत्म-चेतना के विकास की आवश्यकता दाँव पर रखी हुई थी।"†

ऐसी परिस्थितियों में मिल के लिये, जो कि व्यक्ति को स्वतन्त्रता का बड़ा भक्त था, उसका बचाव करना स्वाभाविक था। उसका फल हुआ उसका सुविख्यात निबन्ध 'On Liberty', जो कि इस विषय पर उतनी ही महान् कृति समझी जाती है जितनी कि मिल्टन का 'Areopagitica'। न केवल व्यवस्थापित हस्तक्षेप के

* "So on one side the growth of the central government of the country and the increase of social legislation emphasised the importance of communal action over the welfare of the masses: and on the other side the extension of the franchise, of education and the revival of local government emphasised the importance of individual effort."

—Doyle: *A History of Political Thought*, page 249.

† "He tended to exalt powers of the legislator far too high. The legislative body was supreme; its acts representing the sum total of the majority's desires could interfere in every sphere of life ...... The suggestion of rigid control by the majority implied in Bentham's theory was passing from theory into practice .... Liberty of action and thought, the corollary of egoism and a necessity for development into self-consciousness, was at stake."

—Doyle: *ibid*, page 250.

विरुद्ध बल्कि जनमत तथा परम्पराओं के दबाव के विरुद्ध भी, विचार, अभिव्यक्ति तथा कर्म की स्वतन्त्रता का यह एक जोरदार समर्थन है। सामाजिक व्यवस्थापन द्वारा सामान्य जन-सुख की वृद्धि के लिये अपने प्रयत्नों में ब्रिटिश सरकार जिस प्रकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप कर रही थी उससे मिल को विश्वास हो गया कि जनता का बहुमत भी उतना ही आततायी हो सकता है जितना कि भूतकाल में निरंकुश शासक हुआ करते थे। उसने महसूस किया कि जनप्रिय शासन की शक्तियों की भी सीमायें होनी चाहियें, क्योंकि—

"एक स्वतन्त्र राज्य में जो लोग शक्ति का प्रयोग करते हैं वे सदैव वे लोग नहीं होते जिनके ऊपर कि वह प्रयुक्त होती है; और उपरोक्त स्वशासन प्रत्येक का अपने ऊपर शासन नहीं है बल्कि प्रत्येक पर शेष सबका शासन है। ...... इसलिये व्यक्तियों के ऊपर सरकार की शक्ति की सीमा का महत्त्व इसलिये कम नहीं हो सकता कि शासकगण नियमित रूप से समाज के प्रति उत्तरदायी हैं। ...... अब राजनीतिक कल्प-विकल्प में बहुमत के अत्याचार को साधारणतया बुराइयों में सम्मिलित किया जाता है जिनसे समाज को अपनी रक्षा करनी आवश्यक है।"*

मिल इससे भी एक कदम आगे जाता था। उसका विश्वास था कि व्यक्ति को केवल अङ्गरक्षकों के अत्याचार से ही सुरक्षा की आवश्यकता नहीं है, बल्कि उसे समाज की निरंकुशता से बचाना भी आवश्यक है। साधारणतया समाज की प्रवृत्ति यह रहती है कि वह 'कानूनी दण्ड विधान के अतिरिक्त अन्य साधनों द्वारा अपने विचार और व्यवहार आचरण के नियमों के रूप में उन लोगों के ऊपर लाद दे जो कि उनको मानते हों; ऐसे व्यक्तित्व के निर्माण को अवरुद्ध करदे, और यदि सम्भव हो, तो सर्वथा रोक दे, जो उसके अपने विचारों से सामंजस्य न रखता हो और सब लोगों को अपने ही ढर्रे के अनुकूल अपने चरित्र-निर्माण करने को विवश करदे।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि मिल जिस स्वतन्त्रता का पक्ष पोषण करता है वह एक व्यापक स्वतन्त्रता है। यह व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व को विकसित करने, प्रसारित करने तथा भव्य बनाने की स्वतन्त्रता है। वह विचार तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थन इसलिये करता था क्योंकि उसे विश्वास था कि व्यक्ति में बौद्धिक एवं नैतिक चरित्र को विकसित करने तथा सीमाओं को खोजने में यह

* "The people who exercise power in a self-governing state are not always the same people with those over whom it is exercised; and the self government spoken of is not the government of each by himself, but of each by all the rest .... The limitation, therefore, of the power of government over individuals loses none of its importance when the holders of power are regularly accountable to the community .... In political speculations "the tyranny of the majority" is now generally included among the evils against which society requires to be on its guard." —*On Liberty*: Chapter I.

सामाजिक दृष्टिकोण से उपयोगी है। स्वतन्त्र वाद-विवाद में से ही उपयोगी विचारों का जन्म होता है। सारांश यह है कि मिल स्त्रतन्त्रता का समर्थक इसलिये था क्योंकि वह जानता था कि स्वतन्त्रता के अभाव में कोई आत्म-विश्वास नहीं हो सकता। निःसन्देह स्वतन्त्रता की यह अधिक पूर्ण और भव्य धारणा मिल के मस्तिष्क में धीरे-धीरे परिपक्व होती जा रही थी; यह वह नहीं है जो कि उसे अपने पिता तथा बेन्थम से विरासत में मिली थी, यह तो स्वयं उसी की उन युक्तियों में भी नहीं मिलती जो कि उसने स्वतन्त्रता के पक्ष में दी हैं और जिनकी समीक्षा अब हम करेंगे। इनका वर्णन उसी के जोरदार शब्दों में देना अधिक अच्छा होगा। वह लिखता है—

"इस निवन्ध का उद्देश्य एक बहुत ही सरल सिद्धान्त को व्यक्त करना है, जिसे कि समाज के व्यक्ति के प्रति नियन्त्रण और अनिवार्यता के व्यवहार को अनुशासित करने का पूर्ण अधिकार है, चाहे उसके लिये जो साधन प्रयुक्त होते वह कानूनी दण्ड के रूप में भौतिक शक्ति हो या जनमत का नैतिक बल। वह सिद्धान्त यह है कि मानव-जाति व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से अपने किसी भी घटक की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप केवल एक बात के लिये कर सकती है और वह है आत्म-रक्षा। एक सभ्य समाज के किसी भी घटक के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग केवल एक उद्देश्य के लिए उचित हो सकता है और वह है उसे दूसरों को हानि पहुँचाने से रोकना। उसका अपना हित, भौतिक अथवा नैतिक, उसका पर्याप्त औचित्य नहीं है। किसी भी व्यक्ति को किसी काम करने के लिये या न करने के लिये विवश करना इस आधार पर उचित नहीं ठहराया जा सकता कि ऐसा करना उसके लिये हितकर होगा, इससे वह अधिक सुखी होगा, क्योंकि दूसरों के विचार में ऐसा करना बुद्धिमत्ता होगी और ठीक भी होगा। उसके साथ वाद-विवाद करने के लिये और तर्क करने के लिये तो पर्याप्त कारण हैं .... परन्तु उसे विवश करने के लिये या उसके न मानने पर उसे कोई हानि पहुँचाने के लिये यह कोई औचित्य नहीं हो सकता। इसका औचित्य केवल यही हो सकता है कि जिस काम से उसे रोका जाये वह दूसरों के लिये हानिकारक हो। समाज मनुष्य के आचरण के केवल उस भाग को नियन्त्रित कर सकता है जो कि दूसरों से सम्बन्धित हो। स्वयं अपने से ही सम्बन्धित कार्यों में उसकी स्वतन्त्रता, अधिकारतः, निरपेक्ष है, अपने आपका, अपने शरीर तथा मस्तिष्क का व्यक्ति स्वामी है।"*

* "The object of this essay is to assert one very simple principle, as entitled to govern absolutely the dealings of society with the individual in the way of compulsion and control, whether the means used be physical force in the form of legal penalties or the moral coercion of public opinion, That principle is that the sole end for which mankind are warranted, individually or collectively, in interfering with the liberty of action of any of their number is self-protection. That the only purpose for which power can be rightfully exercised

मिल द्वारा किये हुये स्वतन्त्रता के समर्थन को पूर्ण रूप से समझने के लिये हमारे लिये उन मान्यताओं का परीक्षण करना आवश्यक है जोकि उसका आधार हैं और जिन्होंने उसे विकृत कर दिया है।[1] सर्वप्रथम तो यह कि व्यक्ति अपने शरीर तथा मस्तिष्क का स्वामी है और इसीलिये उसे केवल अपने से ही सम्बन्धित प्रत्येक कार्य में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये; इस क्षेत्र में समाज को व्यक्ति के आचरण पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिये, क्योंकि मिल के अनुसार प्रतिबन्ध एक प्रतिबन्ध के रूप में बुरी चीज है। इस मान्यता की सत्यता संदिग्ध है; व्यक्ति की अपने ऊपर संप्रभुता का एक अकाट्य तथ्य नहीं है; इतना ही नहीं सामाजिक जीवन के तथ्य तो इससे ताल नहीं खाते। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि प्रत्येक प्रतिबन्ध को उपयोगिता के आधार पर बुरा भी नहीं समझा जा सकता। जैसा कि मिल स्वयं भी स्वीकार करता है, ऐसी परिस्थितियाँ भी हो सकती हैं जिनमें कि व्यक्ति के विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत कार्यों में भी दूसरों का हस्तक्षेप करना सर्वथा उचित हो, जैसा कि किसी व्यक्ति को आत्म-हत्या करने से रोकना और ऐसे कामों को करने से रोकना जिसके ख़तरनाक परिणामों से वह अनभिज्ञ हो। यदि हम किसी व्यक्ति को विष से भरा हुआ भोजन खाने से रोकते हैं या किसी टूटे हुये जहाज में यात्रा करने को निषेध करते हैं तो क्या इसे उस व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर आक्रमण कहा जायेगा। विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत विषयों में हस्तक्षेप करने को मिल इस आधार पर उचित ठहराता है कि व्यक्ति स्वयं अपने सच्चे हितों को नहीं जानता; समाज उन्हें अधिक अच्छी तरह जानता है, इसलिये वह व्यक्ति के आचरण को संयमित कर सकता है। यह युक्ति खतरे से खाली नहीं है, इसका सहारा लेकर तो इन्क्वीजीशन (Inquisition) जैसी कुख्यात मध्यकालीन परम्पराओं का भी समर्थन किया जा सकता है, क्योंकि यह कहा जा सकता है कि पापी की आत्मा की पतन से रक्षा करना एक धर्म पुरोहित कहीं अधिक जानता है। प्रतिबन्ध के हेय होने का वास्तविक कारण यह है कि यह मानव व्यक्तित्व के विकास को रोकता है। मिल धीरे-धीरे बेन्थमवादी अधिकतम सुख की धारणा के स्थान पर सभ्यता के लक्ष्य के रूप में मानव व्यक्तित्व

over any member of a civilized community, against his will, is to prevent harm to others. His own good, either physical or moral, is not a sufficient warrant. He cannot rightfully be compelled to do or forbear because it will be better for him to do so, because it will make him happier; because, in the opinion of others, to do so would be wise or even right. These are good reasons for remonstrating with him, or reasoning with him .... but not for compelling him or visiting him with any evil in case he do otherwise. To justify that the conduct from which it is desired to deter him must be calculated to produce evil to someone else. The only part of the conduct of any one for which he is amenable to society is that which concerns others. In the part which merely concerns himself, his independence is, of right, absolute. Over himself, over his own body and mind, the individual is sovereign." —*Ibid*, Chapter I.

के विकास को प्रतिष्ठित कर देना है; परन्तु उपरोक्त युक्ति में इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है।*

मिल की युक्ति का एक दूसरा पहलू भी ध्यान देने योग्य है। वह इस बात को अच्छी तरह जानता था कि व्यक्ति की अपने ऊपर संप्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करना स्वतन्त्रता को एक अमूर्त्त अधिकार समझना है। इसलिये उसने निम्नलिखित बात कही— "यह कहना उचित ही है कि मैं उपयोगिता से स्वतन्त्र एक अमूर्त्त अधिकार की धारणा से अपनी युक्ति को कोई बल नहीं पहुँचाना चाहता। मैं समस्त नैतिक प्रश्नों का अन्तिम निर्णय उपयोगिता को समझता हूँ; परन्तु यह महत्तम अर्थ की उपयोगिता होनी चाहिये जोकि एक प्रगतिशील प्राणी के रूप में मनुष्य के स्थायी हितों पर आधारित हो। मेरे विचार में ये हित व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बाह्य रूप से नियन्त्रित करने के अधिकार केवल उन कार्यों के लिये देते हैं जिनका सम्बन्ध दूसरों के हितों से हो।"†

विचार-स्वातन्त्र्य के पक्ष में मिल ने जो युक्तियाँ दी हैं उनकी समीक्षा हम आगे चलकर करेंगे और यह देखेंगे कि वे कहाँ तक उपयोगिता पर आधारित हैं; यहाँ हम तो उसकी युक्ति के अन्य परिणामों की विवेचना करना चाहते हैं।

मिल की दूसरी मान्यता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के कार्य या तो स्व-सम्बन्धी होते हैं या पर-सम्बन्धी। यह भेद उसके लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कर्त्ता के स्व-सम्बन्धी कार्यों, जैसे कि मदिरापान या जुआ खेलना, के सम्बन्ध में समाज को शक्ति का प्रयोग करने का कोई अधिकार नहीं है। यदि व्यक्ति इस क्षेत्र में कोई गलत कार्य करे तो समाज केवल उसे समझाने की चेष्टा कर सकता है; किन्तु उसके साथ वह कोई जबरदस्ती नहीं कर सकता। दूसरे प्रकार के कार्यों में जिनका कि प्रभाव कर्त्ता के अतिरिक्त दूसरों पर भी पड़ता है समाज को यह अधिकार प्राप्त है, बल्कि उसका यह कर्त्तव्य भी है कि वह व्यक्ति को ऐसे काम करने से रोके जोकि दूसरों के लिये हानिकारक हो सकते हों। पहिले प्रकार के कार्यों में व्यक्ति को पूर्ण एवं निरपेक्ष-स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये और दूसरे प्रकार के कामों में सीमित।

---

* "The tendency of the society is usually to impose, by other means than civil penalties, its own ideas and practices as rules of conduct on those who dissent from them ; to fetter the development and, if possible, prevent the formation of any individuality not in harmony with its ways, and compel all characters to fashion themselves upto the model of its own." —*Ibid.*

† "It is proper to state that I forego any advantage which could be derived to my argument from the idea of abstract right as a thing independent of utility. I regard utility as the ultimate appeal on all ethical questions ; but it must be utility in the largest sense, founded on the permanent interests of man as a progressive being. Those interests, I contend, authorise the subjection of individual spontaneity to external control, only in respect to those actions of each, which concern the interest of other people."

यदि हम थोड़ा सा भी ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि यह स्व-सम्बन्धी क्रियाओं का विभेद सर्वथा निरर्थक है, क्योंकि प्राय: प्रत्येक कार्य का प्रभाव ही कर्त्ता के अतिरिक्त और दूसरों पर भी पड़ता है। अत्यधिक मद्यपान करना एक व्यक्ति के स्वास्थ्य को नष्ट कर देता है और फलत: वह व्यक्ति समाज के लिये कम उपयोगी रह जाता है। इसी प्रकार जुआ खेलने से व्यक्ति कंगाल हो जाता है और उसके कटु फल उसके समस्त घर वालों को चखने पड़ते हैं। महाभारत जुएबाजी का परिणाम ही तो था। हम धन के केवल उपभोक्ता ही नहीं हैं, हम उसके उत्पादक भी हैं और हमारी उत्पादन-शक्ति हमारी जीवन-पद्धति पर निर्भर करती है; इसलिये हमारी आदतों का एक सामाजिक पहलू भी होता है जिसके प्रति समाज उदासीन नहीं रह सकता। इस विभेद के कारण ही मिल अपनी ही इस बात के पूर्ण महत्त्व को न समझ सका कि सामाजिक अवस्था मनुष्य के लिये एकदम इतनी स्वाभाविक और इतनी आवश्यक है कि मनुष्य एक समाज के घटक के रूप में ही अपनी कल्पना कर सकता है और समाज के स्वरूप का एक सावयवी विचार कर सकता है। हाँ, कोई कोरी कल्पना के घोड़े दौड़ाये तो दूसरी बात है। यदि मिल समाज के इस व्यक्तिवादी विचार को पूर्ण रूप से न भूल सका और राज्य तथा व्यक्ति में विरोध की मिथ्या धारणा को अपने मन में से न निकाल सका तो उसका कारण यही दुर्भाग्यपूर्ण विभेद है, जिससे वह आजीवन चिपटा रहा और इसी विभेद के कारण, बावजूद इस बात के कि उसने मनुष्य तथा स्वतन्त्रता सम्बन्धी बेन्थम की धारणा को बहुत बड़ी सीमा तक परिशोधित कर दिया था, मिल एक अमूर्त्त व्यक्ति तथा कोरी स्वतन्त्रता का संदेश दे सका। इस बात का उल्लेख हम दूसरे प्रसंग में भी करेंगे।

३ तीसरी बात यह है कि मिल की युक्ति का आधार स्वतन्त्रता की एक निषेधात्मक धारणा है। जिन कामों को वह स्व-सम्बन्धी कार्य कहकर पुकारता है उनमें व्यक्ति के ऊपर समाज के नियन्त्रण पर वह इसीलिये आपत्ति करता है क्योंकि वह बन्धन को हेय समझता है। उसका विश्वास है कि मानव व्यक्तित्व का विकास और प्रसरण केवल स्वतन्त्रता के वातावरण में ही हो सकता है। इसमें से यह परिणाम निकाल लेना स्वाभाविक है कि स्वतन्त्रता बन्धन के अभाव में है। इसलिये किसी भी व्यक्ति के लिये सबसे अच्छी चीज यह है कि उसे अपनी बुद्धि के अनुसार आचरण करने के लिये स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय। यद्यपि मिल स्वतन्त्रता की इस निषेधात्मक धारणा से ऊपर उठता है और उसकी एक अधिक गहरी और आध्यात्मिक व्याख्या देता है तथापि वह उसे पूर्णतया छोड़ नहीं पाया।

४ अन्त में, हम मिल की स्वतन्त्रता की धारणा के आधार में एक और मान्यता को स्पष्ट करना चाहते हैं, जिसका उल्लेख हम पहिले भी कर चुके हैं। वह है समाज की व्यक्तिवादी धारणा। मिल के अनुसार व्यक्ति किसी भी ऐसे काम के लिये समाज के प्रति उत्तरदायी नहीं है जिसका कि सम्बन्ध उसके स्वयं के अतिरिक्त किसी दूसरे से न हो। इसका अर्थ तो यह हुआ कि समाज स्वार्थी व्यक्तियों का एक समूह-मात्र है

और सामाजिक हित व्यक्तियों के अलग-अलग सुखों के योग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह विश्वास मिल को अपने पिता तथा बेन्थम से उत्तराधिकार में मिला था और वह अपने आपको इस बौद्धिक विरासत के बन्धन से पूर्णतया मुक्त न कर सका यद्यपि उसके लेखों में बहुत कुछ ऐसा है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि उसे उससे अधिक गहरे सत्य का आभास भी था। यह उसकी व्यक्ति की स्वतन्त्रता की धारणा तथा उसके प्रमाण में एक बहुत बड़ी कमजोरी है।

मिल का यह एक प्रधान विश्वास है कि समाज को व्यक्ति की कर्म करने की स्वतन्त्रता (विचार की स्वतन्त्रता इससे भिन्न है) में केवल उसी समय हस्तक्षेप करने का अधिकार है जबकि उससे किसी दूसरे को हानि पहुँचती हो; कर्त्ता के स्वयं के हितों के लिये उसकी कर्म-स्वतन्त्रता को बाधित करना उचित नहीं हो सकता। जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं, इस विश्वास को मानने से पहिले हमारे लिये यह मानना आवश्यक है कि मनुष्य के कार्यों को स्व-सम्बन्धी तथा पर-सम्बन्धी, दो विभिन्न श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। परन्तु इस प्रकार की विभेदक रेखा खींचना अत्यन्त कठिन है और फिर, इस रेखा को खींचेगा कौन? इसलिये मिल ने 'मानव स्वतन्त्रता के समुचित क्षेत्र' की परिभाषा देना वांछनीय समझा। वह लिखता है: "इसमें तीन चीजें सम्मिलित हैं, प्रथम तो अन्त:करण का आन्तरिक स्थल, जो कि अन्त:करण की व्यापकतम स्वतन्त्रता, विचार तथा भावना की स्वतंत्रता, मत तथा भावों की पूर्ण स्वतंत्रता (व्यावहारिक तथा विचारात्मक— वैज्ञानिक, नैतिक अथवा धर्म सम्बन्धी समस्त विषयों में)। दूसरे, स्वतंत्रता का सिद्धान्त इस बात की माँग करता है कि हमें रुचियों तथा कार्यों की, अपने चरित्र के अनुसार अपने जीवन की योजना बनाने की तथा अपनी इच्छानुसार आचरण करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये और यदि हमारे किसी कार्य से किसी अन्य व्यक्ति को हानि न पहुँचे तो किसी को भी हमारी स्वतन्त्रता में बाधा डालने का अधिकार नहीं होना चाहिये, भले ही कोई हमारे कार्य को मूर्खतापूर्ण, भ्रष्ट अथवा अनैतिक भी समझता हो। तीसरे, प्रत्येक व्यक्ति की इस स्वतन्त्रता से व्यक्तियों के समूह की स्वतन्त्रता भी उत्पन्न होती है। (उसके ऊपर भी वही सीमायें हैं।) इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यों को किसी भी उद्देश्य के लिये संगठित होने की स्वतन्त्रता है बशर्ते कि उससे दूसरों को हानि न पहुँचे।"*

* "It comprises, first, the inward domain of consciousness; demanding liberty of conscience in the most comprehensive sense, liberty of thought and feeling; absolute freedom of opinion and sentiment on all subjects, practical or speculative, scientific, moral, or theological .... Secondly, the principle of liberty requires liberty of tastes and pursuits; of framing the plan of our life to suit our own character; of doing as we like, subject to such consequences as may follow; without impediment from our fellow creatures, so long as what we do does not harm them, even though they should think our conduct foolish, perverse, or wrong. Thirdly, from this liberty of each

उपरोक्त अवतरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मिल विचार तथा अभिव्यक्ति की तो पूर्ण और निर्बाध स्वतन्त्रता चाहता है, किन्तु वह यह मानने को तैयार है कि कोई भी व्यक्ति अपनी कर्म करने तथा संगठित होने की स्वतन्त्रता का इस प्रकार से प्रयोग नहीं कर सकता जिससे कि वह दूसरों के लिये एक बाधा बन जाय। इस महत्त्वपूर्ण सीमा के अन्दर रहते हुये प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छाओं को तृप्त करने के लिये स्वतन्त्र है। जिन अध्यायों में मिल विचार तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा व्यक्ति की विवेचना करता है वे उसके 'On Liberty' नामक निबन्ध के सर्वोत्तम भाग हैं। उनमें वह अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में प्रगट होता है; उनमें दूसरों के व्यक्तित्व के लिये उसकी सहानुभूति और सम्मान तथा उसके अपने सुन्दर तथा उदार स्वभाव का परिचय मिलता है। इन्हीं में उसने स्वतन्त्रता की धारणा की एक अधिक गहरी तथा आध्यात्मिक व्याख्या की है और इन्हीं में वह उस बाह्य स्वतंत्रता से जो कि प्रत्येक व्यक्ति के लिये अपने भौतिक हितों की सिद्धि के लिये आवश्यक है, ऊपर उठ कर उस स्वतन्त्रता पर आता है, जिसका अर्थ है उस आध्यात्मिक मौलिकता की स्वच्छन्द क्रीड़ा जो कि व्यक्ति को स्फूर्ति प्रदान करती है, उसके व्यक्तित्व में विविधता उत्पन्न करती है, जिसके बिना एक भव्य, संतुलित तथा विकसित समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता। हम यहाँ पर उसकी युक्तियों का विश्लेषण करके यह देखने की चेष्टा करेंगे कि स्वतन्त्रता की धारणा की अपने पिता तथा बेन्थम से अधिक गहरी और अधिक आध्यात्मिक व्याख्या पर वह कैसे पहुँचा।

मिल कहता है कि सरकार को किसी भी विश्वास को कुचलने का कोई अधिकार नहीं है, चाहे उसके (सरकार के) पीछे जनमत का बल भी क्यों न हो। इस प्रकार की शक्ति अनुचित है; इसका अधिकार सर्वोत्तम सरकार को भी निकृष्टतम सरकार से अधिक नहीं है।

"जब इसका प्रयोग जनमत के अनुसार किया जाता है तो भी यह उतनी घृणित रहती है बल्कि उससे भी अधिक घृणित हो जाती है जबकि इसका प्रयोग जनमत के विरोध में किया जाता है। यदि एक व्यक्ति के अतिरिक्त सम्पूर्ण मानव-जाति का एक ही मत हो जाये तो भी मानव-जाति को उसे जबरदस्ती चुप कर देने का उससे अधिक अधिकार नहीं होगा जितना कि उस व्यक्ति को मानव-जाति को चुप कर देने का।"*

किसी व्यक्ति का परम्पराविरुद्ध विश्वास सही हो सकता है या गलत हो सकता है, या आंशिक रूप से सही और आंशिक रूप से गलत हो सकता है। यदि वह

individual, follows the liberty, within the same limits, of combination among individuals; freedom to unite for any purpose not involving harm to others."

* "It is as noxious, or more noxious when exerted in accordance with public opinion than when in opposition to it. If all mankind minus one were of one opinion, mankind would be no more justified in silencing that one person than he, if he had the power, would be justified in silencing mankind."

सही हो तो समाज द्वारा उसे दबा देने का परिणाम होगा सत्य का गला घोंटना और सम्पूर्ण मानव-जाति का अहित।

✓ "जो उसे दबाना चाहते हैं वे उसकी सत्यता से इन्कार करते हैं; किन्तु वे अच्युत नहीं। उन्हें किसी भी प्रश्न का सम्पूर्ण मानव-जाति के लिये निर्णय करने तथा अन्य सबको उनके निर्णय के साधनों से वंचित कर देने का अधिकार नहीं है। किसी विचार को सुनने से केवल इसलिये इन्कार कर देना क्योंकि उन्हें विश्वास है कि वह गलत है तो यह मान लेना है कि उसका विश्वास एक निरपेक्ष विश्वास है। वाद-विवाद को रोकने का प्रयत्न करना अपने को अच्युत मान लेना है।"*

सारांश यह कि परम्परा-विरुद्ध विचारों को कुचलना गलत है; हमें इस बात का विश्वास कभी नहीं हो सकता कि जिस विचार को हम दबाने का प्रयत्न कर रहे हैं वह गलत ही है; हो सकता है कि वह सही हो और समाज की बात ही गलत हो और यदि वह गलत भी है तब भी उसे दबाने का प्रयत्न करना गलत है क्योंकि ऐसा करने से समाज 'सत्य के उस स्पष्टतर रूप से वंचित रह जायेगा जो कि उसके असत्य के साथ संघर्ष करने से उत्पन्न होगा।' यदि वह आंशिक रूप से सही हुआ तो वह समाज के परम्परागत विश्वासों को परिशोधित करेगा और उस हद तक वह समाज के लिये उपयोगी होगा। इस युक्ति का सार मिल के अपने ही निम्नलिखित शब्दों में दिया जा सकता है: "विचार की अभिव्यक्ति को रोकने का एक विलक्षण दोष यह है कि ऐसा करना मानव जाति को, आने वाली तथा वर्तमान नस्लों को लूटना है और इससे उसके विरोधियों को उसके रखने वालों की अपेक्षा कहीं अधिक हानि होती है।"†✓

स्वातन्त्र्य को छीनने के भयंकर परिणाम का उदाहरण देने के लिये मिल सुकरात और ईसामसीह की हत्या का उल्लेख करता है। "क्या मानव-जाति कभी भूल सकती है कि कभी किसी जमाने में सुकरात नाम का एक मनुष्य था जिसकी राज्याधिकारियों से एक स्मरणीय टक्कर हुई थी।"‡✓

यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि उपरोक्त सम्पूर्ण युक्ति में व्यक्ति

* "Those who want to suppress it, of course, deny its truth ; but they are not infallible. They have no authority to decide the question for all mankind and exclude every other person from the means of judging. To refuse a hearing to an opinion because they are sure that it is false is to assume that their certainty is the same thing as absolute certainty. All silencing of discussion is an assumption of infallibility."

† "The peculiar evil of silencing the expression of an opinion is that it is robbing the human race, posterity as well as the existing generation— those who dissent from the opinion, still more than those who hold it."

‡ "Mankind can hardly be too often reminded that there was once a man named Socrates between whom and the legal authorities there took place a memorable collision."

अथवा समाज के अधिकतम सुख का कोई उल्लेख नहीं है। जब मिल ने यह कहा कि सम्पूर्ण जाति को भी यह अधिकार नहीं है कि वह एक विरोधी की आवाज को बन्द कर दे तो, "वह निश्चित रूप से ही एक ऐसी बात कह रहा था जिसका समर्थन अधिकतम सुख के आधार पर नहीं किया जा सकता था; वह वास्तव में विचार करने, अनुसन्धान करने तथा ज्ञान प्राप्त करने के अधिकार का दावा कर रहा था जो कि प्रज्ञाशील प्राणी के वैभव का अभिन्न नैतिक गुण है।"*

इस प्रकार हम देखते हैं कि उसकी युक्ति स्वतन्त्रता के उस उपयोगितावादी समर्थन से कहीं आगे जाती है जो कि बेन्थम ने किया जो कि स्वतन्त्रता को उपयोगिता के अधीन समझता था और उसे व्यक्ति अथवा समाज के भौतिक हितों की साधना के लिये एक साधन-मात्र मानता था। उसकी योजना स्वतन्त्रता का स्थान साध्य का नहीं था; समय-समय पर उसे सुरक्षा के सामने झुकना पड़ता था। मिल के लिये स्वतन्त्रता की अतिक्रमणात्मक उपयोगिता (Transcendental Utility) है; वह उसे व्यक्ति की भलाई का एक आवश्यक तत्व, उसके व्यक्तित्व का एक निर्मायक अंग, तथा उसमें एक उच्चतर सम्मान भावना का जनक समझता है। मिल का उद्देश्य अधिकतम सुख की प्राप्ति नहीं वरन् अपनी विविधता के साथ मानव के व्यक्तित्व का विकास करना है।

'जिस स्वतन्त्रता की वह सराहना करता है वह केवल नकारात्मक नहीं है। यह एक बहुत विधेयात्मक आदर्श है। उसे राज्य और उसके संघटन से शिकायत नहीं है बल्कि उसके नागरिकों की दासतापूर्ण तथा असहिष्णुतापूर्ण भावना से है। उसका आदर्श ऐसे राज्य की मांग करता है, जिसके नागरिक वास्तविक व्यक्ति हों, जिन्हें अपने व्यक्तित्व तथा विविधता पर गर्व हो और जो अपने तथा दूसरों के व्यक्तित्व का सम्मान करते हों। .... मिल समाज के सामने मित्रता का सर्वोत्कृष्ट आदर्श रखता है, जहाँ मित्रों में मित्रता होती है, परन्तु वे एक दूसरे के अन्तरों का सम्मान करते हैं। अब यह एक आध्यात्मिक आदर्श है और इसकी प्राप्ति मनुष्य के आध्यात्मिक विकास से ही सम्भव है।'†

* "......... He was certainly saying more than he could defend by the calculation of the greatest happiness; he was really claiming the right to think, to investigate, and to know as moral attributes inseparable from the dignity of a rational being." —Sabine: *A History of Political Theory*, page 666.

† "The liberty he praises .... is no more negation. It is a very positive idea. His complaint is not against the state and its organisation, but against the servile and intolerant spirit of its citizens. His ideal demands a state whose members are really individuals, proud of their individuality and variety, and respecting personality in themselves and in their neighbours .... Mill seems to be holding up to society the highest ideal of friendship, where friends are different and respect each other's differences. Now this is a spiritual ideal, and its attainment is only possible through the spiritual development of men."

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि मिल ने विचार तथा अभिव्यक्ति की निरपेक्ष स्वतन्त्रता का समर्थन इसलिये किया क्योंकि उसका विश्वास था कि मनुष्य का मस्तिष्क ही समाज में परिवर्तन लाता है, और समस्त महान् तथा बुद्धिमय वस्तुयें व्यक्तियों से आती हैं और केवल स्वतन्त्र वाद-विवाद से ही उपयोगी विचार उत्पन्न हो सकते हैं। मिल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा की उपरोक्त विवेचना से बार्कर का यह कथन और स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक हितों की साधना के लिये आवश्यक वाह्य स्वतन्त्रता का अतिक्रमण करके मिल ने स्वतन्त्रता की एक अधिक गहरी और अधिक आध्यात्मिक व्याख्या की है, जिसके अनुसार स्वतन्त्रता मनुष्य की आध्यात्मिक मौलिकता की स्वतन्त्र क्रीड़ा है।

अब हमें मिल द्वारा दी गई स्वतन्त्रता की कुछ सीमाओं और अपवादों की विवेचना करनी है। वह कहता है कि उसका स्वतन्त्रता का सिद्धान्त केवल परिपक्व मानव-प्राणियों पर लागू होता है, शिशुओं पर या एक निश्चित अवस्था से कम के व्यक्तियों पर नहीं क्योंकि उनकी अपरिपक्व शारीरिक तथा मानसिक अवस्था इस बात की माँग करती है कि वे दूसरे लोगों की देख-रेख में रहें। इस अपवाद का औचित्य हम मान सकते हैं किन्तु जब वह पिछड़े हुये राष्ट्रों अथवा प्रजातियों को स्वतन्त्रता के वरदान से वंचित रखता है तो हम उससे सहमत नहीं हो सकते। मिल के अनुसार उनके लिये निरंकुशवादी शासन ही उचित है। वह कहता है कि "जिस समय मानव-जाति में अपने को स्वतन्त्र तथा समान वाद-विवाद द्वारा उन्नत करने की सामर्थ्य आती है उससे पहले की परिस्थितियों में स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को आरोपित नहीं किया जा सकता। उस समय तक मनुष्य के सामने किसी अकबर अथवा चार्लमेन की आज्ञाओं का चुपचाप पालन करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं।"*

साम्राज्यवादी शक्तियाँ अपने पराधीन देशों पर अपने निरंकुश शासन को उचित सिद्ध करने के लिये मिल की इस धारणा का दुरुपयोग कर सकती हैं, यह खतरा तो जाहिर ही है।

दूसरी ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण बात यह है मानव जाति की मौलिकता के पूर्ण विकास के लिये मिल जहाँ विचार तथा अभिव्यक्ति की अपरिमित स्वतन्त्रता को आवश्यक समझता है, कार्य की उतनी ही निरपेक्ष स्वतन्त्रता को वह आवश्यक नहीं समझता। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार कर्म करने की स्वतन्त्रता तभी तक होनी चाहिये जब तक कि वह दूसरों को हानि न पहुँचाये। यह बात तत्त्वत: तो सर्वथा उचित ही है। विचार-क्षेत्र की भाँति कर्म-क्षेत्र में भी उतनी ही अपरिमित

* "Liberty, as a principle, has no application to any state of things anterior to the time when mankind have become capable of being improved by free and equal discussion. Until then, there is nothing for them but implicit obedience to any Akbar or a Charlesmagne."

स्वतन्त्रता देना खतरनाक होगा। भारत के प्राचीन विचारकों और दार्शनिकों ने भी विचार तथा अभिव्यक्ति की अधिक से अधिक स्वतन्त्रता का समर्थन किया था, किन्तु कुछ नियम उन्होंने ऐसे बनाये थे जिनका उल्लंघन करना गलत समझा जाता था।

तीसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि व्यक्तित्व की स्वतन्त्र क्रीड़ा, जिस पर कि मिल आग्रहपूर्वक बल देता है, मनुष्यों में असमानता उत्पन्न करने वाली है। कुछ उच्चकोटि के मनुष्य विशिष्ट स्थान प्राप्त करेंगे और शेष एक साधारण समूह में एकत्रित हो जायेंगे। बहुमत द्वारा शासन का, जिसे कि बेन्थम सर्वोत्तम समझता था, मिल खण्डन करता है। वह चाहता है कि श्रेष्ठतर मनुष्य मानव-जाति के पथ-प्रदर्शक बनें और कम मौलिक तथा अधिक अनुकरणशील व्यक्तियों को वे समझा-बुझाकर पथ-प्रदर्शन करें, उनके ऊपर शासन नहीं।

लोकतन्त्र के विषय में मिल के विचारों की समीक्षा हम आगे चलकर करेंगे।

अन्त में हम मिल के स्वतन्त्रता सिद्धान्त के कुछ दोषों की ओर संकेत करना चाहते हैं, जिनके कारण हम बार्कर के इस कथन से सहमत हो सकते हैं कि मिल, बावजूद स्वतन्त्रता की अपनी इस धारणा के कि स्वतन्त्रता आध्यात्मिक मौलिकता की वह स्वतन्त्र क्रीड़ा है जिसका परिणाम होता है व्यक्ति में स्फूर्ति का आना और उसका विविध रूप से विकास होना, जिसके द्वारा ही एक भव्य, संतुलित तथा विकसित समाज का निर्माण हो सकता है, एक खोखली स्वतन्त्रता तथा अमूर्त्त व्यक्ति का संदेशवाहक' (Prophet of an empty liberty and an abstract individual) रह जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि मिल समाज की उस व्यक्तिवादी धारणा का परित्याग न कर सका जोकि उसकी बौद्धिक विरासत का एक अङ्ग थी। यद्यपि वह मानव-जाति की सामाजिक भावनाओं तथा व्यक्ति की अपने साथियों के साथ एकाकार हो जाने की अन्तर्निहित कामना से परिचित था तथापि वह इस धारणा का परित्याग न कर सका कि राज्य अलग-अलग व्यक्तियों का एक समूह है और इसलिये वह समाज की सावयवी धारणा पर न आ सका, जिसके कारण ही राज्य तथा व्यक्ति का मिथ्या विरोध दूर किया जा सकता था। उसका मान्यताओं (Sanctions) के सिद्धान्त को स्वीकार करना, उसका अविघटनीय समुदाय के सिद्धान्त में विश्वास रखना जिसके ऊपर वह तथा उसका पिता अहम्‌वाद से परमार्थवाद पर आने में भरोसा रखते थे, और मनोवैज्ञानिक सुखवाद में उसका विश्वास, सभी इस बात को सिद्ध करते हैं कि वह इसी परम्परागत विचार में विश्वास रखता था कि समाज प्रतिस्पर्धाशील तथा स्वार्थी व्यक्तियों का एक समूह है। वह यह न देख सका कि वे सूक्ष्म सिद्धान्त, जिन पर कि वह अपने खुले मस्तिष्क तथा उदार वृत्ति के कारण पहुँचा था, उस बेंथमवाद से मेल नहीं खाते थे जोकि उसका प्रारंभिक बिन्दु था। अपने इस विश्वास के कारण कि नियन्त्रण स्वयं अपने में एक बुराई है और राज्य द्वारा हस्तक्षेप स्वतंत्रता के ऊपर आघात है, वह रूसो के इस सिद्धान्त पर

कि सर्वोत्कृष्ट स्वतन्त्रता अपने आपको उस कानून के साथ एकरूप कर लेने में, जोकि हमारे वास्तविक स्वभाव के अनुरूप हो, अथवा हीगल के इस सिद्धान्त पर कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता स्वयं एक सामाजिक चीज है, जिसकी रक्षा समाज के कानून तथा नैतिक नियम करते हैं, न पहुँच सका। आदर्शवादी लेखकों ने स्वतन्त्रता की अधिक गहरी व्याख्या की है, क्योंकि वे अधिकारों के उस सामाजिक स्वरूप को देख पाये जिसको कि मिल न देख सका था। इसलिये यह कहना पूर्ण सत्य है कि वह एक कोरी स्वतन्त्रता का संदेशवाहक था। इस कारण हम यह भी कह सकते हैं कि बावजूद इस बात के कि उसने मानव व्यक्तित्व का अपनी समस्त विविधताओं के साथ विकास को सभ्यता का लक्ष्य समझा, वह व्यक्तित्व की एक सच्ची धारणा पर न पहुँच सका क्योंकि वह सामाजिक सावयव के उस विचार को न अपना पाया था जिसके बिना व्यक्ति और राज्य में सच्चा और समुचित सम्बन्ध स्थापित ही नहीं हो सकता। फलत: यद्यपि उसे व्यक्तित्व का प्रमुख अधिवक्ता माना जाता है, तथापि वह एक 'अमूर्त्त व्यक्ति का संदेशवाहक' ही बना रहता है।

मिल की राज्य-सम्बन्धी धारणा— उपयोगितावाद की परिभाषा और स्वतन्त्रता की धारणा की व्याख्या में मिल ने जो महत्त्वपूर्ण संशोधन किये उनके कारण उसकी राज्य-सम्बन्धी धारणा में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुये हैं। उनका यहाँ उल्लेख करना उचित भी होगा। इस प्रसंग में मिल ने जिस चीज के लिये 'समाज' शब्द का प्रयोग किया है हम उसके लिये 'राज्य' शब्द का प्रयोग करेंगे। शायद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह है कि वह राज्य को स्वार्थ की अपेक्षा मानव-इच्छा का परिणाम अधिक समझता है और यह बात मानता है, जोकि बेन्थम नहीं मानता था, कि राज्य के यांत्रिक (Mechanistic) सिद्धान्त, यदि वे मानव इच्छा को छोड़ देते हैं अथवा मानव व्यक्तित्व की अवहेलना करते हैं तो अधूरे हैं। एक ओर तो कुछ लोग राज्य तथा उसकी संस्थाओं को एक स्वाभाविक विकास मानते हैं; और इस लिये हमें उनके वर्तमान रूप में अध्ययन करना चाहिये। दूसरी ओर कुछ लोग उन्हें पूर्ण रूप से एक आविष्कार और मानव प्रयास का फल मानते हैं। मिल इन दोनों के बीच का मार्ग ग्रहण करता है; उसका विश्वास है कि उनका स्वाभाविक विकास तो अवश्य हुआ है, किन्तु वे वृक्षों के सदृश नहीं हैं जोकि एक बार आरोपित कर देने पर बढ़ते रहते हैं जबकि मनुष्य सोते रहते हैं। वह कहता है—

"अपने जन्म की प्रत्येक अवस्था में वे अपना वर्तमान स्वरूप मनुष्य के स्वेच्छापूर्ण प्रयत्नों द्वारा प्राप्त करते हैं। इसलिये मनुष्य द्वारा बताई हुई अन्य सभी वस्तुओं की भाँति उन्हें अच्छा भी बनाया जा सकता है और बुरा भी; यह इस बात पर निर्भर करता है कि उनके बनाने में बुद्धि और कार्य-कुशलता का प्रयोग हुआ है या नहीं।"*

* "In every stage of their existence they are made what they are by human voluntary agency. Like all things, therefore, which are made by man,

इसी के कारण ऑस्टिन ने संप्रभुता की धारणा की समीक्षा की, जोकि राजनीतिक विचार को उसकी मुख्य देन कही जा सकती है। उसके संप्रभुता के सिद्धान्त की हमें एक अन्य प्रसंग में विवेचना करनी पड़ेगी, इसके सम्बन्ध में यहाँ पर हमें इसके अतिरिक्त और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं कि निरपेक्ष और अपरिमित संप्रभुता के सिद्धान्त की बोदाँ (Bodin) के बाद में इतनी स्पष्ट और संगतिबद्ध रूप से विवेचना और किसी ने न की थी जितनी कि ऑस्टिन ने।

✓ **उपयोगितावाद की सफलताएं तथा दुर्बलताएं**— यद्यपि हम यह देख चुके हैं उपयोगितावाद के दो महानतम प्रतिपादकों, जर्मी बेन्थम तथा जॉन स्टुअर्ट मिल की, अलग-अलग राजनीति विचार को क्या देन है और उनके सिद्धान्तों के गुण-दोष की समीक्षा भी हम कर चुके हैं, तथापि इस सम्पूर्ण विचारधारा की सफलताओं तथा दुर्बलताओं की विवेचना करना भी अनावश्यक न होगा।

यद्यपि उपयोगितावादियों का एक छोटा सा समूह था तथापि अपने समय के विचार तथा घटना-चक्र पर उनका प्रभाव उनकी संख्या से कहीं अधिक पड़ा है। इस घटना के कारणों का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं और यहाँ पर उन्हें दोहराने की आवश्यकता नहीं। ब्रिटेन पर उनका बहुत भारी ऋण है। "१९वीं शताब्दी के अधिकतर भाग में उनके विचारों की प्रधानता रही और उसका फल यह हुआ कि मनोवैज्ञानिक अनुसंधान तथा नैतिक तर्क-वितर्क में लोगों की दिलचस्पी बढ़ी और व्यावहारिक राजनीति में सामाजिक सुधार तथा मंगलकारी विधेयन इतने बड़े पैमाने पर हुआ जितना कि पहिले कभी सोचा भी न गया था।"*

उपयोगितावाद के सामाजिक, कानूनी, तथा राजनीतिक सुधारों के स्रोत बन जाने का कारण यह है कि इसने विधि-निर्माताओं तथा राजनीतिज्ञों के समक्ष एक सुनिश्चित तथा ठोस आदर्श रखा और उनके सामने कानूनों तथा संस्थाओं को परखने के लिये एक सुविधापूर्ण तथा उपयोगी कसौटी रखी। जैसा कि ग्रीन कहता है: "उसके सुखवादी मनोविज्ञान से कुछ भी गलतियाँ क्यों न उत्पन्न होती हों किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि सामाजिक तथा राजनीतिक सुधारों के लिये कोई भी अन्य सिद्धान्त ऐसा नहीं, जिसमें इतना अधिक सत्य हो और जिसको इतनी सफलता से क्रियान्विन किया जा सके।"†

---

* "Their views held sway for the greater part of the nineteenth century, and the result was awakened interest in psychological investigation and ethical discussion ; and in active politics, social reforms and beneficent legislation to an extent that had previously been unthought of."

—Davidson : *op. ct.*, page 249.

† "Whatever the errors arising from its hedonistic psychology no other theory has been available for the social and political reforms containing so much truth with such ready applicability."

इसलिये इसमें आश्चर्य की बिल्कुल कोई बात नहीं कि इंग्लैंड में विवेयन, दण्ड-विधान, निर्वाचन-पद्धति, संसद की कार्य-प्रणाली तथा शिक्षा-क्षेत्र में जितने भी सुधार हुए उनमें से अधिकतर का स्रोत उपयोगितावादियों का प्रभाव ही है। डेविडसन के शब्दों में : "लाभ आज अनुभव किया जा रहा है। जिस भावना ने उन्हें प्रेरित किया था वह आज भी कार्य कर रही है, और लाइनों पर सामाजिक तथा राजनीतिक व्यापार आजकल हो रहा है वे अधिकांश में उन्हीं के द्वारा खींची गई थीं। काल की गति ने बहुत कुछ सुधार दिया है, बहुत कुछ पीछे छोड़ दिया है, बहुत कुछ ठुकरा दिया है, किन्तु अन्याय के प्रति तीव्र रोष की भावना जोकि उपयोगितावादियों की एक विशेषता थी और उनकी गरीब तथा दलित के प्रति सक्रिय सहानुभूति और मानव कल्याण के लिये उनका उत्साह आज भी आश्चर्यजनक रूप से वर्तमान है।"*

डेविडसन ने उपरोक्त शब्द १६१५ में लिखे थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह सुखवादी मनोविज्ञान जोकि उनकी विचारधारा का आधार था आज तिरस्कृत किया जा चुका है, लैसे फेयर (Laissez faire) की उस नीति के, जिस पर कि वे इतना जोर देते थे, समर्थक अब अधिक नहीं पाये जाते और सुखवादी मापदण्ड की धारणा अब उतनी ही मृत है जितनी कि रानी ऐन परन्तु अन्याय के विरुद्ध विक्षोभ और गरीबी तथा दलितों के लिये सहानुभूति की भावना अब उससे भी कहीं अधिक तीव्र है, जितनी कि उस समय थी जबकि डेविडसन ने उपयोगितावाद की समीक्षा की थी। उक्त भावों का स्रोत उपयोगितावाद में देखना उसके प्रति अत्यधिक पक्षपात करना होगा, वह स्रोत तो समाजवाद ही अधिक है, जिसका आविर्भाव १६वीं शताब्दी का अन्त होने से पहिले हो चुका था। १६१५ में भी उपयोगितावाद की अपेक्षा जोकि जॉन स्टूअर्ट मिल के साथ समाप्त हो गया था, समाजवाद की भावना ही अधिक दिखलाई पड़ती थी। परन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं कि सामाजिक सेवाओं के विकास में, वर्ग-भेद को समाप्त करने तथा सामाजिक और राजनीतिक सुधार की समस्याओं को हल करने में उपयोगितावाद ने भी अवश्य योग दिया।

उपयोगितावादियों ने राजनीतिक विचार की जो सेवा की वह उनके द्वारा प्रेरित वैधानिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सुधारों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। प्राकृतिक कानून, प्राकृतिक अधिकार, संविदात्मक अधिकार तथा संवैधानिक अधिकार धारणाओं को अलग करके उन्होंने उन रुकावटों को दूर कर दिया, जोकि वैज्ञानिक

---

* "The benefit is being felt today. The spirit that animated them is still operating, and the lines on which social and political is at present proceeding were largely laid down by them. Time has corrected much, has outgrown much, has discarded much; but the keen resentment of injustices that characterised the utilitarians and their active sympathy with the poor and the oppressed and their enthusiasm for human welfare are strikingly apparent still."

चिंतन का मार्ग रोक रहे थे। उनके यह कहने ने कि पुराने तथा नये कानूनों के औचित्य अथवा अनौचित्य की एकमात्र कसौटी व्यावहारिक उपयोगिता है, वैधानिक तथा राजनीतिक विचारकों को सामाजिक जीवन के तथ्यों से जूझने पर विवश कर दिया। "सुधारक तथा सुधार के विरोधी दोनों ही समान रूप से अपनी स्थिति को लाभ के प्रश्न पर तर्क करके उचित सिद्ध करने के लिये विवश हो गये, जिसमें कि सिद्धान्त के लिये तो स्थान था किन्तु भ्रमजाल के लिये कोई गुंजायश न थी। उपयोगितावाद ने इसी प्रकार की सेवा आचारशास्त्र, धर्म, अर्थशास्त्र, तथा शिक्षा की की।"*

अमेरिकन तथा फ्रेंच क्रांतिकारी विचारधारा से चलकर जब हम उपयोगितावाद पर आते हैं तो ऐसा लगता है जैसे कि हम अमूर्त्त और निराकार धारणाओं के लोक में से निकल कर ठोस और यथार्थ तथ्यों के जगत् में आ पहुँचे। यह कहना कि सरकार हमारी वफादारी की पात्र इसलिये है क्योंकि वह हमारी कुछ सेवा करती है यह कहने से कहीं अधिक बुद्धिसंगत है कि हमारी राजभक्ति का आधार वह एक ऐसा समझौता है जिसे हमारे पूर्वजों ने कभी सुदूर तथा विस्मृत भूत में किया था।

व्यावहारिकता तथा उपयोगिता के प्रति अपने अनुराग के कारण बेन्थम तथा ऑस्टिन ने कानून, संप्रभुता, राज्य तथा सरकार जैसे राजनीतिक शब्दों की सरल तथा सुनिश्चित परिभाषायें दी हैं। ऑस्टिन द्वारा दी गई कानून की इस परिभाषा से कि कानून संप्रभुता का आदेश है जिसके पीछे दण्ड की शक्ति है विधि-शास्त्र को कितना लाभ पहुँचा, इसका उल्लेख हम पहिले ही कर चुके हैं। इसी प्रकार संप्रभुता की धारणा में जितनी स्पष्टता और सुनिश्चितता आई उतनी बोदाँ के समय से कभी न आई थी। इस दिशा में उपयोगितावादियों ने कितना लाभ पहुँचाया है इस बात का अनुमान बेन्थम द्वारा दी गई राज्य अथवा समाज की परिभाषाओं की तुलना करने से लगाया जा सकता है। बेन्थम के लिये राज्य मनुष्यों का एक समूह है जिसका उद्देश्य सामान्य आनन्द है, हीगल के लिये यह एक सामाजिक-नैतिक भावना है।

राजनीतिक सिद्धान्त को **उपयोगितावाद** की क्या देन है, इसका वर्णन डेविडसन ने निम्न शब्दों में किया है: "और न ही संसार को यह भूलना चाहिये कि उन्होंने राजनीतिक सिद्धान्त को एक वैज्ञानिक ज्ञान तथा मानव स्वभाव के विश्लेषण पर आधारित करने पर जोर दिया जोकि बुद्धि की क्रिया तथा चरित्र के मूल में प्रकट होते हैं और जिनके लिये कार्य के स्रोत के रूप में मानवी भावनाओं का जानना भी आवश्यक होता है, और न ही उनका आर्थिक खोज के प्रति अनुराग तथा विधि-शास्त्र में उनकी व्यावहारिक दिलचस्पी को भुलाया जा सकता है। उन्होंने अपने

* "Reformers and opponents of reform alike were compelled to justify their positions by arguing the question of benefits, which though it left much room for theory, left none at all for obscurantism. Of similar character was the service of utilitarianism to ethics, religion, economics, and education."
Maxey: *Political Philosophies*, pages 447-48.

सिद्धान्त को एक एक कदम करके आगे बढ़ाया है (प्रत्येक महान् विचारक ने स्थायी मूल्य का कोई तत्त्व उसमें जोड़कर)। प्रगति उनका नारा था, और स्वतन्त्रता तथा जन-हित में उनका उत्साह प्रेरक शक्ति था। यह है जोकि वर्तमान काल को उनकी देन है।"*

उपयोगितावाद के दोषों पर और अधिक विस्तार से विचार करने की आवश्यकता नहीं है, उनका उल्लेख हम बेन्थम तथा जॉन स्टूअर्ट मिल की समीक्षा करते समय पहिले ही कर चुके हैं। पहिली बात तो यह है कि इसने मानव स्वभाव का अत्यन्त सरलीकरण कर दिया है, मानव प्रेरणाओं को केवल सुख की कामना तथा दुख से बचने की इच्छा तक सीमित कर देना तथ्यों के अनुकूल नहीं है। मनुष्य सुख-प्राप्ति अथवा दुख से बचने की इच्छा नहीं करते, वे उन वस्तुओं की इच्छा करते हैं जिनकी प्राप्ति से सुख प्राप्त होता है और दुख दूर रहता है। सुखवादी मापदण्ड की सारी धारणा जोकि बेन्थमवाद की आधार-शिला है, इस तथ्य से असंगत है कि सुखों में विभेद मात्रा का ही नहीं होता, बल्कि गुण का भी होता है। इसी प्रकार यह कहना कि कानून संप्रभु का आदेश है उन वास्तविक शक्तियों की अवहेलना करना है जोकि समाज में बरती जाती है और कानून को तत्त्व प्रदान करती हैं। जैसा कि ऊपर कई बार कहा जा चुका है, ऑस्टिन की कल्पना का संप्रभु राजनीति विज्ञान की कुछ पुस्तकों में ही पाया जाता है जैसे कि यूक्लिड का बिन्दु, जिसकी स्थिति तो होती है किन्तु कोई आकार नहीं होता; इसकी प्राप्ति हम व्यवहार में नहीं कर सकते। अन्त में यह कि, बेन्थम तथा अन्य उपयोगितावादी विचारक मनुष्य को उससे कहीं अधिक विवेकशील तथा दूरदर्शी समझते थे जितना कि वह वास्तव में होता है, वे उन भावनाओं को भूल गये जोकि मानव जीवन में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। साधारण मनुष्य की धारणा, जोकि बेन्थम के सिद्धान्त के लिये आधारभूत है और मिल ने जिसके विरुद्ध विद्रोह किया था, के कारण उन्होंने मानव स्वभाव को परमाणुवादी (Atomistic) और सजातीय (Homogeneous) समझ लिया। इसलिये उन्होंने बहुत सी बातों को बिना प्रमाण के ही मान लिया। उनकी यह विवेकहीन मान्यता कि यदि व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार आचरण करने के लिये छोड़ दिया जाये तो वे एक स्वाभाविक सामञ्जस्य के साथ कार्य करेंगे और प्रत्येक व्यक्ति अपने निजी सुख के लिये कार्य

* "Nor can the world afford to lose their insistence on the need for basing a political creed on a scientific knowledge and analysis of human nature, both as it shows itself in the workings of the mind and in the foundation of character, involving aquaintance with the human emotions as springs of action; or their devotion to economic investigations and their practical interest in jurisprudence. They carried forward their principles step by step, each great thinker adding something of permanent value. Progress was their watchword, and their enthusiasm for liberty and public good supplied the driving power. This is what the present time inherits from them."

—Davidson: *op. ct.*, page 250.

करता हुआ सब के सुख में योग देगा, तथ्यों से सिद्ध नहीं होती।

उपरोक्त बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि **उपयोगितावाद** ने आवश्यकता से अधिक सरलीकरण किया है, वह इतना उथला है कि उसमें अनुभवसिद्ध समस्त तथ्य नहीं आते। इसके अतिरिक्त, इसका 'श्रेय' तथा 'प्रेय' को पर्यायवाची मानना इस बात का सूचक है कि इन दोनों शब्दों के अर्थ को ठीक ठीक नहीं समझा गया। इस गलती की विवेचना करना हमारा उद्देश्य नही क्योंकि यह एक नैतिक समस्या है, राजनीतिक नहीं। यहाँ तो केवल इतना कहना काफी होगा कि सहज बुद्धि के अनुसार एक 'श्रेय' की प्रेयता उस श्रेय की प्रेयता पर निर्भर करती है, उसकी श्रेयता उस श्रेयता पर निर्भर नहीं करती जो कि वह लाती है। इसलिये सुखवादी सिद्धान्त, जिस पर कि **उपयोगितावाद** आधारित है, मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक रूप से गलत है।

उपयोगितावाद का दूसरा बड़ा दोष उसकी समाज की अत्यन्त व्यक्तिवादी धारणा से उत्पन्न होता है। अस्पष्ट, अमूर्त धारणाओं का विरोध करते करते उपयोगितावादी दूसरी सीमा पर जा पहुँचते हैं और समाज के सावयवी स्वभाव से ही इंकार करते हैं। उनके लिये समाज अपने घटकों के योग से अधिक कुछ नहीं है। अपने घटकों के जीवन तथा उद्देश्य के अतिरिक्त समाज का अपना कोई जीवन और उद्देश्य नहीं है, सम्पूर्ण इकाई अपने अलग-अलग भागों का योग मात्र है। इस प्रकार उपयोगितावादी वृक्षों को देखते हैं, जंगल को नहीं। मिल अवश्य सावयवी विचार के निकट आया, किन्तु उसने इस सिद्धान्त को कोई रूप नहीं दिया, बेन्थमवादी परम्परा से वह बुरी तरह जकड़ा हुआ था। इसका परिणाम यह हुआ कि वे मनुष्यों के पारस्परिक तथा व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध में किसी सच्चे सिद्धान्त पर न पहुँच सके, वे व्यक्ति तथा राज्य के मध्य कल्पित विरोध का परित्याग न कर सके और इसलिये यही सोचते रहे कि राज्य के कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता के ऊपर आघात करते हैं। इस प्रकार वे लैसे फेयर (*laissez faire*) के सिद्धान्त में विश्वास करने लगे। इसका आर्थिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता के नाम में सरकारी हस्तक्षेप की निन्दा करना और उसका प्रत्येक उस बाधा को 'जोकि व्यक्तिगत कार्य की स्वच्छन्द क्रीड़ा को अवरुद्ध करती थीं' हटाने का प्रयत्न करना उस समय उचित था जबकि सबसे पहिले बेन्थम ने उसका प्रतिपादन किया था जबकि "यूरोपीय नीति" 'व्यापार की धारा को अवरुद्ध करती थी और सामन्तवादी युग के अवशेष कानूनों पर लदे हुये थे और यूरोप की सरकारों को स्वार्थी हितों से भरते थे।' किन्तु उस समय भी जब कि समय बदल गया और उद्योगपति तथा व्यापारी की स्वतन्त्रता का अर्थ श्रमिक की स्वतन्त्रता ही होना आवश्यक न था और आर्थिक जीवन में सरकार का हस्तक्षेप करना आवश्यक हो गया, यह सिद्धान्त उसकी फिर भी निन्दा करता रहा, विना ही इस तथ्य पर ध्यान दिये हुये कि उसके ऐसा करने से सामाजिक अत्याचार को सम्बल मिलता था। इसलिये यह सिद्धान्त समय की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुकूल न रहा। मिल ने जो संशोधित रूप इसे दिया वह भी बदले समय के लिये अपर्याप्त था। बार्कर के शब्दों में,

"पुरानी बेन्थमवादी धारणाओं का संशोधन नहीं वल्कि एक नवीन दर्शन आवश्यक था और उस दर्शन को आदर्शवाद ने प्रदान किया, जिसका ग्रीन महानतम प्रतिनिधि है।"* आदर्शवादी विचारधारा की समीक्षा हम अगले अध्याय में करेंगे।

अन्त में, इस सिद्धान्त का एक और गम्भीर दोष उल्लेखनीय है। उपयोगितावाद राज्य का कोई सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं करता, वह केवल सरकार का सिद्धान्त हमारे सामने रखता है। जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, मिल अपने लेखों में 'राज्य' शब्द का प्रयोग नहीं करता, वह 'समाज' तथा 'सरकार' शब्दों का प्रयोग करता है। बेन्थम भी राज्य और सरकार में कोई विभेद न कर सका। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं, हमें याद रखना चाहिये कि **उपयोगितावाद** मुख्य रूप से एक नैतिक सिद्धान्त है, यह उस 'श्रेय' का सिद्धान्त है जिसे कि व्यक्तियों तथा समाज को अपने सामने रखना चाहिये। राज्य तथा व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धों का विश्लेषण करना इसका मुख्य उद्देश्य नहीं है।

Bibliography

Bowle: *Politics and Public Opinion in the Nineteenth Century*, pages 51–66, 194–208.
Davidson: *Political Thought in England.*
Doyle: *A History of Political Thought*, pages 228–263.
Dunning: *From Rousseau to Spencer*, Chapter VI.
Maxey: *Political Philosophies*, Chapter XXII.
Mill: *Utilitarianism, Liberty, and Representative Government*, Everyman's Library, Introduction by Lindsay.
Sabine: *A History of Political Theory*, Chapter XXXI.
Wayper: *Political Thought*, pages 82–129.

* "Not a modification of the old Benthamite premises, but a new philosophy was needed; and that philosophy was provided by the idealistic school of which Green is the greatest representative."

आदर्शवादी विचारधारा

जर्मन आदर्शवादी : कान्ट तथा हीगल

विषय-प्रवेश— गत अध्याय के अन्त में हमने यह बताया कि **उपयोगितावाद** उस स्थिति का सामना करने में असमर्थ रहा जोकि इंगलैंड में औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न हो गई थी। स्वतन्त्रता और सुधार के सिद्धान्त की अपेक्षा यह प्रतिक्रिया तथा विशेषाधिकारों का सिद्धान्त बन गया था। जबकि इसका प्रतिपादन किया गया तो यह आर्थिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता के नाम में समाज के आर्थिक जीवन में सरकार के हस्तक्षेप का विरोध करता था।

"आरम्भ में यह सुधारों की माँग इस आधार पर करता था कि यदि राज्य द्वारा लगाये गये बुद्धिहीन प्रतिबन्ध और हस्तक्षेप को हटा दिया जाये तो आर्थिक हितों का स्वाभाविक समन्वय प्रत्येक दृष्टि से कल्याणप्रद होगा। जब इन प्रतिबन्धों को दूर कर दिया गया और लैसे फेयर (Laissez faire) की नीति को पूर्णरूप से अपना लिया गया तो इस सिद्धान्त का प्रयोग आर्थिक हितों के परस्पर विरोध को दूर करने के प्रयास का विरोध करने के लिये किया गया। उपयोगितावाद वह सब कर चुका था जोकि वह कर सकता था, किन्तु जनतन्त्र पहिले किसी भी समय की अपेक्षा अधिक जीवित था और बहुत सी नई तथा अप्रत्याशित समस्यायें उसके सामने थीं। यदि जनतन्त्र को इन नई समस्याओं का सफलतापूर्वक सामना करना था तो एक ऐसा नवीन मार्ग खोजा जाना चाहिये था जिसमें कि सच्चे व्यक्तिवाद का उन अन्य कार्यों के साथ सामंजस्य स्थापित किया जा सकता जोकि राज्य के ऊपर लादे जा रहे थे।"*

शताब्दी के अन्त में कारखानों के मालिकों की शोषण प्रवृत्ति से कारखानों के मजदूरों की रक्षा करने के लिये काफी कानून बनाये जा चुके थे, जिन्हें Laissez faire

* "It demanded reforms in the early days on the ground that if unwise state restriction and interference were removed the natural harmony of economic interests would ensure that all would be well. When these restrictions had been removed and Laissez faire largely realised, the doctrine was used to oppose any attempt to deal with the disharmonies of economic interest. Utilitarianism had done all that it could, but democracy was more alive than ever and faced with any number of new and unexpected problems. If democracy was to grapple with these new problems with any success, some way had to be found of reconciling a true individualism with the new functions which were being thrust upon the state." —Hearnshaw: *Social and Political Ideas of Thinkers of the Victorian Age*, Chapter VII, pages 151–152.

के आधार पर उचित नहीं ठहराया जा सकता था। प्रवृत्ति समष्टिवाद की ओर थी, जिसका कोई औचित्य उपयोगितावाद के पास न था। दूसरे शब्दों में परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाने के कारण उपयोगितावाद राजनीतिक रूप से निष्फल हो गया था। इसकी निष्फलता का कारण यह था कि यह मनुष्य के स्वभाव तथा उसके समाज सम्बन्ध की एक अपर्याप्त धारणा पर आधारित था। बेन्थमवादी दर्शन में व्यक्ति को सुखों का एक बण्डल और समाज को स्वतन्त्र सुखभोगी इकाइयों का एक समूह-मात्र बना दिया गया था। यह मानव स्वभाव की एक बहुत ही खोखली धारणा थी, यह समाज के स्वरूप का काफी गहरा विश्लेषण नहीं करती थी। कार्लाइल (Carlyle) ने इस सिद्धान्त को आपाधापी (Each one for himself and devil take the hindmost) का सिद्धान्त कहकर इसकी निन्दा की थी। विचारशील व्यक्तियों ने महसूस किया कि राज्य के स्वरूप तथा उसके व्यक्ति के सम्बन्ध के एक समुचित सिद्धान्त की रचना करने से पहिले आरम्भ ही नए सिरे से करना होगा और मानव स्वभाव की एक अधिक सच्ची और समुचित धारणा बनानी होगी। यह कार्य टॉमस हिल ग्रीन ने, जोकि ऑक्सफोर्ड का एक महत्त्वपूर्ण आदर्शवादी था, राजनीतिक कर्त्तव्य (Political Obligation) के ऊपर अपने व्याख्यानों में करने का प्रयास किया।

ऑक्सफोर्ड में आदर्शवादी धारा के प्रवाहित होने का तत्कालीन कारण था जर्मन दार्शनिक आदर्शवाद का आगमन, जिसका आरम्भ कान्ट से हुआ और हम हीगल में जिसकी चरम सीमा देखते हैं। जर्मन आदर्शवाद का प्रभाव गत् शताब्दी के मध्य से, अर्थात् हीगल की मृत्यु के कोई एक पीढ़ी बाद बढ़ा। परन्तु एक बार इङ्गलैंड में प्रवेश करने के बाद इसने उसकी बौद्धिक तथा दार्शनिक धारा की दिशा ही बदल दी। रूडोल्फ मेज के शब्दों में इसने 'दार्शनिक पतवार को एक बिल्कुल नवीन दिशा की ओर' घुमा दिया।

हमें यह न मान बैठना चाहिये कि इङ्गलैंड में आदर्शवादी आन्दोलन पूर्ण रूप से जर्मन आदर्शवाद की ही उपज थी। ऑक्सफोर्ड के आदर्शवादियों को कान्ट और हीगल की अपेक्षा अफलातून और अरस्तु से भी कम प्रेरणा न मिली थी जिनके ग्रन्थ **'रिपब्लिक'** तथा **'ऐथिक्स'** वहाँ के पाठ्य-क्रम का एक भाग थे। इस आन्दोलन ने अंग्रेज जनता तथा सम्पूर्ण संसार के सामने विश्व के सम्बन्ध में एक आध्यात्मिक धारणा रखी जिसके आधार पर ग्रीन तथा अन्य विचारकों ने मनुष्य तथा राज्य के नैतिक जीवन के एक आदर्शवादी विचार की उद्भावना की। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य के आदर्शवादी सिद्धान्त को हम तब तक अच्छी तरह से नहीं समझ सकते जब तक कि हमें उस नैतिक दर्शन तथा अध्यात्म-शास्त्र का ज्ञान न हो, जिसके ऊपर कि इसका निर्माण हुआ है। प्राचीन अथवा अर्वाचीन एक भी आदर्शवादी विचारक, जिसने कि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, ऐसा नहीं हुआ, जिसका कि सम्बन्ध केवल राजनीतिक सिद्धान्त से रहा हो। अफलातून तथा अरस्तु, कान्ट तथा हीगल, ग्रीन तथा बोजान्के, ये सभी मुख्यत: और मूल रूप से दार्शनिक हैं, राजनीतिक

सिद्धान्त में इनकी रुचि साधारणतः निस्रेतात्मक (Derivative) है। इस प्रसंग में यह बात भी उल्लेखनीय है कि उन्होंने हमें राज्य का सिद्धान्त दिया है, सरकार का नहीं। सरकार की रचना में उनकी विशेष दिलचस्पी नहीं है। इस बात में आदर्शवादी उपयोगितावादियों के एकदम विपरीत हैं।

राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त— राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त कई नामों से विख्यात है। बोजान्के (Bosanquet) ने इसकी **विवेचना** 'राज्य का दार्शनिक सिद्धान्त' के नाम के अन्तर्गत की है और जिस पुस्तक में उसने इस सिद्धान्त की समीक्षा की है उसका यही नाम है। हॉबहाउस (Hobhouse) ने इसकी आलोचना 'आध्यात्मिक सिद्धान्त' (Metaphysical theory) के नाम के अन्तर्गत की है। यह नाम असंगत नहीं है; आदर्शवादी राज्य सम्बन्धी समस्याओं को दार्शनिक दृष्टिकोण से देखता है, उसके आध्यात्मिक विचार उसकी राजनीतिक धारणाओं पर बड़ा गहरा प्रभाव डालते हैं और उन्हें निर्धारित करते हैं। जोड (Joad) ने इसे 'निरपेक्षवादी सिद्धान्त' (Absolutist theory) का नाम दिया है। एक उपेक्षापूर्ण आलोचक इसे 'रहस्यवादी सिद्धान्त' (Mystical theory) कह कर पुकारता है। हीगल तथा उसके कुछ जर्मन अनुयायियों के लेखों में इस सिद्धान्त ने जो रूप ग्रहण किया उसे देखते हुए इसके ये नाम भी उचित ठहराये जा सकते हैं, क्योंकि उनकी प्रवृत्ति राज्य को निरंकुश बनाने और व्यक्ति को उसके अधीन कर देने की है। किन्तु ये नाम उस उदार रूप को नहीं दिये जा सकते, जो कि हमें ग्रीन में मिलता है। 'आदर्शवादी' यह नाम हमें सर्वोत्तम दिखाई देता है। इससे यह अभिलक्षित होता है कि यह सिद्धान्त राज्य की परिभाषा उसके आदर्श स्वरूप के अनुसार देने की चेष्टा करता है, यह ऐसे राज्य की समीक्षा करता है जैसा कि उसे होना चाहिये और जैसा कि प्रत्येक राज्य होने की कामना करता है, यद्यपि व्यवहार जगत् में वास्तविक राज्य आदर्श से कितनी ही दूर क्यों न हों। आदर्शवादी राज्य तथा उसके संस्थानों के सम्बन्ध में अपनी धारणाओं को मनुष्य के वास्तविक व्यवहार और उसके राजनीतिक आचरण पर पूर्णतया क्या, मुख्यतया भी, आधारित नहीं करता। वह मनुष्य के आदर्श आचरण तथा उसकी कमजोरियों और दोषों में विभेद करता है और अपने सिद्धान्त को मनुष्य के विवेकमय तथा आध्यात्मिक तत्व पर आधारित करता है क्योंकि वही तत्व मानव स्वभाव में अधिक व्यापक तथा स्थायी है। अफलातून की कल्पना का आदर्श राज्य जिसमें कि दार्शनिक राजा निरंकुशतापूर्वक शासन करता है और रूसो द्वारा प्रतिपादित राज्य, जोकि **सामान्य इच्छा** (General Will) का साकार रूप है, आदर्शवादी सिद्धांत के सुन्दर उदाहरण हैं। दूसरे उदाहरण हमें हीगल, ग्रीन तथा बोजान्के के सिद्धान्तों में मिलते हैं।

राज्य के बहुत से स्वरूप होते हैं: समाजशास्त्रीय, राजनीतिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, वैधानिक, मनोवैज्ञानिक, जैविक तथा नैतिक। आदर्शवादी की दृष्टि में राज्य मूल रूप में तथा तत्वतः शुभ जीवन के लिये एक सर्वोच्च साधन है। वैधानिक

संस्था अथवा आर्थिक प्रगति करने वाला एक अभिकरण वह गौण रूप से ही है। इसलिये राजनीतिक दर्शन एक नैतिक अध्ययन हो जाता है। राजनीति के प्रति नैतिक दृष्टिकोण रखना अफलातून तथा अरस्तू के राजनीतिक विचार की एक प्रमुख विशेषता है। रूसो, कान्ट, हीगल तथा ग्रीन के सिद्धान्तों में भी यह प्रमुख स्थान रखता है। ये सभी विचारक राज्य को मनुष्य की नैतिक शुभ की इच्छा करने तथा उसे प्राप्त करने की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में रख कर देखते हैं। शायद इसीलिये प्रो० रेमण्ड जी० गैटल ने इस सिद्धान्त को राज्य का 'आदर्शवादी-नैतिक' (Idealist-ethical) सिद्धान्त कह कर पुकारा है।

आदर्शवादी-नैतिक सिद्धान्त की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :—

(१) यह मनुष्य को एक सामाजिक अथवा राजनीतिक प्राणी समझता है क्योंकि वह अपनी अन्तर्निहित शक्तियों का विकास राज्य के अन्दर रह कर ही कर सकता है। किसी व्यक्ति का अपने साथियों से अलग-अलग रहना प्रकृति के विरुद्ध है, राज्य की सदस्यता ही उसे पशुओं की श्रेणी से निकाल कर सच्चा मानव बनाती है, राज्य से बाहर रहकर तो वह एक विवेकहीन तथा सीमित प्राणी ही रहेगा। अफलातून की 'रिपब्लिक', तथा अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' की यही तान है। आधुनिक काल में रूसो ने इसे पुनर्जीवित किया। दूसरे शब्दों में, आदर्शवादी सिद्धान्त व्यक्ति तथा समाज में एक सजीव तथा सावयवी सम्बन्ध मानता है, उसके अनुसार व्यक्ति को अपना मूल्य और महत्त्व समाज द्वारा ही प्राप्त होता है। यह है वह सत्य, जिसे ग्रीन उपयोगितावादियों के व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिष्ठित करना चाहता है। अपनी इसी धारणा के कारण आदर्शवादी व्यक्ति तथा राज्य के मिथ्या विरोध से ऊपर उठ पाये हैं। हीगल ने इस सत्य पर बहुत जोर दिया है।

(२) आदर्शवादी सिद्धान्त राज्य को मूल से एक नैतिक समुदाय समझता है, अफलातून तथा अरस्तू के शब्दों में यह 'सदाचारी जीवन के लिये एक साझेदारी' है। इसका उद्देश्य सुखवृद्धि नहीं है, जैसा कि उपयोगितावादी कहते हैं, बल्कि उन परिस्थितियों को कायम रखना है, जोकि नागरिकों के सर्वश्रेष्ठ जीवन के, जोकि तत्वतः नैतिक है, के लिये आवश्यक हैं। यह है वह आधारभूत सत्य, जिसका प्रतिपादन प्राचीन यूनानियों ने किया और जिस पर रूसो ने इतना बल दिया। कान्ट के विचारों को विकसित करते हुए हीगल इस परिणाम पर पहुँचा कि राज्य सामाजिक सदाचार की वृद्धि के लिये कायम है।

(३) आदर्शवाद की उपरोक्त दो धारणाओं का यह स्वाभाविक परिणाम है कि व्यक्ति तथा राज्य में कोई विरोध नहीं हो सकता। राज्य का उद्देश्य मानव व्यक्तित्व का पूर्ण तथा स्वतन्त्र विकास है। इसलिये राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के अधिकारों और व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिये घातक राज्य की शक्ति के सम्पूर्ण विचार को ही छोड़ देना चाहिये। हमें 'व्यक्ति विपरीत राज्य', इन शब्दों का प्रयोग ही नहीं करना चाहिये। स्वतन्त्रता सहित अपने समस्त अधिकारों के लिये व्यक्ति समाज पर

निर्भर करता है, समाज के विरुद्ध उसके कोई अधिकार नहीं हो सकते, समाज के प्रति तो उसके केवल कर्तव्य हैं। इसमें यह बात भी निहित है कि व्यक्ति का सदाचार इस बात में है कि वह अपने सामाजिक धर्म का पालन करे। इस प्रकार आदर्शवाद विचार जगत् में एक क्रांति उत्पन्न करता है। "एक ऐसे केन्द्रीय व्यक्ति से, जिसके लिये सामाजिक संगठन ढाला हुआ माना जाता है, आरम्भ करने के स्थान में आदर्शवादी एक केन्द्रीय सामाजिक संगठन से आरम्भ करता है जिसमें कि व्यक्ति को अपना निर्धारित कर्तव्य-क्षेत्र खोजना चाहिये।"*

(४) आदर्शवादियों के अनुसार राज्य का एक अपना जीवन होता है, अपना व्यक्तित्व होता है और अपनी इच्छा होती है जोकि उसके नागरिकों के जीवन, व्यक्तित्व तथा इच्छाओं से भिन्न होते हैं और उनका अतिक्रमण करते हैं। राज्य के व्यक्तित्व की धारणा की पूर्ण अभिव्यक्ति हीगल में हुई है जोकि राज्य को एक आत्म-चैतन्य, नैतिक तत्व, तथा एक आत्म-ज्ञानी और आत्मानुभवी व्यक्ति मानता है। हीगल के राज्य के व्यक्तित्व पर इतना जोर देने के कारण कुछ लोग इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वह व्यक्ति को राज्य के पूर्णतया अधीन करता है। यह आरोप ग्रीन सरीखे उदार आदर्शवादियों पर नहीं लगाया जा सकता, यद्यपि उनका भी यह विश्वास है कि राज्य अपना व्यक्तित्व और इच्छा रखता है और राज्य की आत्मा अपने नागरिकों में सचेत रहती है जिनमें से प्रत्येक का कार्यक्षेत्र यह निर्धारित करता है, तथापि हम कह सकते हैं कि इस सिद्धान्त में विश्वास, कि राज्य अपने घटकों के योग से कुछ अधिक है और उसकी अपनी आत्मा होती है, आदर्शवादी विचार की एक आधारभूत विशेषता है। प्रो० जोड के अनुसार हीगल तथा बोजान्के राज्य को एक 'अति-व्यक्तित्व' (Supra-personality) समझते थे, इससे वह कई उप-सिद्धान्त निकालता है। किन्तु वे इस सिद्धान्त का मूल तत्व नहीं हैं और सभी आदर्शवादियों पर उनको आरोपित नहीं किया जा सकता। उनका उल्लेख हम बोजान्के के विचार की समीक्षा करते समय करेंगे।

(५) अफलातून तथा अरस्तु से प्रेरित होकर अधिकतर आदर्शवादी कानून को 'निर्लिप्त विवेक' (Passionless Reason) की अभिव्यक्ति समझते हैं, एक मानवीय संप्रभु का आदेश मात्र नहीं। इसलिये उन्हें व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा राज्य के कानूनों के पालन में कोई असंगति नहीं दिखाई देती। कान्ट तथा हीगल और ग्रीन तथा बोजान्के, ये सभी रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त तथा उसकी इस धारणा, कि स्वतन्त्रता स्वनिर्मित कानून का पालन करने में है, से बहुत अधिक प्रभावित हुये थे। फलतः वे रूसो की इस धारणा से आरभ करते हैं कि स्वतन्त्रता मनुष्य का

* "Instead of starting from a central individual, to whom the social system is supposed to be adjusted, the idealist starts from a central social system, in which the individual must find his appointed orbit of duty."

—Barker: *Political Thought in England*, page 11.

विलक्षण तथा विशिष्ट गुण हैं और वे राज्य को पूर्णतया उसके इस स्वतन्त्रता के साथ सम्बन्ध के प्रकाश में ही देखते हैं।

(६) आदर्शवादी सिद्धान्त की सामान्य प्रवृत्ति राज्य को एक 'स्वपर्याप्त' इकाई समझने और उसके द्वारा उसे सम्पूर्ण समाज के अनुरूप मानने की है। यह प्रवृत्ति अफलातून तथा हीगल के सिद्धान्तों में अधिक स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। यह बोजान्के के सिद्धान्त में भी प्रमुख रूप से पाई जाती है जोकि राज्य को 'नैतिक विचार' (The ethical idea) तथा 'सम्पूर्ण जीवन की अन्तिम क्रियाशील धारणा' समझता था। पाठकों को स्मरण होगा कि अफलातून परिवार सरीखे छोटे समुदायों से चिढ़ता था। ग्रीन, जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, इस दृष्टिकोण से अरस्तु-वादी अधिक है, उसकी योजना में परिवार, चर्च तथा अन्य समुदायों के लिये स्थान है।

(७) अन्त में, आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह कभी भी बल का प्रयोग नहीं करता; इसका अर्थ केवल यह है कि जबरदस्ती करने का अधिकार राज्य का एक आधारभूत गुण नहीं है जैसा कि बेन्थम, ऑस्टिन तथा उससे पहिले हॉब्स मानते थे। इसका तत्त्व इस बात में है कि यह जनता की सामान्य इच्छा का मूर्त्त रूप है। हमें राज्य की आज्ञा का पालन इसलिये करना चाहिये क्योंकि हम जानते हैं कि यह हमारी सच्ची तथा उच्चतर आत्मा का प्रतिनिधि है और इसके द्वारा ही उस सामान्य-हित की प्राप्ति हो सकती है जिसका कि हमारा अपना हित एक अभिन्न अंग है, इसलिये नहीं कि ऐसा करने से हमें राज्य दण्ड देगा या राज्य हमारी कुछ सेवा करता है। राज्य की सेवा करने से हम अपनी उच्चतर आत्मा के आदेश का ही पालन करते हैं।

उन व्यक्तियों ने, जोकि आदर्शवादियों के विश्व के दार्शनिक अथवा आध्या-त्मिक दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं, उपरोक्त धारणाओं में से अधिकतर की कठोर आलोचना की है। हॉबहाउस सरीखा एक यथार्थवादी विचारक, जोकि राजनीतिक घटना-चक्र को समझने के लिये पर्यवेक्षण की वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करना चाहता है और जिसकी आदर्श की खोज में कोई रुचि नहीं है, स्वाभाविक रूप से इसे आध्या-त्मिक कहकर इसकी निन्दा करेगा। इसी प्रकार अनुभववादी लास्की इसे इसलिये नापसन्द करता है क्योंकि यह राजनीतिक कर्त्तव्य का आधार एक आदर्श राज्य में खोजता है, न कि इस बात में कि वह मानव इच्छाओं को सन्तुष्ट करने के लिये क्या करता है। दूसरे लोग इसकी आलोचना इसलिये करते हैं क्योंकि यह विवेक को आव-श्यकता से अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान देता है और राजनीतिक जीवन में भावना तथा सहज प्रवृत्ति के स्थान को भूल जाता है। इन आलोचनाओं की मान्यता की समीक्षा हम अन्त में करेंगे। यहाँ हम केवल इतना कह सकते हैं कि ये हमें फिर उसी बिन्दु पर ले आती हैं, जिस पर कि हम पहिले ही जोर दे चुके हैं, कि आदर्शवादी सिद्धान्त

का मूल दर्शन-शास्त्र तथा अध्यात्म-शास्त्र में है और इसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि के समुचित ज्ञान के विना हम इसे भली-भाँति नहीं समझ सकते, परन्तु इन आदर्शवादी विचारकों को मान्य दार्शनिक धारणाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन करना हमारे लिये यहाँ सम्भव नहीं। यहाँ पर हमारा सम्बन्ध केवल उनके राजनीतिक सिद्धान्तों से है। उनके आध्यात्मिक तथा नैतिक दर्शन का उल्लेख तो हम केवल उसी सीमा तक करेंगे जहाँ तक कि उनके राजनीतिक विचारों को समझना आवश्यक होगा।

जर्मन आदर्शवादी : कान्ट

परिचयात्मक— इंगलिश आदर्शवादी आन्दोलन ने, जिसने कि अपर्याप्त उपयोगितावादी सिद्धान्त के स्थान में एक ऐसा नवीन दर्शन दिया, जिसकी कि इंगलैंड को उस समय आवश्यकता थी, कान्ट तथा उसके महान् उत्तराधिकारी हीगल से बड़ी प्रेरणा ग्रहण की। इसलिये इन महान् जर्मन दार्शनिकों के राजनीतिक सिद्धान्तों का एक संक्षिप्त विवरण यहां देना आवश्यक है।

इमेनुअल कान्ट (Immanuel Kant)— कान्ट का जन्म १७२४ ई० में और देहान्त १८०४ में हुआ। उनका जीवन अत्यन्त साधारण था। हीन के प्राय: उद्धृत शब्दों में "उसके जीवन का इतिहास लिखना बड़ा कठिन है क्योंकि उसका न तो जीवन था और न इतिहास, क्योंकि वह जर्मनी की उत्तर-पूर्वी सीमा पर कॉनिग्सवर्ग नामक पुराने कस्बे की एक शान्त गली में एक यांत्रिक रूप से व्यवस्थित और कौमार्य का जीवन व्यतीत करता था। मुझे विश्वास नहीं कि गिरजाघर का महान् घण्टा भी अपने कार्य को इमेनुअल कान्ट की अपेक्षा अधिक निष्काम भाव तथा नियमित रूप से करता हो। सोकर उठना, कॉफी पीना, लिखना, पढ़ना, कॉलिज में व्याख्यान देना, खाना, घूमना, सबका एक निश्चित समय था, और जब इमेनुअल कान्ट अपना खाकी रंग का कोट पहिने हुए और **मनीला छड़ी** को हाथ में लिये हुए अपने घर को छोड़कर **लाइम ट्री** नामक सड़क के लिये रवाना हो जाता था तो पड़ौसी समझ जाते थे कि इस समय ठीक साढ़े तीन बजे हैं ...... और जब निश्चित समय पर गुजरता था तो वे मित्रतापूर्ण भाव से उसका अभिवादन करते थे और उससे अपनी घड़ी मिलाते थे।"*

---

* "The history of his life is hard to write, in as much as he had neither life nor history, for he lived a mechanically ordered and abstract old bachelor life in a quiet retired street of Konigsberg, an old town on the north-east border of Germany. I do not believe that the great clock of the cathedral there did its work more dispassionately and regularly than its compatriot, Immanuel Kant. Rising, coffee drinking, writing, reading, college lectures, eating, walking, all had their fixed time, and the neighbours knew that it was exactly half past three when Immanuel Kant in his grey coat with his Manila cane in his hand, left his house door and went to the Lime Tree avenue .... and when he at the regular hour passed by, they greeted him as a friend and regulated their watches by him."

कान्ट ने केवल एक बार दोपहर बाद का घूमना छोड़ा (बीमार होने की बात तो दूसरी है) और उसका कारण था उसका रूसो के ग्रंथ 'इमाइल' के पढ़ने में तन्मय हो जाना। रूसो के लिये कान्ट के हृदय में कितनी श्रद्धा थी उसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उसके अध्ययनागार में सजावट की जो एकमात्र वस्तु थी वह रूसो का चित्र था। यह जानना भी दिलचस्पी से खाली न होगा कि कान्ट अपने जन्मनगर से बाहर नहीं निकला। केवल एक बार उसने बर्लिन जाने के लिए सामान बाँधा और वहाँ के लिये वह चल भी पड़ा, किन्तु कुछ ही मील चलने के बाद उसने अपना इरादा बदल दिया और वह घर लौट आया। कान्ट संसार के महानतम दार्शनिकों में से एक है और उसकी गणना सुकरात, प्लेटो, अरस्तू तथा हीगल के साथ होती है। उसने तीस वर्ष से अधिक तक कोनिग्सबर्ग के विश्वविद्यालय में न्याय-शास्त्र तथा अध्यात्मशास्त्र पढ़ाया था। वे महान् कृतियाँ, जिनके कारण उसे इतनी ख्याति प्राप्त हुई, तीन हैं : 'Critiques of Pure Reason', 'Practical Reason' तथा 'Judgment', जिनका राजनीति-दर्शन से विशेष सम्बन्ध है। कानून तथा सरकार के सम्बन्ध में उसके विचार 'Metaphysical First Principles of the Theory of Law' में व्यक्त हुए हैं, जिसकी रचना उसने सत्तर वर्ष से अधिक की अवस्था में की थी और जो १७९९ ई० में प्रकाशित हुई थी। शांति तथा युद्ध सम्बन्धी विचारों में उसका बड़ा अनुराग था, इस विषय पर उसके विचार उसके ग्रन्थ 'Eternal Peace' में संगृहीत हैं, जोकि १७९६ में प्रकाशित हुई थी। अत्यन्त व्यक्तिगत अर्थों में शान्ति और स्वतन्त्रता के विचार उसकी आशाओं और आशंकाओं का केन्द्र बने रहे, और इन्हीं विषयों पर उसने अपने दर्शन का निर्माण किया। मानव-स्वभाव का सम्मान करना कान्ट ने रूसो से सीखा। सुन्दर तथा उदात्त के ऊपर एक निबन्ध के हाशिये पर उसने निम्नलिखित नोट लिखा :—

"एक समय था जबकि मैं यह सोचता था कि केवल यह (ज्ञान के लिये तीव्र प्यास और उसमें वृद्धि करने की अविश्रान्त भावना) ही मानव जाति का सम्मान हो सकती है, और मैं उस साधारण मनुष्य से घृणा करता था जोकि कुछ नहीं जानता। रूसो ने मुझे सही मार्ग दिखाया। यह अन्धा पक्षपात समाप्त हो गया; मैंने मानव स्वभाव का सम्मान करना सीखा और यदि मेरा यह विश्वास न होता कि मनुष्य के अधिकारों को प्रतिष्ठित करने के लिये इस विचार से दूसरों का भी मूल्य बढ़ सकता है तो मैं अपने आपको एक साधारण श्रमिक से कहीं अधिक बेकार समझता।"*

* "There was a time when I thought that this alone (a consuming thirst for knowledge and a restless passion to advance) could constitute the honour of mankind, and I despised the common man who knows nothing. Rousseau set me right. This blind prejudice vanished ; I learnt to respect human nature, and I should consider myself far more useless than the ordinary working man if I did not believe that this view could give worth to all others to establish the rights of man." Quoted by Carl J. Friedrich, in his introduction to the 'Philosophy of Kant', in the Modern Library Series, page xxii–iii.

इस प्रकार कान्ट का नैतिक स्वतन्त्रता को मनुष्य का एक विशिष्ट गुण समझने तथा मनुष्य के व्यक्तित्व के मूल्य के लिये उसके सम्मान का स्रोत उसका रूसो का अध्ययन है। कान्ट के दर्शन में उसकी नैतिक स्वतन्त्रता की धारणा का प्रमुख स्थान है। इसलिये उसके सम्बन्ध में दो शब्द कहना आवश्यक होगा।

कान्ट की नैतिक स्वतन्त्रता की धारणा— कान्ट के महान् ग्रन्थ 'Critique of Pure Reason' का अवसान अविश्वासवाद (Agnosticism) में हुआ है। ज्ञान तथा मानव बुद्धि की प्रक्रिया के विश्लेषण करने से कान्ट इस परिणाम पर पहुँचा है कि हमारा ज्ञान केवल घटना-चक्र तक सीमित है, हम विशुद्ध सत्य को नहीं जान सकते, हम उसके केवल उस रूप को जान सकते हैं जोकि हमारे सामने प्रगट होता है। दूसरे शब्दों में कान्ट जगत् के वास्तविक स्वरूप तथा उसके भाषित होने वाले स्वरूप में विभेद करता है। इन दोनों में अवश्य ही भेद होता है, क्योंकि वस्तुओं को जानने का प्रयास करने में मनुष्य का मस्तिष्क उन पर कुछ ऐसे गुणों तथा सम्बन्धों का आरोप कर देता है जोकि वास्तव में उनमें नहीं होते, और ऐसा करके बदल देता है।

"ठीक जिस प्रकार कि एक ऐसा व्यक्ति जोकि अपनी नाक पर नीले रंग के चश्मे स्थायी रूप से लगे हुये लेकर जन्म ले यह कहे कि संसार की प्रत्येक वस्तु नीली है, और जिस प्रकार कि नीलापन वस्तुओं में नहीं बल्कि उन स्थितियों के कारण है जिनमें कि उन्हें देखा जाता है, इसी प्रकार कान्ट की धारणा थी कि प्रत्येक वस्तु, जिसे हम जानते हैं, वे गुण रखती है जोकि मानव बुद्धि से निसृत होते हैं। इन गुणों को मानव मस्तिष्क ने जानने की प्रक्रिया में उसमें आरोपित कर दिये हैं। फलत: हम किसी भी वस्तु को उसके वास्तविक रूप में नहीं जान पाते, हम केवल उसके प्रगट रूप को जानते हैं।"*

परन्तु, कान्ट का विश्वास है कि मनुष्य में विशुद्ध सैद्धान्तिक विवेक के अतिरिक्त विशुद्ध व्यावहारिक विवेक भी होता है जोकि उसके नैतिक अनुभव का मूल है। उसका व्यावहारिक विवेक अथवा नैतिक अनुभव उसे यह बतलाता है कि कुछ कार्य ऐसे हैं जो उसे करने चाहियें, बिना ही इस बात का विचार किये हुये कि वह उन्हें करता है या नहीं। यह उस विश्वास का मूल है कि कोई चीज ऐसी है जो

---

* "Just as a man who was born with a pair of blue spectacles permanently fixed to his nose would assert that everything was blue, and just as the blueness would, nevertheless, not belong to the things which he saw but would be a quality imposed upon them by the conditions under which he saw them, so Kant held, everything we know possesses properties derived from the human mind. These properties the human mind has imposed upon it in the process of knowing it .... As a consequence, we never know anything as it really is we only know it as it appears."

—Joad: *Guide to Morals and Politics*, pages 201–02.

कि प्रत्येक मनुष्य के लिए मनुष्य होने के नाते मान्य है। इसी अनुभव के द्वारा मनुष्य का वास्तविकता से प्रत्यक्ष संसर्ग स्थापित होता है और उसी के कारण उसे यह विश्वास होता है कि परमात्मा है, मानव इच्छा स्वतन्त्र है, और आत्मा अमर है। यह ऐसी बातें हैं जिनकी सत्यता विशुद्ध सैद्धान्तिक बुद्धि द्वारा कभी सिद्ध नहीं की जा सकती। यह भावना कि 'मुझे क्या करना चाहिये' मनुष्य की यह अद्‌भुत विशेषता है, प्रकृति जगत् में ऐसी कोई चीज नहीं होती। अग्नि के लिये यह कहना कि उसे जलाना चाहिये और पदार्थ के लिये यह कहना कि उसे गुरुत्वाकर्षण केन्द्र की ओर आकृष्ट होना चाहिये, निरर्थक होगा। यह बात कि अग्नि जलाती है और पदार्थ आकृष्ट होता है, प्रकृति में घटित होने वाले तथ्यों का वर्णन है। केवल मनुष्य के सम्बन्ध में ही हम कह सकते हैं कि उसे यह काम करना चाहिये, जैसे कि यह कि उसे अपनी वासनाओं को संयत् रखना चाहिये और विवेक के अनुसार आचरण करना चाहिये।

मनुष्य में 'क्या करना चाहिये' की चेतना का होना यह सिद्ध करता है कि वह प्रकृति जगत् का एक भाग मात्र होने से कुछ अधिक है, वह शाश्वत सत्य के जगत् का प्राणी है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इसके कारण कान्ट मानव आत्मा का दो भागों में विभेद करता है, एक अनुभवप्रधान तथा दूसरा अति-क्रमणात्मक। अनुभवप्रधान आत्मा में इच्छाओं तथा भावनाओं का संघर्ष रहता है, इसमें उत्पत्ति (Causation) का नियम बरतता है जोकि प्रकृति जगत् में राज्य करता है। अतिक्रमणात्मक आत्मा नैतिक अथवा बुद्धिप्रधान आत्मा है, जिसके कारण मनुष्य शाश्वत सत्य के जगत् का प्राणी हो जाता है, और इस नाते वास्तविक स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। जिस समय मनुष्य अपनी इच्छाओं और वासनाओं की तृप्ति की चेष्टा करता है तो वह पराधीन रहता है, उस पर एक ऐसी चीज का शासन रहता है जोकि उसके सच्चे स्वरूप के लिए बाह्य है। जब वह नैतिक अथवा व्यावहारिक बुद्धि के आदेश का पालन करता है तो वह स्वतन्त्र रहता है, वह एक ऐसे नियम से अनु-शासित रहता है जिसका मूल स्वयं उसके अन्दर है। इस प्रकार आदर्श की चेतना स्वतन्त्रता की चेतना से आबद्ध है। कर्त्तव्य के अटल आदेश (Categorical Imperative of Duty) की व्याख्या करने से कान्ट की नैतिक स्वतन्त्रता की धारणा और अधिक स्पष्ट हो जायेगी, क्योंकि इन दोनों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। हमारे अधिकतर कार्यों पर 'यदि' की शर्त लगी रहती है। मुझे परिश्रम करना चाहिये यदि मैं प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होना चाहता हूँ, मुझे प्रातः सवेरे उठना चाहिये यदि मैं प्रार्थना तथा व्यायाम दोनों के लिये समय चाहता हूँ। इसलिये परिश्रम करना और सवेरे उठना मेरे लिये तभी आवश्यक होंगे जबकि मैं प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने तथा प्रार्थना और व्यायाम दोनों के लिये समय चाहता हूँ। यदि मेरे सामने ये दोनों उद्देश्य न हों तो परिश्रम करने और सवेरे उठने का कोई मूल्य ही न होगा। इसलिये इन्हें सशर्त आदेश (Hypothetical Imperatives) कहा जा सकता है क्योंकि ये मेरी

अन्य इच्छाओं की तृप्ति के लिए ही अभीष्ट हैं। कान्ट कहता है कि कर्त्तव्य भी एक आदेश (Imperative) है, यह भी एक विशिष्ट प्रकार के कार्य की माँग करता है। परन्तु दूसरे सशर्त की अपेक्षा यह अटल (Categorical) है। हमारा कर्त्तव्य-पालन करने का कर्त्तव्य हमारी किसी विशेष वस्तु की इच्छा पर निर्भर नहीं करता, इसके ऊपर किसी 'यदि' की शर्त नहीं लगी। मनुष्य को अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिये अथवा नैतिक नियम के अनुसार आचरण करना चाहिये, इसलिये नहीं कि यह स्वास्थ्य, धन, कीर्ति, शक्ति अथवा अन्य किसी वस्तु की कामना करता है, बल्कि केवल इसलिये कि यह उसके वास्तविक स्वरूप का नियम है और ऐसा करके ही वह शाश्वत सत्य को प्राप्त कर सकता है। हमारी इच्छा उसी हद तक शुभ है जिस तक कि वह हमारे कर्त्तव्य के अटल आदेश (Categorical Imperative) से निर्धारित होती है, इसलिये नहीं कि वह क्या करती है, या क्या प्राप्त करती है। कान्ट के शब्दों में, "संसार में या संसार के बाहर भी हम किसी ऐसी चीज की कल्पना नहीं कर सकते जोकि निरपेक्ष रूप से अच्छी हो। केवल सद्भावना ही निरपेक्ष रूप से शुभ होती है। बुद्धि, चातुर्य, निर्णयशक्ति तथा मस्तिष्क के अन्य गुण निश्चित रूप से बहुत सी बातों में अच्छे और वांछनीय हैं। परन्तु यदि इनका प्रयोग करने वाली इच्छा अथवा चरित्र अच्छा नहीं है तो प्रकृति के ही उपहार अत्यन्त बुरे और आपत्तिपूर्ण हो उठते हैं।"*

जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है इच्छा का शुभ होना इस बात में है कि वह विवेक के नियम द्वारा निर्धारित हो।

अब तक हमने कान्ट की इस धारणा की समीक्षा की है कि मानव जीवन का मूल तथ्य नैतिक स्वतन्त्रता है जोकि नैतिक नियम अथवा कर्त्तव्य के अटल आदेश (Categorical Imperative of Duty) का पालन करने में निहित है। इसलिये प्रश्न यह उठता है कि 'इस नैतिक नियम के अनुसार हमें क्या करना चाहिये?' कान्ट कहता है कि इसका निगमन विशुद्ध बुद्धि से हुआ है, इसलिये इसका कोई विशिष्ट तत्त्व नहीं हो सकता। यदि इसका कोई विशिष्ट तत्त्व होता, अर्थात् यह कोई कार्य-विशेष करने का आदेश देता तो यह विश्वव्यापी और अटल (Categorical) नहीं हो सकता था। इसलिये नैतिक नियम की माँग केवल यह हो सकती है कि मनुष्य को बाहरी बातों का विचार किये बिना ही अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिये, इसका ध्येय एक ऐसी इच्छा को उत्पन्न करना है जोकि स्वयं अपने में शुभ हो, हमारी आवश्यकताओं को तृप्त करने के लिये उसका निर्देशन करना नहीं। जैसा कि पहिले कहा

* "Nothing can possibly be conceived in the world, or even outside it, which can be called good without qualification, except a good will. Intelligence, wit, judgment and the other talents of mind .... are undoubtedly good and desirable in many respects. But these gifts of nature may also become extremely bad and mischievous if the will which is to make use of these gifts, and which, therefore, constitutes what is called character, is not good."

जा चुका है केवल वही इच्छा अपने में शुभ कही जा सकती है जोकि नैतिक नियम द्वारा निर्धारित होती है। नैतिक नियम को केवल एक औपचारिक और अमूर्त्त धारणा होने से तथा कर्म के लिये पथ-प्रदर्शक के रूप में सर्वथा व्यर्थ हो जाने से बचाने के लिये कान्ट ने इससे कुछ सूक्तियाँ निगमित की हैं जोकि एक बहुत बड़ी हद तक हमारे आचरण के लिये पथ-प्रदर्शक का कार्य कर सकती हैं। वे ये हैं:— (१) इस प्रकार आचरण करो जिससे कि तुम्हारी इच्छा का सिद्धान्त एक विश्वव्यापक नियम बन सके। इसका अर्थ यह है कि वह कार्य पूर्ण शुभ है जिसका कर्त्ता यह इच्छा कर सके कि समस्त मनुष्यों को उसी सिद्धान्त के अनुसार आचरण करना चाहिये जिस पर कि वह आधारित हो। यह सिद्धान्त इस बात की माँग करता है कि किसी को भी अपने लिये कोई अपवाद नहीं रखना चाहिये, इसलिये यह एक अच्छा नियम है। (२) अपने में अथवा किसी भी दूसरे व्यक्ति में जो मानवता है उसे सदैव साध्य समझते हुये, साधन कभी नहीं, आचरण करो। इसका अर्थ यह है कि समस्त मनुष्यों को स्वयं में साध्य समझो और किसी को भी अपनी इच्छाओं की तृप्ति के लिये साधन मत बनाओ। इसमें मनुष्य के व्यक्तित्व के मूल्य के लिए सम्मान निहित है। (३) इस प्रकार आचरण करो जिससे कि मानवता साध्यों का राज्य बन जाय। इसका अर्थ यह है कि सम्पूर्ण मानव जाति को एक महान् भ्रातृमण्डल के रूप में समझा जाना चाहिये। हमारे लिये यह देखना अप्रासंगिक होगा कि इन सूक्तियों को अपने नैतिक आचरण के लिये पथ-प्रदर्शक कहाँ तक बनाया जा सकता है। अब हम कान्ट के राजनीतिक विचारों पर आते हैं जिसके लिए उसकी नैतिक स्वतन्त्रता की धारणा एक आधार तैयार करती है।

कान्ट के राजनीतिक विचार— व्यक्ति के नैतिक स्वशासन पर कान्ट जो जोर देता है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह एक महान् व्यक्तिवादी है। वह व्यक्ति को राज्य के अधीन नहीं करता और व्यक्ति पर राज्य के नियन्त्रण की बहुत सराहना नहीं करता; इसके विपरीत वह यह कहता है कि राज्य को कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये जोकि व्यक्ति द्वारा अपनी सच्ची स्वतन्त्रता की अनुभूति में बाधक हो। कान्ट ने व्यक्ति के स्वशासन पर जोर दिया है, उसका व्यक्ति की राज्य की सदस्यता के साथ सामंजस्य स्थापित करना पहिली दृष्टि में तो कठिन प्रतीत होता है। यदि व्यक्ति सच्ची स्वतन्त्रता की प्राप्ति नैतिक नियम के अनुसार आचरण करके ही कर सकता है तो उसके जीवन में राज्य के लिये कहाँ स्थान रह जाता है? कान्ट राज्य की आवश्यकता को इस प्रकार सिद्ध करता है। वह कहता है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता और नैतिक इच्छा के समुचित प्रस्फुटन तथा कार्य-रूप में परिणत होने के लिये कुछ विशेष परिस्थितियों का होना आवश्यक है। मनुष्य की अन्य नागरिकों के कार्यों के कुप्रभाव से रक्षा करनी आवश्यक है। इसके लिये राज्य की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त हम ऊपर देख चुके हैं कि एक व्यक्ति किसी समय जिस चीज की इच्छा करता है वह ऐसी होनी चाहिये जिसे विश्वव्यापक नियम बनाया जा सके। "जब वह यह नियम

प्रतिपादित करता है कि 'तू चोरी नहीं करेगा' तो वह वास्तव में एक सामान्य नियम का प्रतिपादन करता है, और अन्ततोगत्वा, क्योंकि वह एक सम्पूर्ण प्रणाली का निर्माण ही ऐसे नियमों के ऊपर करता है, वह ऐसे कानून को जन्म दे रहा है जो आवश्यक रूप से राज्य में प्रतिष्ठित होने और राज्य द्वारा लागू किये जाने चाहियें।"*

इस प्रकार कान्ट के लिये राज्य नैतिक जीवन के लिये एक आवश्यक शर्त बन जाता है; वह उन सर्वव्यापक कानूनों को मनवाने के लिये आवश्यक है जोकि नैतिक नियम से नियमित किये जा सकते हैं। इसलिये राज्य निश्चित रूप से एक अच्छी चीज है; कान्ट उसे एक आवश्यक बुराई नहीं समझता जैसा कि अधिकतर व्यक्तिवादी समझते हैं।

परन्तु यद्यपि कान्ट राज्य को एक निश्चित रूप से अच्छी चीज समझता है, वह उसके सावयवी स्वरूप से अधिक परिचित नहीं, उसका स्वरूप वह संविदात्मक मानता है। राज्य के ऐतिहासिक जन्म के सिद्धान्त के रूप में तो वह संविदा सिद्धांत को नहीं मानता, किन्तु राज्य के स्वरूप के सिद्धान्त के रूप में उसे सच्चा मानता है। संक्षेप में, कान्ट, रूसो की भाँति, संविदा के विचार को एक विवेकसम्मत विचार के रूप में मानता है। उसका विचार है कि संविदा के द्वारा ही "यह समझा जा सकता है कि मनुष्य बाह्य स्वतन्त्रता को समर्पित कर देते हैं, किन्तु राज्य के घटक के रूप में वे उसे तुरन्त ही वापिस प्राप्त कर लेते हैं। पूर्ण स्वतन्त्रता एक ऐसी स्वतन्त्रता है, क्योंकि वह स्वयं उन्हीं की विधायक इच्छा की सृष्टि है, परन्तु एक ऐसी स्वतन्त्रता, जो कि फिर भी कानूनी निर्माता का रूप ग्रहण करती है, क्योंकि उसका स्थान अधिकार अथवा कानून के क्षेत्र में ही हो सकता है, को प्राप्त करने के लिये वे अपनी जंगली कानूनहीन स्वतन्त्रता का परित्याग कर देते हैं।"†

राज्य के सम्बन्ध में अपनी संविदात्मक धारणा के कारण कान्ट सावयवी धारणा को विकसित न कर सका जो कि आदर्शवादी सिद्धान्त से अधिक ताल खाती है। यह देखना दिलचस्पी से खाली न होगा कि कोई भी दूसरा आदर्शवादी विचारक संविदा की धारणा में, एक बौद्धिक विचार के रूप में भी, विश्वास नहीं करता। यह देखना हमारे लिये आवश्यक नहीं कि कान्ट इस विचार को क्यों और किस प्रकार

* 'When he lays down the rule 'Thou shalt not steal', he is really constituting a general rule and ultimately, because he builds a whole system of such rules, he is creating a set of laws which must necessarily be enshrined in and enforced by a state." —Barker: *Political Thought in England*, page 26.

† "The men can be understood to 'surrender their external freedom in order to receive it immediately back again as members of the commonwealth': they abandon their wild lawless freedom in order to substitute a perfect freedom, a freedom undiminished, because it is the creation of their own free legislative will: but a freedom which nevertheless assumes the form of a lawful dependence, because it takes its place in a realm of Right or Law."
— Barker: *op. ct.*, page 26.

मानता है, शायद इसका कारण उसके चिंतन पर रूसो का प्रभाव हो। यह अठारहवीं शताब्दी के बौद्धिक वातावरण का भी एक भाग था।

उपरोक्त विवेचना से यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिये कि कान्ट इस विचार का निरस्कार करता है कि कानून संप्रभु का आदेश-मात्र है। केवल वे ही कानून सच्चे हैं और नागरिकों की भक्ति पर दावा कर सकते हैं, जो कि विशुद्ध बुद्धि के अनुकूल हों। यदि संप्रभु का आदेश बुद्धि के अनुकूल नहीं है तो उसे सच्चे अर्थों में कानून नहीं कहा जा सकता। कानून तत्त्वतः बुद्धि की निष्पत्ति है, इसलिये उसे विश्व व्यापक होना चाहिये जोकि सभी कालों में समस्त व्यक्तियों पर लागू हो सके, इसे जंगली मनुष्यों और सभ्य समाज सभी की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिये। एक दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि कानून समस्त सरकारों तथा धारा-सभा द्वारा बनाई गई विधियों से पहिला है। कानून सम्बन्धी यह धारणा उस नैसर्गिक कानून के सिद्धान्त के निकट है जिसे कि सुआरेज, ग्रोशियस तथा अन्य लेखकों ने सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दियों में विकसित किया था। यह उनके विचारों से भिन्न है क्योंकि इसे विशुद्ध बुद्धि की उत्पत्ति समझा जाता है। कान्ट का विश्वास था कि समस्त अधिकारों से सम्बन्धित एक विधि प्रणाली को अनुभव का सहारा लिये बिना ही सदसद् की बौद्धिक और अमूर्त्त धारणाओं से ही निगमित किया जा सकता है।

यद्यपि कानून सद्बुद्धि के ऊपर आधारित हैं, और उन्हें आदेश कहकर पुकारना गलत है, तथापि कान्ट यह मानता है कि उनके मनवाने को दण्ड शक्ति आवश्यक है। समुचित रूप से क्रियान्वित होने के लिये कानूनों के पीछे विवशकारी शक्ति का होना आवश्यक है। वह कहता है कि संवैधानिक व्यवस्था की स्थापना के लिये स्वतन्त्रता और कानून, जो कि विधेयन के दो साधन हैं, के साथ शक्ति का सम्मिश्रण होना चाहिये। यदि कानून और स्वतन्त्रता तो हो, किन्तु शक्ति न हो, तो परिणाम होगा अराजकता; और स्वतन्त्रता के कानून के अभाव में शक्ति का फल होगा बर्बरता। इसलिये शक्ति तथा स्वतन्त्रता और कानून का सम्मिश्रण ही समाज का आधार बन सकता है। कान्ट के अनुसार शक्ति राज्य का एक आवश्यक तत्व है; राज्य द्वारा अपराधियों को दण्ड देना वह उचित समझता है। वह दण्ड का औचित्य इस आधार पर नहीं देता कि उससे अपराध की पुनरावृत्ति नहीं होगी या उससे अपराधी में कुछ सुधार हो जायेगा; बल्कि वह यह समझता है कि दण्ड पाप का फल है। दूसरे शब्दों में, यह कि वह दण्ड के निषेधात्मक (Deterrent) और सुधारात्मक (Reformative) सिद्धान्तों को न मान कर प्रतिशोधात्मक (Retributive) सिद्धांत में विश्वास करता है।

पहिले किसी प्रसंग में हमने यह कहा था कि कान्ट एक व्यक्तिवादी है। जहाँ तक कि वह मानव व्यक्तित्व के मूल्य तथा वैभव पर बल देता है और व्यक्ति को राज्य का दास नहीं बनाता वह निस्सन्देह व्यक्तिवादी है। परन्तु यह बात विलक्षण है कि वह राज्य को सर्वशक्तिमान् बनाता है। वह हॉब्स तथा रूसो की इस बात से

सहमत है कि मनुष्यों ने जिस समय राज्य की रचना की उस समय उसे अपने समस्त अधिकार समर्पित कर दिये थे। इस प्रकार राज्य का अधिकार निरपेक्ष और निरंकुश हो गया। अपने 'Philosophy of Law' नामक ग्रन्थ में कान्ट लिखता है: 'जनता की इच्छा स्वाभाविक रूप से अनेकीकृत होती है, और फलतः यह कानूनहीन होती है। एक कानून के द्वारा समस्त विशिष्ट इच्छाओं को एकीकृत करने वाली एक सर्वोच्च इच्छा के सम्मुख इसका अशर्त समर्पण एक ऐसा तथ्य है जिसका जन्म सर्वोच्च शक्ति की संस्था में ही हो सकता है, और इस प्रकार **'सार्वजनिक अधिकार'** का आधार रखा जाता है। इसलिये विरोध का अधिकार देना और उसकी शक्ति को सीमित करना परस्पर विरोधी बातें हैं।"*

एक दूसरे स्थान पर वह कहता है कि अपने नैतिक उद्देश्य की सिद्धि के लिये राज्य इतना आवश्यक है कि उसके विरुद्ध क्रान्ति का कोई अधिकार हो ही नहीं सकता। राजसत्ताधारी को पद से हटाना और उसकी हत्या करना कान्ट परमात्मा के विरुद्ध एक अनैतिक पाप समझता है जिसका कोई प्रायश्चित्त नही हो सकता। एक व्यक्तिवादी होते हुये और साधारण मनुष्य के लिये सम्मान रखते हुये भी कान्ट राज्य के अधिकार की अवहेलना तथा क्रान्ति को भय की दृष्टि से देखता था। राज्य की निरपेक्षता इस बात से भी जानी जा सकती है कि वह व्यक्तिगत सम्पत्ति के ऊपर राज्य को सापेक्षित नहीं निरपेक्ष अधिकार देता है।

किन्तु यह एक विलक्षण बात है कि कान्ट राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत असीमित नहीं करता; राज्य के कार्यों को वह एक अच्छे जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटाने तक सीमित रखता है। नैतिकता कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित होकर कर्म करने तथा नैतिक नियम का पालन करने में है, इसलिये राज्य प्रत्यक्ष रूप से उसकी वृद्धि नहीं कर सकता; व्यक्ति ही स्वयं अपने लिये ऐसा कर सकता है। राज्य तो केवल इतना ही कर सकता है कि शुभ जीवन के मार्ग में से बाधाओं को हटाकर ऐसी बाह्य परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दे जोकि नैतिकता के विकास के लिये अनुकूल हों।

इस विचार को, कि राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य शुभ-जीवन के मार्ग में से बाधाओं को हटाना है, ग्रीन तथा बोज़ान्के ने अपनाया, किन्तु हीगल ने नहीं।

राज्य तथा सरकार के रूप तथा सरकार को व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, तथा न्यायपालिका— इन भागों में विभक्त करने के सम्बन्ध में कान्ट के जो विचार हैं उनमें कोई नवीन या विशेष बात नहीं है, इसलिये उनका विवरण यहाँ देना आवश्यक न होगा। अन्त में, हम दो महत्त्वपूर्ण विषयों पर कान्ट के विचारों की विवेचना करेंगे। ये विषय हैं: स्थायी शान्ति तथा प्रगति का नियम।

---

* "The will of the people is naturally ununified and consequently it is lawless. Its unconditional submission under a sovereign will, uniting the particular wills by one law, is a fact which can originate in the institution of supreme power, and thus is Public Right founded. Hence to allow a right of resistance and to limit its power is a contradiction."

वर्तमान काल में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सबसे पहिले बोदाँ (Bodin) ने किया था कि मानव जाति का इतिहास प्रगति का इतिहास है, पतन का नहीं। १८वीं शताब्दी में दो फ्रेंच लेखकों **टर्गो** (Turgot) तथा **कान्डोरे** (Condorcet) ने इसके ऊपर जोर दिया, परन्तु इसे एक निश्चित तथा बुद्धिसम्मत रूप देने तथा राजनीतिक विचार के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करने का श्रेय कान्ट को ही है। आगे चल कर हीगल ने इसे विकसित किया और वह मार्क्स की शिक्षाओं की आधारशिला बन गया। प्रगति के नियम का सर्वोत्तम वर्णन कान्ट के अपने ही शब्दों में किया जा सकता है। वह कहता है: "जब मानव स्वतन्त्रता की क्रीड़ा का मानव इतिहास के बड़े पैमाने पर परीक्षण किया जाता है तो उसकी गतियों में एक नियमित धारा दिखलाई पड़ती है ....और इस प्रकार, जो चीज व्यक्तियों की स्थिति में उलझी हुई और अनियमित दिखलाई पड़ती है वह चीज सम्पूर्ण मानव के इतिहास में अपनी मूल शक्तियों की निरन्तर प्रगति यद्यपि मन्थर विकास के रूप में जानी जायेगी। .... व्यक्तिगत रूप से व्यक्ति और राष्ट्र भी अपने निजी उद्देश्यों की प्राप्ति में लगे हुये, प्रत्येक अपनी दिशा में और प्राय: एक दूसरे की विरोधी दिशा में जाते हुये, यह नहीं सोचते कि वे सब अनजाने में ही प्रकृति के उद्देश्य के निर्देशन में आगे बढ़ रहे हैं, जोकि उन्हें ज्ञात नहीं है, और कि वे एक ऐसे लक्ष्य की प्राप्ति के लिये कार्य कर रहे हैं, जोकि यदि उन्हें ज्ञात भी हो जाता तो उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं समझा जाता।"*

संक्षेप में, प्रगति के नियम का अर्थ यह है कि एक ऐसी शक्ति वर्तमान है चाहे उसे परमात्मा कहो, चाहे प्रकृति, जोकि इस संसार के घटनाचक्र को नियन्त्रित करती है और यह देखती है कि व्यक्तियों की विभिन्न शक्तियों का धीरे धीरे निरन्तर विकास होता जाये और मानव-जाति उन्नति करके उच्चतर तथा उच्चतर स्तरों पर पहुँच जाये। सम्पूर्ण प्रकृति मानव-शक्तियों के प्रस्फुटन की दिशा में अग्रसर है। आदि काल में मानव-जीवन में सहज-भाव, भावना तथा कामना की प्रधानता थी; विवेक तथा नैतिक भावना उस समय अधिक विकसित न हो पाई थी। 'असामाजिक सामाजिकता' की प्रधानता ने, जिसके कारण आदि मनुष्य अपने साथियों की सहायता तथा संसर्ग

* "When the play of the freedom of the human will is examined on the great scale of human history, a regular march will be discovered in its movements .... and in this way, what appears to be tangled and unregulated in the case of individuals will be recognised in the history of the whole species as a continually advancing though slow development of its original capacities and endowments .... Individual men, and even whole nations, little think while they are pursuing their own purposes, each in his own way and often in direct opposition to one another, that they are advancing unconsciously under the guidance of a purpose of Nature which is unknown to them, and that they are toiling for the realisation of an end, which if it were even known to them might be regarded as of little importance."

के बिना अपना काम न चला सका, तथापि जिनके साथ उसका निर्वाह भी सुगमता-पूर्वक न हो सका, मनुष्यों में परस्पर कलह तथा संघर्ष को जन्म दिया। इस प्रकार आदि अवस्था संघर्ष और युद्ध की सम्भावनाओं से भरी हुई थी। इस स्थिति ने मनुष्य को अपने अन्तर्निहित विवेक को विकसित करने के लिये विवश कर दिया और उसी के साथ नैतिक भावना का भी उदय हुआ। कालान्तर में विश्व-व्यापी हिंसा तथा उससे उत्पन्न होने वाली बुराइयों ने मनुष्य को अपनी कानूनहीन स्वतन्त्रता का परित्याग करने तथा अपने आपको सार्वजनिक कानून के जोकि बुद्धि द्वारा सुझाया हुआ साधन है, अधीन करने को, तथा इस प्रकार एक राजनीतिक संविधान तैयार करने को विवश कर दिया। इस प्रकार एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना, जिसमें अव्यवस्था को दबाने की सामर्थ्य हो, मानव समाज के विकास तथा बुद्धि तथा नैतिक कानून के अनुकूल जीवन बिताने की ओर एक कदम है। परन्तु कांट यहीं नहीं रुकता; उसके लिये एक उच्चतर जीवन की ओर, जिसमें कि सब कुछ बुद्धि के अनुसार होना है और नैतिक शक्तियाँ पूर्ण रूप से विकसित हो जाती हैं, राज्य केवल एक कदम है। लक्ष्य की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि अलग अलग राज्य मिल कर एक शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में मिल जायें जोकि स्थायी शान्ति कायम रख सके। इस प्रकार कान्ट एक संघात्मक विश्व-व्यवस्था का स्वप्न देखता है जिसमें कि अलग-अलग राज्य 'सामान्य सामूहिक इच्छा' के अधीन होंगे और स्थायी शान्ति कायम रहेगी। कान्ट मानता है कि व्यक्तिगत रूप से मनुष्यों में झूठ बोलने तथा धोखा देने की प्रवृत्ति होती है किन्तु वे इन प्रवृत्तियों को हेय समझ कर इनकी निन्दा करते हैं। इस लिये वह मानव जाति के सम्बन्ध में ये उद्गार प्रगट करता है कि मानव 'बुरे नहीं हैं बल्कि वे विवेकप्रधान प्राणी हैं जोकि बाधाओं को पार करते हुये मन्थर गति से बुराई से अच्छाई की ओर बढ़ रहे हैं।' इस प्रकार मानव जाति के इरादे तो साधारणतया बुरे नहीं होते, किन्तु उन इरादों को पूरा करना इसलिए कठिन हो जाता है क्योंकि उद्देश्य की प्राप्ति व्यक्तियों के स्वतन्त्र समझौते पर निर्भर नहीं करती, बल्कि संसार के नागरिकों के एक विश्वव्यापी संगठन में संगठित हो जाने के ऊपर निर्भर करती है। इस प्रकार कान्ट राज्यों के संघ पर आधारित एक विश्वव्यवस्था की कल्पना करता है, जिसका उद्देश्य स्थायी शांति स्थापित करना तथा मानव-जाति को अपने बौद्धिक तथा नैतिक विकास में सहायता देना और सच्ची स्वतन्त्रता की प्राप्ति है। इस दृष्टिकोण से, जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, हीगल का दर्शन प्रतिक्रियावादी था, क्योंकि वह विश्व-व्यापी शांति के तथा अति-राष्ट्रीय राज्य के विचार को प्रमाद-पूर्ण समझता था।

जॉन गोटीलेब फिक्टे (Johann Gotileb Fichte)

फिक्टे (१७६२–१८१४), जिसने बर्लिन विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र के अध्यापक के रूप में बड़ी ख्याति प्राप्त की थी, आरम्भ में कान्टवादी था; किन्तु

जर्मनी पर नेपोलियन के आक्रमण के पश्चात् वह अपने गुरु के विश्व-व्यापक व्यक्तिवाद से हट कर संकुचित राष्ट्रवाद की ओर अग्रसर हो गया। उसने कान्ट के आदर्शवादी दर्शन को निरंकुशता की ओर ले जाने का कार्य भी किया।

कान्ट वस्तुओं के स्वतन्त्र तात्विक अस्तित्व में, जोकि हमारे अनुभव का भौतिक आधार है, विश्वास करता था, इसलिए उसे पूर्ण आदर्शवादी समझा जा सकता है। उसके दर्शन में आदर्शवादी तत्त्व केवल एक है और वह यह कि हमारा विशुद्ध विवेक अन्तःकरण से ही समय तथा स्थान को रूप प्रदान करता है। अब यह कहा जा सकता है कि 'वस्तुओं में स्वयं अपने में' की धारणा स्व-विरोधी है। हम किसी ऐसी चीज के अस्तित्व में कैसे विश्वास कर सकते हैं जोकि अपने स्वभाव से ही अज्ञात और अज्ञेय है। यदि वह अज्ञेय है तो इसे हम अपनी चेतना का कारण कैसे समझ सकते हैं? इसलिये फिक्टे ने इस धारणा का पूर्णतया परित्याग कर दिया। उसका विश्वास था कि बुद्धि अपने-अपने अन्दर से ही अनुभव के न केवल औपचारिक तत्त्व को वल्कि भौतिक तत्त्व को भी उत्पन्न करती है। उससे परे तथा बाहर कुछ नहीं है। इसलिये बुद्धि ही एकमात्र सत्य है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वह कान्ट की अपेक्षा अधिक पूर्ण आदर्शवादी है। इसके अतिरिक्त कान्ट में निरपेक्ष अथवा विश्व-व्यापी बुद्धि का कोई उल्लेख नहीं है। यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति की बुद्धि ही स्थान तथा काल के रूप का स्रोत है। फिक्टे एक ऐसी विश्व-व्यापी तथा निरपेक्ष बुद्धि में विश्वास करता था जोकि अनुभव जगत का स्रोत है और व्यक्तिगत बुद्धियाँ जिसके भाग हैं। इस प्रकार फिक्टे ने कान्ट के आदर्शवाद को वस्तुप्रधान तथा निरपेक्ष दिशा में विकसित किया।

राजनीति के क्षेत्र में फिक्टे का आरम्भ एक उदारवादी व्यक्तिवादी तथा नैसर्गिक कानून के भक्त के रूप में हुआ; और फ्रांस की क्रांति का उसने इन सिद्धांतों की पूर्ति समझ कर स्वागत किया। अपनी प्रारम्भिक रचना में उसने राज्य को नैसर्गिक अधिकारों को सुरक्षित रखने का एक साधन बताया है, स्वयं अपने में ही एक साध्य नहीं। परन्तु फ्रांस की घटनाओं से प्रभावित होकर वह इस परिणाम पर पहुँचा कि राज्य को अधिकारों को सुरक्षित रखने के नकारात्मक कार्य तक ही सीमित नहीं रखना चाहिये; उसे उन अधिकारों को वास्तविक बनाने के लिये आर्थिक क्षेत्र में भी हस्तक्षेप करना चाहिये। अपनी "Closed Commercial State" में उसने राज्य समाजवाद (State Socialism) का समर्थन किया है। जर्मनी पर नेपोलियन के आक्रमण के उपरान्त उसके दृष्टिकोण में और अधिक क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ और अपने 'Addresses to the German Nation' में उसने राष्ट्र-राज्य को सर्वोच्च शुभ बतलाया। वह उसे सर्वोच्च लौकिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिये एक आवश्यक साधन मानता था। वह एक कदम और आगे बढ़ा और उसने राज्य को स्वयं अपने में ही साध्य बताया। उसकी राज्य सम्बन्धी धारणा और अधिक राष्ट्रवादी हो गई और उसने कहा कि प्रत्येक राष्ट्र को मानवता अपनी निजी देन देती है। इस प्रकार

हम राष्ट्र-राज्य की सराहना का आरम्भ फिक्टे में देखते हैं। हीगल ने इस प्रक्रिया को चरम सीमा पर पहुँचा दिया और राज्य का दैवीकरण ही कर डाला। अब हम उसी पर आते हैं।

जार्ज विल्हैल्म फ्रैड्रिक हीगल
(George Wilhelm Friedrich Hegel)

जीवन तथा रचनायें— दार्शनिक आदर्शवाद तथा राज्य के आदर्शवादी सिद्धांत को पूर्ण रूप से समझने के लिये हमें हीगल का अध्ययन करना है, जिसकी दृष्टि की व्यापकता तथा विचारों की गहनता कान्ट तथा फिक्टे दोनों से कहीं अधिक थी। उसका जन्म १७७० में दक्षिणी जर्मनी में स्टटगार्ट के एक मध्यम वर्ग के परिवार में हुआ था। उसने ट्यूबिन्जर्न के विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की थी। विश्वविद्यालय छोड़ने के उपरान्त उसने कुछ वर्षों तक एक प्राइवेट शिक्षक के रूप में कार्य किया और फिर वह जीना विश्वविद्यालय में सात वर्षों तक एक प्राध्यापक रहा। जीना में रह कर ही उसने अपने व्यापक तथा गूढ़ दर्शन के मुख्य तत्त्वों का विकास किया और अपने महान् ग्रन्थ 'Phenomenology of Mind' को प्रकाशित कराया। परन्तु फिर नेपोलियन के युद्ध आरम्भ हो गये और १८०६ में जीना के संग्राम का विश्वविद्यालय पर भयंकर प्रभाव पड़ा, और हीगल को जीना छोड़ कर अन्यत्र आजीविका खोजने के लिये विवश होना पड़ा। वह न्यूरम्बर्ग में जाकर वहाँ के एक माध्यमिक स्कूल में प्रधानाध्यापक हो गया। यह जानना दिलचस्पी से खाली न होगा कि स्कूल के प्रधान पद पर रहते हुए हीगल ने इस सिद्धान्त के विरुद्ध कि शिक्षा को छात्र के व्यक्तित्व के अनुकूल होना चाहिये, आज्ञापालन और आत्मसमर्पण की भावना पर जोर दिया। इस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में जिस अधिकारवाद के साथ उसका नाम सम्बद्ध है, उसका प्रयोग उसने शिक्षा के क्षेत्र में अपने जीवन में बहुत पहिले किया था। न्यूरम्बर्ग में उसने तीन भागों में अपने महान् ग्रन्थ 'Science of Logic' को प्रकाशित कराया। १८१६ में वह हीडलबर्ग में प्रोफेसर हो गया जहाँ कि उसने अपने 'Encyclopaedia of the Philosophical Sciences' को प्रकाशित कराया। १८१८ में वह बर्लिन विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र का प्राध्यापक नियुक्त हुआ, जहाँ कि वह १८३१ में अपनी मृत्युपर्यन्त तक रहा। वहाँ उसे बड़ी ख्याति प्राप्त हुई और विचार-जगत में उसका वैसा ही प्रभाव पड़ा, जैसा कि साहित्य-जगत में गेटे (Goethe) का पड़ा था। वह न केवल 'दार्शनिकों का राजा' बल्कि 'राजाओं का दार्शनिक' भी बन गया। राजकीय दार्शनिक होने के कारण उसके विचारों का प्रभाव न केवल सैद्धान्तिक राजनीति पर, बल्कि व्यावहारिक राजनीति पर भी पड़ा। ऐसा विश्वास किया जाता है कि बिस्मार्क ने हीगल तथा उसके शिष्यों के सिद्धान्तों को ही कार्य में परिणत किया। 'बिस्मार्क का शक्ति के ऊपर आधारित मानव-क्रिया के उच्चतम लक्ष्य के रूप में राष्ट्र-राज्य पर जोर देना, उसका यह विश्वास कि राज्य व्यक्तियों का समूह-मात्र नहीं

है बल्कि एक सावयवी सम्पूर्ण है, उसका लोकतन्त्र के विरोध में एक सर्वशक्तिमान् राजतन्त्र तथा नौकरशाही का अधिवक्तन— इन सबका मूल हीगल के सिद्धान्तों में था।"*

अपने महान् पूर्ववर्तियों कान्ट तथा फिक्टे की भाँति हीगल ने भी अपने राजनीतिक सिद्धान्तों को एक व्यापक दर्शन-प्रणाली के अंग के रूप में ही विकसित किया है। यह हमें उसकी रचना 'Philosophy of Right' में मिलते हैं, जोकि १८२१ में प्रकाशित हुई थी। राजनीतिक विचार के विद्यार्थी के लिये उसकी 'The Philosophy of History' भी महत्वपूर्ण है जोकि उसके मरने के बाद १८३७ में प्रकाशित हुई थी। दुर्भाग्यवश उसका दर्शन तो समझने में अत्यन्त कठिन है ही, किन्तु साथ ही साथ उसकी भाषा भी इतनी क्लिष्ट है कि बहुत से इच्छुक पाठक उसका मूल रूप में अथवा अनुवाद में अध्ययन करने से रुक जाते हैं। कभी कभी यह कहा जाता है कि जबकि फ्रांस में किसी भी लेखक के लिये, एक महान् दार्शनिक के लिये भी, अपने विचारों को स्पष्ट और सुनिश्चित भाषा में व्यक्त करना आवश्यक था (यदि वह अपनी रचनाओं के पढ़े जाने की इच्छा करता था), जर्मनी में परम्परा यह थी कि यदि कोई विचारक यह चाहता था कि उसे गहन समझा जाय तो उसकी भाषा अस्पष्ट और क्लिष्ट होनी चाहिये; गूढ़ता और गम्यता को दो परस्पर विरोधी गुण समझा जाता था। "इस परम्परा का जितना प्रभाव हीगल पर पड़ा उतना किसी दूसरे पर नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि उसने ऐसी भाषा का प्रयोग किया है और ऐसी शैली अपनाई है कि एक साधारण पाठक को वे चक्कर में डाल देती हैं।" यह कहना तो कठिन है कि हीगल ने अपनी भाषा और शैली को जानबूझ कर रहस्यमयी बनाया हो; किन्तु यह सत्य है कि उसके दर्शन को समझना एक अत्यन्त कठिन कार्य है। हम पाठकों का उसके सामान्य दर्शन से साक्षात्कार कराने का प्रयास नहीं करेंगे, हम तो उसकी मूल धारणाओं और पद्धति का केवल उसी सीमा तक वर्णन करेंगे जहाँ तक कि उसके राज्य के सिद्धान्त को समझने के लिये आवश्यक है, जोकि हमारा मुख्य अभीष्ट है।

हीगल के दर्शन की मुख्य धारणायें— हीगल के विचार की दिशा को निर्धारित करने में कई बातों का हाथ है। सबसे अधिक तात्कालिक प्रभाव तो उस पर कान्ट और फिक्टे का पड़ा; ग्रीक दार्शनिकों, विशेषकर अफलातून और अरस्तु, का भी उस पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। उसे प्रभावित करने का दूसरा स्थान रूसो और मॉन्टेस्क्यू के लेखों का है। फिक्टे की भाँति उसका विश्वास था कि वास्तविक सत्य

---

* "Bismarck's emphasis upon the nation-state based upon force or power as the supreme goal of human activity; his belief that the state is not a collection of individuals but a single organic whole, his advocacy of an all-powerful monarchy and bureaucracy in opposition to democracy; his notions of international relations were all rooted in 'Hegelian principles'."

—McGovern: *From Luther to Hitler*, page 265.

प्रज्ञा अथवा आत्मा है, पदार्थ नहीं; उसने इसे **निरपेक्ष भाव** (Absolute Idea) या **प्रज्ञा** (Reason) अथवा **आत्मा** (Spirit) कहकर पुकारा है; उसने स्वयमेव वस्तुओं (Things in themselves) की कान्ट की धारणा को स्व-विरोधी कह कर छोड़ दिया। उसका विश्वास था कि संसार में ऐसी कोई चीज नहीं है जिसे मानव बुद्धि नहीं जान सकती। परन्तु उसके अनुसार **प्रज्ञा** या **आत्मा** कोई स्थिर चीज नहीं है, वह गतिशील है; मूल रूप से यह विकास का सिद्धान्त है। यद्यपि यह नित्य, शाश्वत तथा सर्वव्यापी और अपने में ही पूर्ण सम्पूर्ण है, तथापि यह परिवर्तनहीन और कठोर नहीं है।

अपने स्वभाव से ही यह अपना विकास और प्रस्फुटन करता है। परिवर्तन, वृद्धि तथा विकास केवल माया नहीं हैं जैसा कि अफलातून मानता था, ये नित्य विश्व प्रक्रिया का एक सजीव भाग हैं, निरपेक्ष जिसके अधीन है। इसी से मिलती-जुलती एक धारणा हमारे देश में भी काफी दिनों तक प्रचलित रही है; नित्य तथा परिवर्तन-हीन ब्रह्म कालचक्र में अपने को उद्भासित करता है और रूप जगत को जन्म देता है।

प्रज्ञा तथा आत्मा जोकि वास्तविकता है, का तत्त्व आत्मचेतना है। आत्मचेतना की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त करने के लिये इसे बहुत सी अवस्थाओं में से होकर गुजरना पड़ता है। स्वतः आत्मविकास की इस प्रक्रिया में निम्नतम अवस्था भौतिक अथवा निष्प्राण जगत् है जिसका अध्ययन भौतिक-शास्त्र तथा रसायन-शास्त्र में किया जाता है। हमें यह निष्प्राण दिखलाई पड़ता है, किन्तु यह प्रज्ञा अथवा आत्मा की अभिव्यक्ति या उसका साकार रूप है और इसलिए इसमें महान् रचनात्मक शक्ति निहित है। यह रचना शक्ति और अधिक प्रस्फुटन तथा विकास के लिये मचलती है और इस प्रकार एक नवीन अवस्था पर पहुँच जाती है। निरपेक्ष विचार अपने आपको जीव-जगत् के रूप में अर्थात् वनस्पति और प्राणी-जगत् के रूप में प्रगट करता है। पौधों तथा प्राणियों में यह चेतना निष्प्राण पदार्थ की अपेक्षा उच्चतर अवस्था में आ जाती है; परन्तु उच्चतम अवस्था केवल मनुष्य में जाकर ही प्राप्त होती है। **विश्व-बुद्धि और प्रज्ञा** सबसे पहिले मनुष्य में जाकर ही स्वयं अपनी चेतना प्राप्त करती है। मनुष्य के प्रगट होने पर विकास की इस प्रक्रिया का अन्त हो जाता है; इसके लक्ष्य, पूर्ण आत्मचेतना की प्राप्ति, की सिद्धि दर्शनशास्त्र तथा धर्म में होती है। हीगल का विश्वास था कि मैंने विश्व के विधान की व्याख्या अन्य किसी भी दार्शनिक की अपेक्षा अधिक समुचित रूप से कर दी है और संसार में कोई ऐसा रहस्य नहीं जिसका उद्घाटन मैंने न कर दिया हो। वह सबसे अधिक आत्मविश्वासी दार्शनिक था। उसके शिष्यों और प्रशंसकों का विश्वास था कि दार्शनिक चिन्तन में वह अन्तिम सत्य तक पहुँच चुका था; और सबसे पहिले उसकी विचार-प्रणाली में ही उस 'विश्व दर्शन' की समुचित व्याख्या की गई थी जिसकी ओर उससे पहिले के दार्शनिक धीरे धीरे बढ़ रहे थे।

क्योंकि अन्तिम सत्य प्रज्ञा है, इसलिए इसके प्रस्फुटन अथवा विकास की प्रक्रिया भी विवेकपरक होनी चाहिये। हीगल को पूर्ण विश्वास था कि मैंने इस विवेकमय प्रक्रिया के वास्तविक स्वरूप का पता लगा लिया है। वह उसे द्वन्द्व (Dialectic) कहता था। हीगल का द्वन्द्व, अपनी सूक्ष्मताओं में, बहुत ही गूढ़ और आध्यात्मिक सिद्धान्त है। इसका विवरण उसके Science of Logic में मिलता है। उसका एक साधारण तथा संक्षिप्त विवरण ही यहां दिया जा सकता है; इसकी पूर्ण रूप से अवहेलना नहीं की जा सकती, क्योंकि मार्क्स ने इसे ही, यद्यपि इसके उल्टे रूप में, अपनी साम्यवादी विचारधारा का आधार बनाया है। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि द्वन्द्ववादी पद्धति के अनुसार प्रगति अथवा विकास किसी एक सीधी दिशा में नहीं होता, वरन् एक तिरछे-बंके और उतार-चढ़ाव के रूप में होता है। इसका सूत्र है थीसिस, एण्टीथीसिस तथा सिन्थेसिस। इन तीनों से मिलकर एक आकार बनता है, और द्वन्द्व ऐसे ही बहुत से आकारों का नाम है। थीसिस में वास्तविकता का एक रूप प्रगट होता है, एण्टीथीसिस में उसका दूसरा तथा विपरीत रूप। एक उच्चतर सिन्थेसिस में इनका संश्लेषण हो जाता है या वह इनका अतिक्रमण कर जाता है। सिन्थेसिस भी एक नये आकार को जन्म देता है। यह कालान्तर में थीसिस बन जाता है और अपने एण्टीथीसिस को जन्म देता है, दोनों का विरोध एक उच्चतर सिन्थेसिस में जाकर समाप्त हो जाता है, और इसी प्रकार प्रक्रिया चलती रहती है। 'द्वन्द्ववाद विशुद्ध तर्क की अत्यन्त निराकार धारणा से आरम्भ होता है और उसका अवसान विचार के अत्यन्त साकार रूप— अपनी पूर्ण व्यापकता तथा साकारता— के साथ निरपेक्ष बुद्धि के दर्शन में होता है।'*

इस प्रकार के एक-दो उदाहरण यहाँ पर दिये जा सकते हैं। जब हम 'अस्तित्व' (Being) के सम्बन्ध में सोचते हैं तो हमें इसको समस्त वस्तु-विशेष, जैसे: यह कलम, यह हाथ और कुर्सी, इत्यादि, से निर्विकल्प कर देना चाहिये। यह विशुद्ध 'अस्तित्व' है, जिसमें कोई गुण नहीं, कोई विशेषता नहीं, जिसका कोई लक्ष्य नहीं। यह निरा शून्य है। संक्षेप में, यह 'अस्तित्वहीनता' (Non-being) अथवा 'कुछ नहीं' की धारणा है। इस प्रकार के विचार से यह सिद्ध होता है कि 'अस्तित्व' की धारणा अपने अन्दर से ही 'अस्तित्वहीन' के, अर्थात् इसके विपरीत विचार को जन्म देती है। इस प्रकार 'अस्तित्व' 'अस्तित्वहीन' के साथ एकाकार हो जाता है। एक श्रेणी के दूसरी श्रेणी के साथ एकाकार होने के फलस्वरूप हमें एक नया विचार मिलता है और वह विचार है: 'अस्तित्वहीनता' के विचार का 'अस्तित्व' के विचार के साथ एकाकार हो जाना। यहाँ यह बात याद रखनी चाहिये कि 'थीसिस' और

---

* "The dialectic begins with the most abstract conception of pure logic, that of being, and terminates with the most concrete phase of thought, the philosophy of the Absolute Mind in its full comprehensiveness and concreteness."
—Wright: *A History of Modern Philosophy*, page 328.

'एण्टीथीसिस' के बीच सम्बन्ध और सिन्थेसिस में उनके संश्लेषण को हीगल ने जन्म नहीं दिया; वे सम्बन्ध तो पहिले से ही थे, हीगल ने तो केवल उनकी खोज की। 'निगमन बुद्धि की एक वस्तुप्रधान प्रक्रिया है जोकि हम से स्वाधीन रूप से चलती रहती है। यह समय में प्रक्रिया नहीं, बल्कि यह एक तार्किक प्रक्रिया है। हमारा कार्य एक ऐसी पद्धति का आविष्कार करना नहीं है जिसके द्वारा कि हम श्रेणियों को नियमित कर सकें, बल्कि उस पद्धति को खोजना है जिसके द्वारा कि श्रेणियाँ स्वयं अपने आपको नियन्त्रित करती हैं।"*

जिस प्रकार थीसिस एण्टी-थीसिस को जन्म देती है और फिर किस प्रकार ये दोनों सिन्थेसिस में संश्लिष्ट हो जाती हैं, इस बात का उपरोक्त विवरण पाठकों को टैक्नीकल और बड़ा जटिल प्रतीत होगा; बहुत सी स्थितियों में हमारी समझ में यह बात नहीं आ सकती कि आकार की एक भुजा दूसरी भुजा को किस प्रकार जन्म दे सकती है और फिर ये दोनों एक उच्चतर विचार में किस प्रकार संयुक्त हो सकती हैं। उदाहरण के लिये हमारे लिये समझना बड़ा कठिन है कि थीसिस रूपी कला ने अपने एण्टी-थीसिस रूपी धर्म को किस प्रकार जन्म दिया और फिर उन दोनों का दर्शन में किस प्रकार संयोजन हो गया। परन्तु उस व्यापक सिद्धान्त को समझ लेना काफी सरल है जोकि मानव चिंतन में क्रियाशील है और हीगल के द्वन्द्ववाद को, जिसका टैक्नीकल साधारणीकरण समझा जा सकता है। वह सिद्धान्त यह है कि किसी चीज को समझने का सर्वोत्तम ढंग उसकी उसके विरोधी से तुलना करना है; सुख को दुःख के, अच्छाई को बुराई के तथा उष्णता को शीत के विरोध में रखकर ही सबसे अधिक समझ सकते हैं। हम अपने अनुभव से जानते हैं कि प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है और फिर दोनों में सामंजस्य स्थापित हो जाता है। प्राचीन काल में यूनानी दार्शनिकों ने देखा था कि ऐतिहासिक प्रक्रिया की प्रवृत्ति द्वन्द्व और प्रति-द्वन्द्व में होकर गुजरने की है। एक प्रवृत्ति जब अपनी अति को पहुँच जाती है तो वह अपने विरोधी को जन्म देती है जोकि उसे नष्ट कर देता है। निरपेक्ष राजतन्त्र धीरे-धीरे निरंकुशवाद में परिणत हो जाता है जोकि क्रान्ति को जन्म देता है जिसके परिणामस्वरूप लोकतन्त्री शासन की स्थापना हो जाती है। हीगल का यह द्वन्द्ववादी सूत्र उसी प्रवृत्ति का एक साधारणीकरण है जोकि हमें राजनीतिक परिवर्तन में दिखलाई पड़ती है और यद्यपि सम्पूर्ण संसार के विकास के सिद्धान्त के रूप में कुछ लोगों को यह कुछ खींचातानी सी ही दिखाई पड़ती है, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि मानव व्यापार जोकि विभिन्न अवस्थाओं में पारस्परिक प्रेम और बलिदान के

---

* "The deduction is an objective process of reason which takes place independently of us— not, of course, a process in time, but a logical process. Our task is, not to invent a method by which we can deduce categories, but to discover the method by which the categories deduce themselves."

—Stace: *The Philosophy of Hegel*, page 88.

ऊपर आधारित है एक थीसिस है; समाज जोकि इसके विपरीत नियमों— प्रतिस्पर्धा तथा जीवन-संघर्ष में जीवित रहने की इच्छा— पर निर्भर है इसकी एण्टी-थीसिस है; और राज्य, जोकि परिवार तथा समाज दोनों को अपने क्रोड़ में लपेट लेता है और उनका अतिक्रमण करता है, सिन्थेसिस है, जिसमें परस्पर प्रेम तथा प्रतिस्पर्धा दोनों के लिये ही स्थान है। (जिस प्रकार दक्षिणी अफ्रीका ने, जोकि श्वेत जाति की प्रभुता बनाये रखने के लिये संकल्पबद्ध था, अपने कार्यों और नीतियों से महात्मा गांधी को जन्म दिया जोकि आधुनिक इतिहास में उस प्रभुता को चुनौती देने वाली सबसे बड़ी शक्ति बन गये, हीगल के द्वन्द्ववाद का एक उदाहरण है।)

सर्वाधिक निर्विकल्प धारणा अर्थात् विशुद्ध अस्तित्व की धारणा में से, द्वन्द्वात्मक पद्धति के अनुसार सम्पूर्ण संसार को निःसृत करना हीगल की एक महत्वाकांक्षा थी। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्माण्ड के विकास में त्रिकार एक सीधी दिशा में, एक के बाद दूसरा, इस प्रकार आते हैं। 'ये समस्त त्रिकार अपने से बड़े त्रिकारों के अन्तर्गत होते हैं, और फिर ये अपने से बड़ों के अन्दर। हीगल के अनुसार बहुत से त्रिकार मिलकर श्रेणियों अथवा धारणाओं का एक क्षेत्र बनाते हैं। यह सम्पूर्ण क्षेत्र जिसमें कि बहुत सी थीसिस, एण्टीथीसिस तथा सिन्थेसिस होती हैं, स्वयं एक थीसिस समझा जाता है। इसकी एण्टीथीसिस तथा सिन्थेसिस स्वयं श्रेणियों के क्षेत्र होंगे जोकि अपने अन्दर छोटे त्रिकार रखते हैं। सम्पूर्ण प्रणाली का एक त्रिकार, विचार, प्रकृति तथा आत्मा होता है। न्यायशास्त्र विचार का अपने विशुद्ध रूप में अध्ययन करता है। प्रकृति विचार का अपना दूसरेपन का रूप है। यह विचार के विशुद्ध रूप का उलटा है। यह एण्टीथीसिस है। आत्मा विचार तथा प्रकृति का संयुक्त रूप है। यह सिन्थेसिस है।'*

हीगल के द्वन्द्ववाद की उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि हीगल के लिये संसार के विकास का प्रवाह पूर्ण रूप से निर्धारित और निश्चित है; उसमें संयोग जैसी किसी चीज का कोई स्थान नहीं। परन्तु यह निर्धारक शक्ति जलवायु और भूमि जैसा जिसको मांटेस्क्यू इतना महत्त्व देता था या आर्थिक स्थिति जैसा जिस पर आगे चलकर मार्क्स ने इतना जोर दिया कोई भौतिक तत्त्व न था। विकास के प्रवाह को निर्धारित करने वाली शक्ति बुद्धि है, वह बुद्धि जो सृष्टिकारक है और

---

* "The whole series of triads fall within larger triads, and these again within larger. Hegel regards a number of triads as constituting a single sphere of categories or notions. This whole sphere which may contain many theses, antitheses and syntheses, is itself regarded as a single thesis. Its antithesis and synthesis will themselves be spheres of categories or notions which contain smaller triads within them. The entire system constitutes a single triad, Idea, Nature, Spirit. Logic treats of the Idea as it is itself. Nature is the Idea in its otherness. It is the opposite of the Idea itself. This is antithesis. Spirit is the unity of the Idea and Nature. This is the synthesis."

—Stace: *op. ct.*, page 115.

अचेतन रूप में रहती है, वह बुद्धि नहीं जो अपने चेतन तथा विचारात्मक रूप में रहती है, जिसे हम समझने की शक्ति कह सकते हैं और जिसे हम अपने जीवन में जानते हैं। उस अन्तिम तथा बुद्धिपरक आदर्श को, जिसका प्रस्फुटन ही ब्रह्माण्ड तथा मानवता का इतिहास है, उद्भासित करना दर्शनशास्त्र का ध्येय है। विश्व बुद्धि का साकार रूप या उसकी अभिव्यंजना है, इसलिये वह पूर्ण रूप से ज्ञेय है; इसमें कोई वस्तु भी मानव बुद्धि की पहुँच से परे नहीं हो सकती। इसी से हम हीगल की इस प्रसिद्ध सूक्ति की 'वास्तविक एक बुद्धिपरक है और बुद्धिपरक ही वास्तविक है' (Real is the rational and the rational is the real) को ठीक प्रकार समझ सकते हैं। इस प्रसंग में हमें 'वास्तविक' और 'यथार्थ' को एक ही बात नहीं समझ लेना चाहिये। हीगल ने वास्तविकता तथा यथार्थता को एकरूप कभी नहीं बताया। उसके लिये बुद्धि की विभिन्न श्रेणियाँ वास्तविक हैं, परन्तु वे देश काल के इस संसार में भी कहीं भी विशिष्ट घटनाओं के रूप में नहीं पाई जातीं; यथार्थ सदैव क्षणिक होता है और बड़ी हद तक संयोगवश होता है; इसके विपरीत वास्तविक 'इतिहास में निहित आन्तरिक सार' है। ऐतिहासिक घटनाओं में हम सदैव एक गहरी और आन्तरिक शक्ति को देख सकते हैं जोकि घटनाओं में अपने को अभिव्यक्त करती है। आन्तरिक शक्ति वास्तविक है; विशिष्ट घटनायें जो सागर के तल पर उठने वाली लहरों और तरंगों के समान हैं क्षणभंगुर और अनित्य हैं; वे अवास्तविक हैं। प्रकृति के अन्तर्निहित वास्तविक तथा स्थायी तत्व का पता लगाने के लिये हमें तल के नीचे उतर कर उस शक्ति को खोजना चाहिये जोकि बाह्य घटनाओं को जन्म देती है।

यदि हम यह याद रखें कि हीगल के लिये विचार और वास्तविकता एक ही चीज है, भिन्न नहीं, तो हमें हीगल के अर्थ को समझने में सरलता होगी। उससे पुराने लेखक जोकि विचार-जगत् और प्रकृति जगत् में भेद करते थे, ऐसा मानते थे कि न्यायशास्त्र (Logic) विचार के नियमों की खोज करता है और अध्यात्म-शास्त्र (Metaphysics) अन्तिम वास्तविकता की। हीगल इस विभेद का अन्त कर देता है; उसके लिये विचार और वास्तविकता एक है और इसलिये न्यायशास्त्र तथा अध्यात्म-शास्त्र भी एक ही होने चाहियें। विचार के नियम प्रकृति के नियम हैं; न्यायशास्त्र जिस चीज को बुद्धिसंगत समझता है वह वास्तविक होनी चाहिये।

ऊपर कहा गया था कि विश्व-व्यापक बुद्धि के अपने विकास की प्रक्रिया में जीवहीन पदार्थ जगत् पहली अवस्था है, इसलिये यह उसकी निम्नतम अभिव्यक्ति है। बुद्धि का साकार रूप होने के कारण यह वास्तविक तो है; किन्तु इसकी वास्तविकता केवल आंशिक और अपूर्ण है क्योंकि यह बुद्धि की केवल आंशिक अभिव्यक्ति है। वनस्पति-जगत् में अधिक वास्तविकता है क्योंकि यह विश्व-बुद्धि की उच्चतर तथा अधिक पूर्ण अभिव्यक्ति है। मनुष्य में वनस्पति और पशु दोनों से अधिक वास्तविकता है, क्योंकि उसमें बुद्धि अधिक पूर्ण रूप में पाई जाती है। इस प्रकार संसार

में बुद्धि की अभिव्यक्ति के विस्तार के अनुरूप वास्तविकता की विभिन्न मात्रायें होती हैं।

अब हम फिर हीगल के इस सिद्धान्त पर कि ब्रह्माण्ड का और मानव का इतिहास उस प्रक्रिया का विवरण मात्र है जिसके द्वारा कि विश्व बुद्धि अथवा आत्मा अपने विकास के लक्ष्य पर पहुँचती है, वापिस जाते हैं। प्रश्न यह उठता है कि वह लक्ष्य क्या है ? इस बात से तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऐसा लक्ष्य अवश्य है जिसकी ओर कि विकास की प्रक्रिया अग्रसर है; हीगल का सिद्धान्त केवल परिवर्तन का नहीं, बल्कि एक व्यवस्थित प्रगति का है। लक्ष्य की ओर अपनी यात्रा में आत्मा बहुत से प्रयोग करती है; वह विभिन्न रूप धारण करती है जोकि समय-विशेष के लिये उपयोगी सिद्ध होते हैं; किन्तु उनका उद्देश्य पूर्ण हो जाने पर यह उनका परित्याग कर देती है। जैसा कि पहिले इंगित किया जा चुका है, विकासवादी प्रक्रिया का लक्ष्य आत्मा द्वारा पूर्ण आत्म-चेतन की प्राप्ति है। जब मनुष्य के इस उद्देश्य की प्राप्ति हो जाती है तो विकास की इस प्रक्रिया का अन्त हो जाता है। हीगल का यह दृढ़ और अटल विश्वास है कि विकास की चरम सीमा मनुष्य है। विश्व-आत्मा ने अब तक जितने भी रूप धारण किये हैं और भविष्य में भी जितने रूप धारण करेगी, उन सबमें मनुष्य सर्वोच्च रूप है। इस धारणा की समीक्षा करने की हमें आवश्यकता नहीं; केवल इतना ही कहना हम पर्याप्त समझते हैं कि यह कहना कि विकास की प्रक्रिया का मनुष्य में अवसान हो जाता है, बहुत अधिक बुद्धिसंगत नहीं प्रतीत होता। ज्यों-ज्यों हम बढ़ते रहते हैं हमारा लक्ष्य बढ़ता रहता है। यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि पांडिचेरी के सन्त श्री अरविन्द घोष का, जोकि आध्यात्मिक विकास के सिद्धान्त के एक महान् और प्रतिभाशाली अधिवक्ता थे, विश्वास था कि विकास मनुष्य पर जाकर समाप्त नहीं हो जाता; विकास प्रक्रिया के **स्वामी** की दृष्टि तो किसी उच्चतर लक्ष्य पर लगी हुई है और वह है अति मानव का जन्म, जिसमें अतिबौद्धिक प्रतिभा होगी और जिसका शरीर अधिक दीर्घजीवी होगा।

हीगल का राज्य विषयक सिद्धान्त—चेतना अथवा ज्ञान आत्मा का सार है, इसलिये पूर्ण आत्म-चेतन की प्राप्ति ब्रह्माण्ड के विकास का लक्ष्य समझा जा सकता है। हम ब्रह्म को सच्चिदानन्द भी कह सकते हैं। हीगल ब्रह्म के एक अन्य गुण का भी उल्लेख करता है। यह न केवल उच्चतम आत्म-चेतना की प्राप्ति करना चाहता है, यह स्वतन्त्रता की भी माँग करता है। हीगल का कहना है: 'ब्रह्म का सार स्वतन्त्रता है। .... स्वतन्त्रता की चेतना की प्रगति ही संसार का इतिहास है।' 'ब्रह्म आत्म-ज्ञान की प्राप्ति स्वतन्त्रता के द्वारा ही करता है। जिस प्रकार ब्रह्म को आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिये नाना प्रकार के रूप—जीव-हीन पदार्थ, वनस्पति, पशु तथा अन्त में मनुष्य— धारण करने पड़े, इसी प्रकार उच्चतम स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये इसे कई प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाओं की रचना करनी पड़ी। इस सम्बन्ध में हमें यह याद रखना चाहिये कि मनुष्य कभी एक एकान्तवासी प्राणी

नहीं होता; वह सदैव दूसरों के साथ रहता है और अपनी भौतिक, बौद्धिक आवश्यकताओं के लिये तथा स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये दूसरों पर निर्भर करता है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिये ब्रह्म ने जो सामाजिक संघटन बनाये हैं उनमें सर्वप्रथम था परिवार। यह मनुष्य की ऐन्द्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, उसकी साधारण आवश्यकता को तृप्त करता है और उसे सुरक्षा प्रदान करता है। वेपर के शब्दों में परिवार परस्पर प्रेम के बुद्धिसंगत विचार का साकार रूप है, और इसलिये वह एक थीसिस है जो कि हीगल के राज्य के विश्लेषण का आरम्भ-बिन्दु है।

परिवार की एक-पक्षीयता तथा उसकी सीमायें शीघ्र ही प्रगट हो जाती है; मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये यह अत्यधिक छोटा सिद्ध होता है। इसलिये इसकी एण्टीथीसिस में नागरिक समाज का जन्म होता है। यह प्रतिस्पर्धा के सिद्धान्त पर आधारित होता है। परिवार के विपरीत यह एक ऐसे स्वाधीन मनुष्यों का समूह होता है जो स्वहित के धागे में एक जगह बँधे होते हैं। परिवार की पूर्ति समाज मे करने और दोनों राज्य में संघटित कर देने का कारण वेपर के निम्नलिखित शब्दों में दिया जा सकता है : "परिवार की विशेषता परस्पर प्रेम है, किन्तु पूँजीवादी समाज की विशेषता सार्वभौमिक प्रतिस्पर्धा है। परन्तु परिवार की तुलना में पूँजीवादी समाज कितना ही शिथिल और आकर्षणहीन क्यों न दिखाई दे फिर भी उसमें तथा परिवार दोनों में ही कुछ सार अवश्य है। पूँजीवादी समाज में व्यापार तथा उद्योग की सारी प्रक्रिया मानव आवश्यकताओं की तृप्ति के लिये एक नवीन संघटन बन जाती है, इसलिये उस समाज में भी मनुष्य परिवार के लिये ही उत्पादन कर रहा है, जिससे वह अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति के साथ मानव की भी सेवा करता है, जिससे पूँजीवाद समाज बुद्धिसंगत हो जाता है और उसमें सार्वभौमिक महत्त्व आ जाता है। इसके अतिरिक्त पूँजीवाद समाज कानूनों की रचना करता है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि वह न्यायसंगत ही हो; वह पुलिस का निर्माण करता है और उसका रूप अधिकाधिक राज्य जैसा हो जाता है। ज्यों-ज्यों इसका विकास होता जाता है यह गिल्ड और निगमों को जन्म देता है, जो कि अपने घटकों को अपने निजी स्वार्थों को छोड़कर उस सम्पूर्ण के विषय में सोचना सिखाते हैं जिनके कि वे अंग होते हैं, और जो कि, क्योंकि वे ऐसा करते हैं, सामाजिक भावना को नहीं, जो कि प्रतिस्पर्धात्मक होती है, राज्य की भावना को, जो कि सहयोगात्मक होती है, अभिव्यक्त करते हैं। इस परिवार रूपी थीसिस, जो कि प्रेम के धागे में बँधी हुई होती है और जिसमें कोई भेद नहीं होते, के सामने पूंजीवादी समाज की एण्टीथीसिस आ जाती है जो कि अलग-अलग व्यक्तियों का योग मात्र होती है, जोकि प्रतिस्पर्धा के कारण अलग-अलग रहते हैं और जिनमें कोई एकता नहीं होती, यद्यपि यह एक महानतर एकता के लिये संघर्ष कर रही है जो कि इसने अभी प्राप्त नहीं की है। वह सिन्थेसिस, जो कि थीसिस और एण्टीथीसिस दोनों के सर्वोत्तम तत्त्वों को सुरक्षित रखता है, जो कि न तो परिवार को

नष्ट करता है और न पूंजीवादी समाज को बल्कि जो उन्हें एक एकता तथा सामंजस्य प्रदान करता है, राज्य है।''*

सारांश— आगे बढ़ने से पहले यहाँ पर हीगल के अत्यन्त जटिल दर्शन का सारांश दे देना अनावश्यक न होगा। हीगल का विश्वास है कि संसार का इतिहास ब्रह्म का इतिहास है जोकि द्वन्द्वात्मक पद्धति के द्वारा पूर्णतर चेतना तथा पूर्णतर स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहता है। यह पूर्ण आत्मचेतना की प्राप्ति दर्शन-शास्त्र में और सच्ची तथा पूर्ण स्वतन्त्रता की अनुभूति नागरिकों के राज्य के कानूनों के अनुसार आचरण में करता है। परन्तु यह ब्रह्म अपने आपको व्यक्तियों में तथा परिवार, नागरिक समाज तथा राज्य जैसी सामाजिक संस्थाओं के रूप में साकार करता है। किन्तु व्यक्तिगत मस्तिष्क छाया सदृश होते हैं और अपने सामाजिक परिवेश से बाहर रहकर उनका कोई महत्त्व नहीं होता। वे परम्परायें तथा संस्थायें जिन्हें कि वे अपने आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए बनाते हैं व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। आत्मा के द्वन्द्वात्मक विकास की चरम सीमा राज्य है, जिसमें कि पहिली अवस्थाओं, अर्थात् परिवार तथा नागरिक समाज के मूल तत्व सम्मिलित रहते हैं; यह वसुन्धरा पर इसकी उच्चतम अभिव्यक्ति है। राज्य द्वारा बनाए गए कानूनों में ही हम नैतिकता अथवा विवेक या ठोस तत्व पाते हैं। राज्य के कानून नैतिक नियमों की उच्चतम ही नहीं बल्कि एकमात्र ठोस अभिव्यक्ति भी होते हैं। उनका पालन करने में मनुष्य अपनी सच्ची स्वतन्त्रता, वह नैतिक स्वतन्त्रता जोकि बुद्धिसंगत कानूनों को मानने में है, प्राप्त करते हैं। राज्य के कानूनों को बुद्धि का साकार रूप कहा जा सकता है

* "Whereas the characteristic of the family is mutual love, the characteristic of bourgeois society is universal competition. But, however, cold and unattractive in comparison with the family bourgeois society might seem ; there is a rational meaning to be discerned in it as well as in the family. The whole process of trade and industry in bourgeois society becomes a new organisation for the supply of human needs, so that man in that society is producing for his family, satisfying his own wants and at the same time serving his fellows, which makes bourgeois society take on a rational and universal significance. Moreover, bourgeois society evolves laws, even though not necessarily just laws ; it creates police force, and becomes more and more state-like in form. As it develops, it produces guilds and corporations, which teach their members to think not of their own interests but of the interest of the whole to which they belong, and which, because they do this, reveal, not the social instinct, which is competitive, but the state instinct which is cooperative. The thesis, the family, a unity held together by love, knowing no differences, is thus confronted by one antithesis, bourgeois society, an aggregate of individuals held apart by competition, knowing no unity, even though it is manifestly struggling towards a greater unity which it has nevertheless not yet attained. The synthesis, which preserves what is best in thesis and antithesis, which swallows up neither family nor bourgeois society, but which gives a unity and harmony to them is the state." —Wayper : *Political Thought*, pages 162–3.

क्योंकि वे जनता की विशिष्ट प्रतिभा तथा संचित अनुभव द्वारा उत्पन्न होते हैं। हीगल राज्य को बुद्धि के द्वन्द्वात्मक विकास की चरम सीमा समझता है, ठीक इसी प्रकार जिस प्रकार कि भौतिक अथवा जैविक पक्ष में मनुष्य है; इस पर विकास समाप्त हो जाता है। विकासवादी प्रक्रिया में राज्य से परे तथा राज्य से उच्चतर और अधिक पूर्ण और कोई चीज नहीं है। परन्तु ऐसा मान लेने का तो कोई कारण नहीं है कि राज्य के आविर्भाव के साथ विकास प्रक्रिया समाप्त हो जाती है; अरविन्द घोष सरीखे कुछ विचारकों का मत है कि वर्तमान राज्य को इस प्रक्रिया की अन्तिम अवस्था नहीं माना जा सकता; हम एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्व-व्यवस्था की कल्पना कर सकते हैं, जिसमें राष्ट्र-राज्य समाप्त हो जायेंगे। अति-राष्ट्रीय विश्व-व्यवस्था उस अतिमानव के लिये अधिक अनुकूल होगी, जोकि विकास के जैविक पक्ष में अगली उच्चतर अवस्था है।

नागरिक समाज तथा राज्य में विभेद— नागरिक समाज तथा राज्य में हीगल ने जो विभेद किया है और यह विभेद हीगल के सिद्धान्त का एक मुख्य अंग है, पाठकों को चक्कर में डाल सकता है; विशेषकर जबकि उन्हें यह बतलाया गया है कि आवश्यकताओं की प्रणाली, न्याय-प्रशासन और पुलिस, तथा निगम नागरिक समाज की तीन अवस्थायें हैं; इनमें से अन्तिम दो तो साधारणतया राज्य के साथ सम्बद्ध की जाती हैं। यदि पाठकगण इस बात को ध्यान में रक्खें कि नागरिक समाज तो केवल एक निर्विकल्प तत्त्व है जोकि राज्य के बिना जीवित नहीं रह सकता तो उनकी यह कठिनाई समाप्त हो जायेगी। हीगल एक क्षण के लिये भी यह नहीं मानता कि न्यायालय, पुलिस तथा जेल, जोकि नागरिक समाज के उदाहरण हैं, राज्य के बिना हो सकते हैं। नागरिक समाज विचारक्रम में राज्य से अवश्य पहिले आता है, किन्तु कालक्रम में नहीं; पूर्ण विकसित राज्य का इसका विभेद केवल तार्किक रूप से ही किया जा सकता है। यह राज्य का वह स्वरूप है जिसमें समाज को ऐसे स्वाधीन व्यक्तियों का समूह माना जाता है जो कि सब समाज के अन्य घटकों की सहायता से अपने-अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में लगे हुए हैं। एक नागरिक समाज में एक व्यक्ति दूसरों के साथ आवश्यकताओं के सूत्र में बँधा हुआ होता है और उद्योग तथा व्यापार-प्रणाली में वह कार्य करता है। राज्य में उसका दूसरों से सम्बन्ध सावयवी हो जाता है; वह फिर अपने लिये कार्य नहीं करता बल्कि राज्य के सर्वव्यापी जीवन में विलीन हो जाता है। उसकी स्वार्थ-भावना का स्थान सामान्य हित ले लेता है। इस प्रकार एक नागरिक समाज एक पूर्ण विकसित राज्य के लिये मार्ग प्रशस्त करता है। परिवार तथा समाज का अवसान राज्य में किस प्रकार होता है इसका वर्णन प्रो० बोजान्के ने इस प्रकार किया है: 'राज्य एक व्याप्त आधार के रूप में परिवार का स्वभाव तथा नैतिक आदत रखता है, जिसमें व्यापार जगत् की स्पष्ट चेतना और उद्देश्य मिले हुए होते हैं। राज्य के सावयव में, अर्थात् जहाँ तक कि हम नागरिकों की भाँति महसूस करते और सोचते हैं, भावना स्नेहमयी भक्ति बन जाती है और स्पष्ट चेतना

राजनीतिक सूझ बन जाती है। नागरिकों के नाते हम यह महसूस करते हैं और देखते हैं कि राज्य हमारे स्नेह और रुचि के पात्र पदार्थों को सम्मिलित रखता है और उन्हें प्राप्त करता है, संयोग द्वारा एक जगह फेंकी हुई अलग अलग वस्तुओं के रूप में नहीं, बल्कि सामान्य शुभ के अपने साथ सम्बन्धों द्वारा निर्मित उद्देश्यों के रूप में। यह भावना और बुद्धि देशभक्ति का सच्चा सार है।'*

नागरिक समाज तथा राज्य के बीच मूलभूत अन्तर को प्रो० स्टैक के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है: 'पहिले (नागरिक समाज) में व्यक्ति अपने लिए स्वयं ही साध्य है, इसलिये उसका साध्य विशिष्ट है, जबकि दूसरे (राज्य) में राज्य उच्चतर साध्य है, जिसके लिये व्यक्ति जीवित है, इसलिये उसका साध्य विश्व-व्यापक है।'†

हीगल की इस धारणा से कि नागरिक समाज केवल एक अमूर्त्त सिद्धान्त है, एक एकपक्षीय आन्दोलन है, जिसका राज्य में जाकर अवसान हो जाता है, हम हॉब्स, लॉक तथा स्पेन्सर आदि व्यक्तिवादी विचारकों तथा उपयोगितावादियों के राज्य सिद्धान्तों की कमजोरियों को अच्छी तरह समझ सकते हैं जोकि राज्य को प्रत्येक व्यक्ति की अधिकतम भलाई के लिये एक यन्त्र समझते हैं। ऐसे सिद्धान्त अर्द्ध सत्य हैं; ये नागरिक समाज के दृष्टिकोण से आगे नहीं जाते; ये राज्य की सच्ची तथा विश्वव्यापी धारणा तक नहीं पहुँचते। ये राज्य और व्यक्ति को एक दूसरे का विरोधी समझते हैं और इस प्रकार निरपेक्ष व्यक्तिवाद तथा निरपेक्ष समाजवाद का विरोध उत्पन्न करते हैं। वे इस बात को नहीं देख पाते कि राज्य से अलग व्यक्ति एक विचार-मात्र है; वे इस सत्य को भूल जाते हैं कि व्यक्ति अपनी पूर्ण आत्मानुभूति राज्य के घटक के रूप में ही कर सकता है। हीगल हमें यह अनुभव कराता है कि व्यक्ति तथा राज्य के हितों में कोई विरोध नहीं हो सकता।

---

* "The state has the ethical habit and temper of the family as a pervading basis, combined with the explicit consciousness and purpose with the business world. In the organism of the state, *i. e.*, in so far as we feel and think as citizens, feeling becomes affectionate loyalty, and explicit consciousness becomes political insight. As citizens we both feel and see that the state includes and secures the objects of our affections and our interests; not as separate items, thrown together by chance, but as purposes transformed by their relation to the common good, into which, as we are more or less aware, they necessarily pass. This feeling and insight are the true essence of patriotism." —Bosanquet: *Philosophical Theory of the State*, pages 261–62.
(The whole of Chapter X is well worth study.)

† "In the former (the civil society) the individual is for himself the sole end, so that his end is particular, while in the latter (the state) the state is the higher end for which the individual exists, so that his end is universal."
—Stace: *op. ct.*, page 414.

'इस प्रकार राज्य केवल स्वयं व्यक्ति है जिसके संयोगात्मक तथा अनित्य गुणों को विनष्ट करके और शाश्वत गुणों का समावेश करके उसका निर्माण किया गया है। व्यक्ति मूल रूप से शाश्वत है। शाश्वतता उसका मूल तत्त्व है। राज्य यथार्थ शाश्वत है और इस प्रकार केवल व्यक्ति का ही यथार्थ तथा साकार रूप है। इस प्रकार राज्य कोई बाह्य शक्ति नहीं है, जोकि बाह्य रूप से अपने को व्यक्ति के ऊपर थोपती हो और उसके व्यक्तित्व को कुचलती हो। इसके विपरीत, राज्य स्वयं व्यक्ति है और केवल राज्य में रह कर ही उसके व्यक्तित्व की अनुभूति हो पाती है।"*

यदि हम हीगल के इस सिद्धान्त के औचित्य को स्वीकार कर लें कि राज्य ब्रह्म का एक सर्वथा आवश्यक विकास है और उसका वह साकार रूप है जिसमें कि परिवार तथा नागरिक समाज अपनी पूर्णता प्राप्त करते हैं तो हमें शक्ति सिद्धान्त का तिरस्कार करना पड़ेगा जोकि राज्य को मनुष्य की आक्रमणकारी प्रवृत्ति की उत्पत्ति समझता है; और हमें उस संविदा सिद्धान्त को भी ठुकराना पड़ेगा जोकि राज्य को इसके घटकों की स्वेच्छापूर्ण तथा सचेत रजामन्दी के ऊपर आधारित करता है। संविदा सिद्धान्त के अनुसार राज्य प्राण-रक्षा, सम्पत्ति की रक्षा जैसे भौतिक हितों की सिद्धि के लिए बनाया गया; इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य अपने से ऊपर किसी साध्य की प्राप्ति के लिये एक साधन मात्र है। हीगल के अनुसार राज्य को किसी साध्य के लिए साधन-मात्र मानना एक बुनियादी गलती है; राज्य स्वयं में एक साध्य है। यह व्यक्ति से उच्चतर है क्योंकि यह व्यक्ति के विशुद्ध तथा नित्य और शाश्वत तत्त्व का साकार रूप है, जिसमें से व्यक्ति के अनित्य गुण निकाल दिये गये हैं। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि राज्य व्यक्ति से उच्चतर इसलिए है क्योंकि व्यक्ति का जो महत्त्व और मूल्य है वह सब राज्य की घटकता के द्वारा ही प्राप्त होता है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि 'राज्य का व्यक्ति के ऊपर सर्वोच्च अधिकार है और व्यक्ति का सर्वोच्च कर्त्तव्य राज्य का घटक बनना है।' इस बात के कारण हॉबहाउस तथा जोड सरीखे आलोचकों का यह विचार है कि हीगल के सिद्धान्त में व्यक्ति को पूर्ण रूप से राज्य के अधीन कर दिया गया है। हॉबहाउस कहता है कि आदर्शवादी सिद्धान्त राज्य को 'एक महानतर प्राणी, एक आत्मा तथा एक अति-व्यक्ति सत्ता मानता है, जिसमें कि व्यक्ति, उनके अन्तःकरण, उनके दावे तथा

---

* "The state is thus only the individual himself objectified and eternalised by the elimination of his merely accidental and ephemeral features and the retention of what is universal in him. The individual is implicity universal. Universality is his essence. The state is the actual universal, and is thus simply the individual actualised and objectified. Thus the state is no alien authority which imposes itself externally upon the individual and suppresses his individuality. On the contrary the state is the individual himself. And it is only in the state that his individuality is realised." —Stace : *op. ct.*, page 415.

अधिकार, उनका हर्ष, उनका दुख, ये सब केवल पराधीन तत्त्व हैं।' इसी प्रकार अपने 'Introduction to Modern Political Theory' में जोड लिखता है: "यह स्पष्ट है कि राज्य को एक वास्तविक व्यक्ति होने के कारण उसे अपने में ही एक साध्य समझा जा सकता है जिसके अपने अधिकार होते हैं और जो व्यक्ति के तथा-कथित अधिकारों के साथ भासित होने वाले संघर्ष में विजयी होते है।" इसी पुस्तक के एक दूसरे पृष्ठ पर वह कहता है: "सिद्धान्त रूप में हर समय और व्यवहार में युद्ध के समय वह अपने नागरिकों के जीवन पर पूर्ण अधिकार प्रयोग कर सकता है और उसका ऐसा करना विधिविहित होगा। और न ही सिद्धान्त अथवा कानून में उसके प्रत्यादेशों का विरोध करने के लिए कोई आधार हो सकता है क्योंकि जिनके ऊपर राजसत्ता का प्रयोग किया जाता है, वे और जो लोग राजसत्ता का प्रयोग करते हैं उनमें कोई भेद नहीं है।' ऐसे ही विचार प्रो० मैक्गवर्न ने व्यक्त किये हैं: "पुराने उदारवादी इस बात पर जोर देते थे कि राज्य अपने में साध्य नहीं है, बल्कि एक साध्य के लिए एक साधन मात्र है— साध्य है जनता की भलाई और कल्याण। इसके विपरीत हीगल ने यह घोषित किया कि राज्य स्वयं एक साध्य है और व्यक्ति एक साध्य के लिये साधन मात्र है— वह साध्य है उस राज्य का ऐश्वर्य, जिसके कि वे घटक हों।'*

इस बात में तो कोई सन्देह नहीं कि हीगल राज्य को अपने में ही एक साध्य समझता है; वह इस बात से स्पष्ट रूप से इन्कार करता है कि राज्य व्यक्ति की सुरक्षा और भलाई के लिये एक साधन मात्र है। वह स्वयं कहता है कि व्यक्ति 'अपने सत्य, अपने वास्तविक अस्तित्व, और नैतिक पद की प्राप्ति राज्य का घटक होकर ही कर सकता है।' परन्तु यह बात उतनी सत्य नहीं है कि वह व्यक्ति को पूर्ण रूप से राज्य के अधीन करता है और उसे राज्य के वैभव के लिए एक साधन मात्र बना देता है। यदि हम ऐसा सोचते हैं तो हम हीगल के साथ न्याय नहीं करते क्योंकि हमारे इस दार्शनिक के अनुसार राज्य व्यक्ति के ऊपर बाहर से थोपी हुई कोई शक्ति नहीं है; वह तो व्यक्ति की सच्ची आत्मा है। इसलिये व्यक्ति के और राज्य के सच्चे हितों में कोई विरोध नहीं हो सकता। व्यक्ति अपनी सच्ची आत्मा की अनुभूति राज्य में और राज्य के द्वारा ही कर सकता है। राज्य के हितों से जिस चीज का विरोध हो सकता है वह है नागरिक समाज के स्वतन्त्र सदस्य के रूप में व्यक्ति के हित। उनका बलिदान करके व्यक्ति अपनी निम्नतर आत्मा का अपनी सच्ची और उच्चतर आत्मा के लिये बलिदान करता है, किसी बाहरी शक्ति के लिये नहीं। इस

* "The old liberals had stressed the notion that the state is not an end in itself, but only a means to an end, the end being the happiness and the welfare of the individual. Hegel, on the other hand, declared that the state was an end, or rather the end in itself, and that individuals were merely means to an end, the end being the glorification of the state of which they happened to be members." —McGovern : *From Luther to Hitler*, page 299.

लिए हीगल के विरुद्ध जो यह आपत्ति है उसका कारण है उसकी व्यक्ति सम्बन्धी धारणा को ठीक प्रकार न समझ पाना। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है व्यक्ति आन्तरिक रूप से सर्वव्यापक है; और उसकी सर्वव्यापकता को वास्तविक बनाने के लिए राज्य आवश्यक है। जो लोग व्यक्ति को संकुचित और स्वार्थी हितों का केन्द्र मानते हैं उनका यह आपत्ति करना स्वाभाविक ही है कि हीगल का राज्य व्यक्ति को पूर्ण रूप से कुचलता है और उसे अपने हितों के एक साधन के रूप में प्रयोग करता है। उनका दृष्टिकोण नागरिक समाज का है, राज्य का नहीं; इसलिये यह अपूर्ण है। इस प्रसंग में हमें यह भी याद रखना चाहिए कि राज्य को व्यक्ति से ऊँचा साध्य मान लेने का अर्थ यह नहीं हो जाता कि व्यक्ति राज्य-रूपी साध्य के लिये एक साधन मात्र बनकर रह गया।

हीगल व्यक्ति को राज्य का दास बनाता है, इस विश्वास को कई बातों से बल मिलता है। एक तो यह कि हीगल राज्य के विकास तथा ऐतिहासिक प्रक्रिया में व्यक्ति का कोई महत्त्वपूर्ण भाग नहीं मानता। ऐतिहासिक प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण इकाई राष्ट्र है, व्यक्ति नहीं। किसी राष्ट्र की कला, कानून, आचार तथा धर्म की सृष्टि स्वयं उसकी आत्मा है, कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह नहीं। हीगल का विश्वास था कि ज्ञान-युग के इतिहासकारों ने राष्ट्र के इतिहास के निर्माण में महान् व्यक्तियों के योग को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बताया है। वे मनुष्य, जिन्हें इतिहास महान् कहकर पुकारता है, "न तो इतिहास का निर्माण करते हैं और न उसका पथप्रदर्शन, बल्कि अधिक से अधिक उसे कुछ थोड़ा सा समझ पाते हैं और उन शक्तियों के साथ सहयोग करते हैं, जोकि उनकी स्वयं की इच्छा और बुद्धि से कहीं अधिक बलवती होती हैं। ...... महान् व्यक्ति निर्व्यक्ति शक्तियों के हाथ का यन्त्र होते हैं, जोकि इतिहास का निर्माण करती हैं; वे कुछ थोड़ा देखते हैं और कुछ थोड़ा निर्देशन करते हैं, किन्तु अन्त में घटनाओं की अन्तर्निहित तर्कना के समक्ष वे सिर झुका देते हैं।"*

ऐतिहासिक प्रक्रिया में जो चीज व्यक्ति को महान् बनाती है वह उसका अपने समकालीन विकसित होते हुये सिद्धान्त को देख लेने और अपने को उसके साथ एकरूप कर लेने की योग्यता है।

हीगल ने मानव स्वतन्त्रता की जो विवेचना की है उसका राज्य और व्यक्ति के बीच सम्बन्ध की समस्या से घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिये यहाँ पर उसकी समीक्षा कर लेना वांछनीय होगा।

---

* Men whom history calls great, "neither make nor guide the history, but at the most understand a little of it and cooperate with forces enormously more massive than their own will and understanding ...... Great men are instruments of the impersonal forces that make history; they see a little and direct a little but in the end they bow before the inherent logic of events."

Sabine: *A History of Political Theory*, page 631.

हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा— जिन लोगों का यह विश्वास है कि हीगल के राजनीतिक दर्शन में व्यक्ति पूर्णरूपेण राज्य का दास बन जाता है और उसके वैभव-प्राप्ति के लिये एक साधन-मात्र बन कर रह जाता है, उन्हें यह याद रखना चाहिये कि हमारे इस दार्शनिक की दृष्टि में राज्य, स्वयं में एक साध्य होते हुये भी स्वतन्त्रता का प्रसरण करने के लिये स्वयं एक साधन है। जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है कि उस विश्व-आत्मा का, जोकि जगत् की इस प्रक्रिया में अभिव्यक्त हो रही है, साकार हो रही है तथा अपने को प्राप्त कर रही है, सार स्वतंत्रता है। हीगल के ही शब्दों में, 'स्वतन्त्रता की चेतना की प्रगति ही विश्व का इतिहास है।' उसके अनुसार पूर्वात्य लोग यह नहीं जानते थे कि मनुष्य या आत्मा स्वतन्त्र है; उनके लिये तो केवल निरंकुश शासक ही स्वतन्त्र था। यूनान तथा रोम के लोग महसूस करते थे कि कुछ मनुष्य स्वतन्त्र थे। इस बात की अनुभूति जर्मन राष्ट्रों ने ही की कि मनुष्य मनुष्य के नाते स्वतन्त्र है। सारांश यह कि हीगल के दर्शन का प्रारम्भ विन्दु यह अनुभूति है कि मनुष्य का सार स्वतन्त्रता है। इस सत्य को उसने रूसो तथा कान्ट के लेखों से ग्रहण किया। परन्तु उसका विचार था कि स्वतन्त्रता सम्बन्धी कान्ट की धारणा नकारात्मक, सीमित तथा भावात्मक थी जिसके कारण राज्य के प्रति उसका दृष्टिकोण ईर्ष्यापूर्ण तथा व्यक्तिवादी हो गया। कान्ट के विपरीत हीगल ने 'स्वतन्त्रता की अधिक विधेयात्मक और तथ्यप्रधान धारणा तथा राज्य की कम व्यक्तिवादी धारणा' प्रस्तुत करने का प्रयास किया। हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा की समीक्षा करने से पूर्व यह देखना आवश्यक प्रतीत होता है कि कान्ट की धारणा को किस प्रकार नकारात्मक, सीमित तथा भावात्मक समझा जा सकता है।

हमें यह याद रखना चाहिये कि कान्ट के लिये, जैसा कि सभी आदर्शवादियों के लिये, स्वतन्त्रता का अर्थ केवल बन्धन का अभाव नहीं है। सच्ची स्वतन्त्रता विधेयात्मक ही है ; यह स्व-निर्णय की शक्ति है। कान्ट के लिये स्वतन्त्रता बुद्धि के नियम का पालन करने में है। क्योंकि बुद्धि का नियम मनुष्य के अन्तर्जगत में रहता है, इसलिये स्वतन्त्रता, जोकि इसका पालन करने में है, भावात्मक दिखलाई पड़ती है ; यह एक मनः अवस्था है, जिसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध तथ्य-प्रधान सामाजिक जगत् से नहीं है। इसकी स्वतन्त्र अभिव्यंजना यथार्थ जीवन में नहीं होती। इसके अतिरिक्त ऐसी स्वतन्त्रता का स्वरूप नकारात्मक भी होता है, क्योंकि कर्त्तव्य का आदेश पालन करने का अर्थ है एक प्रकार का बन्धन और सच्ची स्वतन्त्रता में वन्धन कोई हो नहीं सकता, क्योंकि वह स्वतः आचरण करने से ही होती है। हीगल के अनुसार सच्ची स्वतन्त्रता विधेयात्मक होती है जिसका भोग करते समय व्यक्ति यह अनुभव करता है कि वह आत्म-ज्ञान प्राप्त कर रहा है। अन्त में, हीगल के अनुसार कान्ट की स्वतन्त्रता की धारणा व्यक्तिवादी और सीमित है, क्योंकि यह व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्धों पर कोई ध्यान नहीं देती। निस्संदेह कर्त्तव्य में दूसरों के साथ

सम्बन्ध भी आ जाते हैं; किन्तु कर्त्तव्य के अटल आदेश की धारणा में सामाजिक पहलू प्रधान और महत्त्वपूर्ण नहीं है। कान्ट के लिये व्यक्ति साध्य है; उसका आन्तरिक जीवन अनिवार्य रूप से सामाजिक सम्बन्धों के रूप में प्रवाहित नहीं होता। संक्षेप में, हीगल के अनुसार, कान्ट की स्वतन्त्रता की व्याख्या का मुख्य दोष यह है कि यह स्वतन्त्रता को एक सामाजिक घटना नहीं समझता। कान्ट कहीं भी इस बात पर जोर नहीं देता कि सच्ची स्वतन्त्रता की प्राप्ति समाज के भौतिक और कानूनी संस्थाओं में भाग लेने से ही हो सकती है। इसके विपरीत, हीगल इस बार पर जोर देता है कि स्वतन्त्रता एक सामाजिक तथ्य है, अर्थात् इसकी प्राप्ति समाज के नैतिक जीवन में भाग लेने से ही सम्भव हो सकती है। वह व्यक्ति और समाज में पुनर्मिलन स्थापित करता है और कहता है कि प्राकृतिक अवस्था में कोई स्वतन्त्रता नहीं हो सकती। जैसा कि सैबाइन कहता है: "हीगल की रचनाओं का वहुत थोड़ा अंश ही इतना ज्ञानवर्द्धक है जितना कि उसका यह प्रमाण कि आर्थिक आवश्यकताएँ सामाजिक होती हैं, उनमें और केवल शारीरिक आवश्यकताओं में विभेद होता है, कि प्रथा और कानून स्पष्ट रूप से मानवीय तथा सामाजिक होते हैं, तथा यह कि अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरे से परस्पर सम्बद्ध होते हैं और वे वैधानिक प्रणाली के अन्तर्गत हैं। हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सभ्यता व्यक्ति की आत्म-अभिव्यक्ति को कुचलने वाली नहीं है; कि सामाजिक शक्ति वह माध्यम है जिनमें कि वह व्यक्ति के तत्त्व भी ग्रहण करता है; कि मनुष्य बनने के लिये किसी प्रकार के सामुदायिक जीवन में भाग लेना आवश्यक है; कि स्वतन्त्रता तथा संस्कृति साधारणतया स्वतन्त्रता का साधन है।"*

अब हमें यह देखना है कि हीगल किस प्रकार यह सिद्ध करता है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता समाज के कानूनों और परम्पराओं को मानने तथा उसके नैतिक जीवन में भाग लेने में है, अपने अन्तःकरण के अनुसार आचरण करने में नहीं, जैसा कि कान्ट मानता था। हीगल कान्ट की इस बात से पूर्णरूपेण सहमत है कि स्वतन्त्रता केवल बन्धन का अभाव या अपनी इच्छा और कामनाओं की स्वच्छन्द प्राप्ति का नाम नहीं है, यह स्व-निर्णय की शक्ति है। बन्धन का अभाव स्वतन्त्रता के लिये एक आवश्यक स्थिति हो सकती है; किन्तु यह उसका सार नहीं है, और क्षणिक वासनाओं की

* "Few parts of Hegel's work are more enlightening than his proof that economic wants are social, as distinguished from mere biological needs, that custom and law are distinctively human and distinctively social, and that rights and duties are correlative and fall within a legal system. The vital point of the Hegelian conception of freedom is that civilization is not repressive of individual self-expression; that social forces are a medium in which the individual always moves and from which he derives the elements even of his individuality; that to be man at all requires participation in the life of some sort of communities; that education and culture are in general a means of liberation."

—Sabine: *op. ct.*, page 638.

दासता तो निकृष्टतम दासता है। कान्ट और हीगल, दोनों के ही अनुसार, स्वतन्त्रता बुद्धि अथवा उच्चतर आत्मा द्वारा नियन्त्रित होने में है। दोनों में अन्तर यह है कि कान्ट के लिये विवेक व्यक्ति के अन्तःकरण में है और हीगल के लिये इसका साकार रूप राज्य है और यह उसके कानूनों के रूप में अभिव्यक्त होता है। हीगल इसीलिये कहता है कि जो नागरिक आदर्श राज्य के आदर्श कानूनों का स्वेच्छापूर्वक पालन करता है उसे ही पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। जिस तर्कना द्वारा वह इस परिणाम पर पहुँचता है वह इस प्रकार व्यक्त की जा सकती है। विश्वात्मा का मूल तत्त्व, जो कि विकास की प्रक्रिया द्वारा आत्मानुभूति करने की चेष्टा करती है, स्वतन्त्रता है। इसीलिये स्वतंत्रता का विकास आत्मा का विकास है। इसलिये स्वतंत्रता मनुष्यता का भी तत्त्व होना चाहिये जोकि जैविक पक्ष में विकास की प्रक्रिया की अन्तिम अवस्था है। मानव जाति का इतिहास स्वतन्त्रता का इतिहास होना चाहिये। आध्यात्मिक पक्ष में राज्य विश्वात्मा की उच्चतम अभिव्यक्ति है; इसलिये वह स्वतन्त्रता की उच्चतम अभिव्यंजना होनी चाहिये। इसलिये व्यक्ति का उद्देश्य राज्य के उद्देश्य का विरोधी नहीं हो सकता। व्यक्ति उसी सीमा तक स्वतन्त्रता की प्राप्ति कर सकता है जिस तक कि वह अपने आपको राज्य तथा उसकी संस्थाओं में अभिव्यक्त आत्मा के साथ एकरूप कर लेता है। इस प्रकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता राज्य के उद्देश्य को अपना समझने में है। केवल इसी प्रकार उसे विश्वास हो सकता है कि उसकी इच्छा विवेक के अनुकूल है। व्यक्ति की बुद्धि अपूर्ण हो सकती है; वह उसकी वासनाओं और भावनाओं से आच्छादित हो सकती है। विवेक-हीन वासनाओं और कामनाओं की दासता से स्वतन्त्रता प्राप्त करने का केवल एक मार्ग है और वह है राज्य के सामने स्वेच्छापूर्वक समर्पण कर देना, जिसमें कि विश्व-बुद्धि की अधिक पूर्ण अभि-व्यंजना होती है। इस युक्ति को वेपर ने निम्नलिखित शब्दों में सुन्दर रूप में व्यक्त किया है :—

"किन्तु मनुष्य इस बात को कैसे जाने कि उसकी वास्तविक इच्छा क्या है? यदि पाशविक इच्छायें तथा स्वार्थ उसे पथभ्रष्ट कर सकते हैं तो वह अपने को 'आत्मा' से एकरूप कैसे कर सकता है? राज्य उसे यह बात बतलाता है कि वह एक ऐसा शिक्षक है, जोकि उसे आत्मा, विशुद्ध बुद्धि का ज्ञान प्रदान करता है। उसकी वास्तविक इच्छा उसे अपने को आत्मा से एकरूप करने के लिये उत्प्रेरित करती है। आत्मा राज्य में साकार हो उठती है। इसलिये राज्य के आदेशों का पालन करना उसकी वास्तविक इच्छा है। वास्तव में राज्य के आदेश ही उसकी वास्तविक इच्छा हैं। इस प्रकार राज्य की आज्ञायें मनुष्य को अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने का एकमात्र अवसर प्रदान करती हैं। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह इस अवसर से लाभ भी उठायेगा। वह राज्य के आदेशों का पालन इसलिये भी कर सकता है क्योंकि उसे उसकी अवज्ञा के परिणामों का भय है। यदि वह भय के कारण ही आज्ञा का पालन करता है तो वह स्वतन्त्र नहीं है; वह अब भी वाह्य शक्ति के अधीन है। किन्तु यदि

वह आज्ञा का पालन इसलिये करता है क्योंकि उसे ऐसा करने की इच्छा है, क्योंकि उसने सचेत होकर अपने आपको राज्य की इच्छा से एकरूप कर लिया है, क्योंकि उसे विश्वास है कि राज्य उससे जिस बात की मांग करता है उसे वह स्वयं भी करना चाहता है यदि उसे तथ्यों का पूरा ज्ञान होता, तब वह केवल अपनी इच्छा के अधीन है, और वह वास्तव में स्वतन्त्र है। हीगल कहता है कि राज्य वास्तविकता का वह रूप है जिसमें कि व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करता है और उसका उपभोग करता है बशर्ते कि वह जानता हो, उसमें विश्वास करता हो और उसकी इच्छा करता हो जोकि सम्पूर्ण के लिये सामान्य हो।"*

इस सब में व्यक्ति के राज्य के दास हो जाने का अथवा राज्य के व्यक्ति को अपने वैभव के लिये एक साधन-मात्र के रूप में प्रयोग करने का प्रश्न ही नहीं उठता। हीगल के सिद्धान्त का केन्द्र-बिन्दु यह है कि राज्य स्वतन्त्र इच्छा द्वारा उत्पन्न होता है और फिर इसे घोषित करता है। वह स्वतन्त्र इच्छा का पोषण मनुष्य को एक व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करके और उसकी कल्याण-वृद्धि करके तथा 'व्यक्ति को जिसकी प्रवृत्ति स्वार्थी बन जाने की रहती है, फिर विश्व तत्त्व की ओर' ले जाकर करता है। दूसरे शब्दों में, राज्य स्वतन्त्र इच्छा का पोषण व्यक्तित्व की रक्षा करके तथा व्यक्ति को स्वयं अपना अतिक्रमण करके अपने आपको किसी उच्चतर उद्देश्य के लिये समर्पित करने की सामर्थ्य प्रदान करके करता है। एक व्यक्ति स्वतन्त्र उसी समय होता है जब कि वह चेतनापूर्वक अपने आपको राज्य के कानूनों के साथ एकरूप कर लेता है।

यहाँ इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि कुछ लोगों की यह धारणा कैसे बन गई कि हीगल व्यक्ति को राज्य का पूर्णरूपेण दास तथा उसका केवल एक साधन बना देता है। इसका आंशिक कारण तो यह है कि हीगल ने राज्य को परिवार,

* "But how shall man know that his real will is? How can he identify himself with the spirit if he can be led astray by brute desires and selfish interests? The state is there to tell him. It is the schoolmaster which brings him knowledge of the Spirit, of Absolute Reason. His real will impels him to identify himself with the Spirit. The Spirit is embodied in the state. Therefore it is his real will to obey the dictates of the state. Indeed, the dictates of the state are his real will. Thus the commands of the state give man his only opportunity to find freedom. It does not necessarily follow, however, that he will avail himself of that opportunity. He may obey the state because he is afraid of the consequences of disobedience. If he obeys because of fear he is not free; he is still subject to alien force. But if he obeys because he wishes to, because he has consciously identified himself with the will of the state, because he has convinced himself that what the state demands he would also desire if he knew all the facts, then he is subject only to his own will, and he is truly free. The state, says Hegel, is that form of reality in which the individual has and enjoys his freedom provided he recognises, believes in and wills what is common to the whole." —Wayper: *Political Thought*, page 168.

गिल्ड, निगम और चर्च इत्यादि सरीखे समुदायों के साथ उसके सम्बन्ध में पूर्ण रूप से सर्वशक्तिमान् बना दिया। किसी समुदाय का राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं है। यहाँ तक कि संविधान भी, जोकि कानून द्वारा शासन की स्थापना करता है, राज्य की सर्वोच्च शक्ति को कम नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त और इससे भी महत्त्व-पूर्ण बात यह है कि हीगल के अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्रता का कोई विशेष सम्बन्ध उन अधिकारों से नहीं है जिनका कि हम स्वतन्त्रता के साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध समझने लगे हैं, अर्थात् भाषण और लेखन की स्वतन्त्रता का अधिकार, जनता का अपने प्रतिनिधियों को चुनने का तथा स्वयं अपने कानून बनाने का अधिकार। यद्यपि हीगल इस बात को अच्छी तरह से जानता है कि यथार्थ राज्य आदर्श राज्य से, जो कि विशुद्ध बुद्धि का साकार रूप है, बहुत पीछे है, किन्तु फिर भी उसका यह विश्वास है कि राज्य के कानून, चाहे वे कितने भी अपूर्ण क्यों न हों, व्यक्तियों की व्यक्तिगत बुद्धि से अधिक पूर्ण हैं और विश्व बुद्धि को अधिक अभिव्यक्त करते हैं। उसकी धारणा यह है कि यथार्थ बुद्धिसंगत है और बुद्धिसंगत ही यथार्थ है। अपनी इस धारणा के कारण वह इस परिणाम पर पहुँचता है कि वास्तविक राज्यों में एक आदर्श राज्य के समस्त गुण वर्तमान रहते हैं, हाँ, वे अपर्याप्त और अपूर्ण रूप में होते हैं। इसलिये वह कभी भी इस बात को मानने के लिये तैयार नहीं कि व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध जाने का अधिकार है। हीगल ने कहीं भी ऐसी परिस्थितियों का उल्लेख नहीं किया (जैसा कि ग्रीन कहता है), जिनमें कि राज्य की अवज्ञा करना उचित हो। अपने आदर्शवाद के कारण हीगल एक महान् रूढ़िवादी बन गया। उसने यथार्थ का आदर्शीकरण कर दिया और इस परिणाम पर पहुँचा कि राज्य सर्वोच्च नैतिक मूल्यों का पालक है। इस बात ने और उसके इस विश्वास ने कि राज्य के तथा उसके घटकों के सच्चे हितों में कोई संघर्ष नहीं हो सकता मिलकर इस धारणा को उत्पन्न किया कि हीगल व्यक्ति को राज्य की वेदी पर बलिदान करता है। इस धारणा का एक कारण यह भी है कि हम उस अर्थ को समझ नहीं पाते जिसमें कि हीगल ने व्यक्ति शब्द का प्रयोग किया है। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है कि वह व्यक्ति की सच्ची आत्मा को बुद्धिसंगत और विश्व-व्यापक समझता है। जहाँ तक कि व्यक्ति की यथार्थ इच्छा राज्य तथा उसके संस्थानों में अभिव्यक्त सार्वभौमिक इच्छा से दूर जाती है उस हद तक व्यक्ति को अपने उस उच्चतर लक्ष्य के लिये बलिदान करने के लिये विवश किया जाना उचित ही है। किन्तु जो चीज राज्य के अधीन है और जिसका राज्य के लिये बलिदान करना है वह मनुष्य का क्षणिक तत्व है, बुद्धिसंगत तथा सार्वभौमिक तत्व नहीं। हम व्यक्ति में वास्तविक तथा अवास्तविक तत्व में विभ्रम करते हैं और बिना अधिक सोचे-विचारे यह परिणाम निकाल बैठते हैं कि हीगल की दार्शनिक प्रणाली में व्यक्ति का वास्तविक और सार्वभौमिक तत्व भी राज्य के लिये बलि कर दिया गया। ऐसा करना हीगल के साथ अन्याय है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जो लोग हीगल पर निरंकुशतावादिता तथा व्यक्ति को राज्य के अधीन करने का आरोप लगाते हैं वे

वे हैं जोकि यथार्थ तथा वास्तविक इच्छा के भेद को गलत तथा अमान्य बतलाते हैं। इस प्रसंग में हमें यह याद रखना चाहिये कि हीगल एक आदर्श राज्य का, जोकि विश्वात्मा की अभिव्यक्ति है, वर्णन कर रहा है, किसी यथार्थ राज्य का नहीं। हमें यह भी याद रखना चाहिये कि, हीगल के अनुसार, यदि मनुष्यों को स्वतन्त्र बनाने के लिये राज्य आवश्यक है तो राज्य को पूर्ण बनाने के लिये स्वतन्त्र मनुष्य भी उतने ही आवश्यक हैं। एक ऐसा राज्य जोकि अपने घटकों को अपने वैभव के लिये एक साधन मात्र के रूप में प्रयोग करता है राज्य के विचार का भ्रष्टीकरण है, उसका उदाहरणीकरण नहीं। वह राज्य, जिसे हीगल 'पृथ्वी पर परमात्मा की यात्रा' कहकर पुकारता है और जिसमें 'आत्मा अबाध आत्मानन्द में विभोर होकर आत्मचिन्तन कर सकती है, जिसमें उसे अपने में कोई विरोध और दोष नहीं मिलता, जिसमें कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिशाली, नित्य प्रभु अन्त में अपने स्वर्ग में प्रविष्ट हो जाता है', कोई यथार्थ जर्मनी या इटली का राज्य, अथवा और कोई विशिष्ट ऐतिहासिक राज्य नहीं है; यह तो एक विचार जगत् का राज्य है, जिसका किसी देश और काल में कहीं अस्तित्व नहीं है। ऐसे पूर्ण राज्य में व्यक्ति के राज्य की वेदी पर बलिदान किये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अपने इस विश्वास के कारण कि व्यक्ति का वास्तविक सत्य राज्य है, हीगल ठीक ही इस परिणाम पर पहुँचता है कि व्यक्ति अपने सुख तथा स्वतन्त्रता की प्राप्ति कोई महत्त्वपूर्ण सामाजिक कार्य खोज करके ही कर सकता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि एक अच्छे नागरिक का कर्त्तव्य केवल समाज के कानूनों और परम्पराओं के अनुसार आचरण करना है, और निजी निर्णय अथवा व्यक्तिगत इच्छा का कोई अधिकार नहीं है। हीगल के कुछ शब्दों से ऐसा अर्थ निकाला जा सकता है। इसलिये यदि कुछ लोग इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वह राजाज्ञा पालन को व्यक्ति का मुख्य कर्त्तव्य समझता था और इसलिये उसने व्यक्ति को राज्य का पूर्ण दास बना दिया था तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

हीगल के सिद्धान्त में कुछ अन्य बातें भी ऐसी हैं जोकि इस विश्वास को और पुष्ट करती हैं कि उसके राज्य में व्यक्ति का अत्यन्त हीन स्थान है। वह रूसो की इस धारणा को स्वीकार करता है कि व्यक्ति की वास्तविक स्वतन्त्रता राज्य के कानूनों का पालन करने में है; वह यह भी कहता है कि कानून **सामान्य इच्छा** की उत्पत्ति है; परन्तु वह यह कहीं नहीं कहता कि वह जनता की सर्वोच्च इच्छा की उत्पत्ति है, जिसे उसने अपनी व्यवस्थापिका सभा में अभिव्यक्त किया है। इसके विपरीत वह यह कहता है कि कानून जनता के सारे भूत इतिहास की उत्पत्ति है। जनता कानूनों को बनाती नहीं, बल्कि उन्हें गत पीढ़ियों से प्राप्त करती है। जहाँ तक कि उन कानूनों के बनाने में, जिनका कि जनता को पालन करना है, उसका कोई हाथ नहीं होता, यह कहा जा सकता है कि हीगल के राज्य में व्यक्ति पूर्ण रूप से राज्य के अधीन है।

हीगल का यह कहना है कि व्यक्तियों के साथ बर्ताव करने में राज्य के नैसर्गिक कानून अथवा नैतिक नियम जैसी राज्य से बाहर की किसी चीज का कोई नियन्त्रण नहीं होता, यह भी इसी परिणाम को सम्बल पहुँचाता है। आदि काल से ही मनुष्य ने प्रथाओं तथा राज्य के कानूनों और एक उच्चतर नैसर्गिक कानून तथा नैतिक नियमों में, जोकि पूर्वोक्त का आधार होते थे और उन्हें मान्यता प्रदान करते थे, विभेद किया है। ऐसा कहा जाता था कि जो भी राजकीय कानून नैसर्गिक अथवा बुद्धि के नियम के विरुद्ध है, अमान्य है। दोनों के विभेद और उपरोक्त की पूर्वोक्त के ऊपर प्रधानता सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में उदारवाद (Liberalism) का आधार बन गये। नैसर्गिक कानून की प्रधानता लॉक तथा मॉण्टैस्क्यू के राजनीतिक दर्शन की आधार-शिला थी; बोदाँ की विचारप्रणाली में यह संप्रभु की शक्तियों के ऊपर एक बड़ी भारी रोक थी। हीगल के राजनीतिक दर्शन में राज्य की शक्तियों को सीमित करने वाले किसी नैसर्गिक कानून के लिये कोई स्थान नहीं है। उसका राज्य तो विश्वात्मा का सर्वोच्च तथा पूर्णतम रूप है; वह बुद्धिपरक है। इसलिये इसके कानून और संस्थान भी बुद्धि की अभिव्यंजना हैं; उनकी मान्यता किसी बाह्य और उच्चतर कानून के अनुसार होने पर निर्भर नहीं करती, यह तो स्वयं राज्य के स्वरूप से ही आती है जो कि बुद्धि का साकार रूप है।

क्योंकि राज्य सर्वोच्च सामाजिक नैतिकता का प्रतिनिधि और साकार रूप है (हम पहिले ही बता चुके हैं कि राज्य परिवार तथा नागरिक समाज से मिलकर बना है), और सामाजिक नैतिकता का स्रष्टा तथा संरक्षक है; इसलिये यह कहा जा सकता है कि यह व्यक्तियों के लिये नैतिकता का मानदण्ड निर्धारित करता है। इस प्रकार यह समस्त नैतिक सिद्धान्तों के ऊपर है; यह उस चीज से नहीं बँध सकता जिसे कि इसने स्वयं उत्पन्न किया है। बोजान्के लिखता है : 'राज्य हमारे सम्पूर्ण नैतिक जगत् का संरक्षक है, हमारे संघटित नैतिक जगत् में केवल एक तत्त्व ही नहीं। ...... यह देखना बड़ा कठिन है कि राज्य उस अर्थ में चोरी या हत्या कर सकता है जिसमें कि ये नैतिक अपराध समझ जाते हैं।' अपने बनाये हुये नैतिक कानूनों से राज्य इसी प्रकार ऊपर है जिस प्रकार कि बोदाँ, हॉब्स तथा ऑस्टिन के अनुसार संप्रभु अपने बनाये हुये कानूनों से ऊपर होता है। अपने नागरिकों के साथ व्यवहार करने में राज्य को नैतिक नियमों से मुक्त कर देना इसके ऊपर से एक लाभप्रद नियन्त्रण को हटा लेना और इसे निरंकुश बना देना है। ईसा की इस उक्ति का कि 'राज्य के विषयों में राजा की आज्ञा मानो और ईश्वर की बातों में ईश्वर के प्रति भक्ति रखो' हीगल के लिये कोई अर्थ नहीं; उसकी विचारप्रणाली में प्रत्येक चीज राज्य की है, ईश्वर का कुछ नहीं।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में दूसरे राज्यों के साथ व्यवहार करने में भी हीगल राज्य को नैतिक नियमों से स्वतन्त्र रखता है। राज्य के सामने, उस क्षेत्र में, केवल एक सिद्धान्त है और वह है अपनी सुरक्षा। उसकी अपनी भलाई ही सर्वोच्च कानून है।

अपनी 'Philosophy of Right' में हीगल लिखता है: "यह सर्वमान्य और सुविख्यात सिद्धान्त है कि राज्य का विशिष्ट हित ही सबसे महत्त्वपूर्ण विचार है।" अपनी 'Ethics' में वह और भी जोर के साथ लिखता है: "राज्य स्वनिश्चित, निरपेक्ष बुद्धि है जोकि अच्छे, बुरे तथा नीच, छल-कपट के किसी अमूर्त्त नियम को नहीं मानती।" इस क्षेत्र में नैतिकता के ऊपर आधारित कोई तर्क नहीं चल सकता। इसका कारण यह है कि प्रत्येक राज्य एक स्वाधीन व्यक्ति है और इसलिये प्रत्येक राज्य का यह मूल अधिकार है कि उसे एक स्वाधीन और संप्रभुतासम्पन्न राज्य के रूप में माना जाय और उसका सम्मान किया जाय। विभिन्न राज्यों के बीच में सार्वभौमिक सदाचार का कोई वास्तविक क्षेत्र नहीं है। इसलिये उनके कार्य उनकी स्वेच्छा से ही निर्धारित होते हैं; और उनके बीच में सर्वोच्च सदाचार केवल उनके पारस्परिक समझौते पर ही आधारित हो सकता है। परन्तु राज्यों के ऊपर कोई शक्ति नहीं होती और उनके परस्पर सम्बन्ध स्थिति-विशेष से निर्धारित होते हैं, किसी शाश्वत नियम से नहीं, इसलिये जब वे स्थितियाँ बदल जाती हैं, जिन्होंने कि संधि विशेष को जन्म दिया था तो वह संधि भी निरर्थक और अमान्य हो जाती है। राज्यों द्वारा किये गये समझौते साधारणतया अन्तरिम समझे जाते हैं। इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध नैतिक नियमों द्वारा विनियमित नहीं किये जा सकते। कोई अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता नहीं हो सकती, क्योंकि मानवता एक ऐसा संगठित समाज नहीं है जिसकी कि कोई निजी सामाजिक नैतिकता हो। नैतिक कानून राज्य के अन्दर लागू हो सकते हैं, राज्यों के बीच में नहीं। विभिन्न राज्यों को एक सामान्य नैतिक विज्ञान के अधीन लाने का केवल एक उपाय है और वह है विभिन्न राज्यों को मिलाकर एक विश्व-राज्य बनाना जिस प्रकार कि व्यक्तियों को मिलाकर राष्ट्र-राज्य बने हैं; परन्तु आश्चर्य है कि हीगल किसी ऐसी विश्व व्यवस्था की कल्पना नहीं करता जिसमें कि विभिन्न राज्य घटकों के रूप में सम्मिलित हों। विश्व राज्य या राष्ट्र संघ की कान्ट और फिक्टे की धारणा का उसने तिरस्कारपूर्ण खण्डन किया है। उसके लिये यह विचार ही प्रमाद-पूर्ण था कि सम्पूर्ण जाति एक नैतिक सावयव बन सकती है। वह राष्ट्र-राज्य को सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन की सर्वोच्च इकाई समझता है और उसी पर पहुँचकर उसका द्वन्द्ववाद समाप्त हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हीगल एक राष्ट्रवादी था, अन्तर्राष्ट्रवादी नहीं।

राज्य की निरंकुशता युद्ध जैसे आपत्ति-काल में अपने उग्रतम रूप में प्रगट होती है। ऐसी स्थिति में राज्य मनमानी कर सकता है। ऐसे समय राज्य की सबसे बड़ी आवश्यकता अपनी संप्रभुतासम्पन्न स्वाधीनता की रक्षा करनी होती है, क्योंकि इसके बिना वह राज्य नहीं रहेगा। इसलिये क्योंकि राज्य का जीवन और उद्देश्य व्यक्तियों के जीवन और उद्देश्य से उच्चतर है, व्यक्ति को राज्य की स्वाधीनता की रक्षा के लिये अपने धन जन का बलिदान करने के लिए तैयार रहना चाहिये। हीगल लिखता है: "युद्ध की अवस्था में राज्य की अपने व्यक्तित्व में सर्वशक्तिमत्ता प्रगट हो

जाती है, देश और मातृभूमि उस समय ऐसी शक्ति बन जाते हैं, जिनके सामने व्यक्तियों की स्वतन्त्रता निरर्थक हो जाती है।"*

इसी प्रकार महान् इंगलिश नवीन हीगलवादी बोजान्के कहता है कि आवश्यकता पड़ने पर (और आवश्यकता का एकमात्र निर्णायक स्वयं राज्य है) राज्य अपने नागरिकों को अपने प्राण उसके सामने अर्पित करने का आदेश दे सकता है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि हीगल कोई शान्तिवादी (Pacifist) न था; स्थायी शान्ति के विचार को वह कोरा सपना समझता था; उसका विश्वास था कि राष्ट्रों के परस्पर झगड़ों का निर्णय अन्ततोगत्वा युद्ध द्वारा ही हो सकता है। इससे भी अधिक मार्के की बात यह है कि वह युद्ध को एक पुण्य कार्य समझता था जोकि देशभक्ति की प्रेरणा देने वाला और मानव जाति के नैतिक विकास में सहायता देने वाला एक अमूल्य यन्त्र है। उसका विश्वास था कि स्थायी शान्ति जनता को भ्रष्ट कर देती है। "युद्ध वह स्थिति है जोकि लौकिक विषयों के मिथ्यातत्व से सम्बन्ध रखता है— यह मिथ्यातत्व दूसरे समय में बड़े भव्य उपदेश का सामान्य विषय होता है। युद्ध का उच्चतर महत्त्व यह होता है कि उसके द्वारा जनता का नैतिक स्वास्थ्य कायम रखा जाता है।"†

सफल युद्ध गृह-कलह को रोकते हैं और राज्य की आन्तरिक शक्ति को बढ़ाते हैं। विश्व-इतिहास में भी युद्ध एक महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा करता है। युद्ध के फलस्वरूप ही विभिन्न समय पर विभिन्न राष्ट्रों का प्रभुत्व स्थापित हो जाता है और उसके द्वारा वे विश्व-भावना के विकास में अपना योग दे पाते हैं। हीगल लिखता है: "इतिहास में विचार अपने आपको विभिन्न रूपों में प्रगट करता है और किसी भी युग में उसका प्रधान रूप उस युग के प्रधान मानव-समूह में साकार हो उठता है।"‡

शासक जातियों का आविर्भाव राज्यों में युद्ध के द्वारा ही हो सकता है। आत्मा अपने उद्देश्य की पूर्ति राष्ट्रों में युद्ध के द्वारा करती है। युद्ध में स्वयं **विश्वात्मा** इस बात का निर्णय करती है कि लड़ने वालों में कौन सा राज्य उसका सच्चा साकार रूप है और किसे विजय प्राप्त होनी चाहिये। विजयी राष्ट्र **विश्वात्मा** का अभिकर्त्ता होने का दावा कर सकता है। परन्तु विजय प्राप्त करने से पूर्व किसी भी राष्ट्र का यह दावा करना उचित नहीं होगा कि वह विश्वात्मा की ओर से लड़ रहा है।

---

* "The state of war shows the omnipotence of the state in its individuality; country and fatherland are then the power which convicts of nullity the independence of the individuals." —*Hegel.*

† "War is the state of affairs which deal in earnest with the vanity of temporal goods and concerns— a vanity at other times a common theme for edifying sermonising. War has the higher significance that by its agency the ethical health of people is preserved in their indifference to the stabilisation of finite institution."

‡ "In history the idea unfolds its various phases in time and the dominant phase at any epoch is embodied in a dominant people."

सारांश यह है कि हीगल निस्संदेह राज्य को एक अत्यन्त ऊँचा स्थान प्रदान करता है; राज्य के लिये उसके हृदय में सबसे अधिक सम्मान है। यह सब कुछ एक आदर्श राज्य के लिये है, ऐसे राज्य के लिये है जैसा कि राज्य को होना चाहिये; उन यथार्थ राज्यों के लिये नहीं, जिसके बहुत से दोषों से वह अपरिचित नहीं था तथापि उसका विश्वास था कि यथार्थ राज्य आदर्श से कितने ही दूर क्यों न हों उन सब में मानवता का मूल तत्त्व अवश्य है जिस प्रकार कि एक कुरूप से कुरूप, अपराधी, अपाहिज मनुष्य में भी मानवता निवास करती है। इसलिये हीगल की इस कारण भर्त्सना करना अनुचित है कि उसने आदर्श राज्य की उससे कहीं अधिक प्रशंसा कर डाली जितनी के यथार्थ राज्य कभी पात्र रहे हैं। जिस प्रकार कि आचार-शास्त्र द्वारा प्रतिपादित सदाचार का आदर्श केवल इसी लिये अमान्य अथवा गलत नहीं हो जाता क्योंकि यथार्थ मनुष्य उसके अनुसार आचरण नहीं कर सकते, इसी प्रकार हमें हीगल की राज्य सम्बन्धी धारणा की निन्दा भी केवल इसी आधार पर नहीं करनी चाहिये कि यथार्थ राज्य आदर्श तक नहीं पहुँच पाते। यह एक शाश्वत सत्य है कि राज्य के एक नागरिक के नाते ही व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है और ऐसे अधिकार रख सकता है जिनकी कि बुद्धि-संगत परिभाषा दी जा सकती है और जिनको बुद्धि द्वारा कायम रखा जा सकता है, और राज्य किसी भी व्यक्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि हीगल नागरिकों को अवज्ञा और विद्रोह का अधिकार नहीं देता, और इसलिये वह लॉक तथा माँटेस्क्यू तथा ग्रीन से भी, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, कहीं कम उदारवादी है, तथापि यह कहना गलत होगा कि वह अपने सिद्धान्त उस अति पर ले गया जिस पर कि मुसोलिनी तथा हिटलर सरीखे सम-कालीन सर्वभक्षकवादी (Totalitarians) उसे ले गये। हमारे विचार से हीगल पर यह आरोप लगाना ठीक न होगा कि वह व्यक्ति को राज्य का पूर्ण रूप से दास बनाता है और उसे राज्य के वैभव के लिये एक साधन मात्र समझता है। हमें इस मूल सत्य को कभी न भूलना चाहिये कि हीगल के लिये राज्य मूलरूप से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का क्षेत्र बढ़ाने के लिये है, उसे सीमित करने के लिये नहीं। यदि हम यह समझते हैं कि राज्य व्यक्ति का दमन करने वाला है तो हम राज्य के स्वरूप को गलत समझते हैं; व्यक्ति अपनी पूर्ण आत्मचेतना तथा स्वतन्त्रता की प्राप्ति राज्य में रहकर और राज्य की सदस्यता द्वारा ही कर सकता है। राज्य के कानूनों का, जोकि बुद्धि-संगत हैं, पालन करके ही मनुष्य अपने इस भावनात्मक और ऐन्द्रिक जीवन को एक सच्चे आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति का साधन बना सकता है। हीगल का राज्य का सिद्धांत रूसो की इस उक्ति का विस्तार समझा जा सकता है कि भावना तथा वासनाग्रस्त जीवन दासता का जीवन है; हमारे अपने लिये बनाये हुए कानूनों का पालन करना स्वतन्त्रता है। राज्य से अलग होकर हम सीमित तथा मूर्ख प्राणी ही रहते हैं; मानवीय तथा दैविक गुणों का विकास हममें राज्य की सदस्यता द्वारा ही होता है। ग्रीन तथा बोजान्के दोनों ही हीगल के इस सिद्धान्त को मानते हैं कि सच्ची स्वतन्त्रता

अपनी विवेकप्रधान आत्मा के कानून का पालन करने में है। बोजान्के **सामान्य इच्छा** के सिद्धान्त को ग्रीन से अधिक विकसित करता है और निश्चित रूप से यह दावा करता है कि मनुष्य की सर्वोच्च स्वतन्त्रता की प्राप्ति चेतनापूर्वक अपने को राज्य में अभिव्यक्त **सामान्य इच्छा** के साथ एकाकार कर लेने में है।

हीगल के अनुसार राज्य में सर्वव्यापकता तथा विशिष्टता का सम्मिश्रण रहता है। जिस समय व्यक्ति से अलग करके इसके निर्विकल्प रूप पर विचार किया जाता है तो वह सर्वव्यापक हो जाता है और जब यह व्यक्तियों के व्यक्तिगत उद्देश्यों तथा हितों के ऊपर विचार करता है तो वह विशिष्ट हो जाता है। इसका सार इन दोनों पक्षों की पूर्ण व्यवस्था तथा इनके एक वास्तविक एकरूपता में संगठित होने में है। इसलिये राज्य अपने स्वरूप की अवहेलना किये बिना व्यक्ति का दमन नहीं कर सकता।

हीगल के शासन सम्बन्धी विचार— यहाँ पर हीगल के शासन सम्बन्धी विचारों का एक संक्षिप्त विवरण दे देना भी अनावश्यक न होगा। उसका कहना है कि राज्य की तीन अवस्थायें होती हैं: (१) उसका संविधान, अर्थात् उसकी आन्तरिक व्यवस्था, (२) अन्तर्राष्ट्रीय कानून अर्थात् राज्यों के परस्पर सम्बन्ध, तथा (३) सार्वभौमिक इतिहास। पहली अवस्था का वर्णन करने में ही हीगल सरकार की विवेचना करता है।

राज्य को अपने राजनीतिक पक्ष में वह व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा राजतन्त्रक तीन शाखाओं में विभक्त करता है। राज्य का इन तीन शाखाओं अथवा कार्यों में विभेदीकरण उसके अन्तर्हित स्वरूप, अर्थ तथा महत्ता के अनुसार होता है। व्यवस्थापिका विभाग जोकि राज्य के सार्वभौम स्वरूप का द्योतक है 'Thesis' है, कार्यपालिका अथवा उसके विशिष्ट स्वरूप का सूचक विभाग 'Antithesis' है, और सांविधानिक राजा, जिसे कि एक व्यक्ति में उन दोनों का एकीकरण समझा जा सकता है, 'Synthesis' है। सार्वभौमिक रूप में राज्य कानून का स्रोत है; इससे हमें व्यवस्थापिका विभाग मिलता है। उसका विशिष्ट स्वरूप कानूनों को विशिष्ट मामलों पर आरोपित करने में प्रगट होता है; वह कार्यपालिका विभाग है। न्यायिक कार्य को हीगल कार्यपालिका में ही सम्मिलित करता है। संवैधानिक राजा वह माध्यम है जिसके द्वारा व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका में सामंजस्य होकर वे एक हो जाती हैं। इस प्रकार राजा राज्य की एकता तथा सर्वोच्चता का प्रतीक तथा साकार रूप है। राज्य की संप्रभुता उसमें रहती है, सर्वसाधारण में नहीं। संवैधानिक होने के कारण राजा निरंकुश नहीं हो सकता; वह अपने परामर्शदाताओं के परामर्श से बाधित है, और जब संविधान अच्छी तरह से स्थापित हो जाता है तो प्रायः उसे हस्ताक्षर करने के सिवाय और कोई कार्य ही नहीं रहता। परन्तु उसका काम महत्त्वपूर्ण है; वह ऐसा शिखर है जिसके ऊपर कोई नहीं चढ़ सकता। अपने द्वन्द्ववाद

के अनुसार हीगल इस परिणाम पर पहुँचता है कि एक पूर्णरूप से विवेकपूर्ण राज्य के लिये केवल राजतन्त्र ही नहीं, वरन् संवैधानिक राजतन्त्र होना आवश्यक है। वह एक कदम और आगे बढ़ता है और यह सिद्ध करने की चेष्टा करता है कि राजा को वंशानुगत होना चाहिये। हीगल किस प्रकार अपनी भावात्मक इच्छाओं को वस्तुप्रधान द्वन्द्ववादी गति में आरोपित करता है, यह इसका एक सुन्दर उदाहरण है। उसके द्वन्द्ववाद में से शायद एक बात को स्वाभाविक रूप से निगमित किया जा सकता है, वह यह कि राज्य का प्रधान कोई एक ही व्यक्ति होना चाहिये, किन्तु यह बात नहीं कि वह एक वंश परम्परागत राजा ही होना चाहिये; एक निर्वाचित प्रधान से वैसा ही काम चल सकता है जैसा कि एक वंशानुगत राजा से।

यह देखना रुचिकर होगा कि सरकार के कार्यों को तीन भागों में विभक्त करके और प्रत्येक को एक दूसरे से पृथक् करके हीगल मान्टेस्क्यु के शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को मानता है। परन्तु उसका विचार है कि यह पृथक्करण सीमा से आगे नहीं बढ़ना चाहिये, अन्यथा इसका परिणाम अराजकता होगा। यदि सरकार के तीनों अंग निरन्तर एक दूसरे को रोकते रहें और एक दूसरे का विरोध करते रहें तो उसके भयंकर परिणाम निकलेंगे। राज्य में एक अंग ऐसा होना चाहिये जोकि शेष दो का अतिक्रमण करे और उनमें सामञ्जस्य स्थापित करे। हीगल ऐसा अंग सांविधानिक राजा को समझता है। इस प्रसंग में हमें यह याद रखना चाहिये कि हीगल का सांविधानिक राजा उस ब्रिटिश सम्राट के सदृश नहीं है जिसके समस्त कार्य उत्तरदायी मन्त्रियों के परामर्श से निर्धारित होते हैं। ब्रिटिश ढर्रे के संसदीय संस्थानों को हीगल पसन्द नहीं करता था। उसकी कल्पना का राजा प्रशा के सम्राट के अधिक सदृश था, जोकि अपने मन्त्रियों के परामर्श के अनुसार तो कार्य अवश्य करता था किन्तु जिसे मन्त्रियों को छांटने का अधिकार था। मन्त्रियों की नियुक्ति राजा की अबाध स्वच्छन्दता पर निर्भर करती थी, व्यवस्थापिका में बहुमत के ऊपर नहीं। व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के निर्माण, शक्तियों तथा उनके परस्पर सम्बन्धों के विषय में हीगल ने बहुत विस्तार के साथ लिखा है; किन्तु उसे हमें यहाँ देने की आवश्यकता नहीं। हां, केवल इतना कहा जा सकता है कि क्षेत्रीय निर्वाचकमण्डलों में उसे कोई विश्वास न था, उन्हें वह नापसन्द करता था। प्रतिनिधित्व का सही आधार वह विभिन्न व्यवसायों को मानता था। इसलिये, उसके अनुसार व्यवस्थापिका में विभिन्न वर्गों और निगमों के प्रतिनिधि होने चाहियें। हीगल इस विचार को निरर्थक समझता था कि एक व्यक्ति एक क्षेत्र-विशेष में रहने वाले समस्त व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व कर सकता है। वह व्यवसायिक प्रतिनिधित्व (Functional Representation) के आधुनिक सिद्धान्त की अन्तर्हित धारणा को मानता था; इसलिये इस विषय में उसके विचार राजनीतिक विचार के इतिहास में एक नवीन युग की सूचना देते हैं। इस प्रकार के प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को सबसे पहिले बीसवीं शताब्दी में फासिस्ट इटली ने प्रयुक्त किया, उन्नीसवीं शताब्दी के प्रशा या जर्मनी ने नहीं।

हीगल का प्रभाव— हीगल को संसार का एक महानतम दार्शनिक समझा जाता है और ऐसा समझना ठीक ही है। सैवाइन के शब्दों में उसका दर्शन 'आधुनिक विचार की पूर्ण तथा क्रमबद्ध पुनर्रचना' के प्रयास से कम नहीं है। उसके प्रशंसकों का आज भी यह विश्वास है कि दार्शनिक चिंतन में उसने अन्तिम सत्य को प्राप्त कर लिया था। मानव जाति के विचार को उसकी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण देन है: १. उसकी प्रसिद्ध द्वन्द्ववादी पद्धति जिसके द्वारा वह बुद्धि, तथ्य तथा मूल्य में सामंजस्य स्थापित करना चाहता था जिनमें ह्यूम ने पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद कर दिया था, २. उसकी राष्ट्र-राज्य की स्तुति, तथा ३. उसकी प्रगति की धारणा। उसके चिन्तन में ये सब चीजें एक अविभाज्य इकाई में गुंथित हैं। अपनी द्वन्द्ववादी पद्धति के प्रयोग द्वारा ही वह इस परिणाम पर पहुँचा था कि विश्वात्मा के आत्म-विकास में राष्ट्र-राज्य अन्तिम अवस्था है। द्वन्द्ववादी पद्धति का एक आवश्यक तत्त्व प्रगति है; इसके द्वारा ही हीगल इस परिणाम पर पहुँच सका कि मानव इतिहास दैविक उद्देश्यों की प्रगतिशील अनुभूति है। सभ्यता के इतिहास को वह राष्ट्रीय संस्कृतियों की एक क्रमबद्ध शृंखला समझता था जिसमें प्रत्येक राष्ट्र मानव विकास को अपनी विशिष्ट देन देता है। उसके बाद के समय के कल्प-विकल्प पर इन तीनों विचारों का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है; उनका प्रभाव आज पड़ रहा है।

परन्तु जबकि हीगल में ये तीनों विचार अभिन्न रूप से संघटित थे, बाद के विचारकों के चिन्तन में ये अलग अलग हो गये। कार्ल मार्क्स ने, जोकि द्वन्द्ववादी पद्धति से बहुत अधिक प्रभावित हुआ था, उसकी एक भौतिकवादी व्याख्या की और उसके ऊपर समाजवादी विचारधारा का निर्माण किया, जिसका दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय है और जो राष्ट्र-राज्य को एक बुराई समझता है जोकि अन्त में जाकर अवश्य समाप्त हो जायेगा। दूसरी ओर हीगल द्वारा किया हुआ राष्ट्र-राज्य का आदर्शीकरण द्वन्द्ववादी पद्धति की सहायता के बिना भी १९वीं शताब्दी तक चलता रहा और उसमें से धीरे धीरे वह क्रांतिकारी भावना जाती रही जोकि हीगल में थी। इस प्रकार वह दो महत्त्वपूर्ण राजनीतिक विचारधाराओं का स्रोत बन गया, जोकि उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में बहुत ही अधिक महत्त्वपूर्ण थीं। "मार्क्स द्वारा संशोधित द्वन्द्ववाद के द्वारा वह नवीन सर्वहारा क्रांति का स्रोत बन गया, जिसका परिणाम हुआ साम्यवाद, जिसकी निरन्तर प्रवृत्ति पुराने मध्यवर्गी उदारवाद को नष्ट कर देने की रही है। राष्ट्र-राज्य के अपने आदर्शीकरण द्वारा वह रूढ़िवादी राष्ट्रवाद का स्रोत बन गया, जिसका परिणाम हुआ फासीवाद जिसने मध्य उन्नीसवीं शताब्दी के उदार राष्ट्रवाद को ग्रस लिया है।"*

---

* "Through the dialectic as revised by Marx he became the source of the new proletarian radicalism, culminating in Communism, which has steadily tended to displace the older middle-classes liberalism. Through his idealisation

हीगल तथा हीगलवाद के प्रभाव का अनुमान करते समय हमें यह महत्त्वपू
तथ्य नहीं भूलना चाहिये कि बर्लिन विश्वविद्यालय, जब तक कि वह वहाँ दर्शन व
प्राध्यापक रहा, जर्मनी का बौद्धिक केन्द्र बना रहा। प्रशा के सम्राट की दृष्टि
उसका ऊँचा स्थान था और बौद्धिक विषयों में वह उसका अधिकृत वक्ता था। उसव
राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त दूर-दूर तक प्रचलित हो गया और बहुत से लोगों ने उसे
उसका सामान्य दर्शन माने बिना स्वीकार कर लिया। १९वीं शताब्दी के जर्मनी
विचार पर उसका कितना गहरा प्रभाव पड़ा है उसका अनुमान मैक्गवर्न के इस कथ
से सरलतापूर्वक लगाया जा सकता है, "बिस्मार्क की शताब्दी के द्वार पर हीगल क
जीवन, विचार तथा कार्य खड़ा है जैसे कि विचार कर्म से पहिले आता है ...... य
कहना कदाचित् अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि हीगल तथा उसके शिष्यों ने ज
विचार अभिव्यक्त किये और जिस बात की माँग की उसी को बिस्मार्क ने क्रियान्वि
किया।"†

हम पहले ही कह चुके हैं कि यह कहा जा सकता है कि बिस्मार्क की नीि
हीगल के सिद्धान्तों से प्रेरित हुई। इस प्रसंग में हमें यह भी याद रखना चाहिये ि
ट्रीटस्के (Treitscke) तथा ड्रॉयसन (Droysen) सरीखे उच्च कोटि के इतिहासकारों प
हीगल के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा था, यद्यपि इतिहास की व्याख्या में वे उस
मतभेद रखते थे। विधि तथा विधिशास्त्र के लेखकों पर भी उसके सिद्धान्तों का प्रभा
पड़ा। सेविग्नी (Savigny) ने, जिसने कि विधिशास्त्र की ऐतिहासिक प्रणाली क
प्रवर्तन किया और जोकि बर्लिन विश्वविद्यालय में हीगल का सहकर्मी था, अपने बहु
से विचार हीगल के राज्य के सिद्धान्त से लिये।

जर्मनी से बाहर भी हीगल को प्रशंसक और अनुयायी मिले। उसकी रचनाओं
का अंग्रेजी तथा यूरोप की अन्य भाषाओं में अनुवाद हुआ और कई देशों में हीगलवाद
तथा अर्द्ध-हीगलवादी विचार प्रणालियों का जन्म हुआ। इंगलैंड तथा इटली, इन देश
में हीगलवाद का राजनीतिक विचार पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। इङ्गलैंड में, जैस
कि हम पहिले ही कह चुके हैं, इसने दर्शन की धारा को एकदम एक नवीन दिशा क
ओर मोड़ दिया, जिसके फलस्वरूप टॉमस हिल ग्रीन के नेतृत्व में ऑक्सफर्ड आदर्शवाद
विचार प्रणाली की स्थापना हुई। परन्तु ग्रीन ने हीगल के कुछ विचारों को अंग्रेज
के स्वभाव के लिये अनुकूल न पाया और उसने राज्य के आदर्शवादी सिद्धान्त के ए
उदार रूप का निर्माण किया। उसके उत्तराधिकारी ब्रैड्ले तथा बोजान्के राज्य क

---

of the national state he became a source for conservative nationalism, culminat
ing in Fascism, which has swallowed up the liberal nationalism of the mid
nineteenth century."
—Sabine : *op. ct.*, page 621

† "At the portal of Bismarck's century stands the life, thought, and
activity of Hegel like the thought before the deed ...... It is not too much to
say that Bismarck carried out in fact what Hegel and his disciples expressed
and demanded."
—Quoted by McGovern : *op. ct.*, page 265

पूर्ण हीगलवादी धारणा के अधिक निकट आ गये। इटली में हीगलवाद को लोकप्रिय बनाने में मुख्य हाथ गत शताब्दी के मध्य मिलान विश्वविद्यालय के प्रो० ऑगस्टो वीरा और आगे चल कर बेनिडेटो क्रोच तथा गियोवान जेंटाइल (इन दोनों ने ही राज्य का गौरवगान किया है और दोनों की ही यह धारणा थी कि व्यक्तियों को योग्य बनाने में राज्य का सर्वप्रधान भाग होता है) का है। संयुक्त राज्य अमेरिका में मॉरिस, पामार, रॉयस तथा आगे चलकर जॉन डेवी इससे प्रभावित हुए।

हीगल के राज्य के सिद्धान्त के विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति, जोड के शब्दों में, यह है कि यह "सैद्धान्तिक रूप से गलत और तथ्यों के विरुद्ध है और परराष्ट्रनीति के क्षेत्र में वर्तमान राज्यों के सिद्धान्तहीन कार्यों को इससे मान्यता मिल सकती है।' यहाँ हमें इस आपत्ति की समीक्षा करनी चाहिये।

हीगल के सिद्धान्त का केन्द्रीय बिन्दु यह है कि विश्वात्मा के आत्म-विकास की प्रक्रिया में राज्य उसका अन्तिम रूप है। विश्वात्मा विवेक है और उसका तत्त्व स्वतंत्र है, इसलिये राज्य को विवेक तथा स्वतन्त्रता का साकार रूप होना चाहिये। स्वतंत्रता विवेकपूर्वक आचरण करने में है, इसलिये व्यक्ति सच्ची स्वतन्त्रता की पूर्ति चेतना-पूर्वक राज्य के कानूनों का पालन करके ही कर सकता है; 'उसका सर्वोच्च धर्म राज्य का घटक बनना है।' हमें यह सिद्धान्त सही मालूम होता है; इसका यह एक महान गुण है कि यह इस बात के ऊपर जोर देता है कि व्यक्ति अपने समुचित विकास के लिये राज्य पर निर्भर करता है और यह सिद्ध करता है कि वह व्यक्तिवादी सिद्धान्त जोकि राज्य को स्वार्थी और असम्बद्ध व्यक्तियों का एक समूह-मात्र समझता है, अपर्याप्त है। यह दिखलाकर कि व्यक्ति समाज के ऊपर निर्भर करता है और उसका राज्य से अलग होकर कोई अस्तित्व नहीं हो सकता; हीगल ने व्यक्तिवाद के इस दोष को एक बड़ी हद तक दूर कर दिया। निश्चित रूप से ही हीगल के सिद्धान्त के इस भाग को गलत नहीं समझा जा सकता, और न ही उसका यह आग्रह करना गलत है कि व्यक्ति 'विश्व-व्यापी तत्त्व के जीवन में वापस जाकर' अपने जीवन के विशिष्ट और आकस्मिक तत्त्वों से मुक्त हो जाता है। उसका राज्य के विकासवादी स्वरूप पर जोर देना भी उचित ही है; यह याद दिलाना अच्छा है कि संविधान कभी बनाये नहीं जाते बल्कि राष्ट्रीय भावना के विकास के साथ साथ उनका भी विकास होता है। उसका यह कथन भी कि कानून संप्रभु के आदेश से कुछ अधिक है और राजनीतिक हितों के समझौते से कुछ बढ़कर है, ठीक ही है। इसके अतिरिक्त उसकी इस धारणा के औचित्य में भी कोई सन्देह नहीं हो सकता कि राज्य को नागरिक समाज अथवा पुलिस राज्य से, जिसका सम्बन्ध आर्थिक जीवन और संविधान से है, कुछ बढ़कर होना चाहिये; उसे मनुष्य के नैतिक उद्देश्य का एक अंक समझा जाना चाहिये।

दूसरी ओर हीगल के सिद्धान्त के मुख्य दोष उसके यह मानने से उत्पन्न होते हैं कि (१) ब्रह्माण्ड के विकास की प्रक्रिया राष्ट्रीय-राज्य पर आकर रुक जाती है

जिसको वह सामाजिक संघटन का सर्वोच्च तथा सबसे अधिक पूर्ण रूप समझता है; और (२) यह कि वंशानुगत संवैधानिक राजतन्त्र शासन का सर्वोत्तम रूप है। जैसाकि हम पहले ही संकेत कर चुके हैं ये परिणाम हीगल ने अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं को द्वन्द्ववाद में आरोपित करके ही निकाले थे। उसके सिद्धान्त के मुख्य तत्त्व को कोई आघात पहुँचाये बिना ही इन परिणामों को निरस्त किया जा सकता है। हम प्रो० जोड के इस कथन से सहमत हैं कि मानव जाति की बढ़ती हुई आर्थिक परस्पर-निर्भरता के कारण राष्ट्रीय-राज्य की धारणा अब एक विडम्बना बनती जा रही है। वह लिखता है: "स्पष्ट है कि उस संसार को जिसको कि यांत्रिक साधन उत्तरोत्तर एक एकल आर्थिक प्रणाली बनाते जा रहे हैं आंतरिक आर्थिक एकता प्रदान करने के लिये एक एकल राजनीतिक संगठन की आवश्यकता है।"*

इसके अतिरिक्त हमारी समझ में हीगल की यह बात भी नहीं आती कि राज्य अपने नागरिकों तथा अन्य राज्यों के साथ व्यवहार रखने में नैतिक नियमों से स्वतन्त्र है। यदि राज्य स्वयं नैतिक नियमों का उल्लंघन करता है तो नैतिक मूल्यों के स्रष्टा तथा रक्षक के नाते उसका महत्त्व बहुत कम हो जायेगा। निस्संदेह यह तो सत्य है कि व्यावहारिक रूप में राज्य केवल आवश्यकता के अनुसार आचरण करते हैं, कानून के अनुसार नहीं; किन्तु यह मान लेना बड़ा कठिन है कि इस बात का कोई बुद्धिसंगत आधार है। इस तर्क में कोई औचित्य दिखाई नहीं पड़ता कि केवल राज्य ही एक ऐसा समुदाय है जिसे आवश्यकता और समय के अनुसार, बिना नैतिक नियमों पर ध्यान दिये हुए, किसी भी प्रकार का आचरण कर लेना चाहिये। राज्य के कार्यों की नैतिकता को स्वीकार किये बिना भी हम हीगल के राज्य के सिद्धान्त के मुख्य तत्त्व को स्वीकार कर सकते हैं। यदि हम यह मान लें कि कोई भी राज्य दूसरे राज्यों से सर्वथा अलग-अलग नहीं है और वे सभी संगठित संसार के तत्त्व हैं तो हम राज्य के एक अधिक सही सिद्धान्त पर पहुँच सकेंगे। दुर्भाग्यवश एक विश्व-व्यवस्था अभी तक एक दूर का सपना ही है; किन्तु इसे असम्भव समझकर ठुकराया नहीं जा सकता। इस विषय में हीगल शायद अपने अनुभव का बन्दी था जिसका अतिक्रमण वह न कर सका।

हीगल के द्वन्द्ववाद में भी कुछ ऐसी बातें हैं जिनके ऊपर आपत्ति की जा सकती है। द्वन्द्ववाद की एक विस्तृत समीक्षा करना दर्शन-शास्त्र का कार्य है, राजनीति विज्ञान का नहीं; इसलिये इसकी एक विशद व्याख्या करने का प्रयास हम नहीं करेंगे। विरोधी प्रवृत्तियों और उद्देश्यों में सामंजस्य स्थापित करके मानव-जाति उन्हें किस प्रकार एक उच्चतर इकाई में संयुक्त करती है, इसकी व्याख्या के रूप में द्वन्द्ववाद सामान्य रूप से उचित ही है। जहाँ तक कि यह सिद्धान्त यह मानता है कि

* "A world which technical factors are welding increasingly into a single economic system requires, it is obvious, a single political organisation to give effect to the underlying economic unity."

—Joad : *Guide to Morals and Politics*, page 747.

मानव समाज को ठीक प्रकार से समझने के लिये हमें समाज को एक ऐसी चीज समझना चाहिये जिसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है और जिसका निरन्तर विकास होता रहता है और समाज को हम उसके भूत के इतिहास के प्रकाश में ही समझ सकते हैं, यह उन पुराने सिद्धान्तों से कहीं अच्छा है जिनके अनुसार प्रगति एक सरल रेखा में होती रहती है। हीगल ने श्रेणियों (Categories) का जो निगमन किया है वह कहीं-कहीं खींचातानी सा तो अवश्य दिखाई देता है; किन्तु संसार तथा मानव इतिहास की धारा की व्याख्या की एक पद्धति के रूप में हमें उसे सर्वथा निरस्त नहीं कर देना चाहिये। हमें ऐतिहासिक आवश्यकता, जोकि द्वन्द्ववाद का एक अभिन्न अंग है, में विश्वास को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लेना अवश्य कठिन प्रतीत होता है। इस बात को मान लेना सरल नहीं है कि संसार के विकास का सम्पूर्ण क्रम आत्मा के आन्तरिक स्वरूप की आवश्यकता का परिणाम है और उसके ऊपर मानव इच्छा तथा उद्देश्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसका अभिप्राय तो यह होगा कि विश्व एक आवृत्त चीज है। एक ऐसे जगत में रहना जिसका सम्पूर्ण व्यापार एक आन्तरिक आवश्यकता के कारण चलता है और जिस पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है, जिस पर हम कोई प्रभाव नहीं डाल सकते, तो हमें बहुत सुखद और आकर्षक प्रतीत नहीं होता। वेपर के शब्दों में हीगल का सिद्धान्त तो हमें 'इस विश्वास की ओर ले जाना चाहता है कि जो कुछ है ठीक है क्योंकि यह समय-विशेष के विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया का सूचक है। यदि ऐसे विचार को निष्क्रिय होकर स्वीकार कर लिया जाता है तो स्वयं प्रक्रिया का अन्त हो जाने का भी खतरा उत्पन्न हो जाता है।' द्वन्द्व के विरुद्ध एक अन्य आपत्ति भी ध्यान देने योग्य है। हीगल ने इसका प्रयोग यह सिद्ध करने के लिये किया है कि राज्य **दैविक प्रज्ञा** (Divine Reason) की उच्चतम तथा पूर्णतम अभिव्यक्ति है और इसलिये इसे सम्पूर्ण राष्ट्रीय विकास का उद्देश्य समझा जाना चाहिये। जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, पद्धति तथा परिणाम—द्वन्द्व तथा राज्य का आदर्शीकरण हीगल की प्रणाली में इस प्रकार एकीकृत कर दिये गये कि इनको एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। परन्तु कार्ल मार्क्स ने इन दोनों को अलग-अलग कर दिया; उसने द्वन्द्व को तो मान लिया परन्तु वह एक ऐसे परिणाम पर जा पहुँचा जोकि हीगल के परिणाम से एकदम भिन्न था। मार्क्स में जाकर यह समाज के एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण तथा दास बनाने के यन्त्र के रूप में राष्ट्र-राज्य की निन्दा का आधार बन गया। जब हम यह देखते हैं कि द्वन्द्ववाद में से दो विरोधी परिणाम निकाले जा सकते हैं तो उसमें हमारा विश्वास बुरी तरह हिल उठता है; किसी भी ऐतिहासिक स्थित को 'थीसिस', 'एंटीथीसिस' अथवा 'सिन्थेसिस' समझा जा सकता है, यह तो भाष्यकर्त्ता-विशेष के द्वारा उसके मूल्यांकन पर निर्भर करता है। द्वन्द्ववाद की अस्पष्टताओं और अनिश्चितताओं को प्रो० वेपर ने इस प्रकार व्यक्त किया है :—

"हम इस परिणाम पर भी पहुँच सकते हैं कि जिस प्रकार १८वीं शताब्दी में

नैसर्गिक कानून का सिद्धान्त इसलिये लोकप्रिय हो गया था क्योंकि इसमें से हम सब लोग अपनी इच्छानुसार न्याय के सिद्धान्तों को निकाल सकते थे, इसी प्रकार १९वीं और २०वीं शताब्दियों में **द्वन्द्ववाद** इसलिये जनप्रिय हुआ क्योंकि इसमें से लोग अपनी भावना के अनुकूल इतिहास में से मनुष्य तथा राज्य के सम्बन्ध के सिद्धान्त निगमित कर सकते थे।"*

अन्त में हम उस आरोप की समीक्षा कर सकते हैं जोकि हीगल के विरुद्ध आमतौर से लगाया जाता है। वह यह कि स्वतन्त्रता को आज्ञापालन के साथ एकरूप करके वह स्वतन्त्रता सिद्धान्त की धार को मोड़ देता है। मेक्गवर्न कहता है कि यह उद्घोषणा करके कि जो कुछ है सही है हीगल राज्य के प्राधिकार को महान् पवित्रता और मान्यता प्रदान कर देता है; और इसमें से बड़ी सरलता के साथ यह परिणाम निकाला जा सकता है कि व्यक्ति के लिये राज्य की आलोचना करना, उसका विरोध करना अथवा उसकी अवज्ञा करना कभी भी उचित नहीं हो सकता। यह कहना गलत न होगा कि १७वीं शताब्दी के दैविक अधिकार के सिद्धान्त को हीगल ने एक नवीन रूप में पुनर्जीवित कर दिया है। इसी तरह जोड कहता है: "राज्य का निरपेक्ष सिद्धान्त व्यक्ति की स्वतन्त्रता का शत्रु है, क्योंकि जब भी व्यक्ति और राज्य में कोई संघर्ष उत्पन्न होता है तो इसके अनुसार राज्य अवश्य ही सही होना चाहिये।"†

हम देख चुके हैं कि इसी प्रकार की आपत्ति रूसो की **सामान्य इच्छा** के विरुद्ध उठाई जा सकती है कि इसका परिणाम निकृष्टतम आततायीतन्त्र हो सकता है। हीगल के विरुद्ध आरोप का भी हम वही उत्तर दे सकते हैं जोकि रूसो के विरुद्ध आरोप का दिया गया था। केवल सैद्धान्तिक रूप से व्यक्ति की वास्तविक इच्छा और राज्य की इच्छा में कोई संघर्ष हो ही नहीं सकता; वे दोनों ही विश्व-चेतना की अभिव्यक्ति तथा स्वतन्त्रता का मूर्त्त रूप हैं। किन्तु इससे उन आलोचकों को कोई सन्तोष नहीं हो सकता जिनका कहना यह है कि यथार्थ राज्य हीगल के आदर्श राज्य से बहुत दूर हैं; उन दोनों में बहुत फासला है। दक्षिणी अफ्रीका या भारत में सत्याग्रहियों से यह कहना कि जिस राज्य की वे अवज्ञा कर रहे थे वह पृथ्वी पर ईश्वर की यात्रा है और इसलिये उसकी आज्ञा का पालन होना चाहिये, एक निर्दय उपहास होता। हीगल का सिद्धान्त कल्पना जगत् में तो सही हो सकता

* "We may even conclude that just as the doctrine of Natural Law was popular in the 18th century because it allowed all men to deduce from Nature those principles of justice which appealed to them, so the Dialectic became popular in the 19th and 20th centuries because it enabled men to deduce from history those theories of man in relation to the state which they wished to see generally accepted." —Wayper : *op. ct.*, page 172.

† "The Absolute Theory of the State is inimical to individual freedom, because, whenever a conflict occurs between an individual and the state, it takes the view that the latter must inevitably be right."
—Joad : *Introduction to Modern Political Theory*, page 19.

है किन्तु वास्तविक व्यवहार में उसको लागू नहीं किया जा सकता। इसका मुख्य दोष यही है कि यह जीवन के तथ्यों पर लागू नहीं होता।

इस आपत्ति में बल है, इसे एकदम ठुकराया नहीं जा सकता। किन्तु किसी भी व्यक्ति ने गति के प्रथम नियम को इस आधार पर तो गलत नहीं कहा कि यथार्थ जीवन में उसका पूर्ण उदाहरण कहीं नहीं मिलता। और न ही हम इस सिद्धान्त को कि एक त्रिभुज के तीन कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होते हैं, इस आधार पर ठुकराते हैं कि एक नौसिखिये के द्वारा खींचे हुए त्रिभुज के तीन कोण नाप में इतने नहीं उतरते। इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि क्षणिक भावनाओं की दासता से बचने के लिये मनुष्य को इतनी सच्ची अथवा वास्तविक आत्मा की स्थायी इच्छाओं का अनुसरण करना चाहिये और ऐसा पूर्ण रूप से तभी हो सकता है जबकि मनुष्य सामाजिक नैतिकता, जिसकी अभिव्यक्ति राज्य के कानूनों द्वारा होती है, के अनुकूल आचरण करे। हीगल के सिद्धान्त में एक आधारभूत सत्य है। इसके अतिरिक्त हमें यह भी याद रखना चाहिये कि हीगल के अनुसार स्वतन्त्रता राज्य के कानूनों का निष्क्रिय रूप से पालन करने में नहीं है; यदि ऐसा होता तो गुरुत्वाकर्षण के नियम का पालन करने में पत्थर भी स्वतन्त्र हो जाते। स्वतन्त्रता का अनुभव करने के लिये तो मनुष्य को कानूनों का पालन स्वेच्छापूर्वक करना चाहिये, स्वेच्छा-पूर्ण आज्ञापालन के बिना आत्म-निर्णय नहीं हो सकता। इस प्रकार निष्क्रिय आज्ञा-पालन का खतरा, जिस पर कि कुछ आलोचक ज़ोर देते हैं, दूर हो जाता है। यदि किसी व्यक्ति के विचार में राज्य के कानून आदर्श नहीं हैं, और वे प्रजा की अभिव्यक्ति नहीं हैं तो उसका उनकी अवहेलना करना उचित होगा। परन्तु हीगल यह परिणाम नहीं निकालता; इसे स्पष्ट रूप से ग्रीन ने निकाला है। इसलिये हम ग्रीन के सिद्धान्त को हीगल से अच्छा समझ सकते हैं। जिन स्थितियों में ग्रीन व्यक्ति के राज्य की अवज्ञा के अधिकार को स्वीकार करता है, उनका वर्णन अगले अध्याय में किया जायेगा।

अन्त में, हीगल के सिद्धान्त का एक अन्य दोष भी ध्यान देने योग्य है। वह राज्य को सामाजिक नैतिकता की सर्वोच्च अभिव्यक्ति और अङ्ग समझता है। इसलिये यह समस्त नागरिकों के जीवन को समस्त रूपों में और समस्त समूहों को नियन्त्रित करता है। उसके इस दावे का कि राज्य जीवन के सर्वोच्च नैतिक मूल्यों का मूर्त्त रूप है, इसके अतिरिक्त और कोई अभिप्राय नहीं हो सकता। इस परिणाम पर पहुँचने में हीगल पर अफलातून के विचार का बड़ा प्रभाव पड़ा था। हम समझ सकते हैं कि यूनान का नगर-राज्य किस प्रकार नागरिकों के सम्पूर्ण जीवन को समाविष्ट कर सकता था और उसकी समस्त क्रियाओं का केन्द्र बन सकता था। परन्तु हीगल यह नहीं बतलाता कि आधुनिक राष्ट्र-राज्य, जोकि न केवल बृहदाकार है बल्कि जो अव्यक्तिगत है, किस प्रकार आधुनिक मनुष्य के समस्त हितों का केन्द्र बन सकता है, अथवा मैवाइन के शब्दों में "किस प्रकार नागरिकता व्यक्तिगत नैतिकता

के समस्त रूपों को सम्मिलित कर सकती है और ढक सकती है, जैसा कि नगर राज्य में प्रायः होता था।" असंख्य समुदायों के उत्थान, जोकि मनुष्य अपने आर्थिक और नैतिक हितों की पूर्ति के लिये बनाते हैं और जो उनके जीवन पर गहरा प्रभाव डालते हैं, और व्यक्ति के जीवन में बहुत से ऐसे तत्त्वों के विकास, जोकि राज्य के विरोधी हैं, उसके प्रभाव को काफी कम करते हैं। इनमें एक सबसे महत्त्व-पूर्ण तत्त्व यह भावना है कि व्यक्ति का धार्मिक जीवन राज्य के नियन्त्रण से मुक्त रहना चाहिये। रोमन कैथोलिक चर्च, थ्योसोफिकल सोसाइटी तथा क्रिश्चियन साइन्स ऑर्गनाइजेशन जैसे संगठनों में विभिन्न राष्ट्र-राज्यों के घटक सम्मिलित हैं। 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन', विश्व न्यायालय, राष्ट्र संघ तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की बहुत सी सामाजिक तथा आर्थिक शाखाओं का उदय ऐसा तथ्य है जिसकी कि हीगल कोई सन्तोषजनक व्याख्या नहीं कर सकता। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि एक हद तक हीगल की यह धारणा कि राष्ट्र-राज्य सामाजिक संगठन का सर्वोत्कृष्ट तथा सबसे अधिक पूर्ण रूप है, आधुनिक जीवन के तथ्यों के अनुकूल नहीं है। बहुत प्रकार से व्यक्तियों के जीवन में राज्य का भाग उससे कम होता जा रहा है जोकि हीगल उसे देता है। एक बहुत बड़ी हद तक राज्य के आदर्शवादी सिद्धान्त की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही बहुलवादी सिद्धान्तों का जन्म हुआ है।

तीसरी यह युक्ति दी जाती है कि यह सिद्धान्त राज्य के सिद्धान्तहीन कार्यों को, विशेष रूप से पर-राष्ट्र सम्बन्धी क्षेत्र में, एक खतरनाक मान्यता प्रदान करता है। हीगल को अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता में कोई विश्वास नहीं, वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हित साधना के सिद्धान्त को निर्णायक मानता है और युद्ध की प्रशंसा करता है। उसकी उन बातों का पर-राष्ट्र सम्बन्धी क्षेत्र में राज्य के सिद्धान्तहीन कार्यों को उचित सिद्ध करने के लिये प्रयोग किया जा सकता है। परन्तु हमारे विचार में यह हीगल के सिद्धान्त का मूल तत्त्व नहीं है, राज्य के आदर्शवादी सिद्धान्त से यह परिणाम निकलना स्वाभाविक नहीं है; इसका खण्डन करने के लिये हमें इस सिद्धान्त का परित्याग करने की आवश्यकता नहीं कि राज्य बुद्धि की वस्तुमूलक अभिव्यंजना है और उसके कानूनों का पालन करना व्यक्ति को सच्ची स्वतन्त्रता की प्राप्ति में सहायता देता है।

इस प्रसंग में यह आरोप भी उल्लेखनीय है कि हीगल का सिद्धान्त व्यक्ति को राज्य का दास बनाता है और उसे राज्य के वैभव के लिये एक साधन मात्र बना देता है, और वह राज्य की निरंकुशता और मनमानी के द्वार खोल देता है। आलोचक-गण फासिस्ट राज्य को हीगल द्वारा राज्य की प्रशंसा की एक बुरी सृष्टि समझते हैं। हम पहले ही इस विचार की समीक्षा कर चुके हैं कि हीगल व्यक्ति को राज्य का दास बताता है। यह उसके सिद्धान्त की न्यायपूर्ण व्याख्या प्रतीत नहीं होती, यद्यपि उसके लेखों के कुछ अवतरणों से ऐसा दिखलाई पड़ता है कि वह राज्य को अपने में ही साध्य समझता था। निस्सन्देह फासिस्ट राज्य व्यक्ति को अपनी महा-

नता और वैभव के लिये एक साधन मात्र समझता है, और उसके दर्शन से हीगलवाद का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से झलकता है, परन्तु बच्चों के पाप का दण्ड माता-पिता को नहीं दिया जा सकता, फासिस्ट सिद्धान्त में जो भी कलुषित है उस सब के लिये हीगल को उत्तरदायी ठहराना न्याय-संगत नहीं होगा। यदि हम हीगल की स्वतन्त्रता को कानून के स्वेच्छापूर्वक पालन में देखने को गलत नहीं समझते तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि हम हीगलवाद के नाम पर राज्य के किसी भी अत्याचार को उचित समझते हैं। हम चाहे हीगल से सहमत हों या न हों, किन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं कि इस बात पर जोर देकर कि स्वतन्त्रता एक सामाजिक सृष्टि है और राज्य के कानूनों तथा संस्थाओं में अभिव्यक्त सामाजिक प्रणाली के अनुसार आचरण किये बिना हम अपने वास्तविक स्वरूप और नैतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति नहीं कर सकते, हीगल ने राजनीतिक विचार की एक महान् सेवा की है।

सहायक पुस्तकों की भूमि

Joad : *Introduction to Modern Political Theory*, Chapter I.
Joad : *Guide to Morals and Politics*, Chapter XV, Chapter XVIII.
McGovern : *From Luther to Hitler*.
Sabine : *A History of Political Theory*, Chapter XXX.
Stace : *Philosophy of Hegel*.
Vaughan : *History of Political Thought*, Vol. II.
Wayper : *Political Thought*, pages 152–173.

आदर्शवादी विचारधारा (पिछला शेष) ४

अंग्रेज आदर्शवादी— ग्रीन तथा बोजान्के

परिचयात्मक— हम गत अध्याय में देख चुके हैं कि यद्यपि हीगलवाद के विरुद्ध यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि उसमें बुद्धि की स्तुति है, अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता से इन्कार किया गया है और अपने नागरिकों के साथ बर्ताव करने में राज्य को नैतिक नियमों से मुक्त कर दिया गया है, इसमें कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिनका मूल्य स्थायी है। सारांश यह है कि उसका मूल तत्त्व सही है। यद्यपि हीगल के राज्य का झुकाव रूढ़िवाद की ओर है, यह निश्चित रूप से विकासवादी है, यह राज्य को एक विकासमय सत्ता समझता है। उसने व्यक्ति की समाज के ऊपर निर्भरता पर ज़ोर दिया और ऐसा करके उन व्यक्तिवादी सिद्धान्तों में एक महत्त्वपूर्ण सुधार किया जो कि राज्य को असम्बद्ध व्यक्तियों का एक समूह मात्र समझते हैं, उसने इस सत्य का भी आग्रह किया कि व्यक्ति सामाजिक शक्तियों में ही रहता है, गति करता है और अपना अस्तित्व रखता है जिनमें से कि वह अपने व्यक्तित्व के तत्त्व भी प्राप्त करता है। इसके लिये हीगल श्रेय का पात्र है। इसी प्रकार उसका यह कथन भी ठीक ही है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एक सामाजिक घटना है और उसमें उन सामाजिक संस्थाओं से अलग होकर कोई तत्त्व नहीं हो सकता जो कि हमें नागरिकता की शिक्षा और दीक्षा देती हैं। राजनीति को 'हितों के समझौते मात्र से कुछ बढ़ कर' तथा कानून को 'केवल आवेश से कुछ अधिक' समझ कर उसने राजनीतिक विचार की महान् सेवा की है। उसका यह सिद्धान्त, कि राज्य को एक पुलिस का सिपाही मात्र न समझ कर 'मनुष्य के नैतिक लक्ष्य का एक अंश' समझना चाहिये, वास्तव में महान् है।

इसलिये हीगलवाद का बहुत से देशों में फैल जाना नितान्त स्वाभाविक था। इङ्गलैण्ड में इसका प्रवेश हचिसन स्टर्लिंग ने अपनी मेधावी रचना 'दी सीक्रेट ऑफ हीगल' द्वारा कराया, जो कि १८६६ ई० में प्रकाशित हुई थी। परन्तु कुछ समय तक उसने कोई प्रगति नहीं की। अधिकारवाद की ओर उसकी प्रवृत्ति और उसकी राज्य को अपने में ही साध्य समझने की धारणा ने अंग्रेजों को आकृष्ट नहीं किया, जिनके परम्परागत दर्शन की प्रवृत्ति उदारवाद की ओर थी। इङ्गलैण्ड की भूमि में इसकी जड़ जमने से पहिले यह आवश्यक था कि इसके कुछ आपत्तिजनक तत्त्वों को इसमें से दूर किया जाय। हीगलवाद के आधारभूत सिद्धान्तों को इस प्रकार व्यक्त करना जिससे कि वे अंग्रेज मस्तिष्क के लिये ग्राह्य हो सकें टॉमस हिल ग्रीन का कार्य था। उसने इस उद्देश्य की सिद्धि (१) राज्य को कर्म-निरपेक्ष बना कर तथा व्यक्ति को

एक साध्य समझ कर, (२) व्यक्ति के अधिकारों को अधिक सुरक्षित करके, तथा (३) यह मान कर कि कुछ स्थितियों में राज्य की अवज्ञा करना उचित है, की। इस प्रकार ग्रीन ने हीगल के दार्शनिक आदर्शवाद और उसके राज्य के सामान्य सिद्धान्त को तो अपना लिया, किन्तु अपनी राजनीति में वह एक उदारवादी ही बना रहा। यह कहा जा सकता है कि उसने दार्शनिक आदर्शवाद और राजनीतिक उदारवाद का सम्मिश्रण कर दिया। एक दार्शनिक के रूप में ग्रीन एक नवीन हीगलवादी है, किन्तु ब्रिटिश परम्परागत उदारवाद को अपनाये रखने के कारण उसे हम जॉन स्टूअर्ट मिल तथा स्पेन्सर की कोटि में रख सकते हैं। ब्रैडले तथा बोजान्के ग्रीन के सिद्धान्तों से आरम्भ करते हैं, किन्तु उन्हें पूर्णतर हीगलवादी की दिशा में विकसित करते हैं।

टॉमस हिल ग्रीन (Thomas Hill Green)

उसका जीवन तथा रचनायें— ग्रीन का जन्म १७ अप्रैल, १८३६ ई० को यार्कशायर के एक पादरी परिवार में हुआ और १८८२ ई० में ४६ वर्ष की युवावस्था में उसका देहान्त हो गया। सर्वप्रथम उसने अपनी शिक्षा अपने जन्म नगर में ही प्राप्त की जहाँ कि वह १४ वर्ष की अवस्था तक रहा, फिर उसने रगवी में ५ वर्ष व्यतीत किये और अन्त में वह बेलिओल कालिज, ऑक्सफोर्ड में भरती हो गया जहाँ कि वह महान् बेन्जामिन जोवेट के प्रभाव में आया। वह १८६० ई० में बेलिओल का फैलो (Fellow) और १८६६ ई० में ट्यूटर (Tutor) बन गया और अन्त में १७७८ ई० में उसे दर्शनशास्त्र का प्राध्यापक बना दिया गया। ऑक्सफोर्ड में दर्शनशास्त्र के ऊपर व्याख्यान देने के अतिरिक्त ग्रीन नगर के नागरिक विषयों में सक्रिय दिलचस्पी लेता था। वह ऑक्सफोर्ड की टाउन काउन्सिल के लिये निर्वाचित हो गया और उस नाते उसने कई वर्षों तक बहुत उपयोगी कार्य किया। वह ऑक्सफोर्ड स्कूल बोर्ड का एक क्रियाशील सदस्य था और **'सिटी ऑफ ऑक्सफोर्ड स्कूल फॉर बॉयज'** की स्थापना करने में उसका मुख्य हाथ था। उदारवादी दल के लिये आन्दोलन के लिये व्याख्यानदाता के रूप में उसने देश के राजनीतिक जीवन में भाग लिया, परन्तु उसने संसद् की सदस्यता के लिये चुनाव नहीं लड़ा। नशेबन्दी के लिये भी उसने उत्साहपूर्वक कार्य किया। १८७५ ई० में उसने नगर में असंख्य सार्वजनिक गृहों के मुकाबले में एक काफी गृह खोला और वह **'ऑक्सफोर्ड बैंक ऑफ होप टेम्परेन्स यूनियन'** का अध्यक्ष बन गया। १८६४–६५ में उसने बर्मिघम के स्कूलों के निरक्षण का कार्य अपने हाथ में लिया। इन बहुपक्षी क्रियाओं का उसके विचार पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने अनुभव किया, जैसा कि थोड़े ही विचारक अनुभव कर सके कि आधुनिक लोकतन्त्र को सफल बनाने के लिये सर्वसाधारण का सार्वजनिक क्षेत्र में निष्काम सेवा करना अति आवश्यक है। 'ऑक्सफोर्ड टाउन काउन्सिल' का सदस्य होने के नाते उसने जो अनुभव प्राप्त किया था उसने उसे एक सच्चा लोकतन्त्रवादी

बना दिया और उससे उसे राज्य के स्वरूप को अधिक अच्छी तरह समझने में भी सहायता मिली। उसकी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रचनायें हैं: 'Prolegomena to Ethics' तथा 'Lectures on the Principles of Political Obligation'। ये लैक्चर उसने १८७९–८० में दिये थे और उसके मरने के बाद १८८२ में वे प्रकाशित हुए। उसका विचार एक क्रमबद्ध इकाई है और उसे तीन भागों में बाँटा जा सकता है: अध्यात्मशास्त्र, आचारशास्त्र तथा राजनीति दर्शन। इन तीनों में आचारशास्त्र वाला भाग सबका केन्द्र है। उसका मुख्य उद्देश्य है— मनुष्य के सच्चे उद्यम की खोज करना तथा उसे पूरा करने के लिये सर्वोत्तम साधन का पता लगाना। परन्तु यह जानने के पहिले कि सच्चा मानव कल्याण किस बात में है, हमें सर्वप्रथम इस बात की खोज करनी चाहिए कि व्यक्ति का तथा ब्रह्माण्ड का वास्तविक स्वरूप क्या है और ब्रह्माण्ड में व्यक्ति का क्या स्थान है। इसलिये आचारशास्त्र से पहिले अध्यात्मशास्त्र आना चाहिए। मानव जीवन के सच्चे लक्ष्य का पता लगाकर ग्रीन सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन की उन स्थितियों का निर्णय करता है जिनमें कि उस लक्ष्य की सिद्धि सर्वोत्तम ढंग से हो सकती है। इस प्रकार उसका नैतिक दर्शन राजनीतिक दर्शन अथवा राज्य सिद्धान्त की ओर जाता है। राजाज्ञा पालन के सिद्धान्तों पर उसके व्याख्यानों का ध्येय 'कानून के नैतिक कार्य अथवा उद्देश्य की समीक्षा करना' या उस लक्ष्य पर विचार करना जिसकी सिद्धि उन अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की प्रणाली करती है जिन्हें राज्य क्रियान्वित करता है, और ऐसा करने में 'कानून के मानने के औचित्य के आधार का पता लगाना' था। यहाँ पर हमारा मुख्य उद्देश्य ग्रीन के राज्य सिद्धान्त की समीक्षा करना है; उसके आध्यात्मिक तथा नैतिक विचारों का उल्लेख तो केवल वहीं तक किया जायेगा जहाँ तक कि राज्य सिद्धान्त को समझने के लिये आवश्यक होगा, परन्तु उसके नैतिक तथा राजनीतिक सिद्धान्तों के आध्यात्मिक आधार की विवेचना करने से पूर्व ग्रीन के विचार के स्रोतों का एक संक्षिप्त विवरण दे देना वांछनीय होगा। इससे उसके विचारों को अधिक अच्छी तरह समझने में सहायता मिलेगी।

ग्रीन के विचार के स्रोत— अपने पूर्ण रूप में ग्रीन का दर्शन तीन विभिन्न स्रोतों से प्रेरित हुआ प्रतीत होता है। इसमें प्रथम स्थान प्रो० बार्कर सर्वश्रेष्ठ यूनानी ग्रन्थों को देता है। अफलातून की 'रिपब्लिक', तथा अरस्तू की 'एथिक्स' और 'पालिटिक्स' आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के पाठ्यक्रम का भाग थीं, जहाँ कि पीढ़ियों तक विद्यार्थीगण इन महान् विचारकों द्वारा प्रतिपादित इन महान् सत्यों को सीखते रहे कि मनुष्य स्वभावतः एक राजनीतिक प्राणी है, कि राज्य सदाचार की साझेदारी है, कि कानून विशुद्ध तथा निर्विकार बुद्धि की अभिव्यक्ति है, और धर्म प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने सामाजिक कर्त्तव्य का पालन करने में है। इस प्रकार ग्रीन के राजनीतिक आदर्शवाद का अन्तिम आधार हम अफलातून और अरस्तू के लेखों में पाते हैं। दूसरा महत्त्वपूर्ण स्रोत था जर्मन आदर्शवाद जिसके तीन महान्

प्रतिनिधि— कान्ट, फिक्टे तथा हीगल थे। ग्रीन के दर्शन की यह मुख्य धारणा, कि ब्रह्माण्ड एक एकल नित्य क्रिया है, हीगल से ली गई है। ग्रीन के अनुसार हीगल ने जिस महत्त्वपूर्ण सत्य का प्रतिपादन किया वह उसी के शब्दों में यह है "कि केवल एक आत्म-चेतना-सम्पन्न प्राणी है जिसकी कि वह प्रत्येक वस्तु जो वास्तविक है एक लीला अथवा अभिव्यक्ति है; कि हम इस प्राणी से केवल संसार (जोकि इसकी अभिव्यक्ति है) के अंगों के रूप में ही सम्बन्धित नहीं हैं बल्कि एक मात्रा में उस आत्म-चेतना के भागीदार नहीं हैं जिसके द्वारा यह अपने को बनाती है और साथ ही साथ अपने में तथा संसार में विभेद करती है; और यह भाग लेना नैतिकता तथा धर्म का स्रोत है।"*

परन्तु केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही ग्रीन ने हीगलवाद को अपनाया है; और इस क्षेत्र में भी उसने हीगल के द्वन्द्ववाद को उस प्रक्रिया का विवरण नहीं समझा जिसके द्वारा अन्तिम आत्म-चेतन प्राणी अपने आपको प्रस्फुटित या विकसित करता है। नैतिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में ग्रीन हीगल की अपेक्षा कान्ट का अनुसरण अधिक करता है। उसका चिन्तन कान्ट के दृष्टिकोण से आरम्भ होता है और वह कान्ट के उस स्वतन्त्र इच्छा के सिद्धान्त पर आधारित है जिसके कारण मनुष्य सदैव अपने को साध्य समझता है। कान्ट की भाँति ग्रीन भी एक सच्ची मूल्यवान वस्तु सद् इच्छा को ही समझता है। राज्य के कार्यों के अपने इस सिद्धान्त में कि राज्य का कार्य बाधाओं को रोकना है ग्रीन मुख्य रूप से कान्टवादी ही दिखलाई पड़ता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं समझ लेना चाहिये कि उस पर हीगल का प्रभाव नहीं पड़ा। ग्रीन के विचार पर हीगल का एक निर्णायिक प्रभाव पड़ा है। यह कहा जा सकता है कि ग्रीन एक ऐसा कान्टवादी था जिसने कान्ट का अध्ययन हीगल के चश्मे लगाकर किया।

ग्रीन का तीसरा प्रेरणा-स्रोत था जीवन की विभिन्न समस्याओं के प्रति परम्परा-विरोधियों (Non-conformists) का दृष्टिकोण। यदि हीगल ने उसके दार्शनिक आदर्शवाद को और कान्ट ने उसके राजनैतिक विचार को आधार प्रदान किया तो परम्परा-विरोधियों ने उसके राजनैतिक विचार पर गहरा प्रभाव डाला। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि 'स्वतंत्रता' तथा 'नैतिकता' इन दो शब्दों के लिये प्रेम उसके हृदय में उन्होंने जाग्रत किया था। परम्परा-विरोधी अपने चर्चों को 'स्वतन्त्र चर्च' कहकर पुकारते थे और नैतिकता पर बहुत जोर देते थे। उनकी माँग थी कि राज्य को मदिरापान, घुड़दौड़ तथा जुएबाजी पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिये, वे भूमि के

* "That there is one spiritual self-conscious being, of which all that is real is that activity or expression; that we are related to this being, not merely as parts of the world which is its expression, but as partakers in some inchoate measure of the self-consciousness through which it at once constitutes and distinguishes itself from the world; and that this participation is the source of morality and religion."

ऊपर व्यक्तिगत स्वामित्व के घोर विरोधी थे, यद्यपि निजी पूंजी से उन्हें उतनी चिढ़ न थी। ग्रीन, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, व्यक्तिगत पूंजी का समर्थक था, किन्तु भूमि के निजी स्वामित्व का विरोधी था। इससे यह बात स्पष्ट है कि नशे-बन्दी, सम्पत्ति, नैतिकता इत्यादि के सम्बन्ध में अपने विचारों में ग्रीन को परम्परा-विरोधियों के दृष्टिकोण से बड़ी सहायता मिली थी, यद्यपि वह स्वयं स्थापित चर्च का घटक था।

ग्रीन के प्रेरणा-स्रोतों के इस संक्षिप्त दिग्दर्शन के पश्चात् अब हम उसकी पूर्ण प्रणाली की विवेचना आरम्भ कर सकते हैं। जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है, उसके तीन अंग हैं: अध्यात्मशास्त्र, आचारशास्त्र तथा राजनीतिक दर्शन। हम सबसे पहिले उसके आध्यात्मिक सिद्धान्त और तद्जनित उसके नैतिक विचारों का वर्णन करेंगे और तब उसके राजनीतिक दर्शन की समीक्षा करेंगे।

ग्रीन का आध्यात्मिक सिद्धान्त— ग्रीन के आध्यात्मिक सिद्धान्त का आरम्भ-बिन्दु कान्ट का यह विश्वास है कि अन्तिम सत्य को विशुद्ध बुद्धि तथा यदा-कदा आत्मानुभूति के आलोक-खण्ड द्वारा जाना जा सकता है, अनुभवप्रधान अथवा आग-मनात्मक रीति द्वारा नहीं। इस प्रकार वह ह्यूम के अनुभवप्रधान अथवा कम्पन-वादी दृष्टिकोण के विरुद्ध था। वह स्पेन्सर के विकासवादी दृष्टिकोण का भी उतना ही विरोधी था। उसकी धारणा थी कि यदि हम मनुष्य को भौतिक प्रकृति का एक अंशमात्र समझते हैं और उसकी क्रियाओं को केवल प्राकृतिक घटनाएँ मानते हैं तो हम उसके तथा विश्व के, जिसका कि वह एक अंश है, वास्तविक स्वरूप को नहीं समझ सकते। मानव स्वभाव के विश्लेषण में ग्रीन का आधारभूत आरम्भ-बिन्दु मनुष्य की आत्मचेतना है। मनुष्य शेष प्राणी जगत् के आत्मचेतन होने में तथा यह जानने में कि उसमें चेतना है, भिन्न है। निम्न कोटि के प्राणी केवल चेतना रखते हैं, वे दुःख, सुख, भूख, सर्दी, गर्मी महसूस करते हैं और उनके ऊपर बाहरी बातों की प्रतिक्रिया होती है, किन्तु वे इस तथ्य से अवगत नहीं होते कि वे सुखी हैं अथवा दुःखी और न ही उन्हें अपनी भूख का विचारात्मक ज्ञान होता है। इस वसुन्धरा पर आत्म-चेतना का गौरव केवल मानव को ही प्राप्त है। अब, आत्म-चेतना में यह बात निहित है कि मानव अनुभव में एक आत्मा होती है जिसे चेतना की क्षणिक स्थितियों से एकाकार नहीं किया जा सकता। यह वह केन्द्र है जोकि चेतना की प्रत्येक स्थिति का आधार है। 'मैं सोचता हूँ', 'मैं अनुभव करता हूँ', 'मैं निर्णय करता हूँ' इत्यादि वाक्यों में 'मैं' का अभिप्राय इसी केन्द्र से होता है। यही वह तत्त्व है जो सोचता है, अनुभव करता है, निर्णय करता है और इन सब में वर्तमान रहते हुये इन सबको एक इकाई में एकीकृत कर देता है। इस 'मैं' की संश्लेषणात्मक क्रिया के अभाव में किसी भी वस्तु का एक एकीकृत सम्पूर्ण इकाई के रूप में, जिसका कि ज्ञाता आत्मा तथा ज्ञान जगत की अन्य वस्तुओं के साथ सम्बन्ध है, कोई ज्ञान नहीं हो सकता था। आत्मा हमारे अनुभव के विभिन्न तत्त्वों को एक क्रमबद्ध इकाई में इसी प्रकार

एकीकृत कर देता है जिस प्रकार कि एक धागा विभिन्न मनुष्यों को पिरोकर एक माला का रूप देता है। इस संश्लेषणात्मक सिद्धान्त को ग्रीन आध्यात्मिक कहता है क्योंकि इसका कार्य हमारे अनुभव के विविध तत्त्वों में विचार-सम्बन्ध स्थापित करना है, कोई भौतिक अथवा प्राकृतिक वस्तु ऐसे विचार-सम्बन्ध का स्रोत नहीं हो सकती। कान्ट का विद्यार्थी एकदम देख सकता है कि अनुभवकर्त्ता के रूप में ग्रीन जिस आत्मा की कल्पना करता है वह कान्ट की ज्ञानमय आत्मा की धारणा से तत्त्वतः भिन्न नहीं है।

किन्तु ग्रीन कान्ट की इस धारणा से सहमत नहीं है कि वस्तुएँ स्वयं अपने में ही ज्ञान के भौतिक पक्ष का स्रोत होती हैं। फिक्टे तथा हीगल की भाँति ही उसका भी यह विश्वास है कि हमारे चारों ओर का संसार जिसे कि हम जानते हैं उसी तत्त्व का बना हुआ होगा जिसकी कि स्वयं ज्ञाता आत्मा है, उसका स्वरूप आध्यात्मिक अथवा बुद्धिगम्य होना चाहिये। यदि वह विचार-सम्बन्धों से कुछ भिन्न होता तो वह आत्मा के लिये बुद्धिगम्य कभी नहीं हो सकता था। इसलिये ग्रीन इस परिणाम पर पहुंचता है कि हमारे चारों ओर का ब्रह्माण्ड एक बुद्धिगम्य अथवा आदर्श तथ्य है, इसका स्वरूप आध्यात्मिक है। एक ज्ञातव्य के रूप में ब्रह्माण्ड सम्बन्ध प्रणाली को समाविष्ट रखता है और हमारी बुद्धि उसे समझ सकती है। ये सम्बन्ध तुम्हारे या मेरे जैसे किसी व्यक्ति-विशेष के मस्तिष्क से उत्पन्न नहीं हुये हैं: उनकी रचना एक परम बुद्धि ने की है जो हमारी अपनी बुद्धि के सदृश है। अन्यथा हम इन सम्बन्धों को कभी जान या समझ ही नहीं सकते थे। इन विचार-सम्बन्धों को उत्पन्न करने तथा जीवित रखने वाली परम बुद्धि को हम परमात्मा कह सकते हैं। ग्रीन इसे **शाश्वत चेतना** (Eternal Consciousness) कहना अधिक पसन्द करता है। ब्रह्माण्ड की सत्ता तथा ज्ञेयता का आधार होने के नाते यह विश्वव्यापी तथा सर्व-समावेशक चेतना है। "यह वह क्रमबद्ध सिद्धान्त है जोकि एकता और व्यवस्था स्थापित करता है, यह वह सम्पूर्ण है जिसमें कि प्रत्येक भाग अपना तर्कसम्मत स्थान पाता है, यह विश्वव्यापी है जिसकी ओर जाने का प्रत्येक विशिष्ट वस्तु प्रयत्न करती है और जिसकी कि उसे अपने को पूर्ण बनाने के लिये आवश्यकता है और जिसके बिना यह कुछ नहीं है। यह वह दैविक सत्ता है जिसमें कि प्रत्येक वस्तु रहती है, विचरण करती है तथा अपनी सत्ता रखती है।"*

विज्ञ पाठक स्पष्ट रूप से यह देखेंगे कि यदि **आत्मा** जिसे कि ग्रीन आत्मचेतना के तथ्य में अभिव्यक्त देखता है, कान्ट की **ज्ञात आत्मा** की धारणा से बहुत कुछ मिलती जुलती है, तो उसके परमात्मा अथवा शाश्वत चेतना और हीगल की **निर्लेप**

* "It is the systematic principle which establishes unity and all order, the whole in which every part finds its logical place, the universal towards which every particular strives, and which it needs in order to complete itself and without which it is nothing, the divine unity in which everything lives and moves and has its being."

—Metz : *A Hundred Years of British Philosophy*, pages 276–77.

बुद्धि की धारणा में बहुत अधिक साम्य है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ग्रीन ने हीगल में जो महत्त्वपूर्ण सत्य पाया वह था उसका दैविक आत्मा अथवा बुद्धि में विश्वास। ग्रीन हीगल की इस बात से भी सहमत था कि शाश्वत आत्मा समस्त समुदायों तथा संस्थाओं में अभिव्यक्त होता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि ग्रीन ने कान्ट का अध्ययन हीगल के चश्मे लगा कर किया।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रीन के दर्शन में तीन विभूतियाँ— मानव आत्मा, जगत् तथा परमात्मा मिलकर एक सम्पूर्ण इकाई बनाते हैं, वे केवल अलग अलग वस्तु का एक योगमात्र नहीं बनाते। मनुष्य तथा परमात्मा के बीच सम्बन्ध उससे कहीं अधिक गहरा है जोकि इस कथन से प्रकट होता है कि मनुष्य को परमात्मा जन्म देता है और जीवित रखता है; इस सम्बन्ध को मेज के इन शब्दों में व्यक्त करना अधिक उपयुक्त होगा। वह लिखता है: "व्यक्तिगत चेतना को विश्व चेतना का एक माध्यम अथवा यन्त्र कहा जाता है और यह समझा जाता है कि वह विश्व चेतना में कुछ भाग लेती है किन्तु वह भाग किस प्रकार का होता है इसके सम्बन्ध में हमें केवल इतना ही बताया जाता है कि जो शाश्वत चेतना हमें प्राप्त हो पाती है वह हमारे शरीरों द्वारा सीमित होती है।"*

यह धारणा कि शाश्वत चेतना किसी प्रकार प्रत्येक मानव प्राणी में निवास करती है ग्रीन के विचार में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसमें से उसके नैतिक तथा राजनीतिक विचार के कई महत्त्वपूर्ण परिणाम निकलते हैं। पहिली बात तो यह है कि इसमें यह निहित है कि मानव प्रकृति के एक अंग मात्र से कुछ अधिक है, उसकी व्याख्या केवल प्रकृतिवादी शब्दों में नहीं की जा सकती। वह एक स्वतन्त्र बुद्धि है; वह आत्म-अनुभूतिशील तथा आत्मविभेदक चेतना है। इसलिये उसकी भलाई अपने जीवन की भौतिक इच्छाओं की तृप्ति में नहीं हो सकती, जैसा कि सुखवाद (Hedonism) का विश्वास है। जो प्राणी शाश्वत चेतना में भागीदार है उसके जीवन का लक्ष्य सुख-प्राप्ति नहीं हो सकता; उसकी वास्तविक भलाई उस दैविक तत्त्व की अनुभूति में है जोकि किसी प्रकार उसमें वर्तमान है। ग्रीन का विश्वास है कि हमारा नैतिक जीवन उच्चतर जीवन के लिए, उस पूर्णता के लिए जोकि हम परमात्मा से सम्बद्ध करते हैं, एक निरन्तर संघर्ष होना चाहिए; यह अधिकतम सुख के लिये समर्पित जीवन नहीं हो सकता। 'मनुष्य की सच्ची भलाई मानव जीवन की पूर्णता है।' इस प्रकार ग्रीन जीवन के नैतिक लक्ष्य के सिद्धान्त के रूप में सुखवाद को पूर्ण रूप से ठुकराता है, यद्यपि वह यह स्वीकार करता है कि उसका बड़ा सामाजिक मूल्य रहा है। दूसरी बात यह है कि क्योंकि शाश्वत चेतना अथवा परमात्मा की विशेषता

*"The individual consciousnees is said to be the medium or instrument of the universal consciousness, and to have some sort of participation in the latter, but of the manner of this participation we are told nothing more than that the eternal consciousness is communicated to us under the limitations of our bodies." —*Ibid,* page 278.

स्वतन्त्रता है, हमारे नैतिक जीवन का भी प्रमुख लक्षण स्वतन्त्रता ही होना चाहिये। दैविक चेतना के सदृश मानव चेतना भी स्वतन्त्रता चाहती है। केवल इतना ही नहीं, शाश्वत चेतना मानव हृदय में सामाजिक कल्याण का वह विचार उत्पन्न करती है जोकि ग्रीन की राज्य सम्बन्धी धारणा की पृष्ठभूमि में पाया जाता है। तीसरे, अपने इस विश्वास के कारण कि मनुष्य किसी प्रकार शाश्वत चेतना में भाग लेता है, ग्रीन ने व्यक्ति के मूल्य तथा गौरव पर जोर दिया; इसने उसे राजनीति में नूतनतावादी (Radical) बना दिया। इस बात में हृदय से विश्वास करते हुए, कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना निजी मूल्य है, वह इस परिणाम पर पहुंचा कि मानव जीवन का तत्त्व स्वयं अपना कल्याण करना है जिसमें समाज का कल्याण भी समाविष्ट है। इसलिये वह राज्य को स्वयं अपने में एक साध्य नहीं मान सकता था जैसा कि हीगल मानता था; राज्य का लक्ष्य अपने घटकों के व्यक्तित्व से विकास के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। व्यक्ति के मूल्य तथा गौरव के लिये अपने सम्मान के कारण ग्रीन हीगल की अपेक्षा कान्ट के और अफलातून की अपेक्षा अरस्तु के अधिक निकट आ जाता है। इस विषय के ऊपर एक अन्य प्रसंग में अधिक विस्तारपूर्वक कहा जायेगा। ग्रीन के नैतिक दर्शन के कुछ और पहलू हैं जोकि उसकी इस आधारभूत धारणा से प्रसूत होते हैं कि मनुष्य की व्यक्तिगत चेतना शाश्वत चेतना में भाग लेती है; इन पहलुओं का उसके राजनीति दर्शन पर भी प्रभाव पड़ता है; इनका संक्षिप्त रूप से उल्लेख कर देना आवश्यक है। व्यक्ति के निजी मूल्य में विश्वास के कारण ग्रीन मानव समता और भ्रातृत्व की धारणाओं पर आता है। जब प्रत्येक व्यक्ति का अपना निजी और निरपेक्ष मूल्य है तो प्रत्येक मनुष्य को सदैव एक साध्य समझा जाना चाहिये, एक साधन नहीं। प्रत्येक अन्य व्यक्ति के व्यक्तित्व को मानना और उसका सम्मान करना प्रत्येक मनुष्य का एक नैतिक कर्तव्य है। इसका अर्थ यह है कि किसी व्यक्ति को भी दूसरों को अपनी भलाई के लिये साधन बनाने का अधिकार नहीं है। फिर इसमें यह धारणा निहित है कि प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य एक आदर्श चरित्र का निर्माण करना है, बाह्य वस्तुओं की प्राप्ति नहीं। नैतिक अच्छाई सदाचार में है, चरित्र के विकास में है, केवल अच्छे कार्यों के करने में नहीं। ध्येय है: केवल अच्छे काम ही न करो, अच्छे बनो। इस धारणा का ग्रीन के राज्य के कार्यों के सिद्धान्तों पर गहरा प्रभाव पड़ा है; इसके कारण उसने हीगल के सिद्धान्त को उदारवादी दिशा दी। इसने उसे भूल से बचा लिया जोकि हीगल ने राज्य को अपने में एक साध्य मानकर की थी। इसी के कारण उसने राज्य के कार्यों का वर्णन 'शुभ जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को रोकना' (नैतिक शुभ का पोषण नहीं) इन नकारात्मक शब्दों में किया। राज्य अपने नागरिकों को नैतिक रूप से श्रेष्ठतर नहीं बना सकता; मनुष्य को कानून के द्वारा अच्छा नहीं बनाया जा सकता। राज्य केवल ऐसी परिस्थितियाँ जुटा सकता है जिनमें कि व्यक्ति अपने नैतिक व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। इस बात में भी ग्रीन हीगलवादी की अपेक्षा कान्टवादी अधिक है। परन्तु अपने

इस आग्रह में कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण रूप से विकास केवल राज्य में ही कर सकता है और वह नैतिक पूर्णता के आदर्श की प्राप्ति केवल उन नागरिक संस्थाओं के द्वारा ही कर सकता है जो कि उसके लिये आवश्यक सामग्री और वातावरण प्रदान करती है, वह एक सच्चा हीगलवादी है। उसके इस कथन से कि 'राज्य एक शुभ है जिसे मनुष्य की स्वाभाविक पुण्यशीलता ने अपरिहार्य बनाया है' न कि एक 'बुराई जिसे मनुष्य की स्वाभाविक दुष्टता ने आवश्यक बताया हो', सच्ची हीगलवादी भावना लक्षित होती है।

ग्रीन के नैतिक आदर्श के सम्बन्ध में याद रखने योग्य एक अन्य बात यह है कि यद्यपि वह इसे आत्मानुभूति करके पुकारता है, तथापि वह उसके सामाजिक स्वरूप को पूर्ण रूप से जानता है। करने योग्य कार्य तथा उपभोग करने योग्य वस्तुएँ वे हैं जिन्हें दूसरों के साथ सामान्य रूप से किया अथवा भोगा जाता है। ग्रीन का नैतिक आदर्श एक ऐसे शुभ का आदर्श है जो कि अभिकर्त्ता तथा दूसरों के लिये सामान्य है। व्यक्तिगत जीवन सामाजिक जीवन है। यदि आत्मानुभूति के आदर्श को प्राप्त करने के लिये सामाजिक अथवा सामान्य जीवन की आवश्यकता न होती तो आचार-शास्त्र राजनीति-शास्त्र में न आता।

स्वतन्त्रता— अपने पूर्ववर्ती रूसो तथा कान्ट की भाँति ग्रीन भी अपने राजनैतिक कल्प-विकल्प का आरम्भ स्वतन्त्रता की समीक्षा के साथ करता है। अपने 'Lectures on the Principles of the Political Obligation' के पूर्ण कथन के रूप में उसने 'स्वतन्त्रता' शब्द के विभिन्न अर्थों को स्पष्ट करने के लिये एक पूरा अध्याय जोड़ा है। इसमें आश्चर्य की कोई बात भी नहीं क्योंकि उसका विश्वास है कि मानव चेतना अपने विकास के लिये स्वतन्त्रता को एक आवश्यक स्थिति समझती है। हमें यह न भूलना चाहिये कि शाश्वत चेतना का, जिसमें कि मानव चेतना भाग लेती है, गुण स्वतन्त्रता है। इसलिये हम ग्रीन के राजनीतिक दर्शन की समीक्षा का आरम्भ उसकी 'स्वतन्त्रता' शब्द की व्याख्या से करेंगे। इस प्रसंग में हमें यह याद रखना चाहिये कि वे अधिकार जो कि मानव चेतना द्वारा अभीष्ट स्वतन्त्रता का तत्त्व हैं, अपनी प्राप्ति के लिये राज्य की माँग करते हैं। बार्कर के अत्यन्त सुन्दर शब्दों में "मानव चेतना स्वतन्त्रता चाहती है; स्वतन्त्रता में अधिकार निहित हैं; अधिकार राज्य की माँग करते हैं।" (Human consciousness postulates liberty; liberty involves rights; rights demand the state.)

इस विषय के ऊपर ग्रीन के विचारों को भलीभांति समझने के लिये हमें यह याद रखना आवश्यक है कि वह 'कान्ट के इस सिद्धान्त से कि प्रत्येक मनुष्य में स्वतन्त्र इच्छा होती है जिसके कारण वह सदैव अपने आप की एक साध्य के रूप में कामना करता है, आरम्भ करता है, उसी पर सदैव डटा रहता है और अन्त में उसी में उसका अवसान होता है।'* कान्ट की भाँति ग्रीन के लिये संसार में वह

* "He begins from, always clings to, and finally ends in the Kantian

एक वस्तु जिसका कि निरपेक्ष महत्त्व है सद्भावना है। हम पहिले ही देख चुके हैं कि ग्रीन के अनुसार मानव जीवन का लक्ष्य नैतिक कर्म है, सांसारिक सुख, विलास अथवा शक्ति की प्राप्ति करना नहीं। राज्य को कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये जिससे कि व्यक्ति की अपने आदर्श चरित्र के निर्माण करने की स्वतन्त्रता में बाधा पड़ती हो; वह तो केवल व्यक्ति के अपने व्यक्तित्व के विकास करने के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर कर सकता है। राज्य को अपने दमनकारी हस्तक्षेप अथवा अतिपोषणशील शासन द्वारा व्यक्ति की इस आत्मनिर्णय की स्वतन्त्रता में बाधा नहीं डालनी चाहिये। इसीलिये तो ग्रीन राज्य के कार्यों का वर्णन इस नकारात्मक सूत्र द्वारा करता है कि राज्य का कार्य शुभ जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना है। परन्तु यद्यपि ग्रीन पर स्वतन्त्र नैतिक इच्छा की कान्ट की धारणा का भारी प्रभाव पड़ा है, उसकी स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा हीगल के बहुत निकट है, जिसकी यह धारणा थी कि स्वतन्त्रता का स्वरूप विधेयात्मक है जिसकी प्राप्ति राज्य में और उसके जीवन में भाग लेकर ही की जा सकती है। ग्रीन ने एक ओर तो कान्ट के औपचारिकवाद और भाववाद को छोड़ा है और दूसरी ओर हीगल पर लगाये जाने वाले इस आरोप से अपने को बचाया है कि उसने स्वतन्त्रता को राज्य आज्ञापालन से एकरूप करके उसे निरर्थक कर दिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्रीन ने इन दोनों के बीच का मार्ग ग्रहण किया है। आइये, देखें कि किस प्रकार।

ग्रीन यह कहकर आरम्भ करता है कि स्वतन्त्रता की यह धारणा तथा प्रचलित परिभाषा कि स्वतन्त्रता मनचाही करने की शक्ति है अपर्याप्त है क्योंकि इसमें उस वस्तु के स्वरूप का ध्यान नहीं रखा गया जिसमें कि इच्छा को संतोष प्राप्त होता है। जो व्यक्ति मदिरापान करने के कारण मर जाय या जो जुएबाजी से अपने आपको तथा अपने परिवार को नष्ट करले उसे हम स्वतन्त्र किस प्रकार कह सकते हैं? स्वतन्त्रता किसी व्यक्ति की किसी वस्तु के साथ अपने को एकरूप करने की शक्ति के ऊपर इतना निर्भर नहीं करती जितना कि उस वस्तु के स्वरूप पर। ग्रीन के शब्दों में :

"जब कि वह वस्तु जिसमें कि आत्म-तृप्ति खोजी जाती है, ऐसी होती है जो कि आत्म-तृप्ति की प्राप्ति को रोकती है क्योंकि वह खोजने वाले की पूर्णता की ओर प्रगति की सम्भावनाओं को रोकती है तो एक बात है और जब यह उसमें योग देती है तो दूसरी बात है।"*

---

doctrine of the free moral will in virtue of which man always wills himself as an end." —Barker: *Political Thought in England*, page 32.

* "It is one thing when the object in which self-satisfaction is sought is such as to prevent that self-satisfaction being found, because interfering with the realisation of the seeker's possibilities of his progress towards perfection; it is another thing when it contributes to this end."

पहली स्थिति में व्यक्ति 'स्वतन्त्रता' शब्द के साधारण अर्थों में स्वतन्त्र है; वह मनचाही करता है। परन्तु जहां तक उसकी आत्मतृप्ति उस नियम के अनुकूल नहीं है जोकि यह निर्धारित करता है कि सच्ची आत्मतृप्ति कहाँ खोजी जानी चाहिए, वह वास्तव में स्वतन्त्र नहीं है। शराबी और जुआरी स्वतन्त्र नहीं हैं क्योंकि वे तृप्ति उन वस्तुओं में खोजते हैं जिनमें कि वह नहीं खोजी जानी चाहिए। दूसरी स्थिति में जिसमें कि व्यक्ति उन वस्तुओं में तृप्ति खोजता है जिनमें कि वह खोजी जानी चाहिए, वह वास्तव में स्वतन्त्र है। यहाँ अभीष्ट तृप्ति किसी इच्छा-विशेष की तृप्ति नहीं है। यह तो सम्पूर्ण आत्मा की तृप्ति है। ग्रीन इस आत्म-तृप्ति को शांति अथवा आनन्द कहकर पुकारता है। इसके लिए हमें सम्पूर्ण आत्मा तथा समय समय पर व्यक्ति को विभिन्न दिशाओं में प्रेरित करने वाली इच्छाओं में विभेद करना होगा। केवल वही व्यक्ति स्वतन्त्र है जोकि अपनी सम्पूर्ण आत्मा से अपनी उन इच्छाओं का विरोध करता है जोकि उसको सच्चे शुभ की ओर नहीं ले जातीं, और उन पर विजय प्राप्त कर लेता है। जब ये भावनायें उसे अपना दास बना लेती हैं और अपनी अलग अलग शक्ति से उसके आचार को निर्धारित करती हैं तो वह दास बन जाता है। कान्ट की तरह ग्रीन का भी यह विश्वास है कि जब मनुष्य सुख और विलास की कामनाओं के वशीभूत हो जाता है तो वह स्वतन्त्र नहीं रह जाता, वह परतन्त्र बन जाता है। परन्तु जब कान्ट की धारणा यह थी कि मनुष्य स्वतन्त्र तब होता है जबकि उसकी इच्छा कर्तव्य के निरपेक्ष आदेश अथवा विवेक के नियम द्वारा निर्धारित होती है, ग्रीन का कहना यह है कि मनुष्य केवल तब स्वतन्त्र होता है जबकि उसकी इच्छा अपने अनुकूल वस्तु से निर्धारित होती है। इन दोनों विचारकों के अन्तर को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है— जबकि कान्ट व्यक्ति द्वारा स्वतन्त्रता की प्राप्ति को उसके सामाजिक तथा राजनीतिक सम्बन्धों से अलग स्वतन्त्र रखता है, ग्रीन की धारणा यह है कि इसे केवल राज्य ही सम्भव बनाता है। राज्य द्वारा कायम राजनीतक तथा सामाजिक संस्थाओं की सहायता से ही व्यक्ति उस वस्तु को प्राप्त कर सकता है जोकि उसकी नैतिक इच्छा के अनुकूल है। जबकि कान्ट की धारणा की स्वतन्त्रता सीमित और भाव-प्रधान है, ग्रीन के हाथों में यह वस्तुप्रधान तथा विधेयात्मक बन जाती है। इसमें हीगल का प्रभाव दिखाई देता है। ग्रीन हीगल के इस कथन से सहमत होगा कि बुद्धि, 'मनुष्य में उसकी इच्छा के रूप में बरतने वाला आत्मनिर्णायक सिद्धान्त', अपने लिए पूर्ण अभिव्यक्ति राज्य में प्राप्त करती है। ग्रीन इस बात को भी मान लेता है कि **दैविक आत्मा** का सर्वोच्च साकार रूप राज्य है। इसलिए हम कह सकते हैं कि हीगल के सदृश ग्रीन के लिए भी स्वतन्त्रता राज्य के रूप में अभिव्यक्त **दैविक आत्मा** के अनुरूप हो जाने में है। यह ग्रीन के सिद्धान्त का आवश्यक परिणाम है कि राज्य का घटक होने के नाते व्यक्ति दूसरों के साथ सामाजिक सम्पर्क स्थापित करता है और इसलिए उसका कल्याण सामाजिक कल्याण होना चाहिए। सच्चा शुभ जिसकी कामना करके व्यक्ति अपने

स्वरूप की पूर्ति करता है सामाजिक शुभ होना चाहिए क्योंकि जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, मनुष्य का स्वभाव ऐसा है कि जो कुछ भी व्यक्ति करने योग्य तथा उपभोग करने योग्य समझता है, वह सदैव ऐसा होता है, जिसे वह दूसरों के साथ सामान्य रूप से कर सकता है और भोग सकता है। इस सबसे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि ग्रीन के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ सामाजिक कल्याण के लिए मानव की शक्तियों का स्वाधीन होना है। स्पष्टतः यह हीगल के सिद्धान्त के बहुत समीप है।

परन्तु यद्यपि ग्रीन हीगल की स्तन्त्रता की धारणा के बहुत निकट है और इस बात को मानता है कि व्यक्ति राज्य के घटक के रूप में ही सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है, तथापि वह जर्मन दार्शनिक की इस आधार पर आलोचना करता है कि वह आदर्श और यथार्थ के अन्तर को भूल जाता है और प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में इस प्रकार बोलता है जैसे कि वे तथ्य हों। यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं कि समाज अथवा राज्य ही ऐसी स्थितियां उत्पन्न करता है जिनमें व्यक्ति अपनी बुद्धि के अनुसार आचरण कर सके अर्थात् स्वतन्त्रता की प्राप्ति कर सके; किन्तु यदि कोई व्यक्ति यूनान के उस दास से जिसे कि अपने स्वामी की तृष्णा की तृप्ति का अभ्यास हो सकता था यह कहता है कि यूनान स्वतन्त्रता की प्रतिमूर्ति था तो यह उपहासास्पद ही हो सकता था। एक आदर्श राज्य में रहने वाले आदर्श मनुष्यों के विषय में तो हीगल का स्वतन्त्रता का विवरण सही हो सकता है; किन्तु वह यथार्थ स्थिति से ताल नही खाता। जाति-भेद के ऊपर आधारित दक्षिणी अफ्रीका तथा एक तानाशाही राज्य के ऊपर यह लागू नहीं होता। हीगल के सिद्धान्त में एक दोष और भी है। इसमें राज्य की आज्ञा का चुपचाप पालन करने को स्वतन्त्रता का एकरूप समझा जा सकता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि हीगल के विरुद्ध एक आपत्ति यह की जा सकती है कि उसने स्वतन्त्रता और राज्य की आज्ञ के पालन को एकरूप बताकर स्वतन्त्रता को निरर्थक कर दिया है। ग्रीन का सिद्धान्त इस दोष से मुक्त है। वह इस बात पर बहुत जोर देता है कि राज्य में स्वतन्त्रता का महत्व केवल तभी हो सकता है जबकि व्यक्ति राज्य द्वारा प्रदान किए हुए प्रभावों द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करता है और वह अपनी बुद्धि द्वारा यह अनुभव करता है कि सामाजिक, नैतिक और राज्य के कानून जिस बात की माँग करते हैं वह पूर्णतया और सबके लिए वांछनीय है। व्यक्ति स्वतन्त्र केवल तभी हो सकता है जबकि वह यह अनुभव करता है कि राज्य की इच्छा द्वारा उत्पन्न वस्तु से निर्धारित उसकी इच्छा ऐसी है जैसी कि वह स्वयं अपने ही द्वारा निर्धारित हुई हो। यह इस मान्यता के ऊपर आधारित है कि वह आत्मानुभूति करने वाला सिद्धान्त जो कि राज्य के विवेक में अभिव्यक्त होता है, व्यक्ति की आत्म-चेतना में भी अभिव्यक्त होता है— यह ग्रीन की मान्यता है। वह शाश्वत आत्म-चेतना को जिसमें कि व्यक्ति की आत्म-चेतना किसी प्रकार भाग लेती है, एक आत्मानुभूति करने वाला सिद्धान्त मानता है। आत्मानुभूति करने वाले सिद्धान्त मे ग्रीन का तात्पर्य एक ऐसे सिद्धान्त से है जोकि

स्वयं अपनी पूर्णता की धारणा से अथवा उन सम्भावनाओं को जोकि इसमें निहित हैं और जिनके ऐसे निहित होने से यह भिन्न भी है, वास्तविकता प्रदान करने वाले विचार से कर्म करने के लिये निर्धारित होता है। यह सिद्धान्त व्यक्ति में भी उसी प्रकार सक्रिय है जिस प्रकार कि राज्य में; इसलिये व्यक्ति यह सोच सकता है कि राज्य के कानूनों और समाज की प्रथाओं द्वारा उससे जिस प्रकार के आचरण की आशा की जाती है, वह समस्त मनुष्यों और स्वयं उसके लिये सामान्य है; और इसलिए उनसे निर्धारित होने में वह स्वयं अपनी इच्छा द्वारा ही निर्धारित होता है। इस प्रकार की विचार-प्रक्रिया हीगल में नहीं है; ग्रीन के सिद्धान्त में यह बात निहित है कि यदि व्यक्ति यह अनुभव करे कि राज्य के कानूनों के अनुसार आचरण करके वह सर्वोत्तम विकास नहीं कर सकता तो ऐसी स्थिति में वह राज्य का विरोध कर सकता है। हीगल ने ऐसी सम्भावना की कभी कल्पना ही नहीं की।

सारांश यह है कि ग्रीन के अनुसार इच्छा का अभीष्ट आत्मानुभूति है तथा एक आत्म-चेतन तथा आत्मानुभूतिकर्त्ता के नाते मनुष्य सच्चा आत्म-सन्तोष अपने पूर्णत्व की प्राप्ति में ही कर सकता है, अपनी नैसर्गिक भावनाओं की तृप्ति में नहीं। नैसर्गिक भावनाओं को हमें विजय करना है, उनका अन्त करके नहीं, बल्कि उन्हें उन उच्चतर हितों में विलीन करके जिनका लक्ष्य किसी न किसी रूप में मानव जीवन को पूर्ण बनाना है। इस पूर्णत्व की प्राप्ति के लिये मनुष्य को स्वतन्त्रता की आवश्यकता है। एक व्यक्ति को स्वतन्त्र केवल तभी कहा जा सकता है जब कि वह उस "स्थिति में हो जिसमें कि वह अपने निजत्व के आदर्श को प्राप्त कर चुकेगा, उस कानून के साथ एकाकार हो जायेगा जिसको कि वह मानने योग्य समझता है और इस प्रकार अपने अस्तित्व के नियम की पूर्ति कर लेगा।"*

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ग्रीन की धारणा की स्वतन्त्रता नकारात्मक नहीं है, उसका अर्थ किसी भी रुकावट और बाधा के बिना मनमानी करने की छूट नहीं है; यह विधेयात्मक है। यह अपने करने योग्य कार्यों तथा उपभोग करने योग्य वस्तुओं का दूसरों के साथ सामान्य रूप से करने तथा उपभोग करने की शक्ति है। यह उन आदर्श लक्ष्यों की साधना करने की शक्ति है जोकि सद्भावना अपने समक्ष रखती है; यह 'सामाजिक हित के लिये मनुष्यों की समस्त शक्तियों का स्वतन्त्र होना है।' सैबाइन के शब्दों में स्वतन्त्रता का अर्थ है 'यथार्थ परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुये मानव शक्तियों को विकसित करने की वास्तविक सम्भावना, समाज द्वारा उत्पन्न की हुई सामग्री में भाग लेने की व्यक्ति की सचमुच बढ़ी हुई सामर्थ्य तथा सामान्य हित की वृद्धि में योग देने की संवर्धित शक्ति।' इससे यह परिणाम निकलता

* An individual can be said to be free only when he is in that "State in which he shall have realised his ideal of himself, shall be at one with the law which he recognises as that which he ought to obey, shall have become all that he has in him to be, and so fulfil the law of his being."

—Green : *Lectures on the Principles of Political Obligation.*

है कि केवल सद्-इच्छा ही स्वतन्त्र है, बुरी इच्छा नहीं। इच्छा उसी समय शुभ होती है जब कि वह आत्मानुभूति के विचार से निर्धारित हो; जब वह सुख, दुख की वाह्य प्रेरणाओं से प्रभावित होती है तो वह अशुभ हो जाती है। दूसरी बात यह है कि ग्रीन की धारणा की स्वतन्त्रता का स्वरूप निश्चित है; बार्कर के शब्दों में यह 'कुछ निश्चित तथा करने योग्य कार्यों के करने की शक्ति है, न कि किसी भी और प्रत्येक कार्य के करने की।'

राजनीतिक दर्शन पर आवर्त्तन— गत विवेचना में हम कह चुके हैं कि ग्रीन के अनुसार मानव जीवन का सच्चा लक्ष्य आत्मानुभूति अथवा मानव जीवन की पूर्णता है; हमें सदैव एक कम पूर्ण से अधिक पूर्ण मानव जीवन की ओर बढ़ते रहना चाहिये। उसकी यह भी धारणा है कि इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये स्वतन्त्रता एक आवश्यक साधन है और यह स्वतन्त्रता केवल राज्य में और राज्य की सदस्यता द्वारा प्राप्त हो सकती है। अब तक हमने इस बात का कोई प्रमाण नहीं दिया कि आत्मानुभूति अथवा मानव जीवन की पूर्णता की प्राप्ति केवल समाज में ही हो सकती है। इस प्रसंग में ग्रीन जो कुछ कहता है वह उसके आचार-सम्बन्धी विचारों तथा राजनीतिक दर्शन के बीच का पुल है। उसकी युक्ति का सारांश बार्कर के इन शब्दों में दिया जा सकता है जिन्हें हम एक बार पहिले भी उद्धृत कर चुके हैं, "मानव-चेतना स्वतन्त्रता की अपेक्षा रखती है; स्वतन्त्रता के लिये अधिकार आवश्यक हैं; अधिकार राज्य की माँग करते हैं।"* इस कथन के पहिले भाग का स्पष्टीकरण हम पहिले ही कर चुके हैं; अब हम अन्तिम दो भागों की विवेचना करेंगे।

ग्रीन की युक्ति को हम इस प्रकार रख सकते हैं। उस शाश्वत चेतना के सदृश जिसमें कि वह किसी प्रकार भाग लेता है, मनुष्य स्वत: एक चेतनापूर्वक आत्मानुभूति करने वाला सिद्धान्त है। मनुष्य को एक चेतनापूर्वक आत्मानुभूति करने वाला सिद्धान्त कहने से ग्रीन का अभिप्राय यह है कि मानव प्राणी आत्म-चेतना-सम्पन्न है और वह अपनी पूर्णता के विचार से कर्म करने का संकल्प करता है; उसे उन आदर्श उद्देश्यों की इच्छा करने की शक्ति प्राप्त है जोकि सद्-इच्छा अपने सामने प्रस्तुत करती है। इसके अतिरिक्त उसे न केवल इस बात की चेतना प्राप्त है कि वह आदर्श उद्देश्यों की इच्छा करने वाला है बल्कि वह यह भी जानता है कि अन्य मानवों का भी उसका सा ही स्वभाव है अर्थात् वे भी अपनी निजी पूर्णता की धारणा से कर्म करने का संकल्प करते हैं। सारांश यह है कि मनुष्य एक अलग थलग प्राणी नहीं है बल्कि वह समाज के एक सदस्य के रूप में रहता है; उसे अपने उद्देश्य की प्राप्ति दूसरों के साथ मिलकर करनी है, जिनका लक्ष्य भी वही है। इसलिये वह जिन करने योग्य कार्यों को करता है और जिन उपभोग करने योग्य वस्तुओं का उपभोग करता है वह दूसरों के साथ सामान्य हैं; उसकी भलाई केवल उसी की

* "Human consciousness postulates liberty; liberty involves rights; rights demand the State." —Barker : *op. ct.*, page 33.

भलाई नहीं है, वह सामान्य भलाई है। वह सामान्य भलाई के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकती। वह किसी भी ऐसी आदर्श वस्तु की कल्पना नहीं कर सकता जिसमें कि वह सामान्य रूप से दूसरों के साथ भागीदार न होता हो। इस प्रकार ग्रीन उस एकान्त को समाप्त कर देता है जिसमें कि उपयोगितावादियों ने व्यक्ति को रख दिया था। ग्रीन की युक्ति को बार्कर ने जिन शब्दों में प्रस्तुत किया है वे यहाँ पर उद्धरणीय हैं। वह लिखता है :

" 'स्व' केवल अपनी ही भलाई की कामना नहीं करता ('स्व' के सम्बन्ध में ऐसी धारणा केवल अमूर्त्त है और इसलिये अवास्तविक है); वह दूसरों के साथ सम्बन्धित अपनी भलाई की कामना करता है। वह दूसरों के साथ अपने सम्बन्धों की भलाई चाहता है; वह उस समाज की भलाई चाहता है जिसका ऐसे सम्बन्धों से निर्माण होता है।"*

पाठकगण उपरोक्त तर्क की शृङ्खला को तभी समझ सकेंगे जबकि वे यह स्मरण रखें कि ग्रीन के अनुसार **सत्य** (Reality) सम्बन्धों की एक प्रणाली है, कि समाज उन सम्बन्धों का ही नाम है जोकि उसके घटकों के बीच में पाये जाते हैं, और यह कि व्यक्ति उन सम्बन्धों से मिलकर बनता है जोकि उसके तथा अन्य व्यक्तियों के बीच में पाये जाते हैं, जैसे कि पिता, भाई, शिक्षक, मित्र इत्यादि। उसकी अच्छाई उसके दूसरों के साथ सम्बन्धों की अच्छाई के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। दूसरे शब्दों में यह एक सामाजिक अथवा सामान्य अच्छाई है क्योंकि उसकी भलाई एक सामान्य भलाई है, वह उसकी निजी चीज नहीं, इसलिये अपने आदर्श उद्देश्यों को प्राप्त करने के प्रयास में उसे यह विश्वास हो सकता है कि उसके दावों को दूसरे लोग भी इसी प्रकार मानेंगे जिस प्रकार कि वह दूसरों के दावों को सहर्ष स्वीकार करता है। चेतनापूर्वक आत्मानुभूति करने वाले प्राणियों के समाज का संगठन केवल इसी शर्त के ऊपर हो सकता है "कि प्रत्येक अपने साथी में आदर्श उद्देश्यों को प्राप्त करने की शक्ति को मानता है और प्रत्येक यह दावा करता है कि उसका साथी भी उसकी वैसी ही शक्ति को मानेगा; और प्रत्येक अपने दावे को इस निश्चित विश्वास के साथ प्रस्तुत करता है कि सभी लोग उसे मान्यता प्रदान करेंगे।"†

आदर्श उद्देश्यों को प्राप्त करने के दावे अधिकार तभी बनते हैं जबकि

* "The self not only wills the good of itself (such a conception of self is merely abstract and therefore unreal); it wills the goodness of itself in relation to others. It wills the goodness of its relations with others; it wills the goodness of the society which is constituted by such relations."

—Barker: *op. ct.*, pages 33-34.

† "Each recognises in his fellow, and each claims from his fellow that he shall recognise in him, the power of pursuing ideal objects; and each makes his claim with a sure confidence of its recognition by all."

—*Ibid*, page 34.

समाज उन्हें मान्यता प्रदान कर दे। सामाजिक मान्यता की अभिव्यक्ति उन कानूनों के द्वारा होती है जिन्हें कि राज्य बनाता है और लागू करता है। इस प्रकार की मान्यता के बिना आदर्श उद्देश्यों को प्राप्त करने के दावे में कोई वास्तविकता नहीं होती; वह केवल एक कोरा दावा ही रहता है। मान्यता प्रदान करके समाज न केवल हमारे दावों को अधिकारों में परिवर्तित कर देता है, वह इससे भी आगे बढ़ता है और अपनी नागरिक तथा राजनीतिक संस्थाओं द्वारा हमें अपनी इच्छा तथा बुद्धि की शक्तियों का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग करने की सामर्थ्य प्रदान करता है। ग्रीन की धारणा है 'कि सामाजिक जीवन की संस्थायें, कुछ अपवादों को छोड़कर, मनुष्य के लिये यह सम्भव बनाती हैं कि वह स्वतन्त्रतापूर्वक इस विचार से निर्धारित हो कि वह स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है, न कि यह कि बाह्य शक्तियाँ उसे इधर उधर उद्वेलित करती हैं, और इस प्रकार वे उस शक्ति को वास्तविकता प्रदान करती हैं जिसे इच्छा कहते हैं; और वे उसे एक ऐसे सामाजिक संगठन का घटक होने के रूप में जिसमें कि प्रत्येक समस्त शेष के कल्याण में योग देता है, आचरण करके अपने विवेक अर्थात् अपनी पूर्णता के विचार की अनुभूति की सामर्थ्य प्रदान करते हैं।'*

उपरोक्त विवेचना से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किस प्रकार मानव की आत्मचेतना द्वारा अपेक्षित स्वतन्त्रता को अधिकारों की आवश्यकता है और किस प्रकार अधिकार राज्य की माँग करते हैं। क्योंकि मनुष्य की आत्मानुभूति के लिये समाज आवश्यक है, इसलिये ग्रीन की नैतिक धारणा राजनीतिक दर्शन में प्रस्फुटित हो जाती है जिसकी विवेचना अब हम करेंगे।

ग्रीन का राजनीतिक दर्शन— हमने ऊपर देखा कि अपनी इच्छा तथा बुद्धि की शक्तियों की स्वतन्त्रतापूर्वक अनुभूति प्राप्त करने की सामर्थ्य प्रदान करने के लिये सामाजिक संस्थायें अपरिहार्य हैं; यह उनका नैतिक औचित्य है। राज्य तथा उसके कानूनों का भी इसी प्रकार औचित्य है; किन्तु क्योंकि उनमें तथा परिवार, विद्यालय तथा चर्च सरीखी अन्य संस्थाओं में भेद है, इसलिये उनके लिये विशेष औचित्य की आवश्यकता है। अपने 'Lectures on the Principles of Political Obligation' में उनका मुख्य उद्देश्य यही अनुसन्धान करना था कि कानून अथवा राज्य द्वारा बनाये गये और लागू किये गये अधिकार तथा कर्त्तव्य के विधान का क्या नैतिक कार्य है। ऐसा करके वह कानून के पालन करने के एक सच्चे आधार को खोजना चाहता था। कानून के सच्चे कार्य की परिभाषा करने और राजाज्ञा पालन करने के एक सच्चे औचित्य और आधार को निर्धारित करने के प्रयास में उसने राजाज्ञा पालन

* "Institutions of social life render it possible for a man to be freely determined by the idea of a possible satisfaction of himself instead of being driven this way and that by external forces, and thus they give reality to the capacity called will; and they enable him to realise his reason; *i. e.*, his idea of self-perfection, by acting as a member of a social organisation in which each contributes to the better being of all the rest."

—*Principles of Political Obligation*, page 7.

के कर्त्तव्य के विभिन्न सिद्धान्तों का परीक्षण किया और सभ्य राज्यों में पाये जाने वाले प्रमुख अधिकारों और कर्त्तव्यों की समीक्षा की। उसके राजनीतिक दर्शन की समीक्षा से पहिले हम इस बात का परीक्षण करेंगे कि वह अधिकारों तथा समाज द्वारा उनकी मान्यता का क्या अर्थ समझता है।

(क) **अधिकार**— सबसे पहिले हमें ग्रीन द्वारा दी गई अधिकार शब्द की परिभाषा को देखना है। ग्रीन की इस धारणा से कि स्वतन्त्रता के लिये अधिकार अपेक्षित हैं यह परिणाम निकलता है कि अधिकार कार्य की वह निश्चित स्वतन्त्रता है जिसका कि व्यक्ति इसलिये दावा करता है क्योंकि उसे वह अपनी इच्छा तथा बुद्धि की शक्तियों का विकास करने तथा आदर्श उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये आवश्यक समझता है। इस बात से अधिकारों का व्यक्तिगत पहलू बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। अधिकार व्यक्तियों के होते हैं; अधिकारों का तात्पर्य जीवन की भौतिक अथवा बाह्य स्थितियों से है जोकि व्यक्तियों द्वारा अपने नैतिक आदर्श की प्राप्ति के लिये आवश्यक हैं। परन्तु कर्म की स्वतन्त्रता का दावा अधिकार उसी समय बनता है जबकि समाज उसे स्वीकार करले; समाज की मान्यता के बिना वह एक कोरा दावा ही रह जाता है। प्रत्येक व्यक्ति का यह एक उचित दावा हो सकता है कि उसे प्रारम्भिक शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिये क्योंकि वह उसके व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक है; किन्तु उसका यह दावा अधिकार का रूप तभी धारण कर सकता है जबकि समाज उसे स्वीकार करले और उसे क्रियान्वित करे। इसे हम अधिकारों का सामाजिक पहलू कह सकते हैं। यद्यपि अधिकार व्यक्तियों में रहते हैं किन्तु उनमें उस समाज का हवाला स्पष्ट रूप से रहता है जिसमें कि उसके घटक सामान्य हित को अपना आदर्श हित मानते हैं। समाज कुछ स्वतन्त्रताओं को अपने घटकों के लिये आवश्यक इसलिये समझता है क्योंकि उनके उपयोग द्वारा ही वे अपने नैतिक विकास के आदर्श को प्राप्त कर सकते हैं और सामान्य हित की वृद्धि में अपना योग दे सकते हैं। सामान्य हित की धारणा के बिना समाज का कोई अस्तित्व ही नहीं हो सकता। समाज के घटक के रूप में ही व्यक्ति अधिकारों का दावा और उपभोग कर सकता है, इसीलिये अधिकार तत्त्वत: सामाजिक स्वीकृति हैं। हम इस बात की कल्पना ही नहीं कर सकते कि समाज से अलग-थलग व्यक्तियों के भी कुछ अधिकार हो सकते हैं। इससे यह परिणाम निकलता है कि लॉक सरीखे विचारकों द्वारा प्रतिपादित सामाजिक संविदा के सिद्धान्त की प्राकृतिक अधिकारों की धारणा, अर्थात् यह विश्वास कि प्राकृतिक अथवा प्राग्राज्य अवस्था में मनुष्य के कुछ अधिकार थे एकदम त्याज्य है। ग्रीन सामाजिक संविदा के सिद्धान्त तथा इसके एक मूल तत्त्व— प्राकृतिक अधिकारों की धारणा— को ठुकराता है। वह बेन्थम की इस बात से पूर्ण रूप से सहमत है कि सत्रहवीं शताब्दी के विचारकों द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक स्वतन्त्रता का सिद्धान्त एक निरर्थक प्रलाप है। वह इस बात से इन्कार करता है कि समाज से पहिले और उससे स्वतन्त्र भी अधिकार जैसी किसी चीज का अस्तित्व हो सकता है। उसका कहना है

कि "प्राकृतिक अधिकार अर्थात् एक ऐसा अधिकार जोकि समाजहीन प्राकृतिक अवस्था में पाया जाता है शब्दों का परस्पर विरोध है।"* संविदावादियों के विपरीत ग्रीन अफलातून तथा अरस्तू की इस धारणा में विश्वास करता है कि मनुष्य तत्त्वत: एक सामाजिक अथवा राजनीतिक प्राणी है और अधिकार उसे केवल समाज के एक घटक के नाते मिलते हैं।

यद्यपि ग्रीन सत्रहवीं शताब्दी के प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को ठुकराता है तथापि वह उसकी पूर्ण रूप से अवहेलना नहीं करता। वह इन शब्दों को अपनाता है और उसकी एक दूसरी व्याख्या देता है। ग्रीन उन अधिकारों को प्राकृतिक कह कर पुकारता है जोकि प्रत्येक मनुष्य को इसलिये मिलने चाहियें क्योंकि वे एक विवेकमय तथा नैतिक प्राणी होने के नाते उसके उद्देश्य की पूर्ति के लिये आवश्यक हैं। इन अधिकारों को प्राकृतिक (स्वाभाविक) इसलिये कहा जा सकता है क्योंकि वे उस उद्देश्य के लिये आवश्यक तथा अपरिहार्य साधन हैं जोकि मनुष्य के लिये स्वाभाविक हैं। "प्राकृतिक अधिकार वे अधिकार हैं जिनका उपभोग एक साधारणतया विवेकमय तथा नैतिक मनुष्य द्वारा किया जाना चाहिये जोकि एक विवेकपूर्ण ढंग से निर्मित समाज में रहता है। वे केवल उन मनुष्यों के होते हैं जिनमें कि सामान्य हित की धारणा से प्रभावित होने की सामर्थ्य होती है और वे केवल ऐसे ही समाज में प्रभावक हो सकते हैं जिसके घटक यह जानते हैं कि सामान्य हित से स्वयं उनके निजी आदर्श हित में योग मिलता है। ये वे स्थितियाँ हैं जिनके अन्तर्गत मनुष्य की नैतिक शक्ति की अनुभूति सम्भव बनाई जाती है।"†

स्वाभाविक अधिकार स्वाभाविक उसी अर्थ में हैं जिसमें कि अरस्तू राज्य को स्वाभाविक समझता था। उन्हें आदर्श अधिकार कहना अधिक अच्छा होगा; ये वे अधिकार हैं जिन्हें कि एक सद्भावना के आधार पर समुचित रूप से संगठित समाज को अपने घटकों को देने चाहियें और वह उन्हें देगा भी। ऐसे किसी आदर्श समाज का अस्तित्व भूतकाल में नहीं था और हम इसकी आशा केवल भविष्य में ही कर सकते हैं; इसलिये स्वाभाविक अधिकार वे अधिकार नहीं हैं जिनके सम्बन्ध में यह कल्पना की जाती है कि उनका उपभोग हम राजनीतिक रूप से संगठित जीवन बिताने से पहिले प्राकृतिक अवस्था में करते थे; वे तो ऐसे अधिकार हैं जिनकी प्राप्ति की हम उसी अंश तक अधिकाधिक आशा करते हैं जिनमें कि हमारा राज्य अधिकाधिक पूर्ण होता जाता है।

---

* " 'Natural right' as right in a state of nature which is not a state of society is a contradiction in terms." —Green.

† "Natural rights are rights which should be enjoyed by a normally rational and moral man living in a rationally constituted society. They belong only to men capable of being influenced by the idea of a common good and are effective only in a society whose members recognize a common good as contributing to their own ideal good. They are the conditions under which the realization of the moral capacity of a man is made possible."

—Coker: *Recent Political Though,* page 421.

स्वाभाविक अथवा आदर्श आधार एक समय-विशेष पर किसी राज्य द्वारा स्वीकृत यथार्थ अधिकारों की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक और विशद होते हैं। वे व्यापक इसलिये होते हैं क्योंकि वे यथार्थ अधिकारों से आगे रहते हैं; बार्कर के शब्दों में 'किसी समाज के वास्तविक कानून द्वारा प्रतिष्ठित यथार्थ अधिकार एक आदर्श प्रणाली के कभी अनुकूल नहीं होते।' जिस प्रकार एक कागज पर बनाया हुआ वृत्त कभी उस आदर्श वृत्त की पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता जिसकी कल्पना यूक्लिड ने की है, उसी प्रकार वास्तविक समाज उस आदर्श संगठन से बहुत पीछे रहते हैं, जिसकी सद्-इच्छा अपेक्षा करती है; यद्यपि उनमें से कुछ दूसरों की अपेक्षा स्वाभाविक अधिकारों के अधिक निकट रहते हैं। स्वाभाविक अधिकारों को हम यथार्थ अधिकारों की अपेक्षा अधिक विशद इसलिये कह सकते हैं क्योंकि वे हमारे सामने वह मापदण्ड प्रस्तुत करते हैं जिसके द्वारा हम यथार्थ अधिकारों की परख कर सकते हैं; वे एक आदर्श रहते हैं जिसके अनुकूल यथार्थ अधिकारों को होना चाहिए। इस प्रकार स्वाभाविक अधिकार कानूनी अधिकारों से विस्तार तथा गहराई में भिन्न होते हैं।

स्वाभाविक अधिकार कानूनी अधिकारों से एक दूसरी बात में भी भिन्न होते हैं: नैतिकता से उनका निकट का सम्बन्ध होता है। जब ग्रीन अधिकारों की समाज द्वारा मान्यता की बात करता है तो उसका अर्थ समाज की नैतिक भावना द्वारा मान्यता से होता है, कानून द्वारा मान्यता से नहीं। वह बेन्थम के इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता कि 'वास्तविक अधिकार वास्तविक कानून की उत्पत्ति हैं।' हो सकता है कि कुछ आदर्श अधिकारों को कानून मान्यता प्रदान न करे; आजकल बहुत थोड़े राज्य ही कार्य करने के स्वाभाविक अधिकार को मानते हैं और कुछ तो प्रारम्भिक शिक्षा के अधिकार तक को मान्यता प्रदान नहीं करते। इसके विपरीत कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि राज्य द्वारा माने हुए अधिकार आदर्श अधिकारों के विरुद्ध हों, जैसा कि प्राचीन और मध्य-काल में दास प्रथा एक कानून द्वारा मान्य संस्थान था और अरस्तू तथा सेन्ट टॉमस एक्वीनॉस जैसे व्यक्ति भी उसका समर्थन करते थे। हमारे अपने देश में अस्पृश्यता को हिन्दुओं की नैतिक भावना तब तक स्वीकार करती रही जब तक कि राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा महात्मा गाँधी सरीखे महापुरुषों ने उस पर आक्रमण न किया। अस्पृश्यता का कानून द्वारा अन्त तभी हुआ जबकि हिन्दुओं की नैतिक भावना ने इसके अनैतिक स्वरूप को स्वीकार कर लिया। दूसरी बात यह है कि आदर्श अधिकार कानून की अपेक्षा नैतिकता से अधिक सम्बन्धित हैं, क्योंकि उनका महत्व और मूल्य उस नैतिक आदर्श के सम्बन्ध में है जोकि हमारा अभीष्ट है, क्योंकि यह वे स्थितियाँ हैं जो मानव जीवन के नैतिक आदर्श की प्राप्ति के लिये आवश्यक हैं।

परन्तु हमें यह न समझ लेना चाहिये कि उसका कानून से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। समाज द्वारा क्रियान्वित होने के लिये उनका कानूनी रूप ग्रहण करना

आवश्यक है। प्रत्येक समाज को अपने कानूनों को अधिकाधिक आदर्श अधिकारों के अनुकूल बनाने की चेष्टा करनी चाहिये। एक समाज की प्रगति का मापदण्ड ही यह है कि उसके कानून आदर्श अधिकारों से कहाँ तक ओत-प्रोत हैं।

इस प्रकार की व्याख्या के साथ तो प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त समझ में आ सकता है और हम उसे मान सकते हैं। इसको हम इस प्रकार निरर्थक कह कर निरस्त नहीं कर सकते जिस प्रकार कि बेन्थम ने इसके पुराने सत्रहवीं शताब्दी वाले कथन को ठुकरा दिया था। किन्तु इस व्याख्या के बाद भी इसकी कठिनाइयाँ समाप्त नहीं हो जातीं। हमें इसके ऊपर इस आपत्ति को तो अधिक महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसे अधिकारों की कोई सर्वमान्य सूची तैयार नहीं की गई है। इस प्रकार की कोई सूची तैयार की भी नहीं जा सकती क्योंकि आदर्श अधिकारों की धारणा सभ्यता के विकास के साथ बदलती है और अधिक विशद होती जाती है। आदर्श कोई शाश्वत आदर्श नहीं है जोकि समस्त देश और काल के लिये एक सा ही रहे। यह समय-विशेष की समाज की नैतिक स्थिति के ऊपर निर्भर करता है। कार्य करने तथा शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार कुछ ही दिन पहिले तक आदर्श अधिकारों की सूची में सम्मिलित नहीं किये जाते थे और कार्य करने के अधिकार को आज भी उतनी व्यापक मान्यता प्राप्त नहीं है जितनी कि शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार को। ज्यों-ज्यों हमारी मंगलकारी राज्य की धारणा प्रसारित होती जाती है त्यों-त्यों नये-नये आदर्श अधिकार सामने आते जाते हैं। इस सिद्धान्त के विषय में मुख्य कठिनाई तो यह है कि यद्यपि आदर्श अधिकारों को व्यक्ति के नैतिक विकास के लिये आवश्यक समझा जाता है तथापि उन्हें निर्धारित करने में व्यक्ति का कोई विशेष हाथ नहीं है। उन्हें निर्धारित करने का मुख्य उत्तरदायित्व समाज का है। अपने सदस्यों के नैतिक विकास के लिये समाज जिसे आवश्यक समझता है वह उनके विचारों में भी आवश्यक हो या वास्तव में आवश्यक हो, यह आवश्यक नहीं है। ग्रीन इस प्रश्न का कोई स्पष्ट और निश्चित उत्तर नहीं देता कि इस बात का निर्णय कौन करेगा कि एक समय में एक समाज में स्वाभाविक अथवा आदर्श अधिकार क्या हैं। दक्षिणी अफ्रीका की श्वेत जातियाँ आज भी यह सोचती हैं कि उनसे भिन्न रंग वाले लोगों को उनसे स्वतन्त्रतापूर्वक मिलने का अधिकार नहीं होना चाहिये और इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका के कुछ राज्यों की यूरोपियन बहुसंख्यक जाति अब भी वर्ण-भेद के उन्मूलन के औचित्य को स्वीकार नहीं करती। इसकी एक अन्य सैद्धान्तिक कठिनाई भी उल्लेखनीय है। ग्रीन कहता है कि अधिकार मान्यता द्वारा बनते हैं, किन्तु आदर्श अधिकारों के सम्बन्ध में उसकी स्थिति का अर्थ तो यह स्वीकार कर लेना है कि अधिकार बिना मान्यता के भी रह सकते हैं। इस कथन का कि आदर्श अधिकार वे अधिकार हैं जिनको कि मनुष्य के नैतिक आदर्श की प्राप्ति के लिये आवश्यक समझ कर स्वीकार किया जाना चाहिये और क्या अर्थ हो सकता है? हम इस प्रकार की भाषा का प्रयोग तो केवल तभी कर सकते हैं जब कि कुछ

अधिकारों को मान्यता प्राप्त न हो। यदि एक अधिकार को मान लिया जाता है तो यह कहना निरर्थक है कि उसे माना जाना चाहिये। 'माना जाना चाहिये' का प्रश्न केवल उसी के विषय में उठता है जिसे कि वास्तव में माना गया हो। इसलिये ग्रीन की स्थिति में से परिणाम यह निकलता है कि स्वाभाविक अधिकारों को मान्यता मिली हुई नहीं होती और वे मान्यता से आगे के अधिकार होते हैं। ग्रीन के विचार में इस विषय पर अधिक बल देने की आवश्यकता नहीं है। इससे उसकी वह महान् देन कम नहीं हो जाती क्योंकि उसने हीगल के राजनीतिक दर्शन में उदारवाद की दिशा में संशोधन करके की है। उसके आदर्श अधिकारों के सिद्धान्त का सार इस कथन में है कि अन्ततोगत्वा 'समाज में एक ऐसी नैतिक प्रणाली रहती है जोकि राज्य से स्वाधीन होती है और जो व्यक्ति को एक ऐसी कसौटी देती है जिससे वह स्वयं राज्य की भी परख कर सकता है।'*

(ख) **प्राकृतिक कानून** (Natural Law)— ग्रीन के राज्य-विषयक सिद्धान्त की समीक्षा करने से पूर्व दो शब्द उसके प्राकृतिक कानून विषयक विचारों के सम्बन्ध में कह देना आवश्यक होगा। प्राकृतिक कानून को बहुत पहिले से ही एक ऐसा न्यायालय समझा जाता रहा है जिसके सामने मानवीय कानून को स्वीकृति अथवा निन्दा के लिये लाया जा सकता है। उसने इस धारणा की भी उसी प्रकार पुन: व्याख्या की है जिस प्रकार कि उसके समानान्तर प्राकृतिक अधिकारों की धारणा की। वह उस अर्थ का तो परित्याग करता है जोकि उसे सत्रहवीं शताब्दी में हॉब्स तथा लॉक सरीखे विचारकों ने दिया था, अर्थात् यह कि प्राकृतिक कानून का समाज की चेतना से स्वतन्त्र अस्तित्व है; किन्तु वह इस धारणा में महान् सत्य समझ कर उसे अपनाता है कि किसी भी ऐसे नियम अथवा संस्थान को जोकि इससे असंगत हो हमें गलत तथा हानिकारक समझना चाहिये और उसे ठुकरा देना चाहिये। ग्रीन के अनुसार प्राकृतिक कानून वह कानून है जिसका पालन मनुष्य को एक नैतिक प्राणी होने के नाते करना चाहिये, चाहें वह राज्य के यथार्थ कानून के अनुकूल हो या न हो। उसका तत्त्व बुद्धि अथवा आचारशास्त्र द्वारा निर्धारित होता है, इसकी खोज हम अनुभव में नहीं कर सकते। दूसरे शब्दों में प्राकृतिक न्यायशास्त्र (Natural Jurisprudence) को ही इस बात का निर्णय करना चाहिये कि किन कानूनों को प्राकृतिक समझा जाना चाहिये, वे मान्य होंगे और क्रियान्वित करने योग्य होंगे, फिर चाहे वे राज्य के बनाये हुए कानून का अंग हों या न हों। इसलिये यह आवश्यक नहीं है कि प्राकृतिक कानून राज्य को लागू करना चाहिये, किन्तु वह ऐसा होना चाहिये जिसे लागू किया जा सके। यह लागू किये जाने की योग्यता ही इसमें तथा नैतिकता में विभेद करती है। लागू किया जाने योग्य वही कानून हो सकता है जिसे कि समाज की नैतिक भावना आवश्यक या कम से कम वांछनीय तो समझे। यह

* "... there exists within the community an ethical system which is independent of the state and which gives the individual a standard whereby to criticise the state itself." —Wayper: *op. ct.*, page 185.

भी याद रखना चाहिये कि प्राकृतिक कानून एक विकासशील चीज है। जैसे-जैसे समाज की नैतिक भावना का विकास होता रहता है वैसे ही वैसे प्राकृतिक कानून का तत्त्व भी पीढ़ी दर पीढ़ी बदलता रहता है। यह निश्चित रूप से मनुष्य की नैतिक प्रकृति से सम्बद्ध है और इसे एक ऐसा आदर्श समझा जा सकता है कि जिसकी ओर समाज प्रवृत्त हो रहा है।

(ग) **संप्रभुता** (Sovereignty)— अब तक हम ग्रीन की अधिकार सम्बन्धी धारणा की चर्चा करते रहे हैं, और हमने यह दिखाने का प्रयास किया है कि अधिकार आवश्यक रूप से स्व-अनुभूति मूल सिद्धान्त के रूप में मानव की आत्म-चेतना की धारणा से प्रसून होते हैं। हमने इस बात के ऊपर जोर दिया है कि समाज अपने घटकों को कर्म तथा संचय की कुछ स्वतन्त्रता, जिन्हें अधिकार कहते हैं, इस शर्त पर प्रदान करता है कि वे दूसरों को भी वैसी ही स्वतन्त्रताओं का उपभोग करने दें। हम यह भी देख चुके हैं कि समाज द्वारा स्वीकृत अधिकार क्रियान्वित करने योग्य होते हैं, न केवल यह बल्कि उन्हें क्रियान्वित करना पड़ता है। जिस अधिकार को क्रियान्वित न किया जा सके वह अधिकार ही नहीं है; वह तो केवल एक नैतिक दावा है। इसलिये प्रत्येक समाज में एक ऐसी शक्ति होनी चाहिये जोकि ऐसे व्यक्तियों के विरुद्ध अधिकारों को क्रियान्वित कर सके जोकि किसी भी कारण से दूसरे के अधिकारों को मानने से इन्कार करते हैं और उनके उपभोग में बाधायें प्रस्तुत करते हैं। एक अच्छे हिन्दू की सद्-इच्छा इस बात को एकदम स्वीकार करती है कि तथाकथित अस्पृश्य जातियों को मन्दिरों में जाने और वहाँ पूजा करने का अधिकार है, किन्तु कुछ हिन्दू ऐसे भी हो सकते हैं जिनकी यथार्थ इच्छा उनके इस अधिकार को नहीं मानती और इसलिये मन्दिर में हरिजन प्रवेश में अड़ंगा लगाने की चेष्टा करते हैं। इसलिये राज्य को ऐसे व्यक्तियों के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है ताकि हरिजन लोग अपने अधिकारों का उपभोग न कर सकें। इस प्रकार अधिकार राज्य की माँग करते हैं जोकि इन्हें मनवाने का एकमात्र अधिकारी है। "यहाँ हम विरोधाभास पर आते हैं, एक ऐसे विरोधाभास पर जिसे हम टाल नहीं सकते। यह विरोधाभास है राज्य का कार्य। यह स्वतन्त्रता को उत्पन्न करने के लिये शक्ति का प्रयोग करता है। इस विरोधाभास का सामना करने के लिये हमें पहिले तो यह जानना चाहिये कि शक्ति प्रयोग करने वाला क्या है और दूसरे यह, कि उसके कार्यों को समाज के घटकों की जीवित तथा सक्रिय इच्छा का समर्थन कहाँ तक प्राप्त है।"* इस प्रश्न का ग्रीन जो उत्तर देता है वह उसके राजनीतिक दर्शन का हृदय है।

जिस बाध्यकारी शक्ति के द्वारा राज्य समाज में अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की

* "Here we reach the paradox, the unavoidable paradox, of state action. It uses force to create freedom. In order to face this paradox we have to inquire, in the first place, what is the body that uses force, and in the second place how far its action is endorsed by the living and active will of the members of the society." —Barker: *op. ct.*, page 37.

प्रणाली को कायम रखता है उसे राजनीतिक दार्शनिक सामान्यतया 'संप्रभुता' कहकर पुकारते हैं, और संप्रभुता को ऐसा गुण समझते हैं जोकि राज्य तथा अन्य मानव समुदायों में विभेद करता है। समाज में इसका निवास कहाँ है? इस प्रश्न के विभिन्न उत्तर दिये गये हैं। ग्रीन इनमें से दो की विवेचना करता है और उनमें सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा करता है। संप्रभुता को रूसो **सामान्य इच्छा** (General Will) में रखता है और जॉन आस्टिन उसे एक ऐसे निश्चित मानवश्रेष्ठ में रखता है जिसकी आज्ञा का पालन समाज में अधिकांश स्वाभाविक रूप से करते हैं और जिसे किसी अन्य श्रेष्ठ मानव की आज्ञापालन की आदत नहीं होती। ये दोनों धारणायें ऐसी प्रतीत होती हैं जिनमें कोई सामंजस्य स्थापित नहीं हो सकता; रूसो की **सामान्य इच्छा** एक निश्चित मानव या मानवसमूह की इच्छा के प्रतिरूप नहीं हो सकती; उसकी अभिव्यक्ति तो समस्त नागरिकों के मत द्वारा ही हो सकती है। इसके अतिरिक्त रूसो द्वारा प्रतिपादित सामान्य इच्छा किसी के ऊपर बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकती, यह तो एक निराकार तथा अमूर्त चीज है और बाध्यकारी शक्ति केवल एक रक्त मांस के बने मूर्त्त प्राणी में ही हो सकती है। ग्रीन का विश्वास है कि ये दोनों धारणायें परस्पर-विरोधी नहीं हैं बल्कि एक दूसरे की पूरक हैं। यदि हम इनको इस दृष्टि से देखें तो हम यथार्थ संप्रभुता की सच्ची धारणा पर पहुँच जायेंगे।

यह जानते हुए कि कानून यदि सच्चा कानून है तो उसे एक विधिवत् निर्मित तथा सामान्य मान्यता प्राप्त सरकार के किसी अंग द्वारा बनाया जाना और लागू किया जाना चाहिये। ग्रीन ने ऑस्टिन के सिद्धान्त के इस सत्य को सुगमतापूर्वक मान लिया कि "एक पूर्ण रूप से विकसित समाज में कोई निश्चित मानव या मानव-समूह ऐसा होना चाहिये जिसके पास अन्ततोगत्वा कानूनों को लागू करने और मनवाने की शक्ति हो और जिसके ऊपर कोई कानूनी नियन्त्रण नहीं हो सकता।" ब्रिटेन में ऐसी संप्रभुतासम्पन्न शक्ति राजा सहित संसद (King-in-Parliament) है जिसकी आज्ञा का पालन जनता आदतन करती है और जिसे किसी बाह्य शक्ति की आज्ञा का पालन करने की आदत नहीं। आज की शताब्दी में ऐसी शक्ति को कानूनी संप्रभु (Legal Sovereign) कहा जायेगा। परन्तु ऑस्टिन के अनुयायी जब इससे आगे बढ़ते हैं और यह मानते हैं कि अधिकांश जनता का ऐसे संप्रभु की आज्ञा का पालन करने का वास्तविक कारण यह है कि उसके पास बाध्यकारी शक्ति है, अर्थात् उसके पास दण्ड का भय दिखलाकर कानूनों का पालन करने के लिये विवश करने की शक्ति है, तो वे भूल करते हैं। ग्रीन के अनुसार आदतन आज्ञा-पालन का वास्तविक कारण यह है कि जनता यह विश्वास करती है कि कानून उसकी भलाई के लिये हैं और संप्रभु शक्ति समाज की सामान्य इच्छा को अभिव्यक्त करती है। 'संप्रभु शक्ति' इन शब्दों का प्रयोग यदि हम कम अमूर्त्त तथा अधिक पूर्ण अर्थों में करें और इनका अर्थ 'जनता की आदतन आज्ञा-पालन के वास्तविक निर्धारक' से लगायें तो ग्रीन कहता है कि हमें

इसके स्रोतों के लिये 'विश्लेषणवादी न्यायशास्त्रियों (Analytic Jurists) की अपेक्षा अधिक व्यापक और गहरे रूप से देखना चाहिये। इसका निवास 'उस जनता की आशाओं और भय की शृंखला में पाया जायेगा जोकि सामान्य हितों और सहानुभूति से एक सूत्र में बँधी हुई है, जिसे हम सामान्य हित कहते हैं। स्पष्टता के लिये सामान्य इच्छा को राजनीतिक संप्रभु कहा जा सकता है।' यह किसी निश्चित मानव या मानव समूह में नहीं रहती और किसी बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग नहीं करती। यह कानूनों को नहीं बनाती और लागू नहीं करती, यह इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। यह वह शक्ति है जोकि समाज की सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं को कायम और सुरक्षित रखती है जिनके बिना अधिकारों का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। जहाँ तक कि 'राजनीतिक समाज की संस्थायें सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति हैं और उसी के द्वारा कायम रहती हैं', यह कहा जा सकता है कि सामान्य इच्छा ही अन्तिम संप्रभु है।

सामान्य इच्छा की उपस्थिति तथा क्रिया का सबसे अच्छा उदाहरण एक लोकतन्त्रवादी समाज में मिलता है; उसी के ऊपर ग्रीन की यह प्रसिद्ध उक्ति सब में अधिक लागू होती है कि राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं। परन्तु एक निरंकुश शासक का अधिकार भी अन्ततोगत्वा सामान्य इच्छा के ऊपर आधारित होता है। हम इससे भी आगे बढ़ सकते हैं और कह सकते हैं कि विदेशी शासन के आधार में भी सामान्य इच्छा का सर्वथा अभाव नहीं होता। उदाहरण के लिये ब्रिटिश राज्य-काल में भारत में दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोपालकृष्ण गोखले तथा फिरोजशाह मेहता सरीखे नेता, जिन्होंने कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को जन्म दिया, ब्रिटिश शासन को एक वरदान समझते थे और भारत के ब्रिटिश साम्राज्य से बाहर निकलने की उन्होंने कभी कल्पना भी नहीं की। बुद्धिप्रधान वर्ग का सामान्यतया यह विश्वास था कि अंग्रेज लोग जनता के हित के लिये भारत पर शासन करते थे। ऐसी स्थिति में यह कहना गलत न होगा कि ब्रिटिश शक्ति जनता की इच्छा पर आधारित थी। परन्तु जब जनता में राजनीतिक चेतना जाग्रत हुई और वह स्वराज्य की मांग करने लगी और सरकार उसको कुचलने लगी तो शासन का आधार इच्छा की अपेक्षा पशुबल अधिक हो गया। सामान्य इच्छा की अधिकाधिक अभिव्यक्ति भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में होने लगी। भारत में ब्रिटिश राज्य का अन्त कर देना कांग्रेस की सामान्य इच्छा को अभिव्यक्त करने की बढ़ती हुई शक्ति का नकारात्मक पहलू था।

सारांश यह है कि ग्रीन के अनुसार राज्य के अस्तित्व के लिये एक सर्वोच्च बाध्यकारी शक्ति आवश्यक है; अधिकार तथा कर्त्तव्य की सामान्य प्रणाली की रक्षा के लिये इसकी आवश्यकता है, परन्तु यह कहना गलत है कि राज्य इसी बाध्यकारी शक्ति के द्वारा जीवित रहता है। उसकी वास्तविक प्राण-शक्ति सामान्य इच्छा है। शक्ति अधिकारों की केवल रक्षा कर सकती है; वह उन्हें जन्म नहीं दे सकती।

अधिकार सामान्य इच्छा द्वारा, सामान्य उद्देश्य की सामान्य चेतना, जिससे कि समाज का निर्माण होता है' के द्वारा उत्पन्न होते हैं और उससे उन्हें प्राणशक्ति प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अपने कर्त्तव्यों का समुचित रूप से पालन करने के लिये राज्य के लिये शक्ति कितनी ही आवश्यक क्यों न हो किन्तु वह उसका मूलतत्त्व कभी नहीं हो सकती। जैसा कि ग्रीन ने कहा, "राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं है।" (Will, not force, is the basis of the State.) शक्ति उन थोड़े से नागरिकों को संयत रखने के लिये आवश्यक हो सकती है जिनमें किसी कारणवश नागरिक भावना का समुचित विकास नहीं हुआ है। कभी-कभी दूसरों में भी कानूनप्रियता की भावना को दृढ़ बनाने के लिये भी यह आवश्यक हो सकती है; किन्तु यह कभी नहीं कहा जा सकता है कि यह राज्य का आधार है। जब एक बार बाध्यकारी शक्ति, जोकि संप्रभुता का केवल एक प्रत्यय है, नागरिकों के साथ अपने आचरण में राज्य की एक विशेषता बन जाती है तो समझ लीजिये कि राज्य ने जनता के हृदय पर से अपना अधिकार खो दिया है और उसका अन्त निकट आ गया है। सारांश यह है कि ग्रीन के अनुसार संप्रभुता तथा सर्वोपरि बाध्यकारी शक्ति को तद्रूप समझना विचार की एक बुनियादी भूल है, संप्रभुता का मूल **सामान्य इच्छा** में है। वह लिखता है: "हमें संप्रभु को बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग करने वाली एक अमूर्त्त चीज नहीं समझना चाहिये, बल्कि राजनीतिक समाज की संस्थाओं की सम्पूर्ण जटिलता के सम्बन्ध में ही उसके ऊपर विचार किया जाना चाहिये। यह उनका पोषक है, और इस प्रकार सामान्य इच्छा का अभिकर्त्ता है, और यह कि यदि स्वभावतः भक्तिपूर्ण आज्ञाकारिता प्राप्त करने के लिये संप्रभु शक्ति का जनता के हृदयों पर अधिकार होना चाहिये, और आज्ञाकारिता यदि भक्तिपूर्ण नहीं है और बलपूर्वक लादी गई है तो वह स्वाभाविक नहीं हो सकती।"*

ग्रीन के राजनीतिक चिन्तन में **सामान्य इच्छा** की धारणा एक आधारभूत स्थान रखती है, इसलिये उसका विवरण देना नितान्त आवश्यक है। ग्रीन स्वयं अपने 'Lectures on the Principles of Political Obligation' के दो अध्यायों में सामान्य इच्छा के स्वरूप तथा संप्रभुता के साथ इसके सम्बन्ध की ही विवेचना करता है। अब हम उसी की समीक्षा करेंगे।

(घ) **सामान्य इच्छा** (General Will)— सामान्य इच्छा की धारणा पर ग्रीन स्पिनोजा, हॉब्स, लॉक तथा रूसो द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक आज्ञाकारिता के सिद्धान्तों की समीक्षा द्वारा पहुँचा। उसका विचार है कि उनके सिद्धान्तों में एक

* "The sovereign should be regarded, not in abstraction as the wielder of coercive force but in connection with the whole complex of institution of political society. It is as their sustainer, and thus as the agent of the general will, that the sovereign power must be presented to the minds of the people if it is to command habitual loyal obedience; and obedience will scarcely be habitual unless it is loyal and not forced." —Green : *Lectures*, Sec. 93.

आधारभूत दोष है और वह यह कि उन्होंने राज्य के दो मुख्य तत्त्वों— संप्रभु तथा प्रथा— की अत्यन्त अमूर्त्त रूप से कल्पना की है। उन्होंने प्रजाजन के सम्बन्ध में तो यह धारणा बनाई कि राज्य से पहले तथा राज्य से स्वतन्त्र उनके कुछ प्राकृतिक अधिकार थे, और राज्य को उन्होंने एक ऐसी सर्वोच्च वाध्यकारी शक्ति समझा जोकि प्रजाजन से बाहर और पृथक् है किन्तु जिनकी आज्ञा का पालन उन्हें करना पड़ता है। उसके सामने मुख्य समस्या यह थी कि राज्य के अपने प्रति आज्ञाकारिता के अधिकार और प्रजा के आज्ञाकारिता के कर्त्तव्य को किस प्रकार उचित सिद्ध किया जाये। उन्होंने सामाजिक संविदा के सिद्धान्त द्वारा इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया। ग्रीन का कहना है कि उनकी पूर्व मान्यतायें गलत थीं और उनकी पद्धति भ्रमपूर्ण थी। प्राकृतिक अधिकारों से सम्पन्न व्यक्ति और बाध्यकारी शक्ति से सुसज्जित राज्य से प्रारम्भ करने की अपेक्षा उन्हें सबसे पहिले समाज के मूल और विकास का अनुसन्धान करना चाहिये था। यदि वे यह जानने का प्रयास करते कि व्यक्ति के पास कुछ अधिकार तथा कर्त्तव्य किस प्रकार आते हैं, तो वे पाते कि अधिकार तथा कर्त्तव्य न तो इस अर्थ में प्राकृतिक हैं कि राज्य के जन्म से पहिले से ही वर्तमान हैं और न उनका स्रोत एक संप्रभु शक्ति है। वे पाते कि न केवल अधिकार और कर्त्तव्य, बल्कि समाज के समस्त संस्थान और स्वयं समाज एक सामान्य लक्ष्य की सामान्य चेतना की उत्पत्ति हैं। समाज का जन्म एक सामान्य हित की चेतना में होता है। इस सामान्य हित की सामान्य चेतना को ग्रीन **सामान्य इच्छा** कहकर पुकारता है। समाज के घटक होने के नाते, सामान्य हितों और उद्देश्यों को मानते हुए ही व्यक्तियों के अधिकार और कर्त्तव्य होते हैं। यह सामान्य चेतना न केवल अधिकारों और कर्त्तव्यों को उत्पन्न करती है बल्कि उन कानूनों और संस्थाओं को भी जन्म देती है जिसके द्वारा अधिकार प्रतिष्ठित होते हैं। इसके साथ ही साथ वह उस संप्रभुता की भी सृष्टि करती है जिसका ध्येय अधिकारों को क्रियान्वित करना और उन संस्थाओं को पूर्ण स्वस्थ अवस्था में रखना है जोकि अधिकारों और कानूनों के मूर्त्त रूप हैं। व्यक्ति को संप्रभु की आज्ञा का पालन क्यों करना चाहिये, इसका कारण ग्रीन ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है:—

"यह पूछना कि मैं राज्य की शक्ति के सामने क्यों झुकूँ यह पूछना है कि मैं अपने जीवन को उन संस्थानों द्वारा विनियमित क्यों होने देता हूँ जिनके बिना अपना कहने के लिये मेरा कोई जीवन ही न होता और न ही जो कुछ मुझसे करने के लिये कहा जाता है उसका मैं औचित्य पूछ सकता। इस बात के लिये कि मेरा एक जीवन हो जिसे मैं अपना कह सकूं, मुझे न केवल अपनी और अपने उद्देश्य की चेतना होनी चाहिये; उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये मुझे कर्म और संचय की कुछ स्वतन्त्रता भी होनी चाहिये, और इसकी प्राप्ति तभी हो सकती है जबकि समाज के

सदस्य एक दूसरे की स्वतन्त्रता को मान्यता दें क्योंकि वह सामान्य हित के लिये आवश्यक है।"*

इस प्रकार ग्रीन यह सिद्ध करने की चेष्टा करता है कि राज्य का जन्म एक सामाजिक संविदा द्वारा नहीं होता बल्कि वह मनुष्यों की सामान्य हित की सिद्धि की इच्छा का फल है और उसकी प्राप्ति के लिए एक अपरिहार्य शर्त है। यह वह आधार-भूत सत्य है जोकि रूसो को सिखाना पड़ा था यद्यपि उसने इस पर सामाजिक संविदा का आवरण चढ़ा दिया। ग्रीन संविदा की धारणा और शब्दावली को तो निरस्त करता है, किन्तु रूसो के इस महत्त्वपूर्ण सत्य को स्वीकार करता है कि राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं।

इस सिद्धान्त से ग्रीन का अभिप्राय इससे अधिक कुछ नहीं है कि समाज का निर्माण करने वाली और उसे एक सूत्र में बांधकर रखने वाली शक्ति सामान्य हित की सामान्य चेतना है। राज्य का तथा उन अधिकारों, कर्त्तव्यों, तथा कानून की प्रणाली का जन्म कुछ ऐसे विवेकप्रधान कर्त्तव्यों के कारण होता है जोकि सामान्य हितों को अपने सामने रखने और अपने कार्यों के द्वारा निर्धारित करने की सामर्थ्य रखते हैं। इस प्रकार ग्रीन समाज तथा व्यक्ति के बीच उस विरोध का निराकरण कर पाता है जोकि हॉब्स, लॉक तथा रूसो के लेखों में इतना प्रधान स्थान रखता है और जिसे वे सरलतापूर्वक सुलझा नहीं सके। इसी कारण वे राजनीतिक आज्ञा-पालन की समस्या का निराकरण भी अपने पूर्ववर्तियों (जिनमें रूसो भी है) की अपेक्षा अधिक समुचित रूप से कर पाया है। परन्तु यहाँ इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि क्या सामान्य हित अथवा सामान्य उद्देश्यों की सामान्य चेतना का विचार समाज के प्रत्येक घटक में सामान्यतया वर्तमान रहता है और उसके आचरण को चैतन्य रूप से निर्धारित करता है और क्या यह पूर्ण रूप में केवल कुछ व्यक्तियों में कभी-कभी पाया जाता है। इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास करने से पहिले ग्रीन के सामान्य इच्छा के सिद्धान्त के विषय में दो शब्द कह देना आवश्यक होगा।

इस प्रसंग में हमें यह बात याद रखनी चाहिये कि ग्रीन का सिद्धान्त राज्य की सामान्य इच्छा का सिद्धान्त नहीं है जिसके नाम में कि फासिस्टों ने इतने घोर अत्याचार किये और जिस इच्छा की एक विकृत व्याख्या करके उन्होंने अल्पमत वालों को कुचला और सम्पूर्ण समाज को अपनी आज्ञा का पालन करने के लिये विवश किया। यह

* "To ask why I am to submit to the power of the state, is to ask why I am to allow my life to be regulated by that complex of institution without which I literally should not have a life to call my own, nor should be able to ask for a justification of what I am called on to do. For that I may have a life which I can call my own I must not only be conscious of myself and of ends which I present to myself as mine ; I must be able to reckon on a certain freedom of action and acquisition for the attainment of those ends, and this can only be secured through common recognition of this freedom on the part of each other by members of a society, as being for a common good."

—*Lectures*, Sec. 114.

राज्य के लिये, राज्य को कायम रखने की इच्छा का सिद्धान्त है। बार्कर के शब्दों में सामान्य इच्छा "यह दावा है कि राजनीतिक कार्य को उत्प्रेरित तथा नियन्त्रित करने वाली शक्ति अन्तिम रूप से एक आत्मिक शक्ति है, वह एक सामान्य विश्वास है जिस से सदाचरण उत्पन्न होता है, वह एक सामान्य अन्तःकरण है जो कि केवल समाज के मंत्रियों तथा अभिकर्त्ताओं को शक्ति प्रदान कर सकता है ... वह उस संप्रभु को जन्म देता है जिसका कार्य उन समस्त संस्थाओं को पूर्ण स्फूर्ति तथा पूर्ण सामंजस्य के साथ कायम रखना है जोकि अधिकारों और कानून के साकार रूप हैं।"*

अब हम उस प्रश्न पर विचार कर सकते हैं जिसे कि हमने कुछ पहले उठाया था, अर्थात् यह कि 'सामान्य उद्देश्य की सामान्य चेतना अशिक्षित और भूखों मरते हुए जनसाधारण में कहाँ तक वर्तमान रहती है। साधारण नागरिकों में इस चैतन्य की उपस्थिति की बात करना क्या कोरा प्रमाद नहीं है? ग्रीन का उत्तर यह है कि वह उस साधारण व्यक्ति से जोकि अपने दैनिक कार्यों में बुरी तरह फँसा हुआ है और जिसे यह मालूम नहीं कि राज्य का उस पर क्या ऋण है, स्पष्ट रूप से सामान्य चेतना रखने की आशा नहीं रखता। अशिक्षित और भरपेट भोजन भी न पाने वाले नागरिकों का तो क्या कहना, शिक्षक, वकील, डाक्टर तथा राज्य के अभिकर्त्ता को भी इसका अपूर्ण तथा अपर्याप्त ज्ञान ही हो सकता है। ग्रीन लिखता है :

"सामान्य हित का विचार, जिसकी कि राज्य पूर्ति करता है, उन लोगों को संचालित करने वाला एकमात्र कारण नहीं रहा जोकि उस ऐतिहासिक प्रक्रिया के अभिकर्त्ता रहे हैं जिसके द्वारा राज्यों का निर्माण हुआ है; और जहाँ तक इसने संचालित किया भी है तो एक बहुत अपूर्ण रूप में ही इसने ऐसा किया है।"†

किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि साधारण नागरिकों को उस सामान्य हित का कोई आभास नहीं जिसकी कि राज्य पूर्ति करता है। यह वर्तमान समस्त नागरिकों के मस्तिष्क में रहता है, यद्यपि बहुत प्रारम्भिक रूप में। यदि इसका सर्वथा अभाव होता तो राज्य का अस्तित्व ही नहीं हो सकता था और कायम नहीं रह सकता था। हम कह सकते हैं कि यह नैतिक कर्त्तव्य के विचार के सदृश ही वर्तमान और सक्रिय

* "General will is rather an assertion that the ultimate moving force which inspires and controls political action is a spiritual force, a common conviction that makes for righteousness, a common conscience that alone can arm the minister and agents of the community with power ... It creates the sovereign whose mission is to sustain in full vigour and in complete harmony all the living institutions which are the concrete embodiments of rights and law."

—Barker : *op. ct.*, page 38.

† "The idea of the common good which the state fulfils has never been the sole influence actuating those who have been agents in the historical process by which states have come to be formed; and even so far as it has actuated them, it has been only as conceived in some very imperfect form that it has done so. This is equally true of those who contribute to the formation and maintenance of states rather as agents, and of those who do rather as patients." —*Lectures*, Section 121.

रहना है। यद्यपि हम सब पर नैतिक आदर्श की धारणा का प्रभाव पड़ता है, किन्तु इसकी पूर्ण चेतना केवल कुछ व्यक्तियों में और वह भी कभी कभी होती है। ग्रीन के अनुसार सामान्य हित और नैतिक कर्त्तव्य की धारणा का एक ही स्रोत है। हो सकता है कि एक व्यक्ति अपनी मजदूरी प्राप्त करते समय और सार्वजनिक नल से पानी लेते समय राज्य के विषय में न सोचता हो, किन्तु जहां तक वह अपने तथा अपने पड़ौसियों के सामान्य अधिकारों तथा विशेषाधिकारों को स्पष्ट रूप से समझता है उसे कानून द्वारा पोषित सामान्य हित का आवश्यक प्रारम्भिक ज्ञान है। ग्रीन इस बात के ऊपर बहुत जोर देता है कि इस प्रारम्भिक धारणा को स्वभावतः माने बिना एक व्यक्ति कानून का विरोधी बन जाता है और राज्य का आधार ही लुप्त हो जाता है। इस प्रारम्भिक धारणा को विकसित तथा पुष्ट करना और सार्वजनिक मामलों के प्रबन्ध में उसे भाग देकर व्यक्ति को विवेकशील देशभक्त बनाना राज्य का कर्त्तव्य होना चाहिए।

(ङ) व्यक्ति तथा समाज— सामान्य इच्छा तथा संप्रभुता के साथ उसके सम्बन्ध की ग्रीन ने जो विवेचना की है उससे जो महान् सत्य निकलता है वह यह है कि व्यक्ति राज्य के प्रति भक्ति इसलिये रखता है क्योंकि वह यह अनुभव करता है (शायद अनजाने ही) कि यह सामान्य हित की उत्पत्ति और उसका मूर्त्त रूप है। वह सत्य के इस दूसरे पक्ष को भी स्पष्ट रूप से स्पष्ट रखता है कि पशुबल तथा उससे उत्पन्न भय के द्वारा राज्य प्रजाजन की केवल क्षणिक भक्ति ही प्राप्त कर सकता है। उसका विश्वास है कि अन्ततोगत्वा जनता केवल उन्हीं संस्थाओं के आदेश का स्वाभाविक रूप से पालन करती है जोकि उसकी सामान्य इच्छा के अनुकूल होते हैं। इससे यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठ खड़ा होता है कि यदि कोई अनुभव करे कि कोई कानून-विशेष उसकी सामान्य हित की धारणा के विरुद्ध है तो वह क्या करे। उसे उसको मानना चाहिए या उसका विरोध करना चाहिए? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, यह एक युग-युगान्तरों से चला आता हुआ प्राचीन प्रश्न है कि आदर्श के प्रति भक्ति तथा व्यक्तिगत स्वार्थों से प्रेरित निकृष्ट तथा सामान्य हित के विरुद्ध कानून के बीच संघर्ष की स्थिति में व्यक्ति को क्या करना चाहिए। ग्रीन इस पर सतर्कता के साथ विचार करता है और गम्भीरतापूर्वक इसका उत्तर देता है।

इस प्रश्न का ग्रीन ने जो उत्तर दिया है उसकी समीक्षा करते हुए हमें यह याद रखना चाहिए कि वह प्राकृतिक अधिकारों के उस प्राचीन सिद्धान्त को पूर्ण रूप से ठुकराता है जिसके अनुसार व्यक्ति समाज के विरुद्ध भी कुछ अधिकारों का दावा कर सकते हैं। ग्रीन के अनुसार समाज के विरुद्ध अधिकारों की धारणा शब्द-विरोध है। अधिकार व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व का विकास करने और सामान्य हित की वृद्धि करने के लिये दिये जाते हैं, इसलिये कोई भी व्यक्ति समाज से ऊपर कोई अधिकार नहीं रख सकता; समाज के विरुद्ध व्यक्ति के अधिकारों का तो प्रश्न ही नहीं उठता। व्यक्ति केवल यह दावा कर सकता है कि उसे समाज का घटक समझा

जाए। इसलिये जब उसके सामने कोई ऐसा कानून आये जिसे वह सामान्य हित के विरुद्ध होने के कारण बुरा समझता हो तो वह अपनी इच्छानुसार आचरण करने का दावा नहीं कर सकता; उसे उसका विरोध या उल्लंघन नहीं करना चाहिये, वल्कि उसका पालन करना चाहिये। हाँ, कानूनी तथा संवैधानिक साधनों से उसे रद्द कराने के लिये वह जो कुछ कर सकता है उसे करना चाहिये। परन्तु जब तक वह कानून कानून है तब तक एक बुद्धिमान देशभक्त के नाते उसका पालन करना उसका कर्त्तव्य है। उसे उसका पालन करना चाहिये क्योंकि यद्यपि वह उस आदर्श कानून प्रणाली के विरुद्ध है जोकि कायम रहनी चाहिये, तथापि वह अधिकारों की उस सम्पूर्ण प्रणाली का एक अंग है जिसे समाज 'शुभ' के लिये मानव शक्ति को स्वतन्त्र करने के लिये अति आवश्यक समझते हुये लागू करता है। एक अंग के लिये सम्पूर्ण का वलिदान नहीं करना चाहिये। एक नये तत्त्व को उसमें जोड़ने के लिये ही स्थित अधिकार प्रणाली को नष्ट नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से अव्यवस्था फैल जाने का खतरा है, जैसा कि ग्रीन कहता है :

"एक व्यक्ति के एक बुरे कानून अथवा अध्यादेश को मानने की अपेक्षा उसे तोड़ने से (जब तक उसे रद्द न करा दिया जाये) सामान्य हित को अधिक आघात पहुंचता है। इसलिये कानूनों का पालन करना व्यक्ति का सामाजिक कर्त्तव्य है, और उसका ऐसा कोई अधिकार नहीं हो सकता जोकि उसके सामाजिक कर्त्तव्य के विरुद्ध हो।"*

किसी घृणित कानून को रद्द कराने के लिये जब समस्त संवैधानिक साधन विफल हो जायें या जब संवैधानिक साधन उपलब्ध ही न हों, जैसा कि वे जारशाही के जमाने में रूस में और अंग्रेजों के जमाने में भारत में नहीं थे, तो ऐसी स्थिति में व्यक्ति क्या करे? ग्रीन कहता है कि व्यक्ति को अन्यायपूर्ण कानून के विरुद्ध जनमत तैयार करना चाहिये और अवज्ञा आन्दोलन खड़ा करना चाहिये जैसा कि रॉलट बिल के विरुद्ध गाँधी जी ने किया या जैसा कि इटली में मैजिनी (Mazzini) ने किया। ऐसी स्थिति में निरंकुश शक्ति की अवज्ञा करना एक अधिकार नहीं हो जाता; परन्तु यह एक कर्त्तव्य अवश्य हो जाता है। ग्रीन राज्य की शक्ति की अवज्ञा के कर्त्तव्य की बात करता है, अधिकार की नहीं। परन्तु वह इस बात का आग्रह करता है कि अवज्ञा जन-हित के नाम में और ऐसे आधारों पर होनी चाहिये जिन्हें जनता समझ सकती है और उन्हें उचित समझती है। यदि सामाजिक अराजकता के खतरे से बचना है तो सरकार के विरुद्ध और अवज्ञा के पक्ष में जनता में एक तीव्र और विवेकपूर्ण भावना होनी चाहिये। अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन अथवा

* "The common good must suffer more from resistance to a law or to the ordinance of a legal authority, than from the individual conformity to a particular law or ordinance that is bad, until its repeal can be obtained. It is thus the social duty of the individual to conform, and he can have no right that is against his social duty." —*Lectures*, Sec. 100.

अवज्ञा आन्दोलन का आरम्भ करने के पहले गाँधी जी ने तीव्र प्रचार के द्वारा देश को तैयार किया था। किस स्थिति में निरंकुश शासन की अवज्ञा करना एक कर्त्तव्य बन जाता है, इसके लिये कोई निश्चित नियम निर्धारित नहीं किये जा सकते। यहाँ पर हमारे लिये केवल इतना ही जानना काफी होगा कि ग्रीन यह मानता है कि किन्हीं स्थितियों में शासन की अवज्ञा करना एक सामाजिक कर्त्तव्य हो जाता है। वह कान्ट तथा हीगल से कितनी दूर चला गया, इस बात के ऊपर जितना प्रकाश उसके राज्य की अवज्ञा के कर्त्तव्य को स्वीकार करने से पड़ता है उतना अन्य किसी बात से नहीं। किन्तु हमें यह याद रखना चाहिये कि ग्रीन के अनुसार राज्य की अवज्ञा करना आवश्यक कर्त्तव्य (obligatory) नहीं है; वह तो केवल यह कहता है कि कुछ स्थितियों में ऐसा करना उचित (justifiable) है। यह केवल राज्य के हित में उचित है, व्यक्तिगत तथा निजी हितों की वृद्धि के लिये नहीं। जो अवज्ञा करना चाहते हैं, उन्हें यह सिद्ध करना चाहिये कि शासन का सफल विरोध करने से एक निश्चित सामाजिक हित की सिद्धि होने वाली है।

(च) **राज्य द्वारा रक्षित अधिकार**— उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि एक राज्य की सच्ची विशेषता एक निश्चित मानव श्रेष्ठ द्वारा वाध्यकारी शक्ति का प्रयोग करना नहीं है, बल्कि अधिकतर नागरिकों का अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की एक प्रणाली के सामने यह जानते हुये समर्पण करना है कि राज्य द्वारा सुरक्षित अधिकार और कर्त्तव्य सामान्य हित की वृद्धि के लिये आवश्यक हैं। दूसरे शब्दों में, राज्य को अपनी वाध्यकारी शक्ति का प्रयोग उचित रूप से और अधिकारों तथा सम्बन्धित संस्थाओं को कायम रखने के लिये करना चाहिये। इसलिये इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है : वे अधिकार तथा कर्त्तव्य कौन से हैं जिन्हें राज्य रक्षित तथा पुष्ट करना है ? इस प्रश्न का ग्रीन ने जो उत्तर दिया है, उससे उसके राज्य के कार्य के स्वरूप तथा क्षेत्र का अनुमान लगाया जा सकता है।

सबसे अधिक आधारभूत तथा महत्त्वपूर्ण अधिकार है जीवन तथा स्वतन्त्रता का अधिकार या जैसा कि ग्रीन उसे कहता है, जीवन का अधिकार। जीवन के अधिकार और स्वतन्त्रता के अधिकार में कोई विभेद नहीं किया जा सकता, क्योंकि जीवन को अपनी इच्छानुसार व्यतीत करने के अधिकार के बिना केवल जीवन का अधिकार सर्वथा निरर्थक है। स्वतन्त्र जीवन का अधिकार समाज के प्रत्येक घटक को इसलिये दिया जाना चाहिये क्योंकि उसमें मानवता है अर्थात् उसमें अपने कार्यों को सामान्य हित को दृष्टि में रखते हुए निर्धारित करने की सामर्थ्य है। जो समाज मनुष्य के किसी भी कार्य को यह स्वतन्त्रता देने से इन्कार करता है उसे विकास की क्षणिक अवस्था में ही समझा जा सकता है। इसी लिये किसी भी रूप में दास प्रथा गलत है। अस्पृश्यता तथा वर्ण-भेद की नीति भी गलत होनी चाहिए; ये प्रथायें इस आधारभूत अधिकार के ऊपर आघात करती हैं। राज्य इस अधिकार को युद्धकाल में समाप्त कर देता है और शान्तिकाल में अपने दण्ड देने के अधिकार तथा अपने

नशेबन्दी करने तथा अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने आदि के कर्त्तव्य द्वारा उसे सीमित कर देता है। ग्रीन के युद्ध तथा दण्ड सम्बन्धी विचार हीगल से काफी भिन्न हैं, इस लिये इनके सम्बन्ध में यहाँ पर दो शब्द कह देना अनावश्यक न होगा। हीगल के विपरीत, जोकि युद्ध को एक सदाचार तथा जनता के नैतिक स्तर को कायम रखने और ऊँचा उठाने के लिये आवश्यक समझता था, ग्रीन का विश्वास था कि युद्ध सदैव एक बुराई है क्योंकि यह मानव-जीवन को नष्ट करता है। वह स्वीकार करता था कि लड़ाई से लड़ने वालों में देशभक्ति जैसे सद्गुण उत्पन्न हो सकते हैं; और यह कि कभी इसके फलस्वरूप मानव-जाति की नैतिक प्रगति हो सकती है, जैसे कि ऑस्ट्रिया के विरुद्ध इटली का स्वतन्त्रता तथा एकता के लिये युद्ध अथवा रूस के विरुद्ध जापान का युद्ध; और यह कि कुछ स्थितियों में यह एक निर्दयतापूर्ण आवश्यकता हो सकती है जैसा कि जब कि पहले किये हुए अनाचार को समाप्त करने के लिये किया जाये। परन्तु इन सब बातों के मानने से उसका मूल स्वरूप नहीं बदल जाता, क्योंकि वह मनुष्यों के स्वतन्त्र जीवन के अधिकार को छीनता है और इसलिये यह नैतिक रूप से गलत है। कुछ स्थितियों में यह सापेक्षिक रूप से उचित हो सकता है, परन्तु पूर्ण रूप से सही कभी नहीं। जैसा कि ग्रीन लिखता है: 'युद्ध की कोई भी अवस्था मनुष्य द्वारा जीवन के विकास को सही नहीं बना सकती, यद्यपि उसकी गलती को उसके समस्त पक्षों पर सदैव नहीं मंढा जा सकता।'*

ग्रीन का हीगल से मतभेद न केवल इस बात में था कि वह युद्ध को एक बुराई समझता था, इससे भी बढ़कर उसका मतभेद उससे इस बात में था कि उसका विश्वास था कि युद्ध की आवश्यकता तथा भावना का अन्त किया जा सकता है। ग्रीन युद्ध को एक अपूर्ण राज्य का गुण समझता था; उसके अनुसार युद्ध इसलिये होते हैं कि राज्य अपने कार्यों को पूर्ण रूप से नहीं कर पाते। राज्यों का आन्तरिक संगठन जितना ही अधिक पूर्ण होगा और अपने नागरिकों के अधिकारों को वे जितना ही अधिक रक्षित रख सकेंगे और उनमें सामंजस्य स्थापित कर पायेंगे, युद्ध के अवसर उतने ही कम हो जायेंगे। ग्रीन के शब्दों में "वह संगठन जितना ही अधिक पूर्ण हो जाता है, अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष के ध्येय और अवसर उतने ही अधिक लुप्त होने लगते हैं, जबकि एकता के बन्धन दृढ़तर हो जाते हैं।"†

ग्रीन का हीगल से मतभेद एक और भी महत्त्वपूर्ण बात में था। हम देख चुके हैं कि जर्मन दार्शनिक राष्ट्र-राज्य को सामाजिक संगठन का सर्वश्रेष्ठ रूप मानता था और किसी ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की कल्पना ही नहीं कर सकता था

* "No state of war can make the destruction of man's life by man other than wrong, although the wrong is not always chargeable upon all the parties to a war." —*Lectures*, Sec. 166.

† "The more complete the organisation becomes, the more the motives and occasions of international conflict tend to disappear, while the bonds of unity become stronger." —*Lectures*, Section 174.

जिसके स्वतन्त्र राष्ट्र-राज्य घटक बन सकते थे। वह उन्हें नैतिक कानून से भी मुक्त रखता था। ग्रीन सम्पूर्ण मानवता की सामान्य इच्छा में विश्वास करता है और उसके आधार मनुष्य के विश्व-व्यापक भ्रातृत्व की धारणा पर पहुँचता है। विश्व-व्यापक भ्रातृत्व की यह धारणा ग्रीन की एक विशिष्ट धारणा है और यह उसकी युद्ध की निन्दा का सैद्धान्तिक समर्थन है। ग्रीन का यह विचार है कि मानव जाति की सामान्य चेतना के आधार पर हम एक ऐसा नैतिक विधान तैयार कर सकते हैं जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्र-राज्यों के कार्यों की नैतिकता का निर्णय किया जा सके। दूसरे शब्दों में, ग्रीन एक अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक विधान में विश्वास करता है जिसे राष्ट्रीय-राज्यों के अन्दर पाये जाने वाले नैतिक विधान का ही विस्तरण समझा जा सकता है। ये विचार स्वतन्त्र जीवन के अधिकार के साथ सम्बद्ध हैं जिसे ग्रीन नागरिकता का मूल समझता है।

(छ) **दण्ड** (Punishment)— स्वतन्त्र जीवन का अधिकार राज्य द्वारा दण्ड देने के अधिकार द्वारा सीमित है। यदि कोई व्यक्ति अन्य मनुष्यों के उचित अधिकारों पर आघात करता है तो राज्य को दण्ड द्वारा ऐसे व्यक्ति की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने का अधिकार है। कोई इस बात से तो इन्कार नहीं करता किन्तु दण्ड के स्वरूप और उद्देश्य के सम्बन्ध में राजनीतिक दार्शनिकों में बड़ा मतभेद पाया जाता है। कुछ उसे प्रतिशोधात्मक (Retributive) समझते हैं, कुछ प्रतिरोधात्मक (Deterrent or Preventive) और कुछ सुधारात्मक (Reformative)। ग्रीन का कहना है कि यह मुख्य रूप से प्रतिरोधात्मक है, किन्तु यह केवल ऐसा ही नहीं है। प्रतिशोध का तत्त्व भी इसमें सम्मिलित रहता है और यदि अपराधी इस बात को समझता है कि उसे राज्य द्वारा दण्ड क्यों दिया जा रहा है और उसके औचित्य को भी अनुभव करता है तो यह सुधारात्मक भी हो जाता है। दूसरे शब्दों में, ग्रीन के अनुसार दण्ड प्रतिशोधात्मक, प्रतिरोधात्मक तथा सुधारात्मक तीनों है, यद्यपि मुख्य रूप से वह प्रतिरोधात्मक ही है।

मुख्य रूप से यह प्रतिरोधात्मक इसलिये है क्योंकि इसका गलत कार्य करने के विचार के साथ दण्ड के भेद को जोड़ कर एक सम्भाव्य अपराधी को अपराध करने से रोक कर अधिकारों और कर्तव्यों की प्रणाली की रक्षा करना है; इसका उद्देश्य उन बाह्य स्थितियों को सुरक्षित रखना है जो कि स्वतन्त्र इच्छा के कर्म के लिये आवश्यक हैं। ग्रीन का बल इस बात पर है कि दण्ड की धारणा में यह बात निहित है कि दण्डित व्यक्ति में अपने कार्यों को सामान्य हित की भावना द्वारा निर्धारित करने की सामर्थ्य है और दण्ड देने वाले अधिकारी को जनहित पर आधारित अधिकार का विचार है। जहाँ इनमें से कोई एक विचार नहीं है वहाँ सच्चे अर्थों में दण्ड नहीं हो सकता; यदि पशु या बच्चे कोई हानिकारक कार्य करते हैं तो हम उन्हें दण्ड नहीं देते और न ही हम उस दण्ड को न्यायोचित समझते हैं जो कि व्यक्ति को किसी ऐसे कार्य करने के लिये दिया जाय जो कि माने हुये अधिकार

को भंग न करता हो। यदि दण्ड न्यायोचित है, अर्थात् यदि दण्डित व्यक्ति यह अनुभव करता है कि दण्ड के स्वरूप में उसे जो मिला है उसका वह पात्र है और उसका स्वयं का कार्य ही दण्ड के रूप में उसके ऊपर आ रहा है, तो दण्ड प्रतिशोधात्मक हो जाता है; केवल इसी अर्थ में हम दण्ड को प्रतिशोधात्मक कह सकते हैं। राज्य द्वारा दण्ड इस अर्थ में प्रतिशोधात्मक नहीं होता कि वह बदले की भावना से प्रेरित होता है; उसका उद्देश्य सर्वथा भिन्न होता है। उसका ध्येय केवल अधिकारों को भंग होने से रोकना है।

जहाँ तक अपराधी यह अनुभव करता है कि जो दण्ड उसे मिला उसका वह पात्र था और वह अपने कार्य के समाज-विरोधी स्वरूप को समझ कर पश्चात्ताप करने लगता है, दण्ड का प्रभाव सुधारात्मक हो जाता है। वह सुधारात्मक उसी सीमा तक होता है जहाँ तक कि वह वास्तव में प्रतिरोधात्मक होता है। इस प्रकार दण्ड का सुधारात्मक कार्य उसके प्रतिरोधात्मक कार्य का ही एक परिणाम है; इसका अर्थ केवल यह है कि अपराधी अपनी अपराध करने की आदत से मुक्त हो जाता है। सुधारात्मक यह इस अर्थ में नहीं है कि इसका प्रत्यक्ष उद्देश्य अपराधी का नैतिक सुधार करना है। ग्रीन इस बात के ऊपर बहुत बल देता है कि राज्य का न्यायिक कार्य अपराधी के नैतिक पतन को नहीं देखता और न ही देख सकता है, और वह दण्ड की मात्रा को नैतिक पतन के अनुपात में करने की कोई चेष्टा नहीं करता। अपराध में निहित नैतिक पतन की मात्रा का सम्बन्ध अपराधी के ध्येय और चरित्र से होता है जिसे न्यायरक्षक नहीं जान सकता, इसलिये उसके ऊपर वह कोई ध्यान नहीं दे सकता। इसके अतिरिक्त राज्य को अपराधी के नैतिक पतन पर ध्यान देना भी नहीं चाहिये क्योंकि राज्य का कार्य दुष्टता को दण्डित करना नहीं है।

'राज्य की दृष्टि पुण्य और पाप पर नहीं, बल्कि अधिकारों और अपराधों पर रहती है। जिस अपराध के लिये यह दण्ड देता है यह उसमें निहित गलती को देखता है, किन्तु बदला लेने के लिये नहीं, बल्कि भविष्य में अधिकारों की रक्षा करने के लिये गलती करने की भावना के साथ आवश्यक भय को सम्बद्ध करने के लिये।'*

यद्यपि ग्रीन इस बात पर आग्रह करता है कि दण्ड का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न तो अपराधी के पहले नैतिक पतन से होता है और न उसका उद्देश्य भविष्य में उसका नैतिक सुधार करना होता है, तथापि यह नैतिक उद्देश्य और नैतिक गुण से सर्वथा विहीन नहीं होता। हम कह सकते हैं कि इसका अन्तिम उद्देश्य नैतिक होता है क्योंकि इसका ध्येय अधिकारों और कर्त्तव्यों की उस प्रणाली को सुरक्षित रखना

* 'The state looks not to virtue and vice but to rights and wrongs It looks back to the wrong done in the crime it punishes. not, however, in order to avenge it, but in order to the consideration of the sort of terror which needs to be associated with such wrong doing in order to the future maintenance of rights." —*Lectures*, Section 204.

है जोकि जीवन के नैतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिये आवश्यक है। इसमें एक नैतिक गुण होता है, क्योंकि इसके द्वारा अपराधी को अपने कार्यों के सच्चे स्वरूप को जानने और अपनी इच्छा को सुधारने में सहायता मिलती है। सबसे बढ़कर बात यह है कि इससे सामान्य हित की ओर अपने को अग्रसर करने की अपराधी की शक्ति स्वतन्त्र हो सकती है। दण्ड के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष प्रभावों को सबसे अच्छे ढंग से प्रोफेसर बार्कर के निम्नलिखित शब्दों में दिया जा सकता है:—

"प्रत्यक्ष रूप से यह अधिकारों की विरोधी शक्ति को रोकने वाली एक शक्ति है:— यह एक ऐसी शक्ति है जिसकी मात्रा उस दूसरी शक्ति के अनुपात में होनी चाहिये (जिसका मापदण्ड उन अधिकारों का विनाश है जिन्हें कि यह सुरक्षित रखता है), और जिसका उद्देश्य उसका अन्त करना और उसके अन्त द्वारा उस अधिकार योजना को पुनर्प्रतिष्ठित करना होना चाहिये जिसका कि विरोध किया गया हो। अप्रत्यक्ष रूप से दण्ड इच्छा का सुधार है और प्रभावक रूप से प्रतिरोधात्मक होने के लिये उसे ऐसा होना भी चाहिये, अथवा (क्योंकि इच्छा का सुधार केवल अभ्यन्तर से ही किया जा सकता है) वह एक ऐसा आघात है जोकि अपराधी का अपनी इच्छा का सुधार करना सम्भव बनाता है। अपने इस दूसरे रूप में भी दण्ड बाधाओं को दूर करता है; क्योंकि वह बाधा जिसका कि अपराधी विरोध करता है केवल शक्ति ही नहीं है, बल्कि इच्छा भी है।"*

अब हम फिर से स्वतन्त्र जीवन के अधिकार पर वापिस आते हैं, ग्रीन इसकी व्याख्या एक व्यापक और विधेयात्मक रूप में करता है। उसके लिये इसका अर्थ है सामाजिक हित में स्वतन्त्रतापूर्वक योग देने की शक्ति की अनुमति। यह नैतिक आदर्श की धारणा द्वारा अपने कार्य को निर्धारित करने की शक्ति है। इस प्रकार यह अन्य समस्त अधिकारों का आधार है, जैसे सम्पत्ति का अधिकार, पारिवारिक जीवन का अधिकार, ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार, इत्यादि। यहाँ हम कुछ शब्द केवल सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध में कहेंगे।

(ज) सम्पत्ति (Property)— ग्रीन सम्पत्ति के अधिकार को स्वतन्त्र जीवन के अधिकार का ही एक उप-सिद्धान्त समझता है, जो आवश्यक रूप से उससे उत्पन्न होता है। यदि एक व्यक्ति को अपने कार्यों को स्वतन्त्रतापूर्वक नैतिक आदर्श के

* "Directly, it is a force preventive of a force opposed to rights— a force whose quantity must be adjusted to the quantity of that other force (as measured by the destruction of rights which it protects), and whose purpose must be its annihilation and, through its annihilation, the restoration of the whole scheme of rights opposed. Indirectly punishment is, and in order to be effectively preventive must be, a reformation of the will, or rather (for the will can only be reformed from within) a shock which makes possible the criminal's reformation of his own will. Even in this latter aspect punishment is still an obstacle, for the obstacle which the criminal opposes is not only a force, but a will." — Barker : *op. cit.*, page 50.

अनुसार निर्धारित करने का अधिकार है तो उसके पास ऐसा करने के आवश्यक साधन भी होने चाहिये। सम्पत्ति प्राप्त करने तथा रखने का अधिकार ऐसा ही एक साधन है; यही कारण है कि समाज इसे अपने समस्त घटकों को प्रदान करता है। इस दृष्टिकोण से सम्पत्ति की सर्वोत्तम परिभाषा यह होगी कि सम्पत्ति उन समस्त साधनों का योग है जोकि मनुष्य में आत्मानुभूति के सिद्धान्त को स्वच्छन्द विकास और सामान्य हित में योग देने के लिये आवश्यक हैं। स्वतन्त्र अभिव्यक्ति की मांग करते हुए स्थायी आत्मा ने जिन वस्तुओं को प्राप्त कर लिया है वह उसी का फल है। यही कारण है कि ग्रीन इसे 'अनुभूति इच्छा', अथवा एक इच्छा की, जिसका लक्ष्य सम्भवत: सामाजिक हित है, अनुभूति करने का साधन कह कर पुकारता है। सम्पत्ति के बिना व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र इच्छा को क्रियान्वित नहीं कर सकेगा और समाज के सर्वोत्तम जीवन में कोई योग नहीं दे सकेगा। ग्रीन के शब्दों में, इसका आधार 'वह प्रयास है जोकि व्यक्ति अपने सम्पूर्ण हित की धारणा को वास्तविकता देने के लिये करता है।'

ग्रीन ने व्यक्तिगत सम्पत्ति का जो समर्थन किया है उसकी समालोचना के रूप में दो शब्द कहना आवश्यक होगा। पहली बात तो हमें यह याद रखनी चाहिये कि जिस इच्छा की अनुभूति में यह सहायता करती है उसका लक्ष्य सम्भवत: (केवल सम्भवत:, निश्चित रूप से नहीं) सामाजिक हित है। इसका अर्थ यह है कि ग्रीन यह मांग नहीं करता कि जिनके पास व्यक्तिगत सम्पत्ति है उन्हें उसका प्रयोग सदैव सामान्य हित के लिये ही करना चाहिये; यह एक असम्भव आदर्श होगा जिसे बलात् प्राप्त करने के लिये एक असम्भव रूप से गुप्तचर-प्रधान राज्य की आवश्यकता पड़ेगी। उसका आग्रह केवल यह है कि सम्पत्ति का सम्भावित लक्ष्य सामाजिक हित होना चाहिये। उसका स्वतन्त्र इच्छा में, जिसे कि अपनी अनुभूति के लिए सम्पत्ति की आवश्यकता है, सामान्य हित को जानने तथा उसकी सिद्धि करने की चेष्टा करने की सामर्थ्य होनी चाहिये। ग्रीन के निम्नलिखित शब्दों से यह बात स्पष्ट हो जाती है:

"जैसा कि हम देख चुके हैं, सम्पत्ति का औचित्य यह है कि समाज द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को उन साधनों को प्राप्त करने तथा रखने की शक्ति सुरक्षित की जानी चाहिये जोकि इच्छा की प्राप्ति के लिए आवश्यक है, जिस इच्छा का लक्ष्य सम्भवतया सामाजिक हित है। उसकी इच्छा निश्चित रूप से इस लक्ष्य की ओर जाती है या नहीं, इससे उसके अधिकार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह शक्ति तो प्रत्येक व्यक्ति की सुरक्षित ही होनी चाहिये, चाहे उसका वह व्यवहार में कुछ भी प्रयोग क्यों न करे, जब तक कि वह दूसरे व्यक्तियों की इसी प्रकार शक्ति के प्रयोग में हस्तक्षेप न करे, इसका आधार यह है कि इसका अनियंत्रित प्रयोग मनुष्य द्वारा उस स्वतन्त्र नैतिकता की प्राप्ति की शर्त है जोकि सर्वोच्च शुभ है।"*

* "The rationale of property, as we have seen, is that every one should be secured in the power of getting and keeping the means of realising a will,

सम्पत्ति के सम्बन्ध में ग्रीन की स्थिति की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वह सम्पत्ति की असमानता को उचित मानता है। हमारे इस दार्शनिक की तर्कना की असमानता स्वाभाविक परिणाम मालूम होती है।

"सामाजिक हित के लिये यह आवश्यक है कि समाज में विभिन्न व्यक्ति विभिन्न स्थितियों में रहें। विभिन्न स्थितियों के लिये विभिन्न साधनों की आवश्यकता है। और इस प्रकार सम्पत्ति सम्बन्धी विषमतायें सम्भाव्य रूप से (यद्यपि वास्तविक रूप मे वे चाहे ऐसी न हों) समाज के हित में हैं।"*

यदि सम्पत्ति व्यक्ति के लिये इसलिये आवश्यक है कि वह अपने निजी हित की धारणा से कार्य कर सके और साथ ही साथ समाज के हित में भी योग दे सके तो सम्पत्ति को आवश्यक रूप से असमान होना चाहिये। यदि मनुष्य अपने सम्भाव्य हित की सिद्धि के लिये स्वतन्त्र है तो उसके ऊपर यह सीमा लगानी असम्भव है कि उसे अपने तथा अपनी सन्तान के भविष्य के हित के लिये संचय करने की इच्छा से कहाँ तक प्रेरित होना चाहिये।

"सम्पत्ति स्वतन्त्र तथा विभिन्न गुणों वाले व्यक्तियों की प्रकृति के ऊपर विजय का प्रतीक है, इसलिये वह निश्चित रूप से असमान होगी ही; और यदि हम उसे एक ऐसा साधन समझें जिससे कि व्यक्ति अपने सामाजिक कर्त्तव्यों की पूर्ति करते हैं तो उसका असमान होना कम निश्चित नहीं होगा।"†

इस सम्बन्ध में तीसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि यद्यपि ग्रीन सम्पत्ति की असमानता को व्यक्ति तथा समाज के हित के लिये लाभदायक समझता है, यद्यपि वह प्रत्येक स्थिति में अनियन्त्रित धन संचय को वांछनीय नहीं समझता। वह कहता है कि समाज को अपने घटकों को सम्पत्ति संचय करने का अधिकार नहीं देना चाहिये, यदि उससे दूसरों की अपनी स्वतन्त्र इच्छा की अनुभूति में बाधा पड़ती हो। सबके लिये स्वतन्त्रता की आवश्यकता इस बात की माँग करती है कि दूसरों की समान स्वतन्त्रता के मार्ग में बाधक होने की स्थिति में कुछ की निरपेक्ष स्वतन्त्रता को

---

which in possibility is a will directed to social good. Whether any one's will is actually and positively, so directed does not affect his claim to the power. This power should be secured to the individual irrespectively of the use which he actually makes of it, so long as he does not use it in a way that interferes with the exercise of like power by another, on the ground that its uncontrolled exercise is the condition of attainment by man of that free morality which is his highest good." —*Lectures* Section 221.

* "The social good requires that different men should fill different positions in the social whole. Different positions require different means, and in this way differences of property are potentially (though they may not be so actually) for the good of society" —Barker : *op. ct.*, page 55.

† "Considered as representing the conquest of nature by the effort of free and variously gifted individuals, property must be unequal, and no less must it be so if considered as a means by which individuals fulfil social functions." —*Lectures*, Section 223.

सीमित किया जाना चाहिये। ग्रीन स्पष्ट रूप से एक ऐसी सम्पत्ति व्यवस्था की निन्दा करता है जिसमें कुछ व्यक्ति दूसरों की इच्छा की बलि देकर अपनी इच्छा की अनुभूति कर सकते हैं। भूमि सम्पत्ति की ब्रिटिश व्यवस्था जिसमें थोड़े से धनाढ्य व्यक्ति बड़ी-बड़ी जागीरें रख सकते थे, इसी प्रकार की थी। इसीलिये ग्रीन ने इसकी घोर निन्दा की। किन्तु इसी प्रकार उसने व्यक्तिगत पूंजी की प्रणाली की निन्दा नहीं की। भूमि-स्वामित्व पर राज्य द्वारा सीमाओं का उसने अनुमोदन किया, किन्तु व्यक्तिगत पूँजी को नियन्त्रित करने की उसने सिफारिश नहीं की। खेतिहर मजदूरों से खेती करवाने वाले बड़े-बड़े भूमिपतियों के वर्ग का उन्मूलन करके वह छोटे-छोटे किसान भूमिपतियों का वर्ग रखना चाहता था। भूमि तथा पूंजी के प्रति इस विभिन्न दृष्टिकोण का कारण यह है कि भूमि का स्वरूप विलक्षण है। यह विलक्षण इसलिये है क्योंकि भूमि सीमित है। एक व्यक्ति, जो पूंजी कमाता है, वह उसे दूसरों से छीन कर नहीं कमाता, परन्तु 'कोई मनुष्य दूसरों की भूमि कम किये बिना अधिक भूमि प्राप्त नहीं कर सकता।' भूमि-हीन तथा सम्पत्ति-हीन श्रमिक वर्ग का जन्म पूंजीवादी प्रणाली के कारण नहीं हुआ, जैसा कि मार्क्सवादियों का कहना है, बल्कि वह भूमि सम्पत्ति की प्रणाली से उत्पन्न हुआ है। ब्रिटेन में भूमि-व्यवस्था के इतिहास और पूँजीवाद के विकास की मीमांसा करने के बाद ग्रीन इस परिणाम पर पहुँचा कि दरिद्रता-ग्रस्त मजदूर-वर्ग की वृद्धि का कारण पूंजीवाद नहीं है, बल्कि 'वह मनमाना तथा हिंसापूर्ण ढंग है जिसमें कि भूमि के ऊपर अधिकार प्राप्त और प्रयुक्त किये जाते हैं और राज्य का उन कार्यों का न करना है जोकि एक अपरिमित निजी सम्पत्ति की प्रणाली के अन्तर्गत स्वतन्त्र जीवन की स्थितियों को कायम रखने के लिये आवश्यक हैं।'

(झ) **राज्यों के कार्यों का स्वरूप**— दण्ड के स्वरूप तथा उद्देश्य और व्यक्तिगत सम्पत्ति के सम्बन्ध में ग्रीन के विचारों की उपरोक्त समीक्षा के बाद हम उसके इस सिद्धान्त को सरलतापूर्वक समझ सकते हैं कि राज्य का कार्य शुभ जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटाना है, उसे प्रत्यक्ष रूप से परिपोषित करना नहीं। अपनी इस धारणा में कि राज्य विधेयात्मक रूप से नागरिकों का नैतिक उत्थान नहीं कर सकता, वह केवल उसके आत्मानुभूति के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर कर सकता है, ग्रीन हीगल की अपेक्षा कान्ट के अधिक निकट है। ग्रीन राज्य के कार्यों के सिद्धान्तों को निषेधात्मक शब्दों में क्यों व्यक्त करता है, उसे तथा उसके सूत्र के वास्तविक महत्त्व को समझना आवश्यक है।

ग्रीन का आरम्भ-बिन्दु यह विश्वास है कि मानव जीवन का लक्ष्य आत्मानुभूति, मनुष्य के नैतिक स्वभाव का विकास है। अपना नैतिक विकास न करना जीवन को व्यर्थ नष्ट करना है। अब नैतिक विकास का स्वभाव ही ऐसा है कि हममें से प्रत्येक को उसे स्वयं करना है ; यह हमारे ऊपर बाहर से नहीं थोपा जा सकता। नैतिकता अपने आप अपनाये गये कर्त्तव्यों का निष्काम रूप से पालन करने में है,

इसलिए इसे प्रत्यक्ष रूप से परिपुष्ट करने के लिए राज्य कुछ नहीं कर सकता। नैतिकता मुख्य रूप से व्यक्ति की प्रवृत्ति तथा प्रेरक ध्येय से सम्बन्ध रखती है और ये राज्य के कानूनों तथा अधिकारियों की पहुँच से सर्वथा परे हैं। राज्य तो केवल हमें अपने कार्यों को बाह्य रूप से अपने कर्त्तव्य के अनुकूल करने के लिए विवश कर सकता है। यह हमें इस बात के लिए विवश नहीं कर सकता कि हम उन्हें कर्त्तव्य-भावना से करें। राज्य मुझ से यह माँग तो कर सकता है कि मैं चोरी अथवा व्यभिचार न करूँ, किन्तु वह ऐसी व्यवस्था कभी नहीं कर सकता कि चोरी अथवा व्यभिचार के कुविचार भी मेरे मन में न आयें। कोई कार्य सच्चे अर्थों में नैतिक तभी हो सकता है जबकि यह स्वतन्त्रतापूर्वक स्व-निर्धारित हो, अर्थात् जबकि कर्त्ता उसे अपने प्रति तथा दूसरों के प्रति कर्त्तव्य-भावना से करे; यदि वह बाह्य रूप से विवश होकर किया जाता है तो उसकी नैतिकता जाती रहती है।

सारांश यह है कि राज्य केवल कर्त्तव्यपूर्ण कार्य करा सकता है; वह इस बात के लिए विवश नहीं कर सकता कि वे कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित होकर ही किये जायें। राज्य की पुरस्कार तथा दण्ड की प्रणाली, जिस पर कि राज्य कर्त्तव्यपूर्ण कार्यों के कराने के लिए निर्भर करता है, आन्तरिक स्वतन्त्र नैतिक इच्छा को नहीं छू सकती। इसलिए 'स्वतन्त्र नैतिक इच्छा के अन्तः' में राज्य कभी प्रवेश नहीं कर सकता; उसे नैतिक कर्म का क्षेत्र अछूता ही छोड़ देना चाहिए। हाँ, राज्य एक काम अवश्य कर सकता है और वही उसे करना चाहिए; वह यह कि उसे स्वतन्त्र नैतिक इच्छा को कर्म रूप में प्रवाहित होने के लिए मार्ग प्रशस्त कर देना चाहिए। राज्य का कार्य केवल यह है कि वह ऐसी परिस्थितियाँ कायम रक्खे जिनमें कि नैतिक जीवन सम्भव हो सके। राज्य के बनाये हुए कानूनों और उसके द्वारा सुरक्षित संस्थाओं का उद्देश्य स्वेच्छापूर्वक शुभ कार्यों के करने में बाह्य बाधाओं को हटाकर व्यक्ति की एक समाज के घटक के रूप में आत्मानुभूति करने में सहायता करना है। राज्य का मुख्य कार्य ऐसी बाह्य परिस्थितियाँ उत्पन्न करना है जिनमें कि मनुष्य के सर्वोत्तम कर्म करने के मार्ग में कम से कम बाधायें हों।

इस प्रकार की व्याख्या के साथ ग्रीन के सूत्र का अर्थ काफी विधेयात्मक (Positive) हो जाता है; यह लैसे फेयर (Laissez Faire) के पक्ष को पुष्ट नहीं करता। इस बात का कि राज्य को प्रत्यक्ष रूप से नैतिकता को पुष्ट करने से रोका गया है यह अर्थ नहीं है कि उसका उद्देश्य नकारात्मक है। उसका उद्देश्य अत्यन्त विधेयात्मक है; वह है 'सामान्य हित की दिशा में मनुष्य की आत्म-निर्णय की शक्ति को स्वतन्त्र करना'; मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक बाह्य परिस्थितियाँ उत्पन्न करना। यदि निरक्षरता तथा अज्ञान मनुष्य के अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में बाधक हैं तो राज्य को उसे शिक्षा प्रदान करने के लिए विद्यालय खोलने चाहियें। यदि राज्य यह देखे कि अज्ञानी और स्वार्थी माता-पिता अपने बच्चों को स्कूल की अपेक्षा कारखाने में भेजना अधिक पसन्द करते हैं तो उसका कर्त्तव्य है कि

वह शिक्षा को अनिवार्य बना दे। इसके अतिरिक्त यदि दरिद्रता नैतिक तथा बौद्धिक प्रगति के मार्ग में एक बाधा है, तो जनता की दरिद्रता का अन्त करने के लिए राज्य को आवश्यक कदम उठाने चाहियें। जैसा कि हम देख चुके हैं, ग्रीन का विश्वास था कि इंग्लैण्ड में भूमिहीन तथा सम्पत्तिहीन श्रमिक वर्ग के अस्तित्व का कारण भूमि अधिकरण की वह व्यवस्था थी जिसमें कि कुछ मुट्ठी भर जमींदार दूसरों की बलि देकर बड़ी-बड़ी जागीरों के स्वामी बन सकते थे, इसलिए उसने जमींदारी के उन्मूलन की सिफारिश की। इसी प्रकार क्योंकि मदिरापान नैतिक उन्नति के मार्ग में एक भारी बाधा है, इसलिए राज्य को मदिरालयों को बन्द कर देना चाहिये। नशेबन्दी में ग्रीन की गहरी दिलचस्पी थी। उसने मनुष्य को अज्ञान, नशेबाजी अथवा दरिद्रता के रोड़ों पर ठोकर खाते देखा, इसलिए उसने राज्य द्वारा इनका अन्त करने की सिफारिश की। इसी कारण उसने स्वास्थ्य तथा निवास व्यवस्था के ऊपर भी राज्य के नियन्त्रण का अनुमोदन किया क्योंकि वह समाज में रहकर तथा समाज के द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व के लिए आवश्यक है। अनिवार्य रूप से टीका लगाने को मिल व्यक्ति की स्वतन्त्रता के ऊपर आघात समझ सकता था किन्तु ग्रीन ने उसे बच्चे के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक समझकर उसका समर्थन किया। इसी प्रकार उसने काम की शर्तों तथा घण्टों और मजदूरी को कानून द्वारा विनियमित करने की जोरदार सिफारिश की। वह चाहता था कि कल-कारखानों में स्त्रियों और बच्चों को काम करने से यदि पूर्णरूप से भी न रोका जाये तो उसे अत्यन्त सीमित अवश्य कर दिया जाये। उसने कुछ अर्थशास्त्रियों की इस धारणा का घोर विरोध किया कि राज्य को कानूनी रूप से दी गई संविदाओं को अवश्य मनवाना चाहिए; उसका विश्वास था कि संविदा का अर्थ केवल तभी है जबकि वह स्वतन्त्रतापूर्वक सामान्य हित के लिए किया जाये और उसके उभय पक्षों की समान स्थिति हो। यदि संविदा के एक पक्ष का अपनी दुर्बलता के कारण दूसरे पक्ष द्वारा शोषण होता है तो उसकी मान्यता जाती रहती है और स्वयं संविदा के हानिकारक परिणाम उत्पन्न होते हैं। ऐसी स्थिति में सरकार को उसे रोकना चाहिए। जैसा कि ग्रीन कहता है :

'संविदाओं की मान्यता की रक्षा करना निस्सन्देह सरकार का एक परम कर्त्तव्य है, परन्तु उतना ही महत्त्वपूर्ण उसका यह कर्त्तव्य भी है कि वह ऐसी संविदाओं को रोके जोकि उनके एक पक्ष की विवशता के कारण स्वतन्त्रता की रक्षा के स्थान में प्रच्छन्न अत्याचार बन जायें।'*

इस बात के ऊपर हम काफी जोर दे चुके हैं कि यद्यपि ग्रीन का सूत्र नकारात्मक दिखलाई पड़ता है किन्तु उसका तत्त्व तथा उद्देश्य विधेयात्मक है। राज्य द्वारा

* "To uphold the sanctity of contracts is doubtless a prime business of government, but it is no less its business to provide against contracts being made which, from the helplessness of one of the parties to them, instead of being a security for freedom, become an instrument of disguised oppression."

—*Lectures*, Sec. 142.

हस्तक्षेप के लिये इसमें काफी गुंजाइश है। नैतिक आदर्श को प्राप्त करने में व्यक्ति के मार्ग में दो बाधायें हैं, उन्हें दूर करने के काम में तो प्रायः सभी कुछ किया जा सकता है। जैसा कि हम देख चुके हैं स्वयं ग्रीन ने बहुत महत्त्वपूर्ण सुधारों का प्रस्ताव किया था और अपने समय के श्रम, स्वास्थ्य तथा शिक्षा सम्बन्धी कानूनों का जोरदार समर्थन किया था। इस प्रसंग में यह याद रखना महत्त्वपूर्ण है कि ग्रीन सुधारों को केवल सुविधाजनक ही नहीं बल्कि उन्हें करना राज्य का कर्त्तव्य समझता था। व्यक्ति द्वारा अपने नैतिक आदर्श की सिद्धि के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना वह राज्य का नैतिक कर्त्तव्य समझता था। उसने देखा कि व्यक्ति को निरक्षरता, नशेबाजी तथा दरिद्रता को विजय करके अपने नैतिक विकास की सामर्थ्य प्रदान करने के लिये राज्य को बहुत सी बाधायें हटानी हैं और राज्य को ऐसा करने से प्राकृतिक अधिकारों, निहित हितों, अथवा अन्य किसी सिद्धान्त का नाम लेकर नहीं रोका जा सकता।

यद्यपि व्यक्ति के नैतिक उत्थान में राज्य का एक महत्त्वपूर्ण भाग है तथापि राज्य के इस भाग को ग्रीन नकारात्मक शब्दों में अभिव्यक्त करने के लिये विवश हो गया क्योंकि उसका दृढ़ विश्वास था कि नैतिक शक्ति का प्रस्फुटन मूल रूप से व्यक्ति के अन्तःस्थल से ही होना चाहिये। नैतिक बनने में राज्य व्यक्ति की सहायता कर सकता है; वह उसे नैतिक नहीं बना सकता। इसी कारण राज्य को ग्रीन अपने में साध्य कभी नहीं समझता, जैसा कि हीगल उसे समझता था; उसके लिये साध्य व्यक्ति ही रहा। अपने हीगलवाद के बावजूद ग्रीन उदारवादी रहा।

राज्य तथा अन्य समुदाय—ग्रीन की समीक्षा का अन्त करने से पहिले हम दो शब्द ग्रीन के उन विचारों के विषय में कहेंगे जोकि वह राज्य तथा परिवार, ट्रेड यूनियन तथा चर्च सरीखे अन्य समुदायों के बीच सम्बन्ध के विषय में रखता था। इससे उसकी राज्य की धारणा पर कुछ प्रकाश पड़ेगा।

ग्रीन राज्य को 'समाजों का समाज' कह कर पुकारता है। इस प्रकार वह राज्य के अन्दर लघुतर समुदायों की सत्ता को स्वीकार करता है। वह न केवल उनकी सत्ता को स्वीकार करता है बल्कि वह यह भी स्वीकार करता है कि उनका जन्म राज्य के द्वारा नहीं हुआ है। उनका अस्तित्व राज्य से स्वतंत्र है और उनकी अपनी आन्तरिक अधिकार प्रणालियाँ हैं जो कि उनके समुदाय होने के नाते उनके स्वरूप से ही उत्पन्न होती हैं। राज्य की भाँति वे भी व्यक्ति की आत्मानुभूति में सहायक होते हैं, इसलिये वे महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ग्रीन एक बहुलवादी (Pluralist) है; वह अपने अन्तर्गत समस्त समुदायों पर प्रभुत्व रखता है। राज्य प्रत्येक समुदाय की अधिकार प्रणाली में आन्तरिक रूप से और उसका अन्य से बाह्य रूप से सामञ्जस्य स्थापित करता है इसलिये वह सर्वोपरि है। इस सामंजस्य कार्य का परिणाम यह होता है कि जिन अधिकारों का प्रयोग व्यक्ति किसी समुदाय का घटक होने के नाते करता है उनका उपभोग अन्ततोगत्वा वह राज्य का एक घटक होने

के नाते ही करता है। अन्तिम रूप से वे राज्य द्वारा ही रक्षित रहते हैं। "जब राज्य आ गया और उसने उन अधिकारों को रक्षित कर दिया तो फिर उनकी सत्ता राज्य में होती है और राज्य से ही वे उत्पन्न होते हैं।"*

इससे राज्य अधिकारों का अन्तिम स्रोत बन जाता है और उसे अपने अन्तर्गत समस्त समुदायों के ऊपर प्रभुता प्राप्त हो जाती है। परन्तु यद्यपि वह उनमें सर्वोच्च है, किन्तु उसकी प्रधानता अपरिमित नहीं है, वह अपने तथा अन्य समुदायों के स्वरूप द्वारा सीमित है। ग्रीन की धारणा है कि राज्य को अन्य समुदायों को कायम रखना पड़ता है; उसकी स्वयं की सत्ता केवल उसी सीमा तक है जिस तक कि वह उनको जीवित रखता है, सुरक्षित रखता है तथा उन्हें पूर्ण बनाता है; और जब वह समुदायों को सुरक्षित रखने तथा उनकी आन्तरिक अधिकार प्रणालियों को कायम रखने में असफल रहता है तो उसकी सत्ता का औचित्य ही जाता रहता है और उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

समुदायों के प्रति ग्रीन का दृष्टिकोण अफलातून की अपेक्षा अरस्तू से अधिक मिलता जुलता है, वह उनको इतना क्षुद्र नहीं समझता जितना कि अफलातून समझता था। अरस्तू की भाँति वह उनके मूल्य को स्वीकार करता है क्योंकि वे 'मनुष्य की इच्छा तथा बुद्धि की शक्तियों को वास्तविकता' प्रदान करते हैं। समुदायों के ऊपर राज्य को प्रधानता प्रदान करने में वह हीगल से मिलता है, किन्तु उन दोनों में एक महत्त्वपूर्ण भेद है। हीगल के लिये समुदाय सच्चे समुदाय नहीं हैं यदि उनका अवसान राज्य में, जोकि उनका अन्तिम लक्ष्य है, नहीं हो जाता; ग्रीन के लिये राज्य सच्चा राज्य नहीं है यदि वह उन्हें सुरक्षित नहीं रखता। दूसरे शब्दों में, जबकि ग्रीन और हीगल दोनों ही अन्य समुदायों के ऊपर राज्य की असंदिग्ध सर्वोच्चता को स्वीकार करते हैं, हीगल इस प्रभुता के प्रयोग को राज्य तथा समुदायों के स्वरूप के कारण अपरिमित समझता है और ग्रीन इसी से उसे सीमित समझता है।

ग्रीन के राजनीतिक दर्शन का मूल्यांकन— समस्त राजनीतिक दर्शन प्रणालियों के सदृश ग्रीन के दर्शन में भी गुण और दोष दोनों ही पाये जाते हैं। इसका कारण है उसका सामान्य दर्शन में हीगलवादी और राजनीति में उदारवादी होना। इस अध्याय के आरम्भ में ही हम यह देख चुके हैं कि एक ओर तो वह हीगल के दर्शन के इस महत्त्वपूर्ण सत्य से प्रभावित था कि संसार में एक दैविक बुद्धि (Divine Reason) अथवा आत्मा (Spirit) है जो कि संसार में अपनी अनुभूति करने की चेष्टा करती है, और इस प्रक्रिया में समाज के उच्चतर तथा उच्चतर संगठन को जन्म देती है। दूसरी ओर बार्कर के शब्दों में उसे 'प्रजा की स्वतन्त्रता से वह गहरा अनुराग था, और राज्य के विवेक के प्रति वह गहरा अविश्वास था जोकि समस्त अंग्रेजों में पाया जाता है।' एक आदर्शवादी होने के नाते ग्रीन राज्य के संविदा, यांत्रिक तथा शक्ति सिद्धान्तों को ठुकराता है और राज्य के सावयव सिद्धान्त को स्वीकार करता है। इसके

* "When the state has come and guaranteed those rights, they exist in the state and proceed from it." —*Green.*

अतिरिक्त, उसके अनुसार स्वतन्त्रता राज्य के कानूनों के स्वेच्छापूर्ण पालन द्वारा आत्म-विकास की प्रक्रिया में निहित है। परन्तु यद्यपि वह राज्य के सावयव सिद्धान्त को स्वीकार करता है तथापि वह उसे स्वयं अपने में ही साध्य नहीं मानता। राज्य का उद्देश्य अपने घटकों का पूर्ण नैतिक विकास करना है। वह इस बात पर आग्रह करता है कि अपने घटकों के जीवन के अतिरिक्त राष्ट्र के जीवन का कोई वास्तविक अस्तित्व नही हो सकता। वह कहता है कि विकास के अतिरिक्त राष्ट्र की प्रगति और विकास की बात करना व्यर्थ है। एक ओर राज्य के सावयव सिद्धान्त में विश्वास और दूसरी ओर व्यक्ति के मूल्य तथा सम्मान में इतनी गहरी आस्था, इन दोनों में समन्वय कहना कठिन प्रतीत होता है। फलतः यद्यपि ग्रीन राज्य को एक निश्चित शुभ समझता है और उसके कार्य-क्षेत्र को उपयोगितावादियों की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत करना चाहता है, तथापि वह राज्य के कार्यों को शुभ जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के नकारात्मक रूप में वर्णित करता है। ग्रीन की इस बात को न मानना कठिन है कि राज्य अपने कानूनों द्वारा मनुष्य को नैतिक और धार्मिक नहीं बना सकता; यह पूर्ण रूप से सत्य है कि राज्य में मनुष्य की आन्तरिक इच्छा तक पहुँचने और उसे नैतिक बनाने की सामर्थ्य नहीं है। किन्तु जब हम मानव सभ्यता को राज्य की महान् देन को देखते हैं और अपने घटकों के जीवन को शुभ तथा सच्चे अर्थों में मानवीय बनाने के लिये आज का मंगलकारी राज्य जो कुछ कर रहा है उस पर दृष्टि डालते हैं, तो राज्य के कार्यों को नकारात्मक रूप में वर्णित करना असंगत प्रतीत होता है। यदि ज्ञान, स्वास्थ्य तथा भौतिक सम्पन्नता एक शुभ अथवा नैतिक जीवन के लिये आवश्यक हैं, तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि राज्य उनकी व्यवस्था करके शुभ जीवन में एक विधेयात्मक योग दे रहा है। एक अच्छा मकान, पर्याप्त वेतन तथा उच्च शिक्षा की सुविधायें केवल शुभ जीवन के मार्ग में से बाधाओं को ही दूर नहीं करतीं बल्कि स्वतन्त्र इच्छा की क्रीड़ा को निश्चित रूप से अनुप्राणित करती हैं। जो राज्य इनकी व्यवस्था करता है वह निश्चित रूप से ही अन्तःशक्ति को स्वतन्त्र करने में योग देता है। हम अरस्तू की इस धारणा को स्वीकार करते हैं कि राज्य शुभ जीवन के लिये जीवित है, यद्यपि हम ग्रीन के इस कथन से भी सहमत हैं कि राज्य प्रत्यक्ष रूप से धर्म और नैतिकता को पुष्ट नहीं कर सकता। प्राचीन भारत के ऋषियों की भी यही धारणा थी कि राज्य धर्म अथवा सामाजिक सदाचार को जीवित रखता तथा पुष्ट करता है और उसके द्वारा स्वयं जीवित रहता है।

दूसरे, यह कि अपने उदारवाद तथा व्यक्ति के गौरव के अपने विश्वास के कारण वह उन खतरों को न देख सका जोकि पूंजी के कुछ मुट्ठी भर हाथों में केन्द्रित होने से उत्पन्न हो सकते हैं। भूमि अधिकरण व्यवस्था में सुधार की मांग तो उसने की, किन्तु पूंजीवाद को नियन्त्रित करने का प्रस्ताव उसने नहीं किया। उसकी यह आर्थिक धारणा असंतोषजनक कही जा सकती है। कुछ लोग ग्रीन द्वारा पूंजीवाद के

पक्ष पोषण की आलोचना करते हैं और उसे अपनी इस धारणा के एक उदाहरण के रूप में पेश करते हैं कि आदर्शवादियों की प्रवृत्ति एक अपूर्ण समाज की यथार्थ स्थिति का आदर्शीकरण करने और ऐसा करके उसका समर्थन करने की रही है। प्रो० वेपर के अनुसार ग्रीन द्वारा चित्रित 'प्राय: विशुद्ध चेतना' के रूप में मनुष्य उतना ही अवास्तविक है जितना कि उपयोगितावादियों का सुख का अभिलाषी मनुष्य अथवा पुराने अर्थशास्त्रियों का 'आर्थिक मनुष्य'। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपने राजनीतिक दर्शन में ग्रीन मनुष्य के भावनात्मक पक्ष पर विशेष ध्यान नहीं देता। फलत: उसका दृष्टिकोण सीमा से अधिक बुद्धिप्रधान हो गया है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण उसकी सामान्य इच्छा की धारणा है जिसे वह सामान्य उद्देश्यों की सामान्य चेतना समझता है। यह यदि दोष है तो यह अकेले ग्रीन का ही दोष नहीं है, यह सभी आदर्शवादियों में पाया जाता है। इस आरोप की समीक्षा हम तब करेंगे जबकि हम प्रो० हॉब्हाउस सरीखे आदर्शवादियों तथा प्रो० लास्की सरीखे बहुलवादियों द्वारा आदर्शवाद की आलोचना की विवेचना करेंगे। यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि ग्रीन की दिलचस्पी राजनीतिक कर्त्तव्य के सिद्धान्तों में है, यद्यपि इसे कोई दोष नहीं समझा जा सकता। उसका ध्येय कानून तथा राज्य के नैतिक आधार की खोज करना है; वह शासन कला तथा यन्त्र का विवेचन नहीं करता। इस बात में वह उपयोगितावादियों से बहुत भिन्न है जिनकी दिलचस्पी शासन सिद्धान्त में थी, राज्य सिद्धान्त में नहीं। अब हम उस महान् देन का उल्लेख करेंगे जोकि ग्रीन ने राजनीतिक विचार को दी है। उसका वर्णन प्रो० वेपर ने इन शब्दों में किया है : "ग्रीन की देन यह है कि उसने अंग्रेज़ों को उस मूल्य पर जोकि वे देने को तैयार थे **बेन्थमवाद** से अधिक संतोष प्रदान करने वाली चीज़ दी, कि उसने **उदारवाद** को एक रुचि मात्र के स्थान में एक विश्वास बना दिया, कि उसने **व्यक्तिवाद** को नैतिक तथा सामाजिक और **आदर्शवाद** को सभ्य तथा आपद् रहित बनाया। कम से कम अंग्रेज लोग इस देन को तुच्छ नहीं समझ सकते।"*

उसने अंग्रेजों को बेन्थमवाद (जोकि उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में विफल हो चुका था) की अपेक्षा अधिक संतोषप्रद चीज किस प्रकार दी, उसका वर्णन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं, क्योंकि पिछला सम्पूर्ण विवरण इसी बात की व्याख्या है। श्रम तथा कल-कारखानों से सम्बन्धित कानूनों और स्वास्थ्य तथा शिक्षा के कार्य-क्रम द्वारा राज्य के द्वारा समाज के विनियमन तथा आर्थिक नियन्त्रण की आवश्यकता का उसने अधिक गहरा औचित्य पेश किया। उपयोगितावादियों ने सामाजिक तथा

* "Here, then, is Green's achievement, that he gave Englishmen something more satisfying than Benthamism at a price they were prepared to pay, that he left Liberalism a faith instead of an interest, that he made Individualism moral and social and Idealism civilised and safe. Englishmen at least will consider that achievement not an inconsiderable one."

—Wayper : *op. ct.*, page 193.

व्यवस्थापिका द्वारा सुधारों का अनुमोदन उपयोगिता के आधार पर किया था ; ग्रीन ने इस विचारधारा में नैतिक आदर्शवाद का तत्त्व भर कर राज्य की क्रिया को एक नैतिक आधार प्रदान किया। उसकी धारणा थी कि व्यक्ति एक नैतिक आदर्श को प्राप्त करने का प्रयास करता है और राज्य का कार्य उसकी प्राप्ति में उसकी सहायता करना है। इस प्रकार उदारवाद अपने हाथों में आकर नैतिक बन गया। वह सामाजिक भी बन गया। ग्रीन की धारणा थी कि अधिकार सामाजिक हित में योग देने की शर्तें हैं। उसने व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन इस आधार पर किया कि वह इच्छा की अनुभूति के लिए आवश्यक है जोकि सम्भवतया सामान्य हित के लिए इच्छा है। राज्य की अवज्ञा करना भी तभी उचित है जबकि वह समाज के नाम में और साथ ही साथ सामान्य हित के लिए हो। इस बात पर जोर देकर कि राज्य का ध्येय अपने नागरिकों के नैतिक व्यक्तित्व के विकास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है उसने आदर्शवाद को सत्य तथा आपद्हीन बनाया। ग्रीन जैसा कि बार्कर कहता है, किसी प्रकार राज्य के ऐश्वर्य का आदर्शीकरण करने के लिए उत्सुक नहीं हैं। उसके सम्पूर्ण विचार का आधार व्यक्ति है। इसलिए यह कहना उचित ही होगा कि ग्रीन ने **उदारवाद** को एक रुचि मात्र से ऊँचा उठाकर एक विश्वास बना दिया।

हम ऊपर देख चुके हैं कि राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में ग्रीन का यह सूत्र, कि राज्य का कार्य शुभ जीवन के मार्ग में से बाधाओं को दूर करना है, बहुत व्यापक है; इसके अनुसार तो राज्य के क्रिया-क्षेत्र के अन्तर्गत प्रायः सभी कुछ लाया जा सकता है। राज्य के कार्य-क्षेत्र की सीमायें निर्धारित करने की समस्या वास्तव में बड़ी कठिन है। ग्रीन ने राज्य के निर्देशन के लिए जो सूत्र हमें दिया है वह मिल के उस सूत्र से कहीं अधिक मान्य और आपत्तिहीन है जोकि उसने 'स्व-परक' तथा 'पर-परक' में विभेद के द्वारा हमारे सामने रखा है। मिल का यह विभेद मान्य नहीं है क्योंकि व्यक्ति का शायद ही ऐसा कोई कार्य होता हो जिसका सम्बन्ध स्वयं कर्त्ता और दूसरों के साथ न होता हो ; यहाँ तक कि उसके विचारों और कल्पनाओं के भी सामाजिक परिणाम होते हैं। ग्रीन द्वारा 'अधिकारों को सुरक्षित रखने के आवश्यक तथा महत्त्व-पूर्ण बाह्य कार्यों' तथा 'आन्तरिक इच्छा से उत्पन्न होने वाले कार्यों में विभेद अधिक सच्चा तथा उचित है। पहिले प्रकार के कार्यों को राज्य द्वारा कराना उचित तथा सरल है क्योंकि उन्हें उस शक्ति द्वारा किया जा सकता है जिसका कि राज्य प्रयोग कर सकता है। दूसरे प्रकार के कार्य राज्य के कार्य-क्षेत्र से बाहर हैं क्योंकि उनका मूल्य केवल इसलिए है कि वे मनुष्य की आन्तरिक इच्छा द्वारा उत्प्रेरित होते हैं और इसलिए उन्हें राज्य की बाह्य शक्ति द्वारा नहीं कराया जा सकता। इस विभेद का आधार है एक नैतिक अभिकर्त्ता के रूप में मनुष्य के मूल्य तथा गौरव में विश्वास तथा उसके प्रति सम्मान। इसलिए हम कह सकते हैं कि ग्रीन ने उदारवाद को एक सम्मानित स्थान पर पुनर्प्रतिष्ठित कर दिया और उसे एक ऐसा विश्वास बना दिया जिसे कि विधेयात्मक राजनीतिक क्रिया का आधार बनाया जा सकता है।

फ्रांसिस हरबर्ट ब्रैडले (Francis Harbert Bradley) (१८४६–१९२४)

आदर्शवाद तथा उदारवाद के बीच वह कठिन संधि, जोकि टामस हिल ग्रीन के राजनीतिक कल्प-विकल्प की एक मुख्य विशेषता है, अधिक न टिक सकी; उसके बाद में आने वाले आदर्शवादी विचारकों ने उसके दर्शन के उदारवादी तत्त्व को पृष्ठ-भूमि में डाल दिया और उसकी आदर्शवादी प्रवृत्ति को **हीगलवाद** की दिशा में विकसित किया। फ्रांसिस हरबर्ट ब्रैडले तथा बर्नार्ड बोज़ान्के— इन दो महान् अंग्रेज विचारकों ने इस दिशा में मुख्य योग दिया। मेज़ (Metz) के शब्दों में 'ब्रैडले के साथ ब्रिटिश हीगलवाद पूर्ण रूप से पुष्ट हो गया और उसमें स्वतन्त्र उड़ान के लिए पंख लग गये।' उसकी मुख्य देन आचारशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र के क्षेत्र में है, राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में नहीं। अपने महान् ग्रन्थ 'Ethical Studies' के 'My Station and its Duties' नामक विख्यात अध्याय में ब्रैडले एक नैतिक सावयव के रूप में राज्य की धारणा को विकसित करता है और इसी को राजनीतिक विचार को उसकी मुख्य देन समझा जा सकता है जो उसे हीगल के उससे कहीं अधिक निकट ले आती है जितना कि ग्रीन पहुँच पाया था। वह राज्य को एक सावयविक ऐक्य समझता था क्योंकि उसके समस्त घटकों में एक ही सामान्य उद्देश्य पाया जाता है। वे उसी के अन्तर्गत उत्पन्न होते हैं और उसी के कारण उनका व्यक्तित्व होता है क्योंकि वह उसकी संस्थाओं तथा आत्मा की सृष्टि होती है। "वास्तव में जिसे हम व्यक्तिगत मनुष्य कहते हैं वह समाज के कारण और उसके द्वारा ही है, और समाज केवल नाममात्र नहीं है बल्कि वास्तविक है।"*

व्यक्ति जो कुछ है समाज के कारण है। क्योंकि वह जब जन्म लेता है तो "उसका एक पारिवारिक चरित्र होता है, एक राष्ट्रीय चरित्र होता है और एक सभ्य चरित्र होता है और ये सब चरित्र मानव समाज से आते हैं। जैसे ही वह बढ़ता है वह समाज जिसमें कि वह रहता है उस भाषा के द्वारा जिसे कि वह सीखता है और उस सामाजिक वातावरण के द्वारा जिसमें कि वह रहता है, अपने को उसके अस्तित्व में प्रवाहित कर देता है, इसलिए उसके अस्तित्व के तत्त्व के कण-कण में समाज के सम्बन्ध ओत-प्रोत रहते हैं।"†

किन्तु जहाँ तक कि राज्य के घटक के स्वयं चेतन नैतिक अभिकर्त्ता हैं और राज्य की आत्मा उनमें निवास करती है, राज्य स्वयं एक नैतिक सावयव है। मानव

* "In fact what we call an individual man is what he is because of and by virtue of community, and communities ars not mere names, but something real." —Bradley quoted by Barker : *op. ct.*, page 62.

† "He has something of the family character, something of the national character, and something of the civilised character which comes from human society. As he grows, the community in which he lives pours itself into his being in the language he learns and the social atmosphere he breathes, so that the content of his being implies in its every fibre relations of community."

—Barker ; *op. ct.*, pages 62-63.

शरीर के अंगों के विपरीत राज्य के घटकों को स्वयं अपनी तथा उस सम्पूर्ण की जिसके कि वे अंग होते हैं, चेतना होती है। यही कारण है कि ब्रैडले हीगल की इस धारणा से सहमत हो सकता था कि राज्य 'स्व-चेतन नैतिक तत्त्व' अथवा 'स्वयं को जानने वाला तथा स्वयं को यथार्थ करने वाला व्यक्ति' है। राज्य एक नैतिक सावयव है अपनी इस धारणा के द्वारा ब्रैडले इस तथ्य पर जोर देता है कि व्यक्ति अपनी अनुभूति राज्य में और राज्य की सदस्यता के द्वारा ही कर सकता है, कि वह अपने सच्चे स्वरूप की प्राप्ति समाज में स्व-धर्म का पालन करके ही कर सकता है।

ब्रैडले की 'स्व-धर्म' की धारणा की समीक्षा तथा आलोचना करना हमारे लिये अप्रासंगिक होगा ; हमारा उद्देश्य तो केवल पाठकों का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट करना है जिसे कि हम राजनीतिक विचार को उसकी मुख्य देन समझते हैं। राज्य को एक नैतिक सावयव समझने की धारणा ही ब्रिटिश राजनीतिक आदर्शवाद को राज्य की हीगलवादी धारणा की ओर ले जाती है जिसके अनुसार राज्य स्वयं में अपना साध्य है। इसी दिशा में दूसरा कदम बर्नार्ड बोज़ान्के ने उठाया जिसका दर्शन ब्रैडले से मिलता जुलता है। अब हम उसकी ही समीक्षा करेंगे।

बर्नार्ड बोज़ान्के (Bernard Bosanquet)

परिचयात्मक— बर्नार्ड बोज़ान्के का जन्म १४ जून १८४८ को हुआ। उसके पिता का नाम आर० डब्लू० बोज़ान्के था जोकि रॉक हाल, नार्थम्बरलैण्ड का रहने वाला था। उसने हैरो तथा बैलिओल कॉलिज ऑक्सफोर्ड में शिक्षा प्राप्त की जहाँ कि वह बेन्जामिन जोवेट तथा टॉमस हिल ग्रीन के प्रभाव में आया। १८७१ से १८८१ तक वह विश्वविद्यालय कॉलिज में फैलो तथा शिक्षक रहा किन्तु उसे एक लैक्चरर के जीवन का सीमित क्षेत्र पसन्द न आया, इसलिये वह लन्दन गया और यहाँ उसने अपने को **चैरिटी आर्गनाइजेशन सोसाइटी** तथा अन्य समुदायों की ओर से लिखने में लगा दिया। नवीन शताब्दी के आरम्भ होने के कुछ ही पश्चात् वह सेन्ट एण्ड्रूज़ कॉलिज में दर्शन-शास्त्र का प्राध्यापक बन गया और १९०८ तक इसी पद पर रहा। १९११ और १९१२ में उसने एडिनबर्ग के विश्वविद्यालय में 'Principle of Individuality and Value' तथा 'Value and Destiny of the Individual' नामक दो प्रसिद्ध व्याख्यान दिये। १९२३ में लन्दन में उसका शरीरान्त हो गया।

बोज़ान्के एक सर्वतोन्मुखी विचारक तथा लेखक था। न्यायशास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र, अध्यात्मशास्त्र तथा राजनीतिक दर्शन पर उसने लगभग २० पुस्तकें प्रकाशित कराईं। उक्त प्रसिद्ध व्याख्यानों के अतिरिक्त उसकी महत्त्वपूर्ण रचनायें ये हैं :—

'Knowedge and Reality' (१८८५); 'Logic' (१८८८); 'History of Aesthetics' (१८९२); 'Social and International Ideals' (१९१७); तथा 'The Meeting of Extremes in Contemporary Philosophy' (१९२१)।

यहाँ हम उसके केवल राजनीतिक विचार की समीक्षा करेंगे जोकि उसके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'The Philosophical Theory of the State' (१८९९) में पाया जाता है; अन्य शास्त्र सम्बन्धी उसके विचारों से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। बोज़ान्के एक आदर्शवादी था। प्रो० जे० ए० लीटन ने उसे महानतम इंगलिश आदर्शवादी कहकर पुकारा है। एक आदर्शवादी होने के नाते उसने ग्रीन के सिद्धान्तों को अपनाया, परन्तु उसके उदारवाद को नहीं, और उन्हें पूर्णतया हीगलवाद की दिशा में विकसित किया। प्रो० बार्कर के शब्दों में ग्रीन ने राज्य के ऊपर जो सीमाएँ लगाई थीं, बोज़ान्के ने उन्हें एकदम दूर कर दिया और ऐसा कर वह ग्रीन के दर्शन को एक ऐसे स्थल पर ले आया जहाँ कि वह राज्य की पूर्ण हीगलवादी धारणा के निकट आ गया (यदि उससे वह पूर्ण रूप से मिला नहीं तो)।

उसका राज्य का सिद्धान्त— बोज़ान्के अपने राज्य के सिद्धान्त को 'दार्शनिक' (Philosophical) कहकर पुकारता है। उसके अनुसार किसी वस्तु का अध्ययन दार्शनिक है, यदि उसका उद्देश्य उस वस्तु का उसके सम्पूर्ण रूप में और ज्ञान के लिये ही ज्ञान प्राप्त करना है। इस प्रकार राज्य के दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार राज्य का अपना निजी स्वरूप होता जोकि स्वयं अपने लिये ही विचार का पात्र है; उसका उद्देश्य राज्य का अपने वास्तविक स्वरूप में अध्ययन करना है, एक आदर्श समाज की रचना करना नहीं। राज्य के जन्म और इतिहास की खोज करने से दार्शनिक सिद्धान्त का कोई सम्बन्ध नहीं। बोज़ान्के के अनुसार जिस प्रकार कि मानव शरीर शास्त्र का कार्य एक आदर्श रूप से स्वस्थ मनुष्य को चित्रित करना नहीं, उसी प्रकार राजनीतिक दर्शन का कार्य भी एक आदर्श राज्य का चित्र खींचना नहीं है।

राज्य के स्वरूप के अपने विश्लेषण में बोज़ान्के ग्रीक दर्शन के इस विचार (जोकि बीच के काल में लुप्त हो गया था और जिसे रूसो ने पुनर्जीवित किया था) से आरम्भ करता है कि 'मानव बुद्धि अपना पूर्ण तथा समुचित जीवन बुद्धियों के समाज में ही अथवा एक ऐसे समाज में ही कर सकती है जिसमें एक बुद्धि व्याप्त हो और जो समाज के प्रत्येक घटक के जीवन तथा कार्य में अपने को संगतिबद्ध रूप से, यद्यपि विभिन्न रूप से, अभिव्यक्त करती है।'*

रूसो के सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की व्याख्या बोज़ान्के इस प्रकार करता है कि समाज के घटकों की बुद्धियाँ तथा इच्छायें सामान्य इच्छा में एक अविभाजनीय सम्पूर्ण में मिल जाती हैं। वह रूसो की इस धारणा का पूर्ण रूप से समर्थन करता है कि मनुष्य अपनी पाशविक वृत्तियों से ऊपर उठ कर सच्चे अर्थों में बुद्धिमान तथा मानव राज्य के सामान्य जीवन में भाग लेकर ही बनता है। इस विश्वास में कि राज्य मनुष्य

* "The human mind can only attain its full and proper life in a community of minds, or more strictly in a community pervaded by a single mind, uttering itsolf consistently though differently in the life and action of every member of the community."

—Bosanquet : *The Philosophical Theory of the State*, page 6.

के लिये स्वाभाविक है क्योंकि वह ही मनुष्य के पूर्ण विकास की स्थितियाँ जुटा सकता है, बोज़ान्के ग्रीन से सहमत है। ये दोनों विचारक हॉब्स तथा लॉक की इस व्यक्तिवादी धारणा को मानने से इन्कार करते हैं कि मनुष्य प्रकृति द्वारा अलग-थलग तथा स्वाधीन होते हैं और वे केवल आगे चलकर ही एक कृत्रिम तथा बाहरी रूप से समाज में संगठित होते हैं। सारांश यह है कि ग्रीन के सदृश बोज़ान्के अपने राज्य के सिद्धान्त को इस तथ्य पर आधारित करता है कि व्यक्ति पूर्ण रूप से सामान्य इच्छा से व्याप्त है और वह अपने सच्चे व्यक्तित्व की प्राप्ति समाज का होकर ही कर सकता है जोकि एक सावयविक सम्पूर्ण है।

बोज़ान्के ग्रीन की इस धारणा से भी सहमत है कि राज्य के पास अपने उद्देश्य की प्राप्ति के जो साधन होते हैं उनके तथा नैतिकता के स्वरूप के कारण राज्य का कार्य एक शुभ जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटाने तक सीमित है। वह लिखता है: "तब, हम कहते हैं कि सर्वोत्तम जीवन के लिये राज्य स्वयं कुछ नहीं कर सकता, किन्तु केवल उसके मार्ग की बाधाओं को दूर कर सकता है।"*

ग्रीन की भांति वह इस बात पर जोर देता है कि यद्यपि राज्य के कार्य का तात्कालिक रूप नकारात्मक होता है तथापि अपनी वास्तविक क्रियाओं तथा अन्तिम उद्देश्य में वह विधेयात्मक होता है। ऐसी बाधाओं को दूर करना जैसे कि अनिवार्य शिक्षा द्वारा निरक्षरता को दूर करना और मदिरा के क्रय-विक्रय को नियन्त्रित करके नशेबाजी को रोकना विधेयात्मक कार्य हैं। ऐसे विधेयात्मक कार्यों का उद्देश्य नैतिक है; यह चरित्र के उन गुणों को स्वतन्त्र करता है जोकि बाधाओं की अपेक्षा निश्चित रूप से ही अधिक महान् होते हैं। राज्य के द्वारा ऐसे कार्यों का किसी भी उद्देश्य से करना बिल्कुल न करने की अपेक्षा तो अच्छा ही है। किन्तु राज्य को ऐसे कार्य नहीं करने चाहिए जिनका मूल्य तभी होता है जबकि वे स्वतन्त्र इच्छा द्वारा निर्धारित हों। इस बात से स्पष्ट है कि राज्य के कार्य सम्बन्धी इस धारणा में बोज़ान्के ग्रीन से पूर्ण रूप से सहमत है। परन्तु, जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं वह ग्रीन के दर्शन को विकसित करके उसे एक ऐसा रूप दे देता है जो हीगल की राज्य की धारणा से यदि पूर्णरूप से मिल नहीं जाता तो उसके बहुत निकट अवश्य आ जाता है। यहाँ हम इसी बात की समीक्षा करने का प्रयास करेंगे कि बोज़ान्के ने ऐसा किस प्रकार किया है। उसके लिये राज्य "एक प्रकार का चर्च, मानवता का चर्च बन जाता है, और उसकी सदस्यता एक महान् आध्यात्मिक अनुभव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। संक्षेप में, हीगल की भांति ही बोज़ान्के के लिये भी राज्य नागरिक के लिए अन्तिम नैतिक शक्ति है, उसके नागरिक अन्तःकरण का संरक्षक है।"†

* "We say, then, that the state as such can do nothing for the best life but hinder hindrances to it." —*Ibid*, page 183.

† "The state becomes for him 'a sort of church, the church of humanity, and membership of it is nothing else than a great spiritual experience. In short,

राज्य बोज़ान्के के लिये एक आतंकपूर्ण तथा रहस्यमयी चीज बन जाता है जिसके प्रति हमें भक्ति-भाव रखना चाहिये। राज्य का प्रशंसक होने के नाते वह उस-की महानता तथा आदर्शता को उसकी साधारणतम यथार्थ अवस्थाओं में दिखाने की चेष्टा करता है।

हम पहिले ही देख चुके हैं कि यद्यपि ग्रीन मोटे रूप से हीगल की इस धारणा से सहमत था कि व्यक्ति अपनी सच्ची स्वतन्त्रता की प्राप्ति राज्य का एक घटक बन-कर ही कर सकता है और वह यह भी मानता था कि समस्त समुदाय तथा संस्थायें दैविक आत्मा (Divine Spirit) का साकार रूप हैं, तथापि वह हीगल की इस आधार पर आलोचना करता है कि उसका राज्य का सिद्धान्त यथार्थ जीवन के तथ्यों के सर्वथा अनुरूप नहीं है। उसका तर्क था यदि कोई व्यक्ति एथेन्स के एक दास से यह कहता कि एथेन्स राज्य स्वतन्त्रता की अनुभूति है तो यह उसके साथ एक निर्दय परिहास होता। इसी प्रकार आज के औद्योगिक नगरों की नरक बस्तियों (Slums) में रहने वाले निरक्षर तथा भूखों मरते हुये मजदूरों को भी राज्य स्वतन्त्रता का साकार दिखाई नहीं पड़ सकता। हीगल की स्वतन्त्रता तथा स्वतन्त्रता के साकार रूप राज्य की धारणा की ग्रीन ने जो आलोचना की है बोज़ान्के उसका किसी महत्त्वपूर्ण बात में विरोध तो नहीं करता, किन्तु वह उसका महत्त्व बहुत कम करने की चेष्टा अवश्य करता है। उसका विचार है कि नवीन सामाजिक प्रयोगों तथा अधिकाधिक सामाजिक अनुभव के फल-स्वरूप, जोकि आज के युग की महत्त्वपूर्ण विशेषता है, राज्य के अर्थ और महत्त्व को निर्धन लोग भी उतना ही समझने लगे हैं जितना कि धनी लोग। वह अपनी पुस्तक का एक पूरा अध्याय राज्य अथवा समाज की धारणा और एक व्यक्ति की व्यक्तिगत इच्छा को युक्त करने के लिये देता है और इस परिणाम पर पहुँचता है कि एक विशिष्ट तथा विलक्षण दृष्टिकोण से विचार करने पर एक व्यक्तिगत मस्तिष्क अपने पूर्ण रूप में, सम्पूर्ण समाज का एक प्रतिबिम्ब है। इस प्रकार व्यक्ति को राष्ट्र की आत्मा में विलीन करने के लिये आधार तैयार किया गया है जोकि हीगलवाद का मूल तत्त्व है।

ग्रीन के राजनीतिक दर्शन की समालोचना करते हुए हमने कहा था कि राज्य के ऐसे कार्यों को जैसे कि जनता के लिये शिक्षा की व्यवस्था करना, निवास तथा सफाई का प्रबन्ध करना इत्यादि, केवल बाधाओं को हटाना कहना उचित नहीं है। बोज़ान्के भी यह मानता है कि ऐसी बाह्य स्थितियों को, जैसे कि सर्वोत्कृष्ट शिक्षा की व्यवस्था करना, केवल नकारात्मक स्थिति कहना अत्युक्ति होगी। तथापि वह ग्रीन के सूत्र का समर्थन करता है और ऐसे कार्यों को इस सूत्र के अन्तर्गत रख कर जो केवल बाधाओं को दूर करने और बुद्धि तथा इच्छा को सक्रिय रूप से स्फुरित करने के बीच में हैं वह हमारे स्वभाव के उस भाग में जिस पर राज्य की विवशकारी शक्ति

---

for Bosanquet as for Hegel, the state is the ultimate moral authority for the citizen, the keeper of his civic conscience'."

—Murray : *Studies in the English Social and Political Thinkers of the 19th Century*, Vol. II, pages 311–312.

का प्रभाव पड़ सकता है और उसमें जोकि एक श्रेष्ठतर जीवन में अपनी अनुभूति करने के लिए संघर्ष कर रहा है विभेद करता है। श्रेष्ठतर जीवन की यह प्रवृत्ति यदि व्यक्तियों में वर्तमान न होती तो एक उत्कृष्ट शिक्षा प्रणाली, अच्छा स्थान तथा समुचित वेतन शुभ जीवन का तत्त्व न होते। इस प्रवृत्ति को समाज की राजनीति-विहीन क्रियाओं से स्फुरण प्राप्त हो रहा है। इस प्रकार बोज़ान्के राज्य तथा समाज में विभेद करता है जिनको कि सामान्यतया पर्यायवाची शब्द समझा जाता है। जब हम यह कहते हैं कि राज्य व्यक्ति की इच्छा की स्वच्छन्द क्रीड़ा के लिए आवश्यक बाह्य स्थितियाँ जुटाता है तो हमारा तात्पर्य समाज के केवल राजनीतिक संघटन से होता है और समाज को सामाजिक शक्तियों का, सामाजिक सहयोग का एक ऐसा जटिल सम्मिश्रण समझा जाता है जोकि समाज के जीवन को आविष्कारात्मक तथा प्रयोगात्मक तत्त्व प्रदान करता है। इस दृष्टिकोण से हम बार्कर के शब्दों में कह सकते हैं कि राज्य का क्षेत्र 'यान्त्रिक क्रिया का है, उसकी स्फूर्ति का आधार बल है, उसकी कार्य पद्धति में कठोरता है; जबकि समाज का क्षेत्र स्वेच्छापूर्ण सहयोग है, उसकी स्फूर्ति का आधार सद्भावना है, उसकी कार्य-पद्धति में लचीलापन है।"*

यदि हम राज्य तथा समाज में इस प्रकार का विभेद करते हैं और राज्य को समाज का राजनीतिक ढांचा समझते हैं तो हमें राज्य की ओर से सतर्क ही रहना पड़ेगा और हमें उसके कार्यों को समाज के स्वीकृत परिणामों पर अपनी मुहर लगा कर उन्हें मान्यता प्रदान करने तक ही सीमित रखना होगा। किन्तु बोज़ान्के की राज्य की यह धारणा नहीं है; वह राज्य को पशुबल प्रयोग करने वाला एक राजनीतिक संघटन मात्र नहीं समझता। वह उसे एक सामान्य संघटन तथा जीवन का समन्वय समझता है जिसमें "परिवार से लेकर व्यापार तक और व्यापार से लेकर चर्च तथा विश्वविद्यालय तक वे समस्त संस्थायें सम्मिलित हैं जोकि जीवन को निर्धारित करती हैं। इसमें ये सब केवल एक एकत्रीकरण के रूप में सम्मिलित नहीं होतीं, बल्कि एक ऐसे ढांचे के रूप में होती हैं जोकि राजनीतिक संघटन का जीवन अर्थ प्रदान करता है, जबकि वह स्वयं इससे पारस्परिक सामंजस्य प्राप्त करता है जिसका परिणाम होता है प्रसरण तथा एक अधिक उदार अभिव्यक्ति।"†

जीवन के एक सामान्य संघटन के नाते, जोकि संपूर्ण जीवन का एक आदर्श

* "The area of state is rather that of mechanical action, its energy force, its method rigidity; while the area of society is voluntary co-operation, its energy that of goodwill, its method that of elasticity."

—Barker : *op. ct.*, page 71.

† He rather views it as a general organisation and synthesis of life which "includes the entire hierarchy of institutions by which life is determined, from the family to the trade, and from the trade to the Church and the University. It includes all of them, not as a mere collection of the growths of the country, but as the structure which gives life and meaning to the political whole, while receiving from it mutual adjustment, and therefore expansion and a more liberal air." —Bosanquet : *op. ct.*, page 139.

प्रस्तुत करता है जिसके प्रकाश में यह समाज के अन्तर्गत समस्त समुदायों की आलोचना करता है और उनमें सामंजस्य स्थापित करता है, राज्य समाज को अपने अन्तर्गत ही सम्मिलित रखता है; राज्य के अन्तर्गत ही समाज रह सकता है और उसका कुछ महत्त्व हो सकता है। राज्य की ऐसी कोई धारणा हमें ग्रीन में नहीं मिलती; उसने व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा तथा राज्य के बीच सम्बन्ध की विवेचना बड़ी सतर्कता के साथ की है। इस प्रकार बोज़ान्के हीगल की इस धारणा के निकट आ गया है जोकि व्यक्ति को राष्ट्र की आत्मा में विलीन कर देती है। जिस तर्कना के द्वारा बोज़ान्के राज्य की इस धारणा पर पहुँचा है उस सबको यहाँ नहीं दिया जा सकता; उसका सारांश देना भी सरल नहीं और उसे समझ पाना अत्यन्त कठिन है। हम उसे एक दूसरे ढंग से समझने का प्रयास करेंगे। हम यह देखेंगे कि बोज़ान्के के संसद, कालिज तथा राज्य इत्यादि संस्थाओं को नैतिक विचार कहने का क्या अर्थ है। जैसाकि हम देखेंगे, राज्य को केवल एक नैतिक विचार (an ethical idea) कहना ठीक न होगा; वह नैतिक विचार (the ethical idea) है। अपनी इसी धारणा के कारण बोज़ान्के हीगल की इस धारणा की ओर आता है जोकि व्यक्ति को राज्य की आत्मा में विलीन कर देती है। इसलिए इस विषय में हम कुछ शब्द कहेंगे।

राज्य, नैतिक विचार के रूप में— राज्य की अधिकतर आधुनिक परिभाषाओं के अनुसार राज्य व्यक्तियों का समुदाय है, अथवा समुदायों का समुदाय है; राज्य को 'स्वयं को जानने वाला तथा स्वयं को यथार्थ करने वाला व्यक्ति' समझने वाले बहुत नहीं हैं, जैसा कि हीगल उसे समझता था। उन पर व्यक्तिवादी परम्परा का अत्यधिक प्रभाव है। बोज़ान्के के लिए राज्य 'समस्त नागरिकों की बुद्धियों का सामान्य तत्त्व' है, अपने घटकों की सर्वव्यापक बुद्धि है। यद्यपि ग्रीन ने भी राज्य को सामान्य उद्देश्यों की सामान्य चेतना कहा है, तथापि वह बोज़ान्के की स्थिति पर नहीं पहुँचता क्योंकि वह यह नहीं मानता है कि राज्य की अपनी कोई बुद्धि होती है जिसमें कि उसके घटकों की समस्त बुद्धियाँ एकीकृत हो जाती हैं; वह इस बात का अनुरोध करता है कि एक राष्ट्र का जीवन अपने घटकों के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। यही कारण है कि ग्रीन को कभी-कभी उदार आदर्शवादी कहा जाता है। राज्य की एक नैतिक विचार की अपनी धारणा के कारण बोज़ान्के हीगल की इस धारणा के निकट आ जाता है कि राज्य स्वयं को जानने वाला तथा स्वयं को यथार्थ करने वाला एक व्यक्ति है; यही उग्र आदर्शवाद है।

बोज़ान्के कहता है कि एक संसद् सरीखी संस्था उन व्यक्तियों का एक समूहमात्र नहीं है जोकि एक कमरे में बैठते हैं और वाद-विवाद करते हैं; मूलतः वह एक उद्देश्य अथवा भावना है, जोकि कुछ बुद्धियों को एक सम्पूर्ण इकाई में एकीकृत कर देती है। यह एक सामाजिक बुद्धि है जिसमें कि घटकों की बुद्धियाँ मिलती हैं, यह वह 'आदर्श तत्त्व है, जोकि एक सार्वभौमिक रचना होने के नाते तो सामाजिक तत्त्व है किन्तु अपनी विभिन्नकृत स्थितियों में व्यक्तिगत बुद्धि है'। बार्कर के शब्दों में संसद,

अन्तिम रूप मे, 'न तो ईंटें हे, न चूना, और न मांस तथा रक्त, यह वह तत्त्व है जो कि छः सौ बुद्धियों के लिये सामान्य है : यह, जैसा कि हम कहते हैं, "सामान्य बुद्धि" है।' इसी प्रकार एक कालिज भवन, सड़कें, वाटिकायें, पुस्तकालय, प्रयोगशालायें, तथा विद्यार्थी और शिक्षकगण ही नहीं है ; वह एक सामान्य उद्देश्य को प्राप्त करने की चेष्टा करने वाली बुद्धियों का एक समूह है। उन्हें एकताबद्ध करने वाले सामान्य उद्देश्य के कारण बुद्धियों का समूह समूह-बुद्धि (Group-mind) बन जाता है। यद्यपि समूह-बुद्धि का घटकों की बुद्धि से अलग होकर कोई अस्तित्व नहीं हो सकता तथापि वह एक वास्तविकता है ; उसका अस्तित्व है। इसलिए तो हम कालिज बुद्धि तथा समाज की सार्वजनिक बुद्धि की बात करते हैं। इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि राज्य एक निश्चित क्षेत्र में रहने वाले और एक सामान्य संप्रभुता के अधीन लाखों करोड़ों नर-नारियों का समूह-मात्र नहीं है ; वह यह सामान्य उद्देश्य है जोकि उन्हें एक सम्पूर्ण इकाई के रूप में एकीकृत करता है, वह यह नैतिक विचार है जो उन सबके लिये सामान्य है। अब, एक उद्देश्य अथवा एक नैतिक विचार का अस्तित्व उस बुद्धि से अलग होकर नहीं हो सकता जिसमें कि वह उत्पन्न होता है। इसलिए हमें कालिज बुद्धि अथवा ट्रेड यूनियन बुद्धि के सदृश एक राष्ट्रीय बुद्धि को भी मानना चाहिए ; उसका अस्तित्व होना चाहिये, यद्यपि उसका अस्तित्व राज्य के घटकों की बुद्धियों में ही हो सकता है। परिवार ट्रेड यूनियन तथा संसद् इत्यादि समुदायों की बुद्धियों से राष्ट्र की बुद्धि भिन्न है क्योंकि वह सार्वभौमिक है, क्योंकि यह राज्य के अन्तर्गत समस्त व्यक्तियों और समुदायों के लिये सामान्य है और क्योंकि यह सम्पूर्ण जीवन का अन्तिम आदर्श प्रस्तुत करती है। यदि राज्य को शुभ जीवन के लिये बाह्य स्थितियों की व्यवस्था करनी है तो उसे शुभ जीवन का अर्थ भलीभाँति समझ लेना चाहिये। शुभ जीवन के अपने ज्ञान के कारण ही वह अपने अन्तर्गत समस्त समुदायों की आलोचना कर सकता है, उनमें सुधार कर सकता है तथा उनमें परस्पर सामंजस्य स्थापित कर सकता है। इसलिये हमारे राज्य को केवल एक नैतिक विचार नहीं, बल्कि सर्वोच्च नैतिक विचार, जोकि समाज के सम्पूर्ण ढांचे को कायम रखता है, समझना उचित ही है। जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं, बोजान्के की धारणा के अनुसार राज्य में वे समस्त संस्थायें सम्मिलित हैं जोकि जीवन को निर्धारित करती हैं। इसलिये बोज़ान्के राज्य को जीवन का चालक पहिया कहकर पुकारता है।

संस्थाओं तथा राज्य के नैतिक विचारों के होने के विषय में उपरोक्त कथन से यह बात समझ में आ सकती है कि कभी-कभी किसी व्यक्ति को एक संस्था क्यों कहा जाता है। किसी व्यक्ति को एक संस्था कहने का अभिप्राय केवल यह होता है कि उस व्यक्ति ने अपनी संस्था की परम्पराओं तथा उद्देश्यों को एक असाधारण मात्रा में आत्मसात् कर लिया है। बोजान्के के लिए एक संस्था एक से अधिक बुद्धियों का उद्देश्य तथा भावना है तथा न्यूनाधिक उसका स्थायी मूर्त्त रूप है।

राज्य के कार्यों की नैतिकता— अन्त में हम बोज़ान्के के राजनीतिक दर्शन की एक दो और ऐसी बातों का उल्लेख करेंगे जिनमें वह ग्रीन से हटता है और हीगल के निकट आता है। इनमें से प्रथम का सम्बन्ध राज्य के कार्य की नैतिकता से है। हम देख चुके हैं कि ग्रीन एक नैसर्गिक कानून की सत्ता में विश्वास करता है जोकि एक ऐसा आदर्श अथवा कसौटी है जिसके आधार पर हम राज्य की आलोचना कर सकते हैं और उसका निर्णय कर सकते हैं। उसका विश्वास है कि अन्ततोगत्वा समाज में एक नैतिक प्रणाली रहती है जोकि राज्य से स्वतन्त्र होती है और जिसके आधार पर व्यक्ति राज्य के कार्यों की आलोचना कर सकता है। दूसरी बात यह कि ग्रीन राष्ट्रीय ईर्ष्याओं से भरे हुए, प्रतिद्वन्द्वी सेनाओं से सुसज्जित तथा एक दूसरे के विरुद्ध आयात निर्यात की दीवारें खड़ी किये हुए, यूरोप के राज्यों की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ व्यवस्था की कल्पना करता था, वह राज्यों की अनुमति पर आधारित अधिकार से सम्पन्न एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का सपना देखता था। विश्व-भ्रातृत्व की धारणा, जोकि स्वतन्त्र जीवन के अधिकार का उपसिद्धान्त है, ग्रीन के इन विचारों का सैद्धान्तिक आधार है। बोज़ान्के किसी ऐसी नैतिक प्रणाली की सत्ता में विश्वास नहीं करता जोकि राज्य से स्वाधीन होकर समाज में पाई जाय; उसके लिये राज्य एक सम्पूर्ण नैतिक जगत का संरक्षक है, किन्तु वह एक संगठित नैतिक जगत के अन्तर्गत एक तत्त्व नहीं है। वह कहता है: "नैतिक सम्बन्धों के लिये एक संगठित जीवन एक पूर्व आवश्यकता है; किन्तु ऐसा जीवन केवल राज्य के अन्तर्गत है, राज्य तथा अन्य समुदायों के बीच सम्बन्धों में नहीं।"*

इस प्रकार वह इस परिणाम पर पहुँचता है कि राज्यों के कार्यों का इस प्रकार से नैतिक निर्णय नहीं होना चाहिये जैसा कि व्यक्तिगत कार्यों का। राज्य के कार्य सार्वजनिक कार्य हैं; इसलिए वे उस संगठित नैतिकता के सिद्धान्तों के क्षेत्र से परे हैं जोकि व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों पर लागू होती हैं। एक सार्वजनिक कार्य जिससे कि कुछ हानि होती है, जैसे कि युद्ध, सम्पत्ति-हरण, ऋण-निषेध इत्यादि हत्या अथवा चोरी से बिल्कुल भिन्न हैं और उपरोक्त की भाँति उसका निर्णय नहीं किया जा सकता। इसका अर्थ यह नहीं है कि बोज़ान्के राज्य के कर्मचारियों के राज्य के हित में किये हुए गलत अथवा अनैतिक कार्यों को भी उचित ठहरायेगा। ऐसे कार्य एक राज्य-कर्मचारी द्वारा किये हुए भी उतने ही अनैतिक हैं जितने कि किसी प्राइवेट नागरिक द्वारा किये हुए। बोज़ान्के ऐसे कार्यों को सार्वजनिक नहीं समझता; वे व्यक्तियों के कार्य हैं। युद्ध की घोषणा तथा उसका संचालन, बिना प्रतिकार के किसी उद्योग का राष्ट्रीयकरण तथा राज्य के ऊपर ऋण को देने से इन्कार कर देना सार्वजनिक कार्यों के उदाहरण हैं; उन्हें कानून की अवहेलना करना नहीं समझा जा सकता; वे किसी दुर्भावना अथवा लालच से प्रेरित होकर नहीं किये जाते। इसलिए

* "Moral relations presuppose an organised life, but such a life is only within the state, not in relations between the state and other communities."
—Bosanquet: *op. cit.*, page 302.

राज्य को व्यक्तिगत अनैतिकता का अपराधी नहीं समझा जा सकता। इस बात के ऊपर आग्रह करते हुए भी कि ऐसे सार्वजनिक कार्य साधारण नैतिकता के क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आ सकते, बोज़ान्के इतनी बात अवश्य मानता है कि उनकी आलोचना की जा सकती है। यदि वे समाज के सक्रिय समर्थन के साथ किये जाते हैं और वे अनैतिक होने के कारण निंद्य हैं तो राज्य का 'मानवता तथा इतिहास के न्यायालय के सामने' निर्णय होगा, परन्तु जब कोई देश लड़ाई लड़ता है या सम्पत्ति-हरण अथवा सार्वजनिक ऋण को अदा न करने की नीति अपनाता है तो राज्य पर हत्या अथवा चोरी का आरोप लगाना गलत होगा। सारांश यह है कि यद्यपि बोज़ान्के यह तो मानता है कि राज्य के कार्यों की हम आलोचना तो कर सकते हैं, किन्तु वह यह नहीं मानता कि राज्य का भी उसी प्रकार निर्णय किया जा सकता है जिस प्रकार कि प्राइवेट नागरिकों के कार्यों का। राज्य के कार्य सार्वजनिक होते हैं, इसलिये इसके कार्यों का व्यक्तिगत कार्यों की भाँति निर्णय नहीं किया जा सकता। राज्य अधिकारों और कर्त्तव्यों की उस प्रणाली से बाधित नहीं हो सकता जिसे कि वह अपने नागरिकों पर आरोपित करता है; वह उस सामाजिक नैतिकता से सीमित नहीं हो सकता जिसे कि वह कायम रखता है।

राष्ट्र-राज्य— सामाजिक संगठन का सर्वोच्च रूप— हम ऊपर देख चुके हैं कि एक संस्था के लिये एक सामान्य उद्देश्य अथवा भावना रखने वाली कुछ बुद्धियों का होना एक पूर्व-आवश्यकता है। एक उद्देश्य रखने वाले एक व्यक्ति से संस्था नहीं बन सकती; बहुत से मनुष्यों से भी एक संस्था नहीं बन सकती, यदि उनका कोई सामान्य उद्देश्य न हो। इसलिये सम्पूर्ण मानव जाति को हम एक संस्था नहीं कह सकते क्योंकि उसे एकता के सूत्र में बांधने वाला कोई सामान्य नैतिक विचार नहीं होता। निस्सन्देह, हम मानव जाति का विचार तो रखते हैं, किन्तु सम्पूर्ण मानव जाति एक समुदाय नहीं है जैसा कि राष्ट्र-राज्य है; समस्त मनुष्यों का ऐसा कोई समरूप अनुभव नहीं होता जोकि एक समाज की सक्रिय सदस्यता तथा एक सामान्य इच्छा को प्रयुक्त करने के लिये आवश्यक है। मानवता एक नैतिक सावयव (Organism) नहीं है। इसलिये एक संगठित मानवता के आधार पर कोई सच्ची अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता नहीं हो सकती। इसलिये नैतिक कानून एक राज्य के अन्तर्गत घटकों पर ही लागू हो सकता है; स्वाधीन राज्यों के परस्पर सम्बन्ध उसकी परिधि से बाहर हैं। तथापि, यदि हम इस दार्शनिक के साथ न्याय करना चाहते हैं तो हमें यह मानना होगा कि वह राज्य अथवा मानवता का विचार अथवा मानव जाति के हितों को अपने सिद्धान्त का अन्तिम शब्द नहीं समझता। संगठित सामाजिक जीवन के लिये एक ऐसे पथ-प्रदर्शक तथा मानदण्ड की आवश्यकता है जोकि उसकी सामयिक क्रियाओं से परे है। बोज़ान्के आशा करता है कि राज्य का उद्देश्य एक ऐसे सामाजिक अन्तःकरण की दिशा में अग्रसर होगा जोकि 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की प्राप्ति को अपना लक्ष्य समझेगा। वह इस धारणा से सहमत है कि नागरिक जीवन का अन्तिम लक्ष्य

तथा मूल तत्त्व धर्म होना चाहिये और जीवन के परम मूल्य ही हमारी इच्छाओं को सन्मार्ग की ओर निर्दिष्ट कर सकते हैं और राष्ट्र-भक्ति को स्वच्छ तथा मधुर रख सकते हैं। यदि मानव जाति राष्ट्रों के बीच मतभेद की अपेक्षा एकमत होने के लिये अधिक भौतिक आधार खोज सकती है तो हो सकता कि सुदूर भविष्य में एक विश्व-व्यवस्था और विश्व राज्य का जन्म हो जाय।

बोज़ान्के के दण्ड सम्बन्धी विचार— दण्ड सिद्धान्त के विषय में बोज़ान्के के विचारों के सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना अनावश्यक न होगा, क्योंकि यहाँ भी वह ग्रीन के सिद्धान्तों से थोड़ा हटता है और दण्ड में एक विलक्षण विधेयात्मक गुण देखता है जो राज्य-कार्य के नकारात्मक स्वरूप के सामान्य सिद्धान्त से कुछ भिन्न है। जो बात दण्ड के विषय में सत्य है वह राज्य के दूसरे बाध्यकारी कार्यों के विषय में भी सही हो सकती है, और इसके कारण बोज़ान्के ग्रीन के द्वारा दी गई हीगल के राज्य के सिद्धान्त की आलोचना को बहुत कम महत्त्व देता है।

ग्रीन का अध्ययन करते समय हम यह देख चुके हैं कि उसके अनुसार यद्यपि दण्ड का मूल स्वरूप प्रतिरोधात्मक (Deterrent) है, किन्तु वह साथ ही साथ प्रतिकारात्मक (Retributive) तथा सुधारात्मक (Reformative) भी है। बोज़ान्के ग्रीन के सिद्धान्तों में थोड़ा सा संशोधन करता है और कहता है कि दण्ड के प्रतिकारात्मक, प्रतिरोधात्मक तथा सुधारात्मक सिद्धान्तों में भेद करना और अन्य को छोड़कर उनमें से केवल किसी एक को सही मान लेना निरर्थक है। दण्ड आक्रमण के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। आक्रमण एक आघात है, और साथ ही साथ वह एक खतरा है और चरित्र का द्योतक है, इसलिये उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया, अर्थात् दण्ड भी एक ही साथ दण्ड का प्रतिकार, खतरे का प्रतिरोध तथा चरित्र को सुधारने का प्रयास होना चाहिये। किन्तु हमें यह याद रखना चाहिये कि यद्यपि दण्ड का प्रभाव निश्चित रूप से सुधारात्मक होता है तथापि वह मुख्य रूप से अपराधी को सुधारने के उद्देश्य से नहीं दिया जाता; अपराधी को अच्छा बनाना इसका प्रत्यक्ष उद्देश्य नहीं होता। इसका सच्चा उद्देश्य अधिकारों की रक्षा करना है, और अपने इस उद्देश्य की पूर्ति वह अपराधी को यह महसूस कराकर कि दण्ड उसके ही कार्य का स्वाभाविक प्रतिकार है (प्रतिकारात्मक सिद्धान्त) और अपराध करने के विचार के साथ भय की भावना को जोड़कर करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दण्ड के तीनों स्वरूप— सुधार, प्रतिरोध तथा प्रतिशोध, एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। यदि उनकी समुचित व्याख्या की जाय तो प्रत्येक का इतना प्रसरण हो जाता है कि उनमें अन्य दो भी सम्मिलित हो जाते हैं। यहाँ हम इस बात को समझने का प्रयास करेंगे कि बोज़ान्के के अनुसार दण्ड का प्रभाव सुधार किस प्रकार होता है। इस विषय में वह ग्रीन से मतभेद रखता है।

बोज़ान्के की युक्ति का स्वरूप मनोवैज्ञानिक है। वह कहता है कि मनुष्य की निम्नतर प्रकृति में जोकि स्वतः क्रिया का उपचेतन क्षेत्र है तथा उच्चतर प्रकृति में

जहाँ शुभ की चेतन इच्छा बरतती है एक सूक्ष्म निरन्तरता रहती है, इसलिए पहिली में जो कुछ होता है उसका प्रभाव दूसरी में भी पड़ता है। जब कोई मनुष्य अनजाने में दूसरे के साथ कोई दुर्व्यवहार करता है और उसके लिये उसे दण्ड दिया जाता है तो दण्ड का धक्का उसकी चेतन इच्छा को जाग्रत कर देता है जिससे वह अपने कार्य के वास्तविक परिणामों को समझ लेता है, और वह यह महसूस करने लगता है कि उसने दूसरों के अधिकारों पर आघात किया है, और इस प्रकार वह अपने वास्तविक स्वरूप में आ जाता है।

"इस प्रकार दण्ड का अर्थ हो सकता (यह नहीं कि मैं भविष्य में अपराध इसलिये न करूं क्योंकि मुझे फिर से ऐसा धक्का लगने का भय है) कि मैं भविष्य में भूल न करूं क्योंकि मैं अपने आपे में आ गया हूँ; आदतों की पूर्ण प्रणाली की मेरी चेतना जाग्रत हो चुकी है और ऐसी चेतना के प्रकाश में मैंने यह अनुभव कर लिया है कि मेरे अपराध करने का क्या अर्थ है।"*

इस प्रकार बोज़ान्के दण्ड में विलक्षण रूप से एक विधेयात्मक गुण देखता है। परन्तु राज्य द्वारा किये हुये अन्य बाध्यकारी कार्यों में यह गुण नहीं है, इसका कोई कारण नहीं हो सकता। राज्य जिस प्रणाली को कायम रखता है, हो सकता है कि वह हमें अपने कर्त्तव्यों की निरन्तर याद दिलाती रहे, जिन्हें भूलने की हमें स्वयं भी कोई इच्छा नहीं है, किन्तु अपने अज्ञान या आलस्य के कारण जिनका पालन हम नहीं करते, यदि राज्य का आदेश हमें ऐसा करने के लिये विवश न करे। इसलिये बोज़ान्के कहता है कि यह सोचना भारी भूल है कि राज्य द्वारा प्रयुक्त शक्ति केवल अपराधियों को संयत रखने तक ही सीमित है; इसका उसके घटकों के मत पर स्फूर्तिजनक प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार वह राज्य कार्य के उस नकारात्मक स्वरूप में संशोधन करता है जिसके ऊपर ग्रीन इतना जोर देता है।

सारांश— बोज़ान्के के राज्य को नैतिक विचार कहने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह यह मानता है कि राज्य का एक अपना जीवन होता है, उसकी एक अपनी बुद्धि अथवा चेतना होती है जिसमें कि उसके घटकों की बुद्धियाँ तथा इच्छायें एक अविभाज्य इकाई में मिल जाती हैं। इस प्रकार राज्य एक नैतिक व्यक्ति बन जाता है जिसके जीवन में भाग लेकर मनुष्य उससे उच्चतर तथा अधिक गहरे व्यक्तित्व और अधिक सच्ची स्वतन्त्रता की प्राप्ति करता है जितनी कि वह उससे अलग रहकर कर सकता है। मेज़ के शब्दों में हम कह सकते हैं कि राज्य 'एक सामान्य तथा बुद्धिप्रधान इच्छा है, एक निरन्तर तथा स्व-तद्रूप प्राणी है, जोकि बहुत से विशिष्ट व्यक्तियों में रमा हुआ है जिनमें और जिनके द्वारा ही इसका अस्तित्व और अर्थ

* "Thus punishment may mean, not that henceforth I cease to have slips because I fear to experience a like shock again, but that henceforth I cease to have slips because I have come to my senses; have had my consciousness of the meaning of a whole system of habits awakened: and have realised, in the light of such consciousness, what my offending means."

—Barker: *op. ct.*, pages 76-77.

है।' इसका उद्देश्य व्यक्ति तथा समाज में पूर्ण ऐक्य स्थापित करना है। इस प्रकार बोज़ान्के व्यक्ति तथा समाज के उस पार्थक्य को दूर करता है जोकि हॉब्स, लॉक, बेन्थम, मिल तथा स्पेन्सर के व्यक्तिवादी सिद्धान्तों में पाया जाता है। इस प्रकार राज्य का लक्ष्य विधेयात्मक है; उसका स्वरूप नैतिक है। परन्तु बोज़ान्के की धारणा है कि राज्य का तात्कालिक कार्य निषेधात्मक अर्थात् शुभ जीवन के मार्ग में से बाधाओं को दूर करना है। इसके अतिरिक्त वह ग्रीन की भाँति इस बात को भी स्वीकार करता है कि अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की, जोकि शुभ जीवन की बाह्य स्थितियाँ हैं, प्रणाली को सुरक्षित रखने के लिये राज्य को बल का प्रयोग करना पड़ता है। परन्तु यह मानने में वह ग्रीन से आगे जाता है कि बल राज्य का एक मौलिक तथा तात्त्विक गुण है; और हममें से अधिकतर को अपनी स्वार्थपरता तथा पाशविकता का दमन करने के लिये उस बल की आवश्यकता है। राज्य की विवश-कारी शक्ति हमारे लिये तब तक आवश्यक है जब तक कि हममें इतनी सामर्थ्य न आ जाय कि हम अपनी उच्चतर प्रकृति द्वारा अपनी निम्नतर प्रकृति को दबा लें। इस कार्य को करने के लिये राष्ट्र-राज्य सबसे अधिक उपयुक्त है जोकि उन नैतिक नियमों से ऊपर होता है जिन्हें कि वह समाज में लागू करता है। राज्य व्यक्तियों की अपेक्षा एक उच्चतर इकाई है, इसलिये उसके कार्यों की नैतिकता उस मापदण्ड से नहीं नापी जा सकती जोकि व्यक्तियों के लिये ठीक होता है। परन्तु इसका अर्थ हमें यह नहीं समझ लेना चाहिये कि अपने हितों की सिद्धि के लिये वह राज्य की प्रत्येक अनैतिकता को उचित समझता है; वह यह नहीं मानता कि राज्य के हितों की पूर्ति के लिये जो कुछ भी किया जाय सब उचित है। वह राज्य के नैतिक उत्तरदायित्व से इन्कार नहीं करता, किन्तु वह उसका अधिक उत्कृष्ट प्रकार का उत्तरदायित्व मानता है जोकि उसके उच्चतर पद तथा शक्तियों के अनुकूल हो। यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि बोज़ान्के सभी युद्धों को बुरा नहीं समझता जैसा कि ग्रीन समझता है। उसका विचार है कि युद्ध राष्ट्र-राज्य प्रणाली के स्वभाव का अंग नहीं है, बल्कि वे राज्य के उस दोष से उत्पन्न होते हैं जिसके कारण वह प्रसार की नीति अपनाता है। इसलिये एक राज्य को दूसरों के आक्रमण से आत्म-रक्षा करने का अधिकार है; अपने रक्त की अन्तिम बूंद बहाकर भी अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करना उसके नाग-रिकों का परम कर्त्तव्य है। इस प्रकार स्वतन्त्र जीवन के अधिकार पर बोज़ान्के उतना बल नहीं देता जितना कि ग्रीन देता है। जिस बल को बोजान्के राज्य की प्रकृति में निहित समझता है और जिसका प्रयोग उसे अपने घटकों के विरुद्ध करना पड़ता है, उसका प्रयोग वह दूसरे राज्यों के विरुद्ध भी कर सकता है, यदि उसके परम हित उसकी माँग करें। यहाँ भी बोज़ान्के ग्रीन से हटकर हीगलवाद की दिशा में ही कदम बढ़ाता है।

बोज़ान्के के राजनीतिक दर्शन का मूल्यांकन— ब्रिटिश आदर्शवादी विचार-धारा के विकास में बोज़ान्के एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। जैसा कि उपरोक्त

विवरण में बताया जा चुका है, वह ग्रीन के सिद्धान्तों को लेकर चलता है और उन्हें अधिक पूर्ण हीगलवाद की दिशा में विकसित करता है। हम कह सकते हैं कि यह हॉब्स, लॉक, बेन्थम, मिल तथा स्पेन्सर के व्यक्तिवाद तथा उदारवाद के विरुद्ध राज्य की धारणा को पुनर्जीवित करने का एक संकल्प-बद्ध प्रयास है। यह तो सच है कि ग्रीन ने भी इन सिद्धान्तों का खण्डन किया था, किन्तु वह हीगलवाद तक नहीं पहुँचता था, परन्तु बोज़ान्के प्रायः हीगलवाद तक ही आ गया है। उसके राज्य के उस सिद्धान्त की कि राज्य की एक अपनी इच्छा होती है, उसका एक अपना व्यक्तित्व होता है, इस आधार पर आलोचना की जाती है कि इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति राज्य के पूर्ण रूप से अधीन हो जाता है। उसकी इस धारणा की, कि राज्य के मुख्य हितों की रक्षा करने के लिए उसके घटकों को अपने रक्त की अन्तिम बूंद भी बहा देनी चाहिये, इसलिये आलोचना की जाती है और उसकी इसलिये निन्दा भी की जाती है कि यह एक प्रकार से युद्ध का समर्थन है। उसके इस विचार की भी काफी कटु आलोचना हुई है कि अपने घटकों के साथ व्यवहार करने में राज्य के हाथ व्यक्तिगत नैतिकता के नियमों से नहीं बांधे जा सकते। उसका एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्व-व्यवस्था की सम्भावना से इन्कार करना भी भर्त्सना का विषय रहा है। इन सब की विस्तृत समीक्षा करना हमारे लिये आवश्यक नहीं, इनमें से कुछ का उल्लेख हम अगले वर्ग में करेंगे। यहाँ तो हम केवल इतना कह सकते हैं कि राज्य के कार्यों को नैतिक नियमों से स्वतन्त्र रखना समझ में आने वाली बात नहीं है। यदि राज्य उस नैतिक विधान से बाहर और उसके ऊपर हो जिसको कि वह अपने घटकों के ऊपर लागू करना चाहता है तो उस विधान को सुरक्षित रखने तथा उसे लागू करने की उसकी शक्ति का बहुत ह्रास हो जायगा क्योंकि व्यवहार के न होने से सिद्धान्त का बल बहुत कम हो जाता है। फ्रांस तथा अन्य देशों में जहाँ कि प्रशासकीय कानून (Administrative Law) प्रचलित है राज्य को अपने कर्मचारियों के लिये कानूनी रूप से उत्तरदायी ठहराया जाता है। राज्य को अपने घटकों तथा अन्य राज्यों के साथ व्यवहार करने में नैतिक रूप से उत्तरदायी क्यों नहीं होना चाहिये, यह बात समझ में नहीं आती। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अब एक जन-मत का द्रुत गति से विकास हो रहा है जोकि राज्य के नैतिक उत्तरदायित्व को बहुत वास्तविक बनाना चाहता है। इस विषय में बोज़ान्के ने राज्य के साथ अनुचित पक्षपात दिखाया है।

आदर्शवादी सिद्धान्त की आलोचनात्मक समीक्षा

कुछ विख्यात जर्मन तथा इंगलिश आदर्शवाद विचारकों के सिद्धान्तों की समीक्षा करने के उपरान्त अब हम कुछ उन आपत्तियों का परीक्षण करेंगे जोकि आदर्शवादी सिद्धान्त के विरुद्ध उठाई जाती हैं। आधुनिक राजनीतिक विचार में इसके विरुद्ध विशेष रूप से तीव्र प्रतिक्रिया हुई है और हॉब्हाउस, जोड, लास्की तथा मेकाइ-वर सरीखे विद्वानों ने इसकी बड़ी कटु, और कहीं-कहीं अनुचित, आलोचना की है।

इनमें से प्रत्येक आलोचक के विचारों की अलग-अलग समीक्षा करना यहाँ सम्भव न हो सकेगा ; इसलिये हम केवल उन्हीं बातों का उल्लेख करेंगे जोकि उनकी आलोचना में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और अधिकतर सभी में सामान्य हैं।

आदर्शवादी सिद्धान्त में कुछ मान्यतायें निहित हैं जिनमें से कुछ उप-सिद्धान्त निकाले गये हैं। ये उप-सिद्धान्त ही आलोचकों के आक्रमण का निशाना रहे हैं। हम इन मान्यताओं का बारी-बारी से उल्लेख करेंगे।

(१) सर्वप्रथम बात तो यह है कि आदर्शवादी सिद्धान्त में राज्य की अपनी धारणा निहित है जोकि हॉब्स, लॉक, बेन्थम, मिल और स्पेन्सर सरीखे विचारकों की राज्य की व्यक्तिवादी धारणा से एकदम विपरीत है। इन विचारकों के मतानुसार राज्य अपने सदस्यों का योग है ; किन्तु आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक नैतिक सावयव है जिसकी अपनी निजी बुद्धि तथा इच्छा होती है जिससे कि उसके घटकों की बुद्धियाँ तथा इच्छायें ओत-प्रोत हैं। राज्य की सावयवी एकता का यह सिद्धान्त अफलातून तथा अरस्तू के जमाने से चला आता है जोकि नगर-राज्यों को स्व-पर्याप्त तथा नैतिक समुदाय समझते थे। यह रूसो के सिद्धान्त का एक अभिन्न अंग है जिसके मतानुसार सामाजिक संविदा ने एक नैतिक तथा सामूहिक व्यक्ति को जन्म दिया। रूसो की सामान्य इच्छा तत्त्वत: एकात्मक है, इसमें किसी प्रकार इसके समस्त घटकों की वास्तविक इच्छायें सम्मिलित हैं। हीगल ने इस धारणा को चरम सीमा पर पहुँचा दिया जिसने कि राज्य को स्वचेतन नैतिक तत्त्व बताया। उसका विश्वास था कि राष्ट्र की आत्मा प्रत्येक व्यक्ति को आन्तरिक रूप से इस प्रकार नियन्त्रित करती है कि वह उसे अपना अन्तस्तल ही समझने लगता है। राज्य को एक नैतिक विचार के रूप में मानते हुए बोज़ान्के उसे 'निरंतर तथा स्व-तद्रूप प्राणी' कहता है। इसलिये हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि आदर्शवादी के अनुसार राज्य अपने घटकों का एक योगमात्र नहीं है ; वह एक इकाई है जिसका अपना जीवन है और अपनी इच्छा है और इस नाते उसमें कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जोकि उसके घटकों में नहीं हैं और उसके घटकों का मूल्य तथा महत्त्व राज्य की सदस्यता में ही है। रूसो की यह उक्ति कि राज्य से अलग मनुष्य एक मूर्ख तथा सीमित प्राणी है एक शाश्वत सत्य है।

आदर्शवादी सिद्धान्त के हॉब्हाउस तथा जोड सरीखे आलोचक यह तो मानते हैं कि एक अंगी (Whole) अपने अंगों के योगमात्र से कुछ अधिक होता है। उदाहरण के लिये, हॉब्हाउस यह स्वीकार करता है कि परिवार एक इकाई है जिसमें उसके विभिन्न घटक जैसा जीवन व्यतीत करते हैं वह उससे भिन्न होता है जोकि वे परिवार के छिन्न-भिन्न हो जाने पर करते। वह यह भी स्वीकार करता है कि एक कालिज जैसी संस्था में, जिसे कि एक समय-विशेष पर उसकी चारदिवारी के अन्दर रहने वाले व्यक्तियों का योगमात्र नहीं कहा जा सकता, एक विलक्षण विशेषता अथवा परम्परा हो सकती है, जिसका प्रचार उसकी पीढ़ी दर पीढ़ी द्वारा होता रहता है।

परन्तु वह इस बात को मानने से इन्कार करता है कि परिवार का हित अथवा अहित, सुख अथवा दुःख, उसके घटकों के हित अहित, सुख-दुःख से भिन्न होता है। इसी भाँति वह इस बात को भी नहीं मानता कि एक कालिज की आत्मा तथा परम्परा किसी एक बुद्धि अथवा व्यक्ति में निवास करती है। इसी प्रकार हॉब्हाउस यह मानने के लिए तैयार है कि राज्य एक इकाई है, वह एक सामाजिक समुदाय है, परन्तु वह यह मानने के लिए तैयार नहीं है कि वह अपने घटकों से अलग है और उनके बाहर उसकी कोई सत्ता है। इसलिए वह राज्य के इस आध्यात्मिक सिद्धान्त की घोर निन्दा करता है क्योंकि इसमें 'राज्य को एक महानतर प्राणी, आत्मा, अतिव्यक्ति सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित किया है जिसमें कि अपने व्यक्तिगत अन्तःकरण अथवा अधिकारों के दावे, अपना सुख अथवा दुःख रखने वाले व्यक्ति केवल अधीनस्थ तत्त्व हैं।' उसके एक अपने निजी व्यक्तित्व रखने वाले राज्य की धारणा को ठुकराने का कारण यह है कि उसमें विभिन्न मनुष्यों को एक इकाई में एकीकृत करने वाली वह तारतम्यता नहीं जोकि एक शरीर में पाई जाती है जो उसके कोष्ठकों को एकीकृत करती है। हरबर्ट स्पेन्सर ने भी इस भेद को देखा था; उसने देखा कि एक राज्य में रहने वाले व्यक्ति समुद्र में दीपों की भांति अलग अलग बिखरे हुए हैं, और इसलिये राज्य सम्बन्धी कार्यों के विषय में वह व्यक्तिवादी परिणामों पर पहुँचा।

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि हॉब्हाउस के तर्क में सत्य का कुछ अंश अवश्य है; व्यक्ति तथा समाज के बीच में जो सम्बन्ध है वह निश्चित रूप से ही उस सम्बन्ध से बहुत भिन्न है जोकि कोष्टक तथा शरीर में पाया जाता है। व्यक्ति चेतना, विचार तथा इच्छा का केन्द्र है; कोष्टक ऐसा कभी नहीं हो सकता। उसका अपना व्यक्तित्व होता है जो कोष्टक का नहीं होता और जिसके कारण वह समाज के उस प्रकार से अधीन नहीं हो सकता जिस प्रकार से कि कोष्टक शरीर के अधीन होता है। आदर्शवादी इन स्पष्ट तथ्यों की ओर से आँखें बन्द नहीं करता, वह राज्य को एक शारीरिक सावयव नहीं, एक नैतिक सावयव समझता है। उसे नैतिक सावयव कहने से उसका अर्थ यह है कि उसके अंग स्वयं चेतन नैतिक अभिकर्त्ता हैं; वे यह जानते हैं कि वे एक इकाई के अंग हैं और वे उसमें अपनी इकाई को भी जानते हैं। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे उन अंगों को भी जानते हैं जिसके कि वे अंग हैं। आदर्शवादी सामाजिक इकाई को, मनुष्य जिसके अंग हैं, स्व-चेतन तथा स्व-इच्छुक समझता है, क्योंकि और जहाँ तक कि उसके अंग स्व-चेतन तथा स्व-इच्छुक हैं, क्योंकि राज्य के अंग स्व-चेतन व्यक्ति हैं, इसलिए हीगल राज्य को 'स्व-चेतन नैतिक तत्त्व' कहकर पुकारता है और बोज़ान्के उसे 'स्व-तद्रूप प्राणी' कहता है। एक स्व-चेतन नैतिक तत्त्व के नाते वह जीवित रहता है तथा उसकी एक आत्मा होती है। परन्तु हॉब्हाउस द्वारा निकाला हुआ यह परिणाम कि आदर्शवादी राज्य को 'एक महानतर प्राणी, एक आत्मा, एक अतिव्यक्ति सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित करता है जिसमें कि व्यक्ति केवल अधीनस्थ तत्त्व रह जाते हैं' इससे

बहुत दूर रह जाता है। हमें याद रखना चाहिये कि यदि आदर्शवादी एक ओर यह मानता है कि व्यक्तियों के जीवन की सार्थकता उसी सीमा तक है जिस तक कि वे राज्य द्वारा निर्धारित क्षेत्र में विकास करते हैं, वहाँ वह दूसरी ओर यह भी स्वीकार करता है कि राष्ट्र की आत्मा अपने घटकों में निवास करती है और उनकी चेतना में रहती है। राज्य की इच्छा तथा ज्ञान व्यक्तियों की इच्छायें तथा ज्ञान हैं (किन्तु केवल उन्हीं व्यक्तियों की जोकि सामान्य इच्छा अथवा सामान्य हित की भावना से प्रेरित हों) हीगल के एक सम्भाव्य अपवाद को छोड़कर कोई भी आदर्शवादी राज्य को एक अतिव्यक्ति सत्ता नहीं समझता। कदाचित् हीगल भी उसे ऐसा नहीं समझता था; उसके लिए वह व्यक्ति की अपेक्षा केवल एक उच्चतर लक्ष्य था, उच्चतर इसलिए क्योंकि उसमें 'व्यक्ति के आकस्मिक तथा नाशवान गुणों को दूर करके उसे साकार तथा नित्य बनाया जाता है।' बोज़ान्के स्पष्ट रूप से कहता है कि सामाजिक सम्पूर्ण एक निरन्तर अथवा स्व-समरूप प्राणी है 'जोकि विभेद प्रणाली में व्याप्त है और जिसकी अनुभूति केवल उन्हीं में होती है।' इस कथन से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्र की आत्मा का मूर्त्त रूप उसके घटकों की इच्छायें हैं। ग्रीन का भी यह कहना है कि राष्ट्र के जीवन का अपने घटकों के जीवन से अलग और कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है, इन सबके होते हुए भी कुछ समझ में नहीं आता कि हॉब्हाउस इस परिणाम पर किस प्रकार पहुँचा कि आदर्शवादी राज्य को एक महानतर प्राणी, एक अतिव्यक्ति सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं जिसमें व्यक्ति केवल अधीनस्थ तत्त्व है। यह आरोप कि आदर्शवाद के अनुसार विभिन्न व्यक्तियों के व्यक्तित्व राज्य की एकता में मिट जाते हैं, सिद्ध नहीं किया जा सकता। कम से कम ग्रीन के उदार आदर्शवाद के विषय में तो यह बिल्कुल सत्य नहीं है, चाहे हीगल के उग्र आदर्शवाद के विषय में कोई कुछ भी सोच सकता हो। हमारा विश्वास है कि व्यक्तित्व का सच्चा सार समाज से अलग रहकर नहीं पाया जा सकता, बल्कि वह व्यक्ति की अपने अन्दर राष्ट्र की आत्मा को प्रदीप्त करने की शक्ति में है। जिस प्रकार कि एक भक्त सच्ची आत्मानुभूति अपने को परमात्मा के साथ एकाकार करके अपनी चेतना को ब्रह्माण्ड की चेतना में विलीन करके करता है, और ऐसा करने से उसका व्यक्तित्व विलुप्त नहीं हो जाता, इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि व्यक्ति अपने कार्यों को राज्य के कानूनों, प्रथाओं तथा परम्पराओं में अभिव्यक्त समाज की सामान्य इच्छा के अनुकूल बनाकर अपने व्यक्तित्व को खो नहीं देता बल्कि अपनी आत्मा की सच्ची अनुभूति करता है। हमारा विश्वास है कि राज्य का एक व्यक्तित्व है, उसकी एक इच्छा है, किन्तु हम हॉब्हाउस या जोड की इस बात से सहमत नहीं हैं कि आदर्शवाद के अनुसार राज्य एक अतिव्यक्ति है और इसलिए वह अपने व्यक्तियों के व्यक्तित्व तथा इच्छाओं को नष्ट करने वाला है। जैसा कि अफलातून ने इतने दिन पहिले कहा था कि व्यक्ति अपने उच्चतम व्यक्तित्व की प्राप्ति राज्य की सेवा करके ही कर सकता है।

जोड ने आदर्शवाद की जो आलोचना की है वह सहानुभूतिहीन है तथा गलत-फहमी पर आधारित है। वह हीगल के राज्य के व्यक्तित्व के सिद्धान्त में से तीन ऐसे परिणाम निकालता है जिनमें परस्पर विरोध दिखाई पड़ता है। उसका पहिला परिणाम यह है कि राज्य का कोई भी कार्य ऐसा नहीं हो सकता जिसमें वह समाज की इच्छा का प्रतिनिधित्व न करता हो।

"वह पुलिस का सिपाही जोकि चोर को पकड़ता है और वह मजिस्ट्रेट जोकि उसे कारागृह में बन्द करता है, चोर की पकड़े जाने तथा जेलखाने में ठूंसे जाने की वास्तविक इच्छा को ही अभिव्यक्त कर रहा है, क्योंकि पुलिस का सिपाही तथा मजिस्ट्रेट राज्य के कार्यपालिक अधिकारी हैं और राज्य आवश्यक रूप से चोर की वास्तविक इच्छा को अभिव्यक्त करता है और उसका प्रतिनिधित्व करता है, क्योंकि वह उसका एक घटक है। पुलिस द्वारा थाने ले जाते समय चोर स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर रहा है। वास्तव में स्वतन्त्रता तथा कानून में पूर्ण तद्रूपता है क्योंकि वास्तविक स्वतन्त्रता की प्राप्ति कानून के अनुसार आचरण करने से भी हो सकती है।"*

उपरोक्त आलोचना का समुचित मूल्यांकन करने के लिये हमें बोज़ान्के द्वारा प्रतिपादित व्यक्ति की 'वास्तविक इच्छा' के अर्थ तथा स्वरूप को तथा इसके सामान्य इच्छा, जोकि राज्य के कानूनों में अभिव्यक्त होती है, के सम्बन्ध को भली-भांति समझ लेना चाहिये। इसलिए हम जोड की आलोचना की समीक्षा करने से पहिले इन्हें ही समझने का प्रयास करेंगे।

बोज़ान्के इस स्पष्ट अनुभवसिद्ध तथ्य से आरम्भ करता है कि कभी-कभी हम ऐसी इच्छा करते हैं जोकि पूरी हो जाने पर बिल्कुल असन्तोषजनक सिद्ध होती है। उदाहरण के लिये हम उत्तेजना एवं क्रोध के क्षणों में अपने प्रतिद्वन्द्वी के अहित की कामना करने लगते हैं, किन्तु जब हमारी इच्छा पूर्ण हो जाती है तो हमें पश्चात्ताप और दुःख होता है कि हमने किसी के अमंगल की कामना क्यों की। एक धूम्र-पान करने वाला बुरी आदत को छोड़ने और कभी सिगरेट न पीने का संकल्प करता है, किन्तु वह अपने मित्र के आग्रह के सामने झुक जाता है और पेश की हुई सिगरेट को अधरों से लगा लेता है। हो सकता है कि बाद में सिगरेट पीने वाला तथा उसका मित्र दोनों ही पछतायें। इस प्रकार के अनुभव से यह सिद्ध होता है कि कभी-कभी हम ऐसी वस्तुओं की कामना करते हैं जिन्हें कि वास्तव में हम नहीं चाहते; उनकी वांछनीयता केवल एक प्रवंचना होती है और यह उनकी प्राप्ति पर प्रगट हो जाती

---

* "The policeman who arrests the burglar, and the magistrate who locks him up, are really expressing the burglar's real will to be arrested and locked up, the policeman and magistrate being the executive officials of a state which necessarily represents and expresses the real will of the burglar who is a member of it...... The burglar is acting freely when he is being marched to the police station. There is in fact a complete identification between liberty and law, real liberty only being attained in and through obedience to the law."
—Joad : *Introduction to Modern Political Theory*, pages 13–14.

है। बोज़ान्के ऐसी इच्छा को जोकि वस्तुओं को अपना ध्येय बनाती है, यथार्थ इच्छा (Actual Will) कहता है ; यह वह इच्छा है जिसे हम चेतन व्यक्तियों के रूप में क्षण प्रतिक्षण प्रगट करते हैं। यथार्थ इच्छा सदैव खंडात्मक और अपूर्ण होती है, और प्राय: विरोधक तथा सामंजस्यहीन होती है। उसका खंडात्मक तथा अपूर्ण स्वरूप इस बात से सिद्ध होता है कि उसकी पूर्ति से जो तृप्ति मिलती है वह आंशिक तथा क्षणिक होती है। इसका प्राय: विरोधक तथा सामंजस्यहीन होना इस बात से प्रगट होता है कि एक समय में हम जो इच्छा करते हैं वह हमारी किसी दूसरे समय की इच्छा से असंगत हो सकती है, और एक इच्छा की तृप्ति दूसरी इच्छा की पूर्ति को असम्भव बना सकती है। यथार्थ इच्छा को यदि हम भावनात्मक (Impulsive Will) कहें तो उसकी उपरोक्त विशेषतायें अधिक स्पष्ट हो सकती हैं। भावनात्मक इच्छा वह है जोकि किसी कार्य को अपनी अलग और असम्बद्ध शक्ति से निर्धारित करती है और जीवन के पूर्ण उद्देश्य के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित नहीं करती। दूसरे समय हम क्या चाह सकते हैं और दूसरे व्यक्ति क्या चाहते हैं, इसके द्वारा यथार्थ इच्छा संशोधित और परिशोधित नहीं होती। जब हमारी किसी एक क्षण की इच्छा उपरोक्त ढंग से संशोधित और परिशोधित हो जाती है, अर्थात् उसका दूसरों की इच्छाओं और जीवन के पूर्ण उद्देश्य से सामजस्य स्थापित हो जाता है तो वह वास्तविक इच्छा (Real Will) हो जाती है। इसे बुद्धिमय अथवा स्थायी इच्छा कहना अधिक अच्छा होगा। हम कह सकते हैं कि यथार्थ अथवा भावनात्मक इच्छा 'स्व' के केवल एक भाग की इच्छा है; जबकि वास्तविक अथवा बुद्धिमय इच्छा सम्पूर्ण 'स्व' की इच्छा है। हम यह भी कह सकते हैं कि पहली विचारहीन होती है और दूसरी सोच-विचार के बाद निर्धारित होती है। वास्तविक इच्छा क्योंकि बुद्धिमय होती है और क्योंकि वह आलोचना और परिशोधन की प्रक्रिया में से गुजरती है, इसलिए उसका स्वयं अपने साथ और दूसरे व्यक्तियों की वास्तविक इच्छाओं के साथ सामंजस्य होता है। सारांश यह है कि एक पूर्णरूप से वास्तविक अथवा बुद्धिमय इच्छा में 'स्व' तथा 'पर' में सामंजस्य होता है और उसमें व्यष्टि तथा समष्टि का विरोध दूर हो जाता है, जोकि व्यक्तिवादी सिद्धान्तों की एक आवश्यक विशेषता है। एक समाज के व्यक्तियों की वास्तविक इच्छाओं का समन्वय ही **सामान्य इच्छा** (General Will) है। यह कहा जा सकता है कि विभिन्न व्यक्तियों की होते हुये भी वास्तविक इच्छाओं में एक सामान्य गुण तथा तत्त्व होता है जिसके कारण वे सामान्य इच्छा में एक जगह मिल जाती हैं। इसका अर्थ यह है कि सामान्य इच्छा के अनुसार आचरण करने में व्यक्ति वास्तव में अपनी ही वास्तविक इच्छा का पालन करता है और सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त करता है।

यदि हम यथार्थ इच्छा तथा वास्तविक इच्छा के भेद को मान लें और वास्तविक इच्छा और बुद्धिमय अथवा स्थायी इच्छा को तद्रूप मान लें तो फिर हम इस कथन में निहित महान् सत्य को देख सकेंगे कि जेल में जाते हुये एक चोर अपनी

वास्तविक इच्छा की पूर्ति और अपनी सच्ची स्वतन्त्रता की प्राप्ति कर रहा है। रूसो के सुविख्यात शब्दों में उसे स्वतन्त्र होने के लिये विवश किया जा रहा है। यह बात कि निष्पक्ष दर्शकों के विचार में चोर को अपने कर्म का उचित प्रतिफल मिल रहा है और वे राज्य के कार्य को पसन्द करते हैं, भी यही सिद्ध करती है कि उपरोक्त कथन सही है। परन्तु स्वयं चोर की मानसिक स्थिति के बारे में क्या? क्या वह भी यह महसूस करता है कि जेल मे ले जाये जाने में वह अपनी वास्तविक इच्छा के अनुसार आचरण कर रहा है और अपनी सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त कर रहा है। निश्चित रूप से नहीं। और यदि हम ऐसे विचार उसके सामने प्रकट करें तो वह उन्हें न समझ सकेगा और उसे अपने साथ एक निर्दय परिहास समझेगा। उसके इस विषय को भिन्न दृष्टिकोण से देखने का कारण यह है कि वह अपने नीचे बौद्धिक तथा नैतिक स्तर के कारण अपनी यथार्थ अथवा भावनाप्रधान इच्छा से ऊपर नहीं उठ सकता और वह इच्छा राज्य के कार्यों के विरुद्ध विद्रोह किये बिना नहीं रह सकती। परन्तु यदि उसमें सत्य को देखने की सामर्थ्य नहीं है तो इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि सत्य ही नहीं है। चोर चाहे महसूस करे या न करे किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसे गिरफ्तार करके राज्य ठीक वही करता है जोकि व्यक्ति की स्वतन्त्र नैतिक इच्छा चाहती है। यदि हम यह बात याद रक्खें तो प्रो० जोड की आलोचना द्वारा लक्षित विरोधाभास समाप्त हो जाता है। यदि चोर अपनी क्षणिक वासनाओं से ऊपर उठ जाता है और वह एक निष्काम दर्शन बन जाता है तो वह भी यही अनुभव करेगा। बोज़ान्के ने यथार्थ और वास्तविक इच्छा में जो भेद किया है हॉब्हाउस और मैकाइवर उसकी आलोचना करते हैं। हॉब्हाउस का कहना है कि किसी व्यक्ति के एक कार्य को उसके दूसरे कार्यों की अपेक्षा अधिक वास्तविक कहना मूर्खता है। "निश्चित रूप से मेरा कोई भी अंश मेरे किसी अन्य अंश की अपेक्षा अधिक वास्तविक नहीं है। मुझ में कुछ तत्त्व ऐसे तो हैं जोकि अधिक अस्थायी हैं; और यदि 'स्व' स्थायी है तो हम यह सकते हैं कि कुछ मूड तथा कार्य ऐसे होते हैं जोकि अन्य की अपेक्षा अधिक मेरे हैं, किन्तु कोई एक मूड अथवा कार्य किसी दूसरे मूड अथवा कार्य की अपेक्षा अधिक वास्तविक नहीं हो सकता।"*

इस उदाहरण से ऐसा प्रतीत होता है कि हॉब्हाउस का विवाद केवल शब्दों के ऊपर है। वह 'वास्तविक' (Real) शब्द के प्रयोग पर तो इसलिये आपत्ति करता है क्योंकि व्यक्ति का एक अंश भी उतना ही वास्तविक है जितना कि दूसरा, किन्तु वह यह स्वीकार करता है कि एक अंश दूसरे की अपेक्षा अधिक स्थायी हो सकता है। इस सम्बन्ध मे बोज़ान्के के विचारों का सार भी तो यही है कि 'स्व' का एक

* "Strictly there is no part in me which is more real than any other part. There are elements in me which are more permanent; and if the self is permanent, there are, let us say, moods or actions which really belong to myself more than others do, but one mood is not more real a mood or one act more real an act than another." —Hobhouse : *op. ct.*, page 45.

अंश क्षणिक वासनाओं की अपेक्षा अधिक स्थायी, अधिक आधारभूत और इसलिए अधिक वास्तविक होता है। यह अंश बुद्धि है; यह एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्तियों के साथ सामंजस्य स्थापित करती है। यदि बोज़ान्के एक प्रकार की इच्छा को भावना-प्रधान और दूसरी को बुद्धि-प्रधान कहता तो हॉब्हाउस को उस पर कदाचित् कोई आपत्ति न होती। आगे चलकर हॉब्हाउस कहता है कि एक साधारण व्यक्ति बोज़ान्के की इस धारणा से सहमत हो सकता है कि जेल ले जाए जाने में चोर अपनी वास्तविक इच्छा की पूर्ति करता है, किन्तु केवल तभी जबकि वह पूर्ण रूप से विवेकशील (Rational) बन जाय; परन्तु ऐसा होने के लिये उसे ऐसा साधारण मनुष्य नहीं रहना चाहिये जैसाकि वह है, उसे पूर्ण रूप से परिवर्तित हो जाना चाहिये। किन्तु वह स्वीकार करता है कि मनुष्य में इस प्रकार के परिवर्तन सामर्थ्य हैं। ऐसा मान कर हॉब्हाउस ने बोज़ान्के की सम्पूर्ण धारणा को ही एक प्रकार से स्वीकार कर लिया है; क्योंकि बोज़ान्के स्वयं यह मानता है कि हमारी यथार्थ इच्छा में जब समुचित संशोधन तथा परिशोधन हो जाता है तो वह हमारे पास ऐसे रूप में लौट कर आती है जिसमें कि हम उसे पहिचान नहीं सकते। बोज़ान्के के सिद्धान्त में यह बात आवश्यक रूप से निहित नहीं है कि संशोधन और परिशोधन प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा और व्यक्ति की यथार्थ इच्छा में होता है। इसका अभिप्राय तो केवल इतना है कि यह हो सकता है और कुछ स्थितियों में यह वास्तव में हो भी जाता है और जब यह होता है तो व्यक्ति अपनी वास्तविक इच्छा और समाज की सामान्य इच्छा में एकरूपता देख सकता है। यदि यह चोर के हृदय में हो जाता है तो जेल में जाते समय वह निश्चित रूप से ही अपनी सच्ची स्वतन्त्रता की अनुभूति करता है। यदि ऐसा परिवर्तन उसके स्वभाव में नहीं होता तो उसका ऐसा विश्वास भी नहीं हो सकता। सारांश यह है कि हम जितना ही अधिक अपने जीवन में उन अधिकारों और नैतिक मूल्यों की अनुभूति करते हैं जोकि सद्बुद्धि हमारे समक्ष रहती है, उतना ही हमारी इच्छा समाज की सामान्य इच्छा के अनुरूप हो जाती है।

राज्य के सच्चे अथवा आदर्श स्वरूप और इसकी इच्छा और व्यक्ति की इच्छा में समुचित सम्बन्ध के कथन के रूप में आदर्शवादी सिद्धान्त एकदम निर्दोष है; इसके विरुद्ध कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। किन्तु जिस समय एक यथार्थ राज्य आदर्श से पीछे रहता है और उसके कानून सामान्य इच्छा को अभिव्यक्त नहीं करते तो कठिनाई उत्पन्न होती है और राज्य की इच्छा तथा व्यक्ति के अन्त:करण की आवाज में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। ऐसी स्थिति में एक व्यक्ति क्या करे? हीगल तथा बोज़ान्के इस समस्या पर विचार नहीं करते, ग्रीन करता है। हम ग्रीन द्वारा दिये गये निराकरण को स्वीकार कर सकते हैं। इसका उल्लेख हम पहिले ही कर चुके हैं।

एक दूसरा विरोधाभासात्मक परिणाम जोकि जोड ने निकाला है यह है कि सामान्य इच्छा के सिद्धान्त के अनुसार कोई भी व्यक्ति दूसरों से बिल्कुल अलग-थलग रह कर कार्य नहीं कर सकता; वह केवल राज्य के एक अभिन्न अङ्ग के रूप

में ही कार्य कर सकता है, और वह कभी विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत मन से इच्छा नहीं कर सकता, वल्कि राज्य की इच्छा के एक अंश के साथ ही इच्छा कर सकता है। व्यक्ति के दूसरों से अलग-थलग रह कर अथवा आंशिक रूप से राज्य की इच्छा से काम करने की बात से जोड का क्या अभिप्राय है, हमारी समझ में नहीं आता। हमारी समझ से तो दूसरों से सर्वथा अलग-थलग कोई व्यक्ति हो ही नहीं सकता; इसलिये किसी भी व्यक्ति के लिये दूसरों से असम्बद्ध रह कर और विशुद्ध रूप से अपनी इच्छा से कार्य करना असम्भव है। आदर्शवाद का आधारविन्दु 'समाज में व्यक्ति' है, अर्थात् एक ऐसा व्यक्ति है जोकि समाज का एक अभिन्न अंग है। किसी व्यक्ति का अपने को समाज से विलकुल अलग कर लेना तो आत्म-हत्या होगी; व्यक्ति जो कुछ भी है समाज के कारण ही है। व्यक्ति के आंशिक रूप से राज्य की इच्छा से कार्य करने की धारणा भी इतनी ही भ्रमात्मक है। एक शरीर के कोष्टक अथवा अंग ही अपने अंगी के एक अभिन्न अंग के रूप में कार्य कर सकते हैं क्योंकि एक कोष्टक अथवा अंग का अपना कोई जीवन नहीं होता; वह कार्य का स्वतन्त्र केन्द्र नहीं होता, उसका अपना कोई विचार नहीं होता और उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं होती। समाज, जैसाकि हम देख चुके हैं, एक शारीरिक सावयव नहीं है, वह एक नैतिक सावयव है। उसके अंग स्वयं चेतना तथा इच्छा के केन्द्र हैं; इसलिये व्यक्ति के लिये राज्य का विरोध करना सम्भव है। जब वह ऐसा नहीं भी करता है और राज्य की इच्छा के अनुसार ही आचरण करता है तो उस समय भी वह अपनी ही इच्छा से कार्य करता है। व्यक्ति की इच्छा उसकी अपनी इच्छा है, उसे राज्य की इच्छा का अंश नहीं समझा जा सकता। किन्तु जिस सीमा तक वह आलोचना, संशोधन तथा परिशोधन की प्रक्रिया में से गुजरती है और विवेकमय तथा वास्तविक बन जाती है उस सीमा तक उसका तत्त्व सामान्य इच्छा के तत्त्व से अविभेद्य हो जाता है। अपनी वास्तविक इच्छा के अनुसार आचरण करने में व्यक्ति सामान्य इच्छा के अनुसार आचरण करता है। यह कह कर कि व्यक्ति आंशिक रूप से राज्य की इच्छा के अनुसार आचरण करता है इसी सत्य को एक बहुत बुरे ढंग से व्यक्त किया गया है। वह यह भूल जाता कि राज्य की इच्छा अविभाज्य है; उसके भाग नहीं हो सकते। हमारे विचार से प्रो० जोड ने आदर्शवादी की स्थिति को समझने में और व्यक्त करने में गलती की है।

आदर्शवादी सिद्धान्त से प्रो० जोड ने तीसरा परिणाम यह निकाला है कि राज्य अपने समस्त नागरिकों की सामाजिक नैतिकता को अपने में सम्मिलित रखता है और उसका प्रतिनिधित्व करता है, और इसलिये वह नैतिक बन्धनों से उपर होता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, यह स्थिति हीगल तथा बोज़ान्के की है, हम इसे उचित नहीं समझते; हमारा विश्वास है कि राज्य को नैतिकता के ऊपर रखना उचित नहीं है। बोज़ान्के की यह धारणा, कि राज्य नैतिकता के अन्तर्गत नहीं बल्कि उसका स्रष्टा है, आदर्शवाद का स्वाभाविक परिणाम प्रतीत नहीं होता। नैतिक प्राणियों का

समुदाय अवश्य ही नैतिक होना चाहिये। बोज़ान्के स्वयं उसे एक नैतिक विचार कह कर पुकारता है। यदि राज्य स्वयं नैतिकता के ऊपर और नैतिक सिद्धान्तों से स्वच्छन्द रहा तो वह नैतिकता के संरक्षक का कर्त्तव्य समुचित रूप से पालन नहीं कर सकेगा। हमें ग्रीन का यह सिद्धान्त अधिक मान्य है कि समाज के अन्दर एक ऐसी नैतिक प्रणाली हो जाती है जिसके द्वारा व्यक्ति राज्य का निर्णय कर सकता है।

(२) दूसरी बात यह कि आदर्शवाद के अनुसार स्वतन्त्रता राज्य के कानूनों का स्वेच्छापूर्वक पालन करने के समरूप है। हीगल के राजनीतिक दर्शन की विवेचना करते समय हमने इस आरोप की समीक्षा की थी कि इसने स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का महत्त्व बहुत कम कर दिया है। इस विषय में हमें यहाँ पर और अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।

(३) तीसरे यह कि आदर्शवादी सिद्धान्त राज्य और समाज को समरूप मानता है और इसलिये परिवार, संघ तथा चर्च इत्यादि समुदायों के महत्त्वपूर्ण भाग का महत्त्व कम करता है। हमें याद होगा कि अफलातून को परिवार से कितनी घृणा थी और वह किसी भी ऐसे समुदाय को सहन करने के लिये तैयार नहीं था जो व्यक्ति की भक्ति पर अपना दावा दिखा कर राज्य की एकता को नष्ट कर सकता हो। हम यह भी देख चुके हैं कि हीगल राज्य को मानव समुदाय का अन्तिम रूप समझता था और यह मानता था कि कोई भी वह समुदाय सच्चा नहीं हो सकता जिसका कि अन्तिम अवसान राज्य में न हो जाय। यद्यपि हीगल समाज और राज्य में विभेद करता था तथापि वह उस विभेद से सर्वथा भिन्न है जोकि आधुनिक बहुलवादी करते हैं। वह समाज को एक निम्नतर स्थान देता है और यह मानता है कि राज्य के द्वारा ही वह उच्चतर बन जाता है। बोज़ान्के, जैसा कि हम देख चुके हैं, राज्य का एक व्यापक अर्थ लेता है और उसमें उन समस्त मानव संस्थाओं को सम्मिलित करता है जोकि जीवन के प्रत्येक रूप को निर्धारित करती हैं। उसके लिये राज्य हमारे जीवन का चालक यंत्र है। वह कहता है :

"इस प्रकार राज्य समस्त संस्थाओं के निर्णय करने के लिये एक मापदण्ड है; उसके द्वारा किये हुए संशोधन और सामंजस्य के द्वारा ही वे मानव इच्छा के उद्देश्य की पूर्ति में एक विवेक-सम्मत भाग ले सकते हैं। राज्य द्वारा की गई आलोचना संस्थाओं का जीवन है। अलग-थलग रह कर उनमें रोग उत्पन्न हो जायेंगे और उनकी जीवन की गति रुक जायेगी। राज्य द्वारा गति प्राप्त करके ही वे जीवित आध्यात्मिक प्राणी बनते हैं।"*

* "The state is thus conceived as the operative criticism of all institutions— the modification and adjustment by which they are capable of playing a rational part in the object of human will. And criticism, in this sense, is the life of the institutions. As exclusive objects, they are prey to stagnation and disease ...... It is only as taken up into the movement and circulation of the state that they are living spiritual beings"

—Bosanquet : *op. ct.*, page 139.

लास्की तथा कोल सरीखे बहुलवादी राज्य की ऐसी धारणा की कटु आलोचना करते हैं; उनके अनुसार राज्य मनुष्य के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को आच्छादित नहीं कर सकता, और इसलिए ऐच्छिक समुदायों का जन्म और विकास राज्य से स्वतन्त्र होता है। वे व्यक्ति की भक्ति प्राप्त करते हैं। इसलिये राज्य को अपने नागरिकों की भक्ति प्राप्त करने के लिये उनके साथ प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है। यह कहा जाता है कि सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिये मनुष्य ने स्वेच्छा से जो समुदाय बनाये हैं उनकी देन को देखते हुए आधुनिक काल में राज्य का रोल काफी घट गया है। अब राज्य को अपने आपको समुदायों में से एक समुदाय मानना चाहिये और अपने को अन्य के समान ही समझना चाहिए, अन्य से उच्चतर नहीं। राज्य को समाज के अनुरूप मानना और अन्य संस्थाओं का निर्णायक मानदण्ड समझना एक बुनियादी गलती है।

हम भले ही अफलातून और हीगल से पूर्ण रूप से सहमत न हों, किन्तु अरस्तू और ग्रीन की हम इस बात से सहमत हैं कि राज्य उच्चतम समुदाय है। यह उच्चतम इसलिये है क्योंकि इसका उद्देश्य अद्वितीय है; यह सबसे व्यापक है क्योंकि यह नागरिकों के शुभ जीवन को परिपुष्ट करता है। बोज़ान्के के इस कथन में काफी सार है कि राज्य एक ऐसा निर्णायक मानदण्ड है जिसके द्वारा निम्नतर समुदायों का विनियमन किया जाता है और उनमें परस्पर सामंजस्य स्थापित किया जाता है। ग्रीन का यह भी विश्वास था कि यद्यपि प्रत्येक समुदाय की अपनी आन्तरिक अधिकार प्रणाली होती है तथापि अधिकारों में सामंजस्य राज्य द्वारा ही स्थापित किया जाता है, इसलिये अन्ततोगत्वा वे राज्य द्वारा ही निश्चित होते हैं। हम राज्य और समाज में विभेद कर सकते हैं जैसा कि हमने ऊपर किया है किन्तु अन्य समुदायों पर राज्य की प्रधानता फिर भी रह जाती है। यदि हम बहुलवादियों के इस तर्क को भी स्वीकार कर लें कि ऐच्छिक समुदायों का भी राज्य की भांति अपना व्यक्तित्व होता है तो भी उनके ऊपर राज्य की प्रधानता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। एक नैतिक सावयव होने के नाते राज्य में न केवल आत्म-चेतन तथा आत्मानुभूति करने वाले व्यक्ति सम्मिलित हैं बल्कि उनके द्वारा बनाये हुए समुदाय भी। बहुलवाद के विषय को हम एक आने वाले अध्याय में लेंगे।

(४) ऐसा प्रतीत होता है कि आदर्शवादी सिद्धान्त का बहुत कुछ विरोध इस कारण किया जाता है कि मुसोलिनी तथा हिटलर सरीखे महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों के हाथ में पड़कर राज्य के व्यक्तित्व तथा सामान्य इच्छा के सिद्धान्तों और इस धारणा का, कि राज्य अपने नागरिकों तथा अन्य राज्यों के साथ सम्बन्धों में नैतिक बन्धनों से स्वतन्त्र है, प्रत्येक राज्य के अनैतिक कार्यों का समर्थन करने के लिये किया जा सकता है और किया भी गया है। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि सर्वभक्षक राज्य के समर्थकों को हीगल तथा ट्रीट्स्के सरीखे उग्रवादी आदर्शवादियों में अपने मन्तव्यों और कार्यों के लिये काफी पुष्टि प्राप्त हुई है। परन्तु आदर्शवाद के सिद्धान्तों

का उन्होंने जो दुरुपयोग किया है उसके कारण हमें आदर्शवाद की भर्त्सना नहीं करनी चाहिये। धर्म के मदान्ध पुजारियों ने धर्म के नाम पर न जाने कितने अत्याचार किये हैं; किन्तु इस कारण स्वयं धर्म तो हेय नहीं बन जाता; कर्म सिद्धान्त का गलत अर्थ समझकर कुछ लोग भाग्यवादी बन जाते हैं किन्तु इसी कारण हम कर्म सिद्धान्त की निन्दा तो नहीं कर सकते। हमारा विश्वास है कि उचित व्याख्या करने पर आदर्शवाद, कम से कम उदार आदर्शवाद के सिद्धान्तों में कोई ऐसी बात नहीं है जिससे कि राज्य की निरंकुशता और अत्याचार को उचित सिद्ध किया जा सके; इस आधार पर अरस्तू अथवा ग्रीन पर किसी ने कोई आरोप नहीं लगाया। आदर्शवाद राज्य को व्यक्ति का सर्वश्रेष्ठ मित्र तथा साथी समझता है जोकि उसके जीवन के विकास और उसे अधिक पूर्ण बनाने के लिये अपरिहार्य है।

(५) इससे अब हम आदर्शवाद के विरुद्ध उठाई गई इस आपत्ति पर आते हैं कि आदर्शवादी सिद्धान्त का स्वरूप अमूर्त्त है और इससे हमें आदर्श तथा यथार्थ के सम्बन्ध की समस्या को सुलझाने में कोई सहायता नहीं मिलती। राज्य के अमूर्त्त स्वरूप के विषय में तो यह कथन सर्वथा सत्य प्रतीत होता है कि राज्य समाज का एक संगठन है जिसका उद्देश्य सर्वोत्तम जीवन के लिये आवश्यक वाह्य स्थितियों को जुटाना है, और राज्य की आज्ञा के पालन करने में हम एक ऐसे समुदाय की आज्ञा का पालन करते हैं जिसका उद्देश्य वह कल्याण है जिसमे हमारा अपना कल्याण भी समाविष्ट है। परन्तु जब हम इस परिभाषा को हिटलरवादी जर्मनी अथवा साम्यवादी रूस जैसे वास्तविक राज्यों पर आरोपित करते हैं तो बड़ी कठिनाई होती है। ऐसे राज्य की आज्ञा का पालन व्यक्ति किस लिये करते हैं? क्या इसलिये कि वे यह अनुभव करते हैं कि उसका उद्देश्य सर्वोदय है या केवल उसके अपरिमित पशु बल के कारण? पहिला उत्तर तथ्यों के अनुकूल नहीं है; यहूदी, साम्यवादी तथा उदारवादी सभी यह कहते थे कि हिटलरवादी जर्मनी में उन्हें सर्वोत्तम जीवन व्यतीत करने की सुविधाओं का पूर्ण अभाव था और रूस के विषय में यही बात असाम्यवादी कह सकते हैं। दूसरा उत्तर आदर्शवादी सिद्धान्त के मूल पर ही कुठाराघात करता है; किसी भी आदर्शवादी का यह विश्वास नहीं कि राज्य का आधार बल है।

इस आपत्ति में काफी सार और बल है। इससे यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न होता है: यदि कोई व्यक्ति यह देखे कि जिस राज्य का वह घटक है वह आदर्शवाद के मापदण्ड पर पूरा नहीं उतरता तो ऐसी स्थिति में वह क्या करे? यदि राज्य सामान्य इच्छा के अनुसार आचरण न करे तो क्या तब भी व्यक्ति को उसके आदेशों का पालन करना चाहिये या ऐसी स्थिति में उसे उसके कानूनों की अवहेलना करनी चाहिये? यह समस्या केवल बौद्धिक नहीं है, इसका बड़ा व्यावहारिक महत्त्व है; यह आदर्श और यथार्थ के बीच उचित सम्बन्ध की समस्या है। प्रो० लास्की के शब्दों में आदर्शवादी सिद्धान्त "हमें यह तो बताता है कि हमारी भक्ति प्राप्त करने का राज्य का अधिकार किस बात पर आधारित है किन्तु वह इस समस्या का कोई समाधान प्रस्तुत नहीं

करता कि क्या वास्तविक राज्य उन शर्तों को पूरा करते हैं जिनके ऊपर उसका अधिकार आधारित है।" राज्य का विरोध करने की समस्या की विवेचना हम ग्रीन के राजनीतिक दर्शन की समीक्षा करते समय कर चुके हैं। उसका सारांश हम यहाँ भी दे सकते हैं। राज्य के कानून सामान्य इच्छा के मूर्त्तरूप होते हैं; सामान्य इच्छा राज्य के समस्त घटकों की वास्तविक इच्छाओं का संघटन है, इसलिये यह कहा जा सकता है कि राज्य की आज्ञा का पालन करने में व्यक्ति अपनी सर्वोत्तम अथवा सच्ची इच्छा का ही पालन करता है। परन्तु यदि राज्य अपने वास्तविक स्वरूप को छोड़ दे और सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व न करे और कोई व्यक्ति यह अनुभव करे कि वह सामान्य इच्छा का राज्याधिकारियों की अपेक्षा अधिक प्रतिनिधित्व करता है तो उसका राज्य की आज्ञा की अवहेलना करना उचित होगा, बशर्ते कि उसका ध्येय पवित्र हो और वह राज्य के बुरे कानूनों को रद्द कराने के समस्त सांविधानिक साधनों को प्रयोग करके देख चुके। महात्मा गांधी द्वारा चलाया हुआ राजाज्ञा भंग आन्दोलन इस मापदण्ड से उचित ठहराया जा सकता है।

प्रो० लास्की का विचार है कि यह मान लेना कि किसी स्थिति में राज्य की अवज्ञा करना उचित हो सकता है, आदर्शवादी सिद्धान्त के लिये घातक है। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति की भक्ति स्वयं राज्य के लिये नहीं बल्कि राज्य के उद्देश्य के लिये है। वह कहता है : "मुझे राज्य की आज्ञा का केवल वहीं तक पालन करने के लिये कहा जाता है जहाँ तक कि वह सचमुच उन उद्देश्यों की पूर्ति करता है। वह उन उद्देश्यों की पूर्ति कर रहा है या नहीं इसे मैं उसके वास्तविक कार्यकलाप का परीक्षण करके ही कर सकता हूँ; और यदि बुद्धि से उसका परीक्षण करके मैं इस परिणाम पर पहुँचूँ कि वह ऐसा नहीं कर रहा है तो मेरा कर्त्तव्य स्पष्ट है।"

प्रो० लास्की द्वारा उठाई गई इस आपत्ति के विषय में हम केवल इतना कहेंगे कि कोई भी आदर्शवादी यह नहीं कहता कि व्यक्ति को राज्य के उद्देश्य पर विचार किये बिना ही उसके प्रति भक्ति रखनी चाहिये। वह भक्ति का पात्र इसलिये है क्योंकि वह मानव व्यक्तित्व का विकास करता है; क्योंकि वह शुभ जीवन के लिये आवश्यक स्थितियों को जुटाता है; क्योंकि वह समाज की सामूहिक नैतिक इच्छा का प्रतिनिधि है। जिस हद तक वह अपने निर्धारित कर्त्तव्यों का पालन करने में विफल रहता है उसी हद तक वह राज्य भी नहीं रह जाता और उसी हद तक हमारी भक्ति का पात्र भी नहीं रहता। राज्य के कार्य-कलाप की समीक्षा करना नागरिक का असंदिग्ध अधिकार है। ग्रीन इस अधिकार को स्वीकार करता है। परन्तु हम इतना और कहेंगे कि राज्य के कार्यों की परीक्षा करने का कार्य केवल ऐसे ही व्यक्तियों पर छोड़ा जाना चाहिये जोकि अपने सत्य, प्रेम और समाज सेवा की भावना से इतने अधिक प्रेरित हों कि उनमें किसी प्रकार का स्वार्थ न हो और जो अपनी निम्न वासनाओं के दास न हों। यह महान् तथा पवित्र कार्य महात्मा गांधी, खान अब्दुल गफ्फार खां, आचार्य विनोबा भावे तथा जयप्रकाश नारायण सरीखे व्यक्तियों का ही

होना चाहिये जोकि लोक नीति के उपासक हैं; दलगत राजनीति में ग्रस्त व्यक्ति इस कार्य को करने के लिये समर्थ नहीं हैं। लोकतंत्री राज्यों में यह कार्य व्यवस्थापिका, प्रेस तथा राजनीतिक दलों द्वारा किया जाता है जिससे कभी-कभी समाज को बड़ी हानि पहुँचती है। हमारा अनुरोध यह है कि व्यक्ति को राज्य की आलोचना करने के अधिकार को स्वीकार करना एक बात है परन्तु प्रत्येक व्यक्ति को, यदि वह यह अनुभव करे कि राज्य गलती पर है, उसकी शक्ति की अवज्ञा करने का अधिकार देना दूसरी बात है। ऐसा करने से राज्य के अधिकार को बड़ा आघात लगेगा और यह अव्यवस्था तथा अराजकता को निमंत्रण देना होगा। जनतन्त्र के लिये नागरिकों में कानून को मानने की भावना आवश्यक है; जो लोग समय-असमय राज्य की अवज्ञा का उपदेश देते रहते हैं वे समाज को बड़ी हानि पहुँचाते हैं। हमें उन स्थितियों को ध्यान में रखना चाहिये जिनमें कि ग्रीन ने राज्य की अवज्ञा को उचित समझा है।

उपरोक्त से ही सम्बन्धित आदर्शवादी सिद्धान्त पर प्रायः एक आरोप यह लगाया जाता है कि यह अवास्तविक और काल्पनिक है और यथार्थ वस्तुस्थिति पर विचार नहीं करता। प्रो० लास्की का कहना है कि आदर्शवादियों का राज्य केवल धारणाओं के जगत में रहता है, उसका यथार्थ राज्यों से सम्बन्ध नहीं है। दार्शनिक राजा की कुशल और निर्लिप्त बुद्धि द्वारा शासित अफलातून की कल्पना के गणराज्य की भांति आदर्शवादियों का राज्य भी जोकि प्रत्येक नागरिक की स्वतन्त्र इच्छा और नैतिक भावना पर आधारित है और जो सामान्य हित की सिद्धि करता है, इस वसुन्धरा पर कहीं न मिलता; उसका नमूना तो कदाचित् स्वर्ग में ही मिल सकता है। यह कह कर, कि सामान्य इच्छा का कोई यथार्थ अस्तित्व नहीं हो सकता, बोज़ान्के इस आलोचमा के सत्य को स्वीकार करता है। सामान्य इच्छा के विषय में वह लिखता है :

"इसका स्वरूप एक ऐसे सिद्धान्त का है जोकि बहुत से प्रच्छन्न तथा भ्रम में डालने वाले तत्त्वों में और उनके मूल में बरतता है, और इसकी परिभाषा केवल ऐसे शब्दों की सहायता से ही की जा सकती है, जैसे कि 'इस नाते', अथवा 'जहाँ तक कि'। यह कानून में उसी हद तक अभिव्यक्त होता है 'जहाँ तक कि' कानून ऐसा हो जैसा कि उसे होना चाहिये।"*

यह आरोप राजनीतिक सिद्धान्त की पद्धति को गलत समझने के कारण उत्पन्न होता है। राजनीतिक दर्शन भौतिक शास्त्र तथा रसायनशास्त्र सरीखी पूर्ण रूप से एक वस्तुप्रधान विद्या कभी नहीं हो सकता जिसका सम्बन्ध वस्तुओं के यथार्थ रूप से होता है; आचारशास्त्र की भांति इसका एक आदर्श पहलू भी होता है।

* "It is of the nature of a principle operating among and underneath a great variety of confusing and disguising factors, and can only be defined by the help of an 'as such' or 'in so far as' ..... It is expressed in law 'in so far as' law is what it ought to be." —Bosanquet : *op. ct*, page 99.

इसका प्रतिपाद्य विषय एक आदर्श राज्य का विशुद्ध तत्त्व तथा सद् राज्य की सामान्य इच्छा है। बार्कर के शब्दों में 'वह यह मानता है कि सर्वोत्तम ही सर्वाधिक सत्य है और सर्वाधिक सत्य ही अध्ययन का समुचित विषय है।"* राजनीतिक सिद्धान्त का सम्बन्ध राज्य के सर्वाधिकार सच्चे रूप से है, उसके उस रूप से है जोकि राज्य बनना चाहता है परन्तु जोकि वह बन नहीं पाया है। यह कहना, कि पूर्ण विकसित राज्य यथार्थ जगत मे नहीं पाया जाता, अप्रासंगिक है। यथार्थ जगत में तो पूर्ण बिन्दु भी नहीं पाया जाता जिसकी स्थिति तो हो किन्तु कोई आकार न हो और न ही एक सरल रेखा पाई जा सकती है जिसमें लम्बाई हो, किन्तु चौड़ाई बिल्कुल न हो। परन्तु इनके विशुद्ध आदर्श स्वरूप के कारण न तो ज्यामिति एक अवास्तविक अथवा काल्पनिक विद्या रह जाती है और न इसकी धारणायें निरर्थक हो जाती हैं। इसी प्रकार राज्य के विशुद्ध तत्त्व की मीमांसा करने वाले राजनीतिक सिद्धान्त को काल्पनिक और निरर्थक नहीं समझना चाहिये; और न ही आदर्श राज्य को कोरी कल्पना मान लेना चाहिये। आदर्शवादी अपनी राज्य सम्बन्धी धारणा को यथार्थ मनुष्यों के दोषों और अपूर्णताओं के ऊपर आधारित नहीं करता; वह निम्नतर को उच्चतर का मापदण्ड नहीं बनाता। इसकी अपेक्षा वह मनुष्य तथा उसकी संस्थाओं की परिभाषा तथा उनका मूल्यांकन आदर्श स्वरूप के अनुसार करता है। उच्चतर को निम्नतर का मापदण्ड बना कर आदर्शवादी गलती ही करता हो तो ऐसी बात नहीं है; वह सही हो सकता है और ऐसा ही प्रतीत होता है।

जो कुछ हमने ऊपर कहा है उससे प्रो० लास्की की आपत्ति अप्रासंगिक हो जाती है। वह आदर्शवाद की इस धारणा का खण्डन करता है कि राज्य का अस्तित्व सामान्य हित की वृद्धि करना है; इतिहास के साक्ष्य को इस धारणा के विरुद्ध पाता है। एक मार्क्सवादी की भावना प्रदर्शित करते हुये वह कहता है कि सारा इतिहास इस बात का साक्षी है कि राज्य ने सदैव वर्ग विशेष के विरुद्ध पक्षपात से काम लिया है और सरकार द्वारा पहुँचाये जाने वाले लाभ से वंचित रखा है। धनाढ्य व्यक्तियों के हाथ में जब-जब भी सत्ता आई है उन्होंने उसका प्रयोग गरीबों का शोषण करने के लिये किया है और इसी प्रकार गरीब वर्ग ने शक्ति प्राप्त करने पर धनी वर्ग की सम्पत्ति छीनी है। प्राचीन काल में पैगन (Pagans) ईसाइयों के विरुद्ध और ईसाई पैगन के विरुद्ध भेद-भाव रखते थे; और आजकल श्वेत जाति के लोग श्याम वर्ण वालों के विरुद्ध पक्षपात रखते हैं। वह कहता है : "प्रस्तुत साक्ष्य के आधार पर यह बात स्पष्ट है कि वे सब सर्वोदय की नहीं बल्कि आंशिक और स्वार्थमय हित की खोज का प्रमाण रहे हैं जिसमें कि पक्षपात के शिकार वर्गों को समान हितों से वंचित रखा जाता था।"†

* "It assumes that the best is the truest, and the truest is the proper subject of study." —Barker : *op. ct.*, page 80.

† "On the evidence they have all been proof not of a search for total good, but of a partial and selfish good which excluded those differentiated against from equal consideration." —Laski : *op. ct.*, page 76.

यदि हम इस कथन को सत्य भी मान लें कि ऐतिहासिक रूप से राज्यों ने उन वर्गों के साथ पक्षपात किया है जिनके हाथ राजसत्ता रही है तो भी हम लास्की द्वारा निकाले हुये इस परिणाम पर नहीं पहुँच सकते कि आदर्शवादी सिद्धान्त गलत है। ऐतिहासिक साक्ष्य से तो हम अधिक से अधिक यह परिणाम निकाल सकते हैं कि सर्वोत्तम सरकार भी आदर्श तक नहीं पहुँच पाई; इससे सामान्य हित का आदर्श काल्पनिक अथवा अमान्य सिद्ध नहीं हो जाता। मनुष्य तथा उसकी संस्थाओं के सच्चे स्वरूप का निर्धारण हम उनकी भूतकाल की अपूर्णताओं के आधार पर नहीं कर सकते। जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं निम्नतर को उच्चतर की कसौटी बनाने की अपेक्षा उच्चतर को निम्नतर का मापदण्ड बनाना अधिक अच्छा है।

जहाँ तक कि लास्की के इस आरोप का सम्बन्ध है कि आदर्शवादी सिद्धान्त द्वारा आदर्श और यथार्थ के सम्बन्ध की समस्या का निराकरण नहीं होता, हम यही कह सकते हैं कि एक सच्चे आदर्श का स्वरूप ही ऐसा होता है कि उसका निर्माण केवल शब्दों में ही हो सकता है और इसलिये वह अमर होता है। इसका निर्माण शब्दों में इसलिये होता है क्योंकि यथार्थ में इसकी अनुभूति पूर्ण रूप से कभी नहीं होती। वह आदर्श ही क्या जिसको पूर्ण रूप से यथार्थ किया जा सके। वह तो सदैव व्यवहार का अतिक्रमण करता है तथापि यह यथार्थ से पूर्ण रूप से असम्बन्धित नहीं रहता; यह सदैव उसमें वर्तमान रहता है और इसी के कारण उसका कुछ मूल्य होता है। यथार्थ व्यवहार में आदर्श न्यूनाधिक अंश में मूर्त्तिमान होता है; यदि उसमें मूर्त्त रूप ग्रहण करने की बिल्कुल कोई सामर्थ्य न हो तो वह आदर्श ही नहीं रह जाता। राज्य के अस्तित्व के लिये यह आवश्यक है कि सामान्य हित का आदर्श और व्यक्तियों की नैतिक भावनाओं का स्वतन्त्र सहयोग उसमें किसी न किसी अंश में अवश्य हो; इसके अभाव में राज्य, राज्य ही नहीं रहेगा।

यहाँ हम इस आरोप की भी समीक्षा कर सकते हैं कि आदर्शवादी सिद्धान्त अत्यन्त संकुचित है। यह अत्यधिक संकुचित इसलिये है क्योंकि इसका विश्लेषण जो कि नगर-राज्य पर सरलतापूर्वक लागू होता है और जो राष्ट्र-राज्य की जटिल स्थितियों पर काफी कठिनाई और पुनर्व्याख्या के पश्चात् ही लागू हो सकता है, आज-कल के नवीन सामाजिक संघटनों, जैसे कि साम्राज्य या 'कॉमनवेल्थ ऑफ नेशन्स' अथवा एक विश्व संघ, की धारणा पर बिल्कुल लागू नहीं होता। आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार राष्ट्र-राज्य मानव संघटन का सर्वोच्च तथा अन्तिम रूप है, इसमें उपरोक्त तथा अन्य प्रकार के नवीन संघटनों का कोई स्थान नहीं हो सकता। राष्ट्र-राज्य को मानव संघटन का अन्तिम रूप नहीं समझा जा सकता, इस बात के पक्ष में निम्न-लिखित तर्क पेश किया जाता है। जैसे-जैसे विकास का क्रम बढ़ता है संघटन की इकाई का आकार (कोष्ट अथवा व्यक्ति का नहीं) भी बढ़ जाता है। परिवार के बाद गोत्र आया, गोत्र के बाद जाति, जाति के बाद नगर-राज्य और नगर-राज्य के पश्चात् राष्ट्र-राज्य का आविर्भाव हुआ। इसलिये विकास की प्रक्रिया में अगली अवस्था

संघटन की वृहत्तर इकाई होनी चाहिये। वह इकाई विश्व-राज्य हो सकता है, जिसमें कि राष्ट्र-राज्य की धारणा का निजी अस्तित्व निश्चित रूप से नष्ट हो जायेगा। साम्यवाद भी एक विश्व-व्यवस्था का सपना देखता है जिसमें राष्ट्र-राज्य का कोई स्थान नहीं हो सकता। अपने महान् ग्रन्थ "The Philosophical Theory of the State" के द्वितीय संस्करण की भूमिका में बोज़ान्के इस आपत्ति का उत्तर देता है। वह कहता है कि राज्य के आदर्शवादी सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण बिन्दु किसी निश्चित व्यक्ति या व्यक्ति समूह में संप्रभुता का निवास नहीं है, बल्कि संस्थाओं की सम्पूर्ण प्रणाली की क्रिया में है। सहयोग करने वाली संस्थाओं की संख्या अथवा क्षेत्र की कोई आवश्यक सीमा नहीं है। इसलिये यदि यह स्पष्ट कर दिया जाता है कि अपने कर्त्तव्यों के सामंजस्य के लिए उसे अन्तिम रूप से किसी प्रणाली के ऊपर निर्भर करना है तो राष्ट्र-राज्य के बदले में वृहत्तर सामाजिक संघटनों के स्थापित करने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती। संघटन का रूप कुछ भी क्यों न हो, उसमें 'सामंजस्य करने वाली एक अन्तिम और निरपेक्ष शक्ति' होनी चाहिये जोकि प्रत्येक व्यक्ति के लिये एकल होनी चाहिये। उसकी धारणा है कि विभिन्न समूह और संस्थाओं में सामंजस्य करने तथा उनको संघटित रखने के लिये राज्य आवश्यक है, चाहे उसका रूप और आकार कुछ भी क्यों न हो।

सारांश यह है कि सामंजस्य के अन्तिम स्रोत के रूप में राज्य की धारणा राज्य के समस्त रूपों पर लागू होती है। इसलिये इसे अत्यन्त संकुचित नहीं समझा जा सकता।

एक दूसरे अर्थ में भी आदर्शवादी सिद्धान्त को अति संकुचित कहा जाता है। इसको अति बौद्धिक कहकर पुकारा गया है। इस सिद्धान्त का एक गम्भीर दोष यह समझा जाता है कि यह मनुष्य को विशुद्ध रूप से चेतन इच्छा तथा प्रज्ञा का प्राणी समझता है और उसके उपचेतन पक्ष की अवहेलना करता है। आदर्शवाद के आलोचकों का कहना है कि मनुष्य 'भावनाओं, प्रवृत्तियों तथा भावों और चेतन बुद्धि का मिश्रित प्राणी है। उसके स्वभाव का एक सम्पूर्ण उपचेतन पक्ष है जिसे संकेत प्रभावित करता है, जहाँ विचारों के समूहों का निर्माण होता है; जहाँ अनुकरण का विकास होता है और जहाँ आदतें निवास करती हैं।'* आदर्शवादी, जोकि मनुष्य की केवल बौद्धिक शक्ति को ध्यान में रखता है और उसके भावात्मक पक्ष की अवहेलना करता है, एक असत्य आधार पर अपने सिद्धान्त का भवन खड़ा करता है। इसलिये उसके द्वारा दिया हुआ राजनीतिक प्रतिक्रियाओं का विवरण भी एकपक्षीय और अपर्याप्त ही हो सकता है। कहा जाता है कि राज्य एक अधिक पूर्ण और अधिक

* "Man is a creature compact of emotions, impulses and instincts, as well as of conscious reason. He has a whole subconscious side of his nature, on which suggestion plays: where associations of ideas are formed; where imitation grows and habits have their dwelling place."

—Barker: *op. ct.*, page 82.

सच्चे सिद्धान्त के लिये हमें समस्त विचारों, समस्त भावनाओं, समस्त कामनाओं, समस्त सुख की अभिलाषाओं से सम्पन्न मनुष्य से आरम्भ करना चाहिये।

राजनीतिक समस्याओं के प्रति मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण, जोकि वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता था, के गुण-दोषों की व्याख्या हम अगले अध्याय में करेंगे। यहाँ तो हम केवल इतना ही कहेंगे कि आदर्शवाद की धारणा यह नहीं है कि राज्य जानबूझ कर चेतन इच्छा तथा बुद्धि की सृष्टि है तथा अन्य किसी तत्त्व ने उसके विकास में कोई योग नहीं दिया है। "जब आदर्शवादी यह कहता है कि राज्य बुद्धि तथा विवेकमय इच्छा की सृष्टि है तो उसका अभिप्राय यह नहीं होता कि ऐतिहासिक रूप से बुद्धि सचेत तथा स्पष्ट रूप से राज्यों का निर्माण करती रहती है। यह तो एक असम्भव बात होती। उसका अभिप्राय तो यह होता है कि एक विकास हुआ है जिसको कि हम, जबकि हम उसके प्रवाह और उसके विकास पर दृष्टि डालते हैं, बुद्धिसंगत समझ सकते हैं और जिसके उद्देश्यों को बुद्धि ठीक समझती है और इसलिये वह यह तर्क करता है कि उसमें मानव बुद्धि सदैव वर्तमान रही है जोकि प्रयोग पर प्रयोग करके, अपने अन्तिम लक्ष्य की ओर मार्ग खोज रही है।"*

इस प्रकार से व्यक्त बुद्धि के महत्त्व से इन्कार करना समाज तथा उसकी संस्थाओं के सम्पूर्ण महत्त्व को नष्ट कर देना है और उन्हें पूर्णतः बुद्धिविरोधी तथा अगम्य बना देना है। इसी प्रकार हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य के कार्य केवल इस अर्थ में बुद्धिसंगत होते हैं कि हम उनकी बौद्धिक रूप से व्याख्या कर सकते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि उन पर संकेत, अनुकरण, भावनाओं तथा आदतों जैसे उपचेतन तत्त्वों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यहाँ यह कहना भी अप्रासंगिक न होगा कि आदर्शवादी परम्परा अफलातून, अरस्तू, कान्ट, हीगल, ग्रीन तथा बोज़ान्के सरीखे सबसे अधिक विवेकशील व्यक्तियों से आई जिसने मानव स्वभाव का गहरा मनोवैज्ञानिक ज्ञान प्रदर्शित किया है।

(९) अन्त में हम आदर्शवादी सिद्धान्त पर इस आरोप का उल्लेख कर सकते हैं जोकि जल्दबाज समाज-सुधारक उस पर लगाते हैं। अफलातून ने दार्शनिक राजा के निरपेक्ष और निरंकुश शासन का समर्थन किया; अरस्तु ने दास प्रथा का पक्ष पोषण किया; ईसाई धर्म ने विषमता तथा दास प्रथा की निन्दा नहीं की; लूथर

* "When the idealist says that the state is the product of reason and rational will, he does not mean that reason has been consciously and explicitly creating political institutions during the course of history. That would be an impossible contention. He means that a development has taken place, which, when he looks at its course and its results, we can explain to our reason as something rational— something which is directed to ends of which reason approves. And he argues, therefore, that human reason has been present all the time, implicit and immanent, groping its way, by experiment on experiment, towards its end." —*Ibid*, page 13.

तथा काल्विन ने निष्क्रिय रूप से राजाज्ञा पालन का समर्थन किया; हीगल ने युद्ध की प्रशंसा की; ग्रीन ने पूंजीवाद का पक्ष ग्रहण किया। इन तथा अन्य उदाहरणों को देखकर समाज-सुधारक इस परिणाम पर पहुँच सकता है कि आदर्शवादी एक आदर्श की रचना नहीं करता बल्कि एक अपूर्ण समाज की यथार्थ स्थिति का ही आदर्शीकरण करता है और वस्तु-स्थिति के दैविक अधिकार का उपदेश देता है। स्थित संस्थाओं की एक विवेक-सम्मत परिभाषा देकर सामाजिक मानव द्वारा उनकी स्वीकृति के लिए मार्ग तैयार किया जाता है। यह प्रवृत्ति हीगल में सबसे अधिक स्पष्ट रूप से पाई जाती है जिसने कि अपने द्वन्द्ववाद की सहायता से प्रशा की राजतन्त्री पद्धति को नियमित करने का प्रयत्न किया था। अपनी इस धारणा के कारण कि जो वास्तविक है वह विवेक-सम्मत है और जो विवेक-सम्मत है वह वास्तविक है, उसने यथार्थ का आदर्शीकरण किया और इसलिये वह घोर रूढ़िवादी बन गया। इसलिए हॉब्सन आदर्शवाद को रूढ़िवाद की एक चाल समझता है।

निस्सन्देह कुछ आदर्शवादियों की प्रवृत्ति रूढ़िवादी रही है; परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा दास प्रथा के समर्थन करने में अरस्तू निश्चित रूप से ही एक रूढ़िवादी था। राजतन्त्र का समर्थन करने और युद्ध का स्तुति-गान करने में हीगल भी निश्चित रूप से रूढ़िवादी था। इस प्रकार का रूढ़िवाद जोकि संस्थाओं के आधार पर विवेक को क्रियाशील देखता है आवश्यक रूप से ही हेय नहीं होता; कोई भी संस्था तब तक उत्पन्न नहीं होती जब तक कि उसकी आवश्यकता न हो, और यह इसलिये जीवित रहती है क्योंकि यह जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। रूढ़िवाद निन्द्य उस समय होता है जबकि वह किसी संस्था का उस समय भी समर्थन करता है जबकि उसकी उपयोगिता नष्ट हो जाती है और वह सामान्य हित की वृद्धि करने के बदले में उसमें बाधक बन जाती है। आदर्शवादियों ने इस प्रकार की संस्थाओं का समर्थन बहुत ही कम किया है। इसके अतिरिक्त आदर्शवाद और रूढ़िवाद में कोई न्याय-संगत सम्बन्ध भी नहीं है; कुछ महान् आदर्शवादियों ने एकदम नवीन विचारों को जन्म दिया है। इस प्रसंग में सर्वप्रथम नाम अफलातून का है; उसके हाथों में आकर आदर्शवाद कुछ स्थापित यूनानी संस्थाओं के ऊपर एक आक्रमण बन गया। ग्रीन भी एक उत्साहपूर्ण समाज-सुधारक था; उसके आदर्शवाद ने उसे नशेबाजी, निरक्षरता तथा भिक्षा-वृत्ति की प्रथा पर आक्रमण करने के लिये प्रेरित किया। उसने व्यक्तिगत पूंजीवाद का समर्थन इसलिए किया, क्योंकि उसने उसमें कुछ अच्छाई देखी। गाँधी जी का उदाहरण भी हमारे सामने है; वह कुछ बातों में क्रांतिकारी थे और कुछ में रूढ़िवादी। उनके आदर्शवाद ने उन्हें क्रान्तिकारी, सामाजिक तथा धार्मिक सुधारों के लिये प्रेरित किया, परन्तु वर्ण-व्यवस्था धर्म को उन्होंने अपने विशुद्धतर रूप में अपनाये रखा। इसलिए इस आरोप में, कि आदर्शवाद रूढ़िवाद की चाल है, अधिक बल नहीं है।

(१०) आदर्शवादी सिद्धान्त के विरुद्ध एक आरोप यह लगाया जाता है कि इसका स्वरूप अत्यधिक नकारात्मक है; किन्तु आदर्शवाद के अनुसार राज्य के शुभ जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को रोकने के कार्य के विषय में हम ऊपर जो कुछ कह चुके हैं, उसे ध्यान में रखते हुए हमें इस आरोप के विषय में यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।

इसलिए हम इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि आदर्शवादी सिद्धान्त के विरुद्ध अधिकतर आरोप उसके सच्चे स्वरूप को न समझने के कारण उत्पन्न होते हैं; कम से कम वे उसके उदार रूप पर लागू नहीं होते जोकि ग्रीन में पाया जाता है। व्यक्तिवादी सिद्धान्तों के विपरीत राज्य की सावयवी एकता पर बल देकर इसने राजनीतिक विचार की महान् सेवा की है। यदि हम व्यक्तित्व के सच्चे स्वरूप को समझ लें तो हम देखेंगे कि राज्य के लक्ष्य की पूर्ति में अपने को लगा देने से मानव व्यक्तित्व का विनाश नहीं होता; बल्कि यह तो व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व का विकास करने और उसे सम्पन्न बनाने में सहायता देता है। इसी प्रकार, यदि हम यह जान लें कि सच्ची स्वतन्त्रता केवल राज्य में ही सम्भव है और यह कि स्वतन्त्रता समाज के नैतिक जीवन में ही उत्पन्न होती है और समाज की कानूनी तथा नैतिक संस्थायें इसे सुरक्षित रखती हैं तो हम स्वतन्त्रता की आदर्शवादी धारणा में निहित सत्य को देख सकेंगे। तब हम आदर्शवाद के विरुद्ध इस आरोप का, कि वह व्यक्ति को राज्य के अधीन बनाता है, समुचित रूप में मूल्यांकन कर सकेंगे। सामान्य इच्छा के सिद्धान्त के विषय में भी यही बातें कही जा सकती हैं। हॉब्हाउस, मैकाइवर तथा जोड सरीखे लेखकों ने इस पर जो आक्रमण किया है, उसका कारण उनका इसे ठीक रूप से न समझ पाना है। यह कहना, कि यदि यह इच्छा है तो यह सामान्य नहीं हो सकती और यदि यह सामान्य है तो यह इच्छा नहीं हो सकती, उसके सच्चे स्वरूप के विषय में अज्ञान को प्रकट करता है। इस आलोचना का आधार यह मान्यता है कि इच्छा सदैव विशिष्ट होती है, कि मेरी इच्छा का तत्त्व दूसरे व्यक्ति की इच्छा के तत्त्व के अनुरूप कभी नहीं हो सकता। एक भावनात्मक अनुभव के रूप में मेरी इच्छा सदैव मेरी इच्छा रहती है; मेरी इच्छा में कोई मेरा भागीदार नहीं बन सकता, जिस प्रकार कि कोई दूसरा सिर-दर्द या दांत के दर्द में मेरा भागीदार नहीं बन सकता। परन्तु जहाँ तक कि वह विवेक द्वारा निर्धारित होती है और जहाँ तक कि जीवन के सम्पूर्ण अर्थ और उद्देश्य के प्रकाश में तथा दूसरों के विचार तथा इच्छा द्वारा यह आलोचना, संशोधन तथा परिशोधन की प्रक्रिया में से गुजर लेती है, उस हद तक यह मेरी वास्तविक अथवा विवेक-सम्मत इच्छा बन जाती है और उसी हद तक यह दूसरों की भी वास्तविक इच्छा के अनुरूप और सच्चे अर्थों में सामान्य बन जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सामान्य इच्छा के सिद्धान्त में जो सत्य है उसका स्थायी मूल्य है। राज्य के व्यक्तित्व के सिद्धान्त के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा

सकता कि राज्य की अपनी इच्छा होती है और उसका अपना व्यक्तित्व होता है। इस बात से, कि इनमें से कुछ अथवा समस्त सिद्धान्तों का दुरुपयोग किया जा सकता है और उन्हें निरंकुशता का आधार बनाया जा जाता है, यह सिद्ध नहीं हो जाता कि ये गलत अथवा खतरनाक हैं। हम ग्रीन द्वारा प्रतिपादित उदार आदर्शवाद को इसके प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्तों की अपेक्षा कहीं अधिक तर्कपूर्ण तथा सत्य के अधिक निकट पाते हैं।

सहायक पुस्तकों की भूमि

Primary Sources—

Bosanquet : *The Philosophical Theory of the State.*
Green : *Lectures on the Principles of Political Obligation.*

Expository—

Barker : *Political Thought in England,* Chapters II and III.
Brinton : *English Thought in the 19th Century,* pages 212–26. (For Green).
Coker : *Recent Political Thought,* pages 418–22. (For Green).
Fairbrother : *Philosophy of Green.*
Halder, Hiralal : *Neo-Hegelians,* Chapters II and VIII.
Hallowell : *Main Currents in Modern Political Thought,* Chapter VII.
Lancaster : *Masters of Political Thought,* Vol. III.
McGovern : *From Luther to Hitler,* pages 154–79.
Metz, Rudolf : *A Hundred Years of British Philosophy,* pages 268–85, 345–59.
Sabine : *A History of Political Theory,* (Green), Chapter XXXI.
Wayper : *Political Thought,* pages 173–97.

Critical—

Hobhouse : *Metaphysical Theory of the State.*
Joad : *Introduction to Modern Political Theory,* Chapter I; *Guide to the Philosophy of Morals and Politics,* pages 585–602, and 727–68.
Laski : *The State in Theory and Practice,* Chapter I.

वैज्ञानिक विचारधारा

स्पेन्सर का जैविक दृष्टिकोण

परिचयात्मक— अब हम एक अन्य विचारधारा पर आते हैं जिसने कि उन्नीसवीं शताब्दी के राजनीतिक चिंतन पर उतना ही महान् प्रभाव डाला जितना कि उपयोगितावाद और आदर्शवाद ने डाला था। इसने मानव जीवन की व्याख्या प्राकृतिक विज्ञान के शब्दों में करने का प्रयास किया, इसलिए इसे वैज्ञानिक विचार-धारा कहा जाता है। हरबर्ट स्पेन्सर ने सामाजिक और राजनीतिक घटनाचक्र की व्याख्या जीवशास्त्र अर्थात् जीव-विज्ञान के शब्दों में की। जैसा कि बार्कर कहता है, इस इंगलिश विचारक के विचार की विशिष्टता यह है कि इसमें आचारशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र को जीवन के नियमों के विज्ञान के सदृश और उनका एक अंग समझा गया है। इस प्रकार स्पेन्सर राजनीति के प्रति जीवशास्त्रीय दृष्टिकोण का प्रवर्त्तक बन गया। उन्नीसवीं शताब्दी के एक अन्य इंगलिश विचारक बेजहॉट का सामाजिक तथा राजनीतिक व्यापार के प्रति कुछ भिन्न दृष्टिकोण था; स्पेन्सर जीवशास्त्रीय पद्धति से सोचता था, बेजहॉट मनोवैज्ञानिक रूप से। बहुत से इंगलिश, फ्रेंच तथा अमरीकन विचारकों ने इस मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को और अधिक विकसित किया। इंगलिश विचारकों में ग्रैहम वैलास तथा मैक्डूगल के नाम अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। बीसवीं शताब्दी में इसने समाजशास्त्रीय रूप धारण कर लिया है। जीवशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय विचारधाराओं को वैज्ञानिक विचारधारा की शाखायें समझा जा सकता है। इस अध्याय में हम हरबर्ट स्पेन्सर की जीवशास्त्रीय व्याख्या और अगले अध्याय में बेजहॉट तथा ग्रैहम वैलास की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की समीक्षा करेंगे।

स्पेन्सर का जीवन तथा कृतियाँ—हरबर्ट स्पेन्सर का जन्म एक गरीब अध्यापक के परिवार में २७ अप्रैल १८२० ई० को हुआ था। उसके पिता की स्थिति उसे उच्च शिक्षा दिलाने की तो न थी, किन्तु उसने उसकी तर्कना-शक्ति को निरन्तर उत्प्रेरित किया, जैसे कि जेम्स मिल ने अपने पुत्र, जॉन स्टूअर्ट मिल, की शक्ति को किया था। एक अत्यन्त साधारण जीवन व्यतीत करने के उपरान्त दिसम्बर १९०३ ई० में ८३ वर्ष की अवस्था में स्पेन्सर का देहान्त हो गया।

उसके जीवन के विषय में अधिक कुछ कहना आवश्यक नहीं, हर्नशा की सुन्दर भाषा में, स्पेन्सर 'एक मनुष्य इतना नहीं था जितना कि एक बौद्धिक सावयव, और उसकी इहलोक यात्रा एक अस्तित्व था, जीवन इतना नहीं।' वह 'सम्पूर्ण रूप से बुद्धि

ही था, हृदय नहीं'; उसने कभी प्रेम नहीं किया और कभी विवाह नहीं किया। उसे किसी कालिज या विश्वविद्यालय की नियमित शिक्षा का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ; वह स्व-शिक्षित तथा स्व-निर्मित मनुष्य था। दस बारह वर्ष तक रोजगार प्राप्त करने के विफल प्रयास करने के उपरान्त उसे 'इकोनॉमिस्ट' नामक पत्रिका के उप-सम्पादक का स्थान मिल गया। यह एक सुप्रसिद्ध पत्रिका थी जिसमें उस समय के कुछ सर्व-विख्यात व्यक्तियों की रचनायें प्रकाशित होती थीं। इससे स्पेन्सर को हक्सले, टिन्डाल, न्यूमैन तथा इलियट सरीखे महान् प्रतिभाशाली व्यक्तियों के सम्पर्क में आने का सुअवसर प्राप्त हुआ जिनके साथ वार्तालाप ने उसके जिज्ञासु मस्तिष्क को बहुत प्रेरित किया। १८५३ ई० में उसने उप-सम्पादक के पद को छोड़ दिया और सारा समय तथा शक्ति लेखन-कार्य में लगाने का निर्णय किया। उसकी प्रारम्भिक रचनाओं से उसे कुछ विशेष आय नहीं हुई। फलतः उसे घोर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा किन्तु १८६८ ई० में उसके भाग्य का पासा पलटा; उसकी रचनाओं की इंग्लैंड तथा अमरीका दोनों में अच्छी बिक्री होने लगी। उसके उपरान्त वह कुछ आराम का जीवन व्यतीत कर सका। १८९८ ई० में वह ब्राइटन में अधिक अच्छे और अधिक सम्मानित मकान में चला गया जहाँ कि वह १९०३ में अपनी मृत्युपर्यन्त रहा। किन्तु १८८५ में उसका स्वास्थ्य खराब हो गया और वह अन्तिम समय तक निद्राहीनता, रक्ताभाव इत्यादि रोगों का शिकार रहा। इसका उसकी रचनाओं पर खराब प्रभाव पड़ा।

अपने गिरे हुये स्वास्थ्य के बावजूद स्पेन्सर ने बहुत कुछ लिखा। उसकी रचनायें अठारह बड़ी-बड़ी जिल्दों में संकलित हैं। उसकी चिरस्मरणीय कृति उसकी दर्शन पद्धति है जो निम्नलिखित पुस्तकों में पाई जाती है: 'First Principles' (१८६२) 'Principles of Biology' (दो जिल्दें, १८६४–७), 'Principles of Psychology' (दो जिल्दें १८७०–२), 'Principles of Sociology' (तीन जिल्दें, १८७६–९६), तथा 'Principles of Ethics' (दो जिल्दें, १८९२–३)। उसका राजनीतिक विचार उसके 'Social Statistics', 'The Man Versus the State', 'The Proper Sphere of Government,' 'Political Institutions' तथा 'Principles of Sociology' में पाया जाता है।

स्पेन्सर की रचनाओं का अनुवाद लगभग समस्त प्रगतिशील राष्ट्रों की भाषाओं में हुआ और उसकी ख्याति न केवल यूरोप तथा अमरीका में, बल्कि चीन और जापान सरीखे सुदूर देशों में भी फैल गई। वह उन थोड़े से दार्शनिकों में से है जिनकी ख्याति अपने ही समय में अपने देश के बाहर भी फैली। यद्यपि उसकी नवीन दर्शन प्रणाली ने लगभग पचास वर्ष तक संसार भर के विचारशील व्यक्तियों के ध्यान को आकृष्ट किया, और यद्यपि उसकी मनोविज्ञान सम्बन्धी कृतियां उस शताब्दी की उस विषय की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक पुस्तक रही हैं, तथापि आज स्पेन्सर की रचना को कोई भी नहीं पढ़ता। जैसा कि केन ब्रिन्टन ने कहा है:

"टॉमस एक्वीनास के सम्मा (Summa) की अपेक्षा हम इस आधुनिक सम्मा की ओर अधिक उदासीन हैं।" तब प्रश्न यह उठता है कि स्पेन्सर के अपने समय में उसकी रचनाओं ने जो हलचल मचाई उसका क्या कारण था और आज उसके प्रति इतनी उदासीनता का क्या कारण है।

इस प्रश्न के दो उत्तर दिये जा सकते हैं। प्रथम, स्पेन्सर एक महान् प्रणाली-निर्माता था। ध्यान रहे कि ब्रिटिश चिन्तन की एक विलक्षण विशेषता यह है कि वह प्रणाली की अधिक चिन्ता नहीं करता। बेकन तथा हॉब्स दो ऐसे अंग्रेज लेखक हुए हैं जिन्होंने हमें क्रमबद्ध दर्शन दिया है। हॉब्स के बाद ब्रिटिश दर्शन में क्रमबद्धता लाने का श्रेय हरबर्ट स्पेन्सर को है। उसने जिस क्रमबद्ध प्रणाली का निर्माण किया वह बेकन और हॉब्स की प्रणाली से कहीं अधिक व्यापक और संगठित है। मेज़ के अनुसार वह ब्रिटिश विचार में अद्वितीय है। उसके शब्दों में स्पेन्सर ने अमूर्त्त सिद्धान्तों की रचना की, वर्गीकरण किया, सामान्यकरण किया तथा "अधिकाधिक अमूर्त्त एकबद्धताओं की ओर बढ़ता गया, जब तक कि वह एक ऐसे बिन्दु पर आ गया जहाँ कि वह सम्पूर्ण विश्व का सारांश एक ही सूत्र में दे सकता था। फलत: एक ऐसी प्रणाली का जन्म हुआ जिसमें प्रत्येक वस्तु का अपना स्थान निर्धारित था। यह प्रणाली इतनी निर्भीकतापूर्वक आयोजित और कुशलतापूर्वक व्यवस्थित थी कि उसके प्रति हमारा दृष्टिकोण चाहे कुछ भी क्यों न हो, किन्तु हम उसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते। स्पेन्सर का स्थान इतिहास के महानतम दर्शन-निर्माताओं में है।"*

स्पेन्सर के समकालीन इस प्रणाली रचना की ओर बहुत आकृष्ट हुए; किन्तु यह हमें उत्प्रेरित नहीं करती। इतने परिश्रम के साथ समन्वयवादी दर्शन का जो भव्य भवन उसने खड़ा किया वह आज हमें प्रेरित नहीं करता, क्योंकि हमें सम्पूर्ण वैज्ञानिक ज्ञान में समन्वय कर देने की सम्भावना में बड़ा सन्देह है। हम जो ज्ञान आज प्राप्त कर चुके हैं उसके विस्तार तथा पूर्णता को देखते हुए इस प्रकार का समन्वय प्राय: असम्भव दिखलाई देता है।

स्पेन्सर के अपने समय में महान् सम्मान तथा जनप्रियता को प्राप्त करने का दूसरा कारण यह है कि उसने विकासवादी सिद्धान्त का बड़ा व्यापक प्रयोग किया है। यद्यपि लैमार्क, डार्विन, वैलेस, हक्सले तथा लीबिज सरीखे उस समय के

---

* Spencer abstracted, classified, generalised and "moved forward to more and more abstract unifications until he had reached the point from where he could sum up the universe in a single formula. The result was a system in which everything was given its place, a system so boldly planned and so skilfully and neatly ordered that, whatever our ultimate attitude towards it may be, we cannot help admiring it. Spencer must be ranked among the greatest philosophical architects that history has known."

—Metz : *Hundred Years of British Philosophy*, page 102.

सुप्रसिद्ध विचारक सभी विकासवादी थे, तथापि एक दृष्टिकोण से स्पेन्सर को उन्नीसवीं शताब्दी का प्रमुख विकासवादी दार्शनिक समझा जा सकता है। जबकि अन्य विचारकों ने विकासवाद को न्यूनाधिक प्राणीशास्त्र तक ही सीमित रक्खा, स्पेन्सर ने इसमें ज्ञान का अमर वृक्ष देखा। उसने इसका प्रयोग "न केवल नक्षत्र जगत, सौर-मण्डल, पृथ्वी का रूप तथा आकार, विश्व की वनस्पति तथा पशु-पक्षी सम्पत्ति और मानव शरीर की वर्तमान बनावट तथा स्थिति की, बल्कि मनुष्य के मस्तिष्क तथा मानव समाज के रूपों की भी, व्याख्या करने के लिये किया। वास्तव में 'समन्वयवादी' का मुख्य उद्देश्य आचार-शास्त्र की समस्याओं का प्रकृतिवादी तथा विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार निराकरण देना था।"*

निस्सन्देह यह तो सच है कि डार्विनवाद के प्रसार के बिना स्पेन्सर के विचार इतने लोकप्रिय नहीं हो सकते थे, परन्तु इससे हमारे इस विकासवादी दार्शनिक का महत्त्व कुछ कम नहीं हो जाता। परन्तु उसका विकासवाद हमें आज उतना प्रभावित नहीं करता, विकास के सम्बन्ध में अपने बढ़ते हुए ज्ञान से हमें ऐसा प्रतीत होने लगा है कि वास्तव में इसके विषय में हम बहुत कम जानते हैं। स्पेन्सर के समय में विकास शब्द में जो जादू था वह अब नहीं रहा। इसलिए वह अत्यधिक आत्म-विश्वास हमें आशंकित कर देता है जिसके साथ स्पेन्सर ने आचार-शास्त्र तथा राजनीति-शास्त्र की समस्याओं को इस सिद्धान्त की सहायता से हल करने का प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, स्पेन्सर ने प्राणी-शास्त्र को आचार-शास्त्र तथा राजनीति-शास्त्र पर जिस प्रकार आरोपित किया है वह प्रवंचना-पूर्ण और संगतिहीन है। बार्कर का कहना है कि उसके विचार में एक आधारभूत प्रवंचना है जिसे वह कभी दूर नहीं कर सका। यह प्रवंचना इसलिए उत्पन्न होती है क्योंकि राज्य की वह सावयवी धारणा जिस पर कि वह विकासवादी सिद्धान्त के प्रयोग द्वारा पहुँचा उसकी व्यक्ति के अधिकारों की आधारभूत धारणा (जोकि उसका आरम्भ-बिन्दु है) से ताल नहीं खाती। परिणाम यह हुआ कि स्पेन्सर का दर्शन आद्योपान्त **प्राकृतिक अधिकारों** तथा जैविक रूपक का असम्बद्ध सम्मिश्रण बन गया।

स्पेन्सर के विचार के स्रोत— हमारा मुख्य ध्येय स्पेन्सर के राजनीतिक विचारों का अध्ययन करना है, इसलिए यहाँ पर उसके समन्वयात्मक दर्शन की रूपरेखा

* He used it to explain "the present constitution and condition not only of the starry universe, the planetary system, the face and figure of the earth, the flora and fauna of the world, together with the bodies of men, but also of the minds of men and the forms of human society. Indeed, the primary aim of the *synthetic philosophy* was precisely the solution on naturalistic and evolutionary lines of the problems of ethics and politics."

—Hearnshaw : *Social and Political Ideas of Thinkers of the Victorian Age*, page 80.

देनी भी आवश्यक नहीं है। जो लोग उसकी राज्य सम्बन्धी तथा राज्य के साथ व्यक्ति के सम्बन्ध विषयक धारणा को समझना चाहते हैं उनके लिए उसके दर्शन में घुसने की आवश्यकता नहीं। परन्तु यहाँ पर उन स्रोतों का वर्णन करना अति आवश्यक है जिनसे कि उसने अपनी विचारधारा के दो प्रमुख विचार— **स्वतन्त्रता** तथा **विकास** ग्रहण किये हैं। उसने स्वतन्त्रता की धारणा को अपनी वैज्ञानिक कृतियों में बड़े जोश के साथ अभिव्यक्त किया है। उसके चिंतन में जो प्रवंचना और संगतिहीनता पाई जाती है वह इन्हीं दो परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों में संगतिहीनता का परिणाम है। यह देखना दिलचस्पी से खाली न होगा कि उसके हृदय में स्वतन्त्रता-प्रेम उसके आरम्भिक पर्यावरण से उत्पन्न हुआ ; स्वतन्त्रता-प्रेम उसका जन्मजात गुण था ; और विकास के प्रति अनुराग उसके जीवन में आगे चलकर उत्पन्न हुआ। जब इन दोनों में संघर्ष होता है तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए उसके स्वाभाविक प्रेम की उसके विकास के अनुराग पर विजय होती है।

हरबर्ट स्पेन्सर का जन्म एक ऐसे परिवार में हुआ था जोकि धर्म के क्षेत्र में विचार-स्वातन्त्र्य का प्रेमी था। उसे शक्ति के प्रति उपेक्षा भाव और विद्रोह से प्रेम अपने पूर्वजों से विरासत में मिला जिनका विश्वास यह था कि प्रकृति के वे नियम जोकि कारण-कार्य के वैज्ञानिक सिद्धान्तों में पाये जाते हैं मानवकृत कानूनों से अधिक श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार परम्परा-विरोधी प्रवृत्तियाँ उसे विरासत में मिली थीं, और अपने चाचा टॉमस स्पेन्सर के यहाँ तीन वर्ष में जो प्रदीक्षा उसे मिली उसने उन प्रवृत्तियों को और अधिक पुष्ट कर दिया। उसका सम्बन्ध बर्मिङ्घम के जॉज़ेफ स्टर्ज से भी रहा जिसने कि १८४१ ई० में 'नॉन-कॉन्फार्मिस्ट' नामक पत्र की स्थापना की थी। स्पेन्सर का 'The Proper Sphere of Government' नामक प्रथम लेख इसी साप्ताहिक में प्रकाशित हुआ था। 'इकोनॉमिस्ट' का उप-सम्पादक होने के नाते वह टॉमस हॉग्सकिन के सम्पर्क में आया जोकि राजनीति में रेडीकल और आचार-शास्त्र में बेन्थम-विरोधी था। हॉग्सकिन मनुष्य के नैसर्गिक अधिकारों में गहरा विश्वास रखता था जिनका कि बेन्थम ने खण्डन किया था। उसकी यह धारणा थी कि क्योंकि समाज एक नैसर्गिक घटना है जोकि विश्व-व्यापक आत्मा के द्वारा बनाये हुए नैसर्गिक कानूनों के अधीन है, इसलिए सरकार की एकमात्र उचित नीति लैसे-फेयर (Laissez-faire) की ही हो सकती है। हॉग्सकिन के अनुसार राज्य का कार्य एकदम नकारात्मक है ; इसका कर्त्तव्य केवल नैसर्गिक कानूनों के बर्तने के लिए एक स्वतन्त्र क्षेत्र तैयार करना है। सामाजिक विषयों को विनियमित करना राज्य का कार्य नहीं है। बार्कर के शब्दों में हॉग्सकिन ने एक ऐसे कल्पित आदर्श को हमारे सामने रखा है, जिसमें 'अराजकता है, जिसमें सरकार का लोप हो गया है, और जिसमें समस्त व्यक्तियों की भावनाओं का एक दूसरे से स्वतः सामंजस्य स्थापित हो गया है।' ऐसा प्रतीत होता है कि स्पेन्सर पर हॉग्सकिन के इन आदर्शों का गहरा प्रभाव पड़ा था ; जीवनपर्यन्त वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा लैसे-फेयर का समर्थक रहा।

यहाँ तक कि जब सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन हुआ और उसके समकालीन सामूहिक कार्य की आवश्यकता को अनुभव करने लगे तब भी स्पेन्सर व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सामाजिक हस्तक्षेप से सुरक्षित रखने का प्रयास करता रहा। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्पेन्सर के व्यक्तिवाद— उसका व्यक्ति के महत्त्व में विश्वास तथा राज्य द्वारा उन समस्त विषयों में हस्तक्षेप करने का विरोध जिन्हें कि उन्नीसवीं शताब्दी के विचारक राज्य के हस्तक्षेप से स्वतन्त्र रखना चाहते थे— का मूल उसके प्रारम्भिक रेडीकल पर्यावरण तथा उसके हॉग्सकिन के साथ संसर्ग में पाया जाता है।

रेडीकलवाद के अतिरिक्त अन्य दो स्रोत और हैं जिनसे कि स्पेन्सर ने अपने चिंतन के तत्त्वों को लिया है। उनमें से एक तो है उसका प्राकृतिक विज्ञान का अध्ययन और दूसरा है शेलिंग तथा शेलीगल के आदर्शवाद का ज्ञान जो उसे कॉलरिज के अध्ययन द्वारा प्राप्त हुआ था। इन दोनों की, विशेष रूप से दूसरे की, रेडीकलवाद के साथ और आपस में एक दूसरे के साथ संगति नहीं बैठती थी। उसके चिंतन में प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन का क्या स्थान है इसे समझने के लिये हमें इस तथ्य को याद रखना चाहिये कि स्पेन्सर अपने समकालीन मिल की भाँति राजनीति में एक उपयोगितावादी था। वह उपयोगितावाद की इस धारणा में विश्वास रखता था कि जीवन का लक्ष्य सुख की प्राप्ति है, किन्तु सुख की उसने जो व्याख्या की है उसमें एक नवीन तत्त्व मिलता है जो हम मिल में नहीं देखते और जिसके कारण वह **विकासवाद सुखवादी** (Evolutionary Hedonism) नामक एक नवीन विचारधारा का जनक बन गया। यद्यपि मिल ने सुख का एक गहनतर तथा अधिक आध्यात्मिक अर्थ लगाया है, तथापि वह प्राचीन परम्परा से नहीं हटा; इसलिये उसे कभी-कभी अन्तिम महान् उपयोगितावादी कहा जाता है। जैसा कि सैबाइन कहता है, मिल ने उपयोगितावाद के सिद्धान्तों में परिवर्तन नहीं किया, यद्यपि उसने उसके परिणामों में अवश्य संशोधन कर दिया। नैतिकता को मूल रूप से भौतिक सत्य के साथ एकरूप समझ कर, और वास्तव में उसे अतिक्रमणात्मक शरीरशास्त्र का रूप मान कर स्पेन्सर ने स्पष्ट रूप से एक नवीन तत्त्व का प्रवेश कराया और आचारशास्त्र तथा राजनीति-शास्त्र की जीवन के कानूनों के विज्ञान के एक अंग के रूप में व्याख्या की। उसने जीवन के कानूनों में से नैतिक नियमों को निगमित किया और इस प्रकार आचार-शास्त्र को विकासवादी बना दिया। इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि उसने उपयोगितावाद के सिद्धान्तों में परिवर्तन किया। परन्तु विकास सिद्धान्त को राज्य पर आरोपित करने के परिणामस्वरूप वह समाज की जिस सावयवी धारणा पर पहुँचा उसके बावजूद वह आग्रहपूर्वक व्यक्ति के महत्त्व में विश्वास पर डटा रहा। जहाँ तक कि वह मिल तथा बेन्थम की भाँति एक व्यक्तिवादी बना रहा, वहाँ तक हम यह कह सकते हैं कि उसने व्यावहारिक परिणामों को लगभग वहीं छोड़ दिया जहाँ कि वे थे।

हरबर्ट स्पेन्सर जिस समय एक बच्चा ही था तो उसके पिता ने उसे उसके चाचा टॉमस स्पेन्सर के पास भेज दिया। वहाँ उसने लेटिन तथा ग्रीक के प्रति पूर्ण उदासीनता दिखाई। भाषा अथवा साहित्य के अध्ययन में उसका कोई अनुराग न था, किन्तु गणितशास्त्र तथा भौतिकशास्त्र को उसने ऐसे अपनाया जैसे कि मछली पानी को अपनाती है; बचपन से ही उसे भौतिकशास्त्र तथा प्रकृति अध्ययन में गहरा अनुराग था। १८३७ से १८४१ तक के चार वर्षों तक वह एक इन्जीनियर था और उसने नाना प्रकार के कामों के लिये नाना प्रकार के यंत्रों का आविष्कार किया। भौतिकशास्त्र में अपने अनुराग के कारण वह विश्व को शक्तिमय समझने लगा। जर्मन आदर्शवाद (जिसके प्रतिनिधि शीलिंग तथा शीलीगल थे) से प्रभावित होकर वह जीवन को एक सार्वत्रिक विकास समझने लगा, और मानव समाज को प्रकृति का एक अंग समझने लगा जिस पर विकास अथवा परिवर्तन की सार्वत्रिक प्रक्रिया लागू होती है। भौतिक तथा आदर्शवादी दृष्टिकोणों का सम्मिश्रण करके उसने सार्वत्रिक विकास की प्रक्रिया के मूलभूत सिद्धान्तों की रचना की। वह सिद्धान्त है **शक्ति का आग्रह** (Persistence of Force), जिसमें से उसने दो उप-सिद्धान्त निगमित किये—अन्तिम संतुलन की ओर जाने की समस्त वस्तुओं की प्रवृत्ति, और इसके फलस्वरूप उस सन्तुलन को प्राप्त करने के लिये विकास की प्रक्रिया के द्वारा अपने को परिवर्तित करने की प्रवृत्ति।

स्पेन्सर की ब्रह्माण्ड की धारणा में उसकी 'जीवन की धारणा' ने बहुत अधिक संशोधन किया, इसलिये 'जीवन की धारणा' के विषय में यहाँ दो शब्द कह देना अनावश्यक न होगा। उन्नीसवीं शताब्दी के बहुत से वैज्ञानिक ब्रह्माण्ड के रचयिता के रूप में परमात्मा में विश्वास न करके एक जीवन शक्ति में विश्वास करते थे। इस जीवन शक्ति को वे निरन्तर प्रगतिशील समझते थे जोकि सदैव बनने की प्रक्रिया में रहती है। शीलिंग के प्रभाव में आकर स्पेन्सर यह सोचने लगा कि यह 'जीवन शक्ति एक अतिक्रमणात्मक सिद्धान्त है जिसके कारण सम्पूर्ण प्रकृति, और प्रकृति के रूप में समाज का भीतर से एक अन्तिम व्यक्तिकरण की ओर विकास होता है।' वह इस जीवन शक्ति को एक प्राकृतिक घटना जिसका अध्ययन प्राकृतिक विज्ञान को करना हो नहीं समझता था। दूसरे शब्दों में स्पेन्सर जीवन को ब्रह्माण्ड के विकास का कारण नहीं, स्वयं ब्रह्माण्ड का विकास समझने लगा।

हम ऊपर कह चुके हैं कि जिस बात ने स्पेन्सर को अपने समकालीन विकास-वादी विचारकों में विशिष्ट और उसे उन्नीसवीं शताब्दी के विकासवाद का प्रमुख दार्शनिक बनाया वह है उसका आचारशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र की समस्याओं की विकासवादी सिद्धान्त के अनुकूल व्याख्या करने का प्रयास करना। उसकी समाज की सावयवी धारणा की विवेचना करने से पूर्व हम इस बात को स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि उसने विकास की धारणा को प्राणीशास्त्र से लेकर उसे सम्पूर्ण विश्व (जिसमें पशु, पक्षी, वनस्पति-जगत तथा मनुष्य के आचार, परम्परायें और संस्थायें सभी सम्मिलित

हैं) पर आरोपित नहीं किया; उसका प्रारम्भ बिन्दु था ब्रह्माण्ड के विकास की धारणा जिसमें आगे चलकर उसने प्राणीशास्त्रीय विकास को सम्मिलित कर दिया। उसका तर्क था कि वह जीवन शक्ति जोकि ब्रह्माण्ड में काम कर रही है मानव तथा मानव समाज में काम कर रही है। इसलिए समाज प्राणीशास्त्रीय कानूनों की सृष्टि है, यन्त्रशास्त्र के नियमों की नहीं। सामान्य रूप से उसने सावयवी विकास के आधार-भूत नियम को स्वीकार किया जिसके अनुसार जीवन संघर्ष में योग्यतम की विजय होती है, जिसका प्रतिपादन डार्विन ने किया था, परन्तु उससे कई मूल बातों में उसका विरोध भी था। उसके राजनीतिक विचार पर अधिकतर प्रभाव उन्हीं बातों का है जिनमें कि उसका डार्विन से विरोध था। इसलिए इस विषय में कुछ शब्द कह देना नितान्त आवश्यक है।

स्पेन्सर का विकासवादी सिद्धान्त—डार्विन की धारणा थी कि सर्वत्र और प्रत्येक काल में एक ही जाति के विभिन्न प्राणियों और प्राणियों की विभिन्न जातियों में एक घोर और निरन्तर संघर्ष चलता रहता है जिसमें योग्यतम ही बचकर निकलते हैं। यह संघर्ष जीवन के लिये है क्योंकि जीविका के साधन परिमित हैं। जो व्यक्ति दूसरों से अधिक शक्तिशाली होते हैं वे जीवन सामग्री अपने लिए प्राप्त कर लेते हैं और इस प्रकार जीवित रह जाते हैं; निर्बल इस संघर्ष में नष्ट हो जाते हैं। कुछ व्यक्ति अन्य की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली इसलिए होते हैं क्योंकि उनमें संयोगवश कुछ वंशानुक्रमगत गुण ऐसे आ जाते हैं जिनके कारण वे अपने आपको अधिक सरलता से अपने पर्यावरण के अनुकूल बना सकते हैं। जिनमें ऐसे गुण नहीं होते वे संघर्ष में समाप्त हो जाते हैं। बच निकलने वाले व्यक्तियों के गुण वंशानुक्रम के द्वारा उनकी संतति में संक्रान्त हो जाते हैं। जब ये विभिन्नतायें संचित हो जाती हैं तो नवीन प्राणी-जातियों का जन्म होता है। डार्विन की धारणा थी कि प्राणियों में विभिन्नतायें संयोगवश होती हैं। योग्यतम की विजय के सिद्धान्त को स्पेन्सर स्वीकार करता है। अपने ग्रन्थ 'Principles of Ethics' में वह लिखता है: 'मनुष्य के बारे में, जैसा कि निम्न कोटि के प्राणियों के बारे में है, वह कानून जिसके अनुसार आचरण करने से एक प्राणी वर्ग जीवित रहता है यह है कि वयस्कों में वे व्यक्ति जोकि अपने को अपने पर्यावरण के सबसे अधिक अनुकूल बना लेते हैं सबसे अधिक प्रगति करते हैं और जो सबसे कम अनुकूल बना पाते हैं वे सबसे कम प्रगति करते हैं।' परन्तु डार्विन के विपरीत उसने यह विश्वास प्रगट किया कि प्राणियों की विभिन्नतायें संयोगात्मक नहीं होतीं वे उद्देश्यपूर्ण होती हैं। जीवित प्राणी अपने आपको पर्यावरण के अनुकूल बनाने का निरन्तर प्रयास करते हैं और उसके द्वारा वे नवीन कार्यों और विशेषताओं को विकसित करते हैं। ये विशेषतायें वंशानुक्रमण के द्वारा एक संतति से दूसरी संतति में संक्रान्त हो जाती हैं। सारांश यह कि डार्विन के विपरीत स्पेन्सर सोद्देश्य विभिन्नताओं और उनके वंशानुक्रमण के द्वारा संक्रमण में विश्वास करता था। इसका उसके राजनीतिक दर्शन पर गहरा प्रभाव पड़ा। वह इस परिणाम पर पहुँचा कि

राज्य के लिये जीवन संघर्ष में हस्तक्षेप करना या किसी भी प्रकार उसकी तीव्रता में कमी करने का प्रयास करना ठीक न होगा। संचित गुणों के संक्रमण में अपने विश्वास के कारण वह इस परिणाम पर पहुँचा कि प्राकृतिक चुनाव उससे कहीं अधिक अच्छे समाज की सृष्टि कर सकता है जैसा कि मानव प्रयत्नों द्वारा होना सम्भव है।

इस प्रसंग में हमें यह भी याद रखना चाहिए कि अपने जीवन की एक अवस्था में स्पेन्सर एक इन्जीनियर था और प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन में उसकी बड़ी रुचि थी। उसके प्रभाव के कारण उसने ऐसे सार्वत्रिक विकास की धारणा बनाई (जो उसने जर्मन आदर्शवाद के अध्ययन से प्राप्त की), जोकि शक्ति के यान्त्रिक रूप में होता है, जीवन के सावयवी रूप में नहीं। उसका दावा था कि पर्यावरण के अनुसार अनुकूलीकरण केवल शक्तियों का सन्तुलनीकरण है, जीवित प्राणी की शक्ति का पर्यावरण की शक्ति के साथ तारतम्य स्थापित करना है। इसके कारण वह यह विश्वास करने लगा कि विश्व के विश्वास की गति जिस लक्ष्य की ओर है वह पूर्ण सन्तुलन है। मानव समाज के लिए इसका अर्थ एक ऐसे पूर्ण समाज से है जिसमें शासन द्वारा हस्तक्षेप किये बिना ही मनुष्य, मनुष्य में पूर्ण सामंजस्य स्थापित हो जाता है। स्पेन्सर की धारणा के पूर्ण अथवा आदर्श समाज में राज्य धीरे-धीरे समाप्त हो जायेगा। इस बात पर बल देने की आवश्यकता तो कदाचित् नहीं है कि स्पेन्सर की अन्तिम सन्तुलन (जहाँ पर विकास की प्रक्रिया रुक जाती है) की धारणा को आधुनिक विज्ञान बिल्कुल नहीं मानता। आज विज्ञान हमें यह बतलाता है कि विकास एक कभी समाप्त न होने वाली प्रक्रिया है जिसमें प्रत्येक अनुकूलीकरण ऐसी नवीन स्थितियाँ उत्पन्न करता है जिसके लिए नवीन अनुकूलीकरण आवश्यक होता है, और इस प्रक्रिया का कोई अन्त नहीं है। विज्ञान की यह धारणा स्पेन्सर के समन्वयात्मक दर्शन के मूल पर ही कुठाराघात करती है और उसके राजनीतिक सिद्धान्तों को धराशायी कर देती है।

सामाजिक सावयव (Social Organism)— यह दिखलाकर कि मनुष्य के मानसिक, सामाजिक तथा नैतिक गुण विकास का फल हैं। स्पेन्सर ने नैतिक समस्याओं का जिस प्रकार निराकरण करने का प्रयास किया उसकी चर्चा हम यहाँ नहीं करेंगे। यहाँ तो हम केवल राजनीतिक विचार को उसकी मुख्य देन, अर्थात् सामाजिक सावयव की धारणा का वर्णन करेंगे और यह दिखायेंगे कि इस धारणा के बावजूद भी वह जीवन-पर्यन्त किस प्रकार व्यक्ति के अधिकारों और लैसे-फेयर की नीति का घोर समर्थक बना रहा। यह कहा जा सकता है कि जैसे हॉब्स ने सामाजिक संविदा के सिद्धान्त का चातुर्यपूर्ण प्रयोग निरंकुश राजाओं के निरंकुश शासन का समर्थन करने के लिये किया था, उसी प्रकार स्पेन्सर ने विश्व-विकास की धारणा की सहायता से रेडीकलवाद (Radicalism) या व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों में अपने विश्वास का समर्थन करने के लिये किया।

प्रकृति में और इसलिये मानव समाज में जोकि प्रकृति का एक अंग है जीवन की अतिक्रमणात्मक शक्ति क्रियाशील है। इसलिये प्रकृति तथा समाज जीवित सावयव हैं। स्पेन्सर बार-बार यह कहता है कि समाज एक सावयव है जोकि जैविक सावयव से बहुत कुछ मिलता-जुलता है, यद्यपि कुछ बातों में इससे वह भिन्न है। सामाजिक सावयव का विचार सबसे पहिले उसके ग्रन्थ 'Social Statics' (१८५१ ई०) में प्रकट हुआ था, यद्यपि इसकी संगति उसके उग्र व्यक्तिवाद से नहीं बैठती। इसका अधिक पूर्ण विवरण उसके प्रसिद्ध निबन्ध 'Social Organism' (१८६० ई०) में पाया जाता है। उसके 'Principles of Sociology' (१८७३ ई०) में इसकी पुनरावृत्ति हुई है। स्पेन्सर ने इसका उल्लेख अपनी अन्तिम रचना 'Facts and Comments' (१९०२) में भी किया है। इस प्रकार यह विचार आधी शताब्दी से भी अधिक तक उसके मस्तिष्क में रहा; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह 'उस राजनीतिक विचार के अन्तर्मानस में कभी प्रविष्ट नहीं हो सका। यहाँ तो वास्तव में वह बर्क के सर्वथा विपरीत है जिसने कि सामाजिक सावयव के विचार का प्रयोग किया, यद्यपि उसने इन शब्दों का प्रयोग करने से इन्कार कर दिया; जबकि स्पेन्सर ने इन शब्दों का प्रयोग तो किया, किन्तु इसमें निहित विचार को मानने से इन्कार कर दिया।'*

अफलातून राज्य को व्यक्ति का वृहत्तर रूप समझता था और हॉब्स ने अपने राज्य को नश्वर देव कह कर पुकारा है, परन्तु उनमें से किसी ने भी राज्य को एक सावयव नहीं कहा; उनके लिये राज्य का केवल स्वरूप सावयवी था। परन्तु स्पेन्सर के लिये इस शब्द का महत्त्व केवल एक रूपक से कुछ बढ़ कर है; उसके लिये राज्य एक सचमुच का सावयव है। वह बड़े विस्तृत रूप से राज्य तथा एक शरीर में एक समानान्तर स्थापित करने की चेष्टा करता है। उसके अनुसार राज्य पर भी विकास और ह्रास के वही नियम लागू होते हैं जोकि एक सावयव पर; सावयव की भाँति राज्य की किशोर, तरुण तथा वृद्ध अवस्था होती है और मृत्यु होती है। मानव सावयव के सदृश उसके भी उपांग होते हैं। "श्रमिक तथा कृषक एक समाज के प्रारम्भिक तत्त्व हैं। व्यापारी लोग, बैंकर तथा रेल और जहाजों में काम करने वाले शरीर की मांसपेशी प्रणाली के अनुरूप हैं। डाक्टर, वकील, इन्जीनियर, शासक, धर्म पुरोहित, विचारक— ये सब मस्तिष्क तथा स्नायविक प्रणाली का कार्य करते हैं।"†

---

* Brinton: *English Political Thought in the Nineteenth Century*, page 292

† "The workers, the men who farm the soil, work the mines and factories and workshops are the elementary organs of a society. The wholesalers, retailers, bankers, railway and steamship men correspond to the muscular system of an organism. The professional men— doctors, lawyers, engineers, rulers, priests— the thinkers, in short, perform the functions of the brain and the nervous system."

—Murray: *Social and Political Thought of the 19th Century*, page 21.

दूसरी बात यह है कि समाजों के आकार में भी उसी प्रकार वृद्धि होती है जैसे कि सावयवों में; छोटे-छोटे समूहों से आरम्भ होकर वे कभी-कभी हजारों गुणा बढ़ जाते हैं; जैसे कि प्राचीन नार्मन तथा ब्रिटिश साम्राज्य। आकार में इस वृद्धि के साथ-साथ बनावट की जटिलता भी बढ़ती है। आजकल के राज्य अपनी बनावट तथा संगठन में आदिकालीन समाजों से कहीं अधिक जटिल हैं, जैसे कि मनुष्य एक कीटाणु की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल है। इसके अतिरिक्त जैसे-जैसे समाज विकसित होते जाते हैं उनमें उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ श्रम विभाजन दिखलाई पड़ता है और घटक अधिकाधिक अन्योन्याश्रित होते जाते हैं, यहाँ तक कि प्रत्येक अङ्ग के कार्य और जीवन को अन्य अङ्गों के कार्य और जीवन ही सम्भव बनाते हैं। रेल या डाक कर्मचारियों की देश-व्यापी हड़ताल सम्पूर्ण समाज के जीवन को अस्त-व्यस्त करने के लिये पर्याप्त है; यहाँ तक कि मोटर तथा रिक्षा चलाने वालों की हड़ताल भी एक नगर के जीवन को अव्यवस्थित कर सकती है। अन्त में स्पेन्सर यह पाता है कि शरीर की भाँति समाज के किसी एक अङ्ग की अत्यधिक वृद्धि का अर्थ होता है दूसरे अङ्गों की वृद्धि का रुद्ध हो जाना। बड़े-बड़े भूस्वामियों और पूँजीपतियों के ऐश्वर्य के महल भूमिहीन खेतिहर मज़दूरों और औद्योगिक श्रमिकों के शोषण के आधार पर ही तो खड़े होते हैं। राज्य तथा सावयव में स्पेन्सर एक और अन्य महत्त्वपूर्ण साम्य देखता है। जिस प्रकार कि एक सावयव अपने विकास की प्रक्रिया की विभिन्न अवस्थाओं में से गुजर कर एक सरल पिंड से एक अत्यन्त जटिल मानव प्राणी का रूप ग्रहण करता है, उसी प्रकार सामाजिक सावयव भी बहुत सी अवस्थाओं में से गुज़र कर एक सरलतम प्रारम्भिक समाज से चल कर आधुनिक अत्यधिक जटिल औद्योगिक समाज तक आया है। स्पेन्सर ने समाज तथा सावयव में जो समानतायें देखी हैं वे डा० एच० आर० मरे के शब्दों में संक्षेप में ये हैं:

१. दोनों ही लघु समूह से आरम्भ करके आकार में बढ़ते हैं।

२. जैसे-जैसे वे बढ़ते जाते हैं उनकी प्रारम्भिक सरलता के बदले में जटिलता आ जाती है।

३. बढ़ते हुए विभिन्नीकरण के साथ उन दोनों के निर्मायिक अङ्गों में पारस्परिक निर्भरता बढ़ती है; प्रत्येक अङ्ग का जीवन तथा साधारण कार्यकलाप सम्पूर्ण के जीवन पर निर्भर हो जाता है।

४. सम्पूर्ण का जीवन अङ्गों के जीवन की अपेक्षा पहिले से कहीं अधिक स्वतन्त्र हो जाता है।

प्रारम्भिक समाज में से सैनिक समाज का जन्म होता है, और सैनिक समाज विकसित होते-होते औद्योगिक समाज बन जाता है। सैनिक समाज में अनुशासन बाहर से थोपा जाता है; अनुशासन सीखने के लिये व्यक्ति को दूसरों की आज्ञा का पालन करना पड़ता है; और प्रारम्भ में वह केवल भय के कारण की आज्ञा का पालन कर सकता है। परन्तु ऐसे समाज में बुद्धि और आविष्कार करने की शक्ति की कमी

होती है। इस कमी की पूर्ति औद्योगिक समाज में हो जाती है जोकि स्वतन्त्रता के ऊपर आधारित होती है। राज्य तथा एक प्राणीशास्त्रीय सावयवं में समानताओं के सम्बन्ध में और अधिक कुछ कहना आवश्यक नहीं है। केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इनके आधार पर स्पेन्सर इस परिणाम पर पहुँचा कि राज्य एक सावयव— एक सामाजिक सावयव— है। स्पेन्सर के तथा उससे आगे आने वाले समय पर सामाजिक सावयव के सिद्धान्त की छाप पड़ी और उसके अधिकतर समकालीनों ने, विशेषकर राज्यवादियों ने (यद्यपि वह स्वयं राज्यवादी नहीं था), उसका सहर्ष स्वागत किया।

स्पेन्सर की युक्तियाँ बिल्कुल स्पष्ट प्रतीत होती हैं; व्यक्ति तथा स्पेन्सर के शब्दों में सामाजिक सावयव में निश्चित रूप से ही एक घनिष्ठ साम्य है। परन्तु उन दोनों में आधारभूत अन्तर भी हैं, और स्पेन्सर उनसे अपरिचित नहीं था। समाज तथा व्यक्तिगत सावयव में वह निम्नलिखित भेद देखता है :—

१. समाज का ऐसा कोई निश्चित शरीर नहीं होता जिसकी तुलना व्यक्ति के शरीर से की जा सके।

२. समाज की घटक इकाइयाँ व्यक्तिगत सावयव की इकाइयों की भाँति अपने अपने निश्चित स्थान पर टिकी नहीं होतीं, बल्कि वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकती हैं।

३. समाज के घटक दूर-दूर फैले हुए व्यक्ति होते हैं; वे व्यक्ति के कोष्ठों की भाँति एक दूसरे से जुड़े हुए नहीं होते।

४. सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि व्यक्ति की भाँति समाज का कोई एक ही चेतना केन्द्र नहीं होता; वह अपने प्रत्येक घटक के द्वारा सोचता है, अनुभव करता है तथा कार्य करता है। कोई सामाजिक चेतना केन्द्र नहीं होता; सामाजिक सावयव का प्रत्येक घटक अलग-अलग चेतना का केन्द्र होता है, और उसमें स्वतन्त्र कार्य तथा एक हद तक स्वतन्त्र जीवन की भी सामर्थ्य होती है। अन्तिम दो बातों का सार यह है कि समाज फैला हुआ (Discrete) है जबकि व्यक्ति ठोस (Concrete) है।

इन महत्त्वपूर्ण भेदों से स्पेन्सर यह परिणाम निकालता है कि सावयव का कल्याण अभीष्ट साध्य नहीं है। साध्य है समाज के प्रत्येक घटक का सुख और कल्याण। अपने 'Principles of Sociology' में वह लिखता है : "समाज का अस्तित्व अपने घटकों के हित के लिये है, घटकों का अस्तित्व समाज के हित के लिये नहीं है।" इसलिये वह एक ऐसा समाज है जोकि इस सिद्धान्त के अनुसार आचरण करता है कि व्यक्ति सामाजिक सावयव के हित का एक साधन है, भ्रष्ट होता है; विकास की प्रक्रिया में वह एक हीन और निकृष्ट समाज है। इसके विपरीत वह समाज विकास-क्रम में उच्चतर तथा श्रेष्ठ है जोकि इस सिद्धान्त पर आधारित हो कि व्यक्ति का सुख ही समाज का लक्ष्य है और शासन उसके लिये एक साधन है।

यह औद्योगिक समाज का सिद्धान्त है जिसे स्पेन्सर सैनिक समाज से उच्चतर स्थान देता है।

व्यक्ति तथा सामाजिक सावयव में हम एक आधारभूत अन्तर देखते हैं। व्यक्ति में विकास की प्रक्रिया का फल होता है अधिकाधिक एकबद्धता अथवा निगमात्मक चेतना का उत्पन्न होना। विकास के दृष्टिकोण से एक प्राणी जितना ही ऊँचा होता है उतनी ही अधिक उसके विभिन्न अंगों की अन्योन्याश्रितता होती है और उतने ही अधिक वे सम्पूर्ण अर्थात् अंगी पर निर्भर करते हैं। यदि समाज एक वास्तविक सावयव होता तो हम उसमें भी इसी प्रकार की एकबद्धता तथा अंगों की सम्पूर्ण के प्रति अधीनता की आशा करते; ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक उद्देश्यों की सिद्धि करनी चाहिये और अपना कोई निजी और व्यक्तिगत हित नहीं रखना चाहिये। किन्तु स्पेन्सर का ऐसा विचार नहीं है, क्योंकि सामाजिक सावयव का कोई सामाजिक चेतना केन्द्र नहीं होता, इसलिये उसमें अंग सम्पूर्ण के आधीन नहीं हो सकते; इसकी परिभाषा के अनुसार विकास की सजातीय से अनेक जातीय की ओर, अविभेदीकृत से विभेदीकृत की ओर प्रगति है। विभेदीकरण को वह व्यक्तिकरण से मिलाता है। समाज का व्यक्तिकरण होता है, किन्तु व्यक्ति का भी व्यक्तिकरण होता है, जिसका अर्थ है उसके महत्त्व तथा अधिकारों को मान्यता प्रदान करना। व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा उसके नैसर्गिक अधिकारों का सम्मान करना एक प्रगतिशील समाज का चिह्न है। स्पेन्सर इस कठिनाई को जानता था और उसे दूर करने का प्रयत्न करने के लिये उसने यह कहा कि समाज एक निम्न प्रकार का सावयव है। वह उसकी तुलना एक अविभेदीकृत जेली मछली से करता था।

व्यक्ति तथा सामाजिक सावयव के बीच इन आधारभूत अन्तरों के मानने के फलस्वरूप स्पेन्सर राज्य के एक अत्यन्त व्यक्तिवादी सिद्धान्त पर पहुँचा जोकि सामाजिक सावयव की धारणा से एकदम असंगत है। संगति की मांग यह है कि उसे या तो अपने रेडिकलवाद और प्राकृतिक अधिकारों में विश्वास का परित्याग कर देना चाहिये था या सामाजिक सावयव के सिद्धान्त को छोड़ देना चाहिये था; परन्तु वह दोनों को मानता है और उनमें सामंजस्य स्थापित करने का घोर प्रयास करता है। वह जीवन तथा शक्ति शब्द का प्रयोग बड़े अनिश्चित अर्थों में करता है और सरलता से 'स्वयं' विकसित होने वाले सावयव की धारणा से स्वयं सन्तुलित होने वाले यन्त्र पर आ जाता है। उसकी अस्पष्टता और एक शब्दावली से दूसरी शब्दावली पर आने (मानो कि दोनों पर्यायवाची हों) के कारण स्पेन्सर यह न देख सका कि उसके सिद्धान्त के दोनों पक्षों में परस्पर सामंजस्य होना असम्भव है। सैनिक तथा औद्योगिक समाज में विभेद ने भी इस कठिनाई पर पर्दा डाल दिया। इसके कारण उसके लिये यह देख पाना कठिन हो गया कि औद्योगिक समाज की स्वतन्त्रता और राज्य के कार्यों को केवल संविदाओं को मनवाने तक ही सीमित

करने का अर्थ सावयव सिद्धान्त का तिरस्कार ही कर देना है। इसीलिए बार्कर का यह कहना है कि व्यक्ति तथा सामाजिक सावयव में साम्य दिखाने के लिए सैकड़ों पृष्ठ व्यय करने के बावजूद 'स्पेन्सर अन्त में सावयव सिद्धान्त को घर से बाहर निकाल ही देता है।'

सत्य तो यह है कि सावयव का सिद्धान्त राज्य पर केवल एक रूपक के रूप में ही लागू हो सकता है, किन्तु अक्षरशः नहीं। राज्य एक सावयव नहीं है और न ही हो सकता है; यह एक सावयव के सदृश है। यह एक सावयव नहीं हो सकता क्योंकि यह एक मानसिक प्रणाली है, शारीरिक नहीं। स्पेन्सर ने सावयव और राज्य में जो समानतायें बतलाई हैं, विशेष रूप से उसने श्रमिकों और कृषकों की शरीर के प्रारंभिक अगों और बुद्धिजीवी वर्गो की स्नायविक प्रणाली से जो तुलना की है उससे तो ऐसा प्रतीत होता है जैसा कि वह राज्य को एक शारीरिक सावयव समझता हो। परन्तु यह समझना बड़ा कठिन है कि एक शारीरिक सामाजिक सावयव कैसा हो सकता है। राज्य का कोई शरीर नहीं होता; यह एक मानसिक ढाँचा है, समाज उद्देश्य के लिए हृदयों का एक संघटन है। परन्तु इसमें जो एकता है उसे हम सावयवी कह सकते है; इसके अंग अन्योन्याश्रित होते हैं और यह अपने ध्येय की पूर्ति अपने विभिन्न घटकों के एक दूसरे के प्रति कर्त्तव्य-पालन के द्वारा करता है। इसकी सावयवी एकता के बल पर राज्य को सावयव कह देने से केवल भ्रम ही उत्पन्न हो सकता है। जैसा कि बार्कर का कहना है 'राज्य का व्यक्तित्व से दृष्टान्त देना उनके पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या करना नहीं है।'

यह बात भी उल्लेखनीय है कि यह समझाने में कि समाज किस प्रकार का सावयव है, स्पेन्सर को बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कभी-कभी वह इसकी तुलना एक अविभेदीकृत मछली से करता है और कभी-कभी एक उच्चतर जीव से। यदि हम उससे यह पूछें कि भविष्य में सामाजिक विकास का मार्ग क्या होगा तो उसे और भी बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। अपने रेडीकलवाद के कारण तो वह एक ऐसे समाज की कल्पना करेगा जिसमें बल के ऊपर आधारित राज्य समाप्त हो जायेगा। परन्तु उसका विकास एक भिन्न स्थिति की मांग करता है; विकास का लक्ष्य सम्पूर्ण के अंगों का अधिक एकीकरण होना है। विकास के सिद्धान्त पर उसने जो समाजशास्त्रीय ढाँचा खड़ा किया है वह अपूर्ण, संगतिहीन और भ्रमपूर्ण है।

स्पेन्सर के राजनीतिक विचार— उसके विकास के सिद्धान्त तथा सामाजिक सावयव की धारणा के अतिरिक्त उसके दर्शन में राजनीतिक विचार के विद्यार्थी के लिए दिलचस्पी का विषय है उसका अपने समय की समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण विशेष रूप से, व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध तथा राज्य के कार्य-क्षेत्र के विषय में उसके विचार। जहाँ तक कि इन समस्याओं का सम्बन्ध है बावजूद अपने विकास-वाद और सामाजिक सावयव की धारणा के वह जीवनपर्यन्त एक व्यक्तिवादी बना

रहा। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं स्पेन्सर को रेडीकलवाद अर्थात् व्यक्ति-स्वातंत्र्य का प्रेम तथा शक्ति के प्रति उपेक्षा भाव उत्तराधिकार में अपने पूर्वजों से मिला था जोकि पीढ़ियों से धार्मिक विद्रोह करते चले आ रहे थे। हॉगसकिन के साथ निकट सम्बन्ध ने और प्राकृतिक अधिकारों में विश्वास ने इस अन्तःप्रवृत्ति को और अधिक तीव्र कर दिया। जीवन संघर्ष में योग्यतम की विजय के सिद्धान्त ने राज्य-विरोधी प्रवृत्ति को और सम्बल दिया।

स्पेन्सर के राजनीतिक दर्शन का आधार उसकी यह धारणा है कि मनुष्य एक अलग-थलग और असम्बद्ध व्यक्ति है। हॉब्स की भांति स्पेन्सर मनुष्य को एक एकान्तवादी प्राणी समझता है, सामाजिक नहीं, जिसका उद्देश्य अपना निजी कल्याण अथवा सुख है। राज्य ऐसे ही एकान्तवादी और असम्बद्ध व्यक्तियों का समूह है (बावजूद अपने सावयवी स्वरूप के) इसलिये राज्य की विशेषतायें भी वैसी ही होती हैं जैसी कि उसके घटक व्यक्तियों की। यदि हम व्यक्ति पर बाहर की ओर से देखते हैं तो हम उसे अपनी अन्तर्हित शक्तियों के विकास तथा अपने को पर्यावरण में अनुकूल बनाने के लिये स्वतन्त्रता की मांग करते हुये पाते हैं। यदि हम उसका अध्ययन अन्दर से करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें एक ऐसी न्याय भावना होती है जोकि इस बात की मांग करती है कि जो स्वतन्त्रता स्वयं वह अपने लिये चाहता है वह दूसरों को भी प्राप्त होनी चाहिये। इसी भावना के कारण व्यक्ति दूसरों के साथ अपना सामंजस्य स्थापित कर पाता है। इस प्रकार राज्य व्यक्तियों का एक समूह है जोकि अपनी अन्तर्हित शक्तियों के विकास और प्रयोग के लिये आवश्यक स्वतन्त्रता की मांग करते हैं। प्रत्येक की स्वतन्त्रता दूसरों की समान स्वतन्त्रता से सीमित होती है। इसलिये स्वतन्त्रता के लिये ही सरकार का जन्म हुआ है और वही उसका मापदण्ड है। इस बात में स्पेन्सर बेन्थम और मिल के बहुत निकट है और उन्हीं की भांति वह एक व्यक्तिवादी है। परन्तु उसमें और उनमें एक भेद है जिसके कारण वह उनकी अपेक्षा अधिक व्यक्तिवादी है। स्पेन्सर के लिये स्वतन्त्रता एक प्राकृतिक अधिकार है। इतना ही नहीं, वह एक सर्वोच्च प्राकृतिक अधिकार है जिसमें अन्य सब प्राकृतिक अधिकार उत्पन्न होते हैं और जिससे वे हीन होते हैं। इस प्रकार स्पेन्सर ने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को फिर से जीवित कर दिया जिसे कि उपयोगितावादियों ने प्रायः लुप्त कर दिया था। प्राकृतिक अधिकार स्पेन्सर के विचार का हृदय है; उसका 'Principles of Sociology' जोकि सामाजिक सावयव की धारणा से आरम्भ होता है, उसका अन्त प्राकृतिक अधिकारों में होता है, और उसके 'Man Versus the State' का आदि और अन्त भी उनके साथ होता है। किन्तु उन्हें सिद्ध करने को उसका प्रयास अत्यन्त अधूरा और असन्तोषजनक है। वह इस सिद्धान्त को 'Naturrecht' के जर्मन सिद्धान्त से सम्बन्धित करता है जोकि जर्मन विधिशास्त्र का आधार है, और कहता है कि जो जर्मनी जैसे उच्च दार्शनिक देश में प्रचलित है वह अवश्य ही ज्ञानपूर्ण होना चाहिये।

स्पष्ट है कि एक सिद्धान्त का किसी देश में व्यापक प्रचलन उसकी सत्यता का पर्याप्त प्रमाण नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त जर्मन शब्द 'Naturrecht' का अर्थ प्राकृतिक अधिकार नहीं होता। इस बात को, कि मानव अधिकार राज्य या समाज द्वारा नहीं बनाये जाते, बल्कि वे उससे स्वतन्त्र और उससे पहिले ही से वर्तमान हैं इस बात से सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि अन्य जातियों का आचरण प्रथाओं द्वारा विनियमित होता है जो कि प्राकृतिक अधिकारों पर आधारित होती हैं। परन्तु इस युक्ति से कुछ सिद्ध नहीं होता। यदि हम तर्क के लिये यह मान भी लें कि अधिकार प्रथाओं की सृष्टि है, तो भी उससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनका अस्तित्व समाज से स्वतन्त्र है; प्रथायें स्वयं सामाजिक सृष्टि है। अपने 'Man Versus the State' में स्पेन्सर प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को जीवन के विज्ञान में से निगमित करने का प्रयत्न करता है। वह कहता है कि यदि व्यक्ति को जीवित रहना है और अच्छी तरह जीवित रहना है तो उसे कार्य करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये जोकि उसे जीवित रखने के लिये आवश्यक हो। इन कार्यों के लिये उसके दावे और स्वतन्त्रतायें उसके प्राकृतिक अधिकार हैं। इस तर्क के अनुसार तो सिंहों, गउओं तथा सर्पों के भी अपने-अपने प्राकृतिक अधिकार होंगे। इस आपत्ति के अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि व्यक्ति जिन स्वतन्त्रताओं को अपने आत्म-विकास के लिये आवश्यक समझता है वे अधिकारों का रूप तभी ग्रहण कर सकती हैं जबकि समाज उन्हें स्वीकार कर लेता है। राजनीतिक विचार में यदि प्राकृतिक अधिकारों की धारणा को गम्भीरतापूर्वक फिर से प्रतिष्ठित करना है तो हमें उनके पक्ष में उससे अधिक मान्य युक्तियाँ देनी होंगी जोकि स्पेन्सर ने दी हैं। प्राकृतिक अधिकारों को केवल उसी अर्थ में स्वीकार किया जा सकता है जोकि ग्रीन ने उसे दिया है।

स्पेन्सर के प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त की चर्चा करने से कुछ विषयान्तर हो गया था; इसे छोड़कर हम अब फिर उसके राज्य तथा व्यक्ति से सम्बन्धित विचारों पर आते हैं। राज्य के कार्य-क्षेत्र के उसके सिद्धान्त के विषय में हम यह कह सकते हैं कि वह विकास के सिद्धान्त में लैसे-फेयर का बड़ा पक्का समर्थन पाता है। उसके मतानुसार विकास का स्पष्टतम तथ्य व्यक्तियों में जीवन के लिए चलने वाला संघर्ष है। इस संघर्ष में शक्तिशाली तथा योग्य विजयी होते हैं और निर्बल तथा अयोग्य विफल होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। राज्य या समाज को इस संघर्ष को रोकने या कमजोर की सबल से रक्षा करने के लिए कुछ नहीं करना चाहिये। यदि राज्य निर्बलों की हिमायत करने के लिये हस्तक्षेप करे तो इस मूर्खता का परिणाम यह होगा कि संसार अयोग्य और निर्बल व्यक्तियों से भर जायेगा जो सम्पूर्ण समाज के लिये हानिकारक होगा। विकास के अपना स्वाभाविक मार्ग ग्रहण करने के लिये और उसके फलस्वरूप व्यक्ति तथा पर्यावरण में पूर्ण सामंजस्य स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है कि राज्य मानव विषयों से, जहाँ तक हो सके, अपने को दूर रखे। उसका कार्य केवल समाज के घटकों को संगठित

रखना और उनके ऐसे आचरण को रोकना है जिससे राज्य के अस्तित्व को कोई खतरा हो सकता हो। इस कार्य से आगे उसे नहीं जाना चाहिये। 'क्योंकि राज्य को यदि रक्षक समझा जाये, तो हम पाते हैं कि ज्योंही वह रक्षा करने से अधिक कुछ करता है तो वह आक्रान्ता बन जाता है, और यदि उसे अनुकूलीकरण का सहायक समझा जाये तो हम पाते हैं कि जब भी वह सामाजिक संघटन को बनाये रखने से अधिक कुछ करता है तो उससे अनुकूलीकरण की प्रक्रिया रुक जाती है।' वे भावनायें जोकि सामाजिक सामंजस्य के मार्ग में बाधक होती हैं और व्यक्तियों में परस्पर विरोध उत्पन्न करनी हैं उन्हें एक कृत्रिम शक्ति द्वारा रोका जाना चाहिये और वह शक्ति राज्य है। परन्तु राज्य नागरिकों में वह चरित्र-निर्माण नहीं कर सकता जोकि सामाजिक संतुलन स्वत: बना देता है। इसका निर्माण तो स्वयं विकास की प्रक्रिया द्वारा ही हो सकता है। स्पेन्सर के मतानुसार राज्य का कार्य नकारात्मक रूप से विनियमित करने वाला है। वह लिखता है : 'समाज की औद्योगिक अवस्था में, जिसमें कि हम प्रवेश कर चुके हैं, सरकार का कार्य नकारात्मक रूप से विनियामक है। सरकार को उन बुराइयों का तो प्रतिकार करना चाहिये जोकि घटित हो गई हैं, किन्तु उन्हें होने से रोकने के लिये उसे प्राकृतिक अधिकारों और संविदा की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।' इस प्रकार स्पेन्सर सरकार को स्कूल और कालिज खोलने, गरीबों की सहायता करने, सफ़ाई का प्रबन्ध करने, कल कारखानों के लिए कानून बनाने इत्यादि कार्य करने की अनुमति नहीं देगा। यहाँ तक कि वह राज्य द्वारा नियन्त्रित मुद्रा प्रणाली और राज्य द्वारा संचालित संवादवाहन की व्यवस्था पर भी आपत्ति करता था। वह सरकार को केवल दो कार्य सौंप सकता था : एक तो संविदाओं को मनवाना, और दूसरे राज्य-सुरक्षा कायम रखना। बार्कर के शब्दों में :

"इस प्रकार स्पेन्सर ने राज्य के कार्यों का जो विवरण दिया है वह मुख्यतया इस बात का विवरण है कि राज्य को क्या नहीं करना चाहिये। उसे उद्योग को विनियमित नहीं करना चाहिये ; उसे राजकीय चर्च की स्थापना नहीं करनी चाहिए; उसे दूसरे देशों पर आधिपत्य नहीं जमाना चाहिए, उसे गरीबों की सहायता नहीं करनी चाहिए और जनता के स्वास्थ्य का प्रबन्ध नहीं करना चाहिए।"

एक चीज जो वह राज्य से कानून द्वारा रुकवाना चाहता था, वह थी इंजिनों की सीटी बजाना, क्योंकि उससे उसकी नींद में विघ्न पड़ता था, और वह अनिद्रा रोग का शिकार था।

उपरोक्त कथन से ऐसा दिखाई पड़ सकता है कि जीवन के लिए संघर्ष की विकासवादी प्रक्रिया में संवेदना, दानशीलता, दया भाव, तथा प्रेम के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता। विकास की प्रक्रिया एक हृदयहीन ढंग में चलती है, इसका कानून कठोर और न झुकने वाला है। संघर्ष में निर्बल का अन्त हो जाना चाहिए जिससे कि सबल सम्पन्न बन सकें। परन्तु इससे हमें यह परिणाम नहीं निकालना चाहिए कि स्पेन्सर जीवन में प्रेम और सहानुभूति को कोई स्थान नहीं देता। उसमें

भी कोमल भाव हैं और वह यह मानता है कि मनुष्य जंगल के कानून से ही नहीं रह सकता। वह यह तो स्वीकार करता है कि उपरोक्त गुणों का पारिवारिक तथा व्यक्तिगत जीवन में स्थान होता है, किन्तु वह इससे इन्कार करता है कि राज्य भी इन सद्गुणों को व्यवहार में ला सकता है। समाज का कार्य सबल को पुरस्कृत करना है, निर्बल की रक्षा करने का कार्य परिवार का है। बुद्धि-संगत दान देने और लेने वाले, दोनों के लिये ही अच्छा है। देने वाले के लिये तो यह इसलिये अच्छा है क्योंकि उसे यह आत्मानुशासन और आत्म-संयम सिखाता है जोकि प्राकृतिक चुनाव में सहायक होते हैं और लेने के लिये यह इस कारण अच्छा है क्योंकि कभी-कभी शक्तिशाली भी संकट में फँस जाते हैं। इसलिये स्पेन्सर हमें परमार्थ का मार्ग ग्रहण करने का उपदेश करता है। परमार्थवाद के दो रूप होंगे। दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप न करना नकारात्मक परमार्थवाद है। हाँ, निर्बल की सहायता करने के लिये राज्य-शक्ति का प्रयोग करने को वह अवांछनीय समझता है; उससे प्राकृतिक चुनाव रुद्ध हो जाता है।

हमें यह नहीं समझ लेना चाहिये कि राज्य के प्रति स्पेन्सर की विरोधी भावना उसके विकासवाद के कारण थी; विकासवाद ने तो उसके व्यक्तिवाद को केवल और दृढ़ कर दिया जिसका मूल अन्यत्र है— वह है उसके स्वाभाविक स्वतन्त्रता-प्रेम में और शक्ति के प्रति अपेक्षा भाव में। अपने 'Man Versus the State' में स्पेन्सर ने सरकार की मूर्खता, बेईमानी और लालफीताशाही के बारे में बहुत कुछ लिखा है और अपने 'The Sins of the Legislators' नामक निबन्ध में वह अदीक्षित विधायकों के कुकृत्यों का उल्लेख करता है, और इस परिणाम पर पहुँचता है कि क्योंकि उन्होंने अतीत में बहुत बड़ी भूलें की हैं, इसलिये भविष्य में भी कुछ अच्छा करने का भरोसा उन पर नहीं किया जा सकता। स्पष्टत: यह तो एक बहुत ही बोदी युक्ति है कि क्योंकि सरकार एक दिशा में विफल रही है इसलिये वह दूसरी दिशाओं में भी अवश्य ही विफल रहेगी। इसका अर्थ तो यह होगा कि यदि किसी व्यक्ति को अपना आचरण ठीक रखना है तो उसे कुछ करना ही नहीं चाहिये। परन्तु राज्य के विरुद्ध उसे जो शिकायत है उसमें सत्य का कुछ अंश अवश्य है।

"कोई भी व्यक्ति स्पेन्सर का अध्ययन एक ऐसा सबक सीखे हुए बिना नहीं कर सकता जिसे सीखना श्रेयस्कर है। वह सबक यह है कि राज्य आखिरकार अपने कर्मचारियों की सीमित बुद्धि द्वारा ही कार्य करता है। हम उससे अधिक की आशा नहीं करते जितनी कि हम उतनी सीमित बुद्धि से कर सकते हैं।"*

* "No one can read Spencer without learning a lesson which it is good to learn, that the State after all only acts through the finite intelligence of its officials. We must not expect more from it than we expect from our equally finite intelligence." —Barker : *op. ct.*, page 97.

परन्तु दुर्भाग्यवश स्पेन्सर यहीं नहीं रुकता ; वह इससे आगे बढ़ता है और यह कहता है कि सरकारी कर्मचारियों की अपेक्षा व्यक्ति की बुद्धि से हम अधिक आशा कर सकते हैं। उसका विश्वास व्यक्ति में है। राज्य के प्रति उसका जो विरोध है उसका मूल उसके व्यक्ति के विश्वास में है। अपने अराजक व्यक्तिवाद के कारण ही उसने संसद की प्रभुता की निम्नलिखित शब्दों में भर्त्सना की है : "भूत काल में एक बड़ा राजनीतिक अन्धविश्वास था राजाओं का दैविक अधिकार। आज का बड़ा राजनीतिक अन्धविश्वास है संसदों का दैविक अधिकार।" 'Great Political Superstition' नामक अपने निबन्ध का उपसंहार वह यह कहकर करता है कि संसद अपना अधिकार अपने निर्वाचकों से प्राप्त करती है, इसलिये उसकी शक्ति उन सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकती जोकि वे उस पर लगाना चाहें। वह जो कानून बनाती है वे स्वयं में पवित्र नहीं होते ; जो कुछ भी पवित्रता उनमें होती है वह नैतिक बल के कारण होती है। जब वे इस नैतिक बल को खो देते हैं तो उनकी मान्यता भी जाती रहती है और उन्हें चुनौती देना ठीक ही है।

सारांश यह कि स्पेन्सर राज्य द्वारा हमारे सामाजिक और आर्थिक जीवन के विनिमय का विरोध इसलिये करता था क्योंकि उसका विचार था कि उसकी शक्ति व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधक है, बल्कि उसका निषेध है। इसलिये वह राज्य को एक बुराई समझता था, यद्यपि वह उसे एक आवश्यक बुराई मानता था जिसे हमें तब तक सहन करना है जब तक कि विकास के फलस्वरूप व्यक्ति और सामाजिक सावयव में संतुलन स्थापित न हो जाये, और वे विशेषतायें जोकि हमारे वर्तमान राजनीतिक और सामाजिक जीवन को दूषित करती हैं, लुप्त न हो जायें। जब मनुष्य सममुच सामाजिक और पूर्ण रूप से सभ्य हो जायेंगे तो राज्य का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। यदि मनुष्य राज्य को एक ऐच्छिक संस्था समझने लगें जिसकी अवहेलना की जा सकती है जैसे कि कुछ ईसाई रोमन कैथोलिक चर्च की अवहेलना करते हैं, तो यह राज्य के अन्त की ओर पहिला कदम होगा।

स्पेन्सर का मूल्यांकन— स्पेन्सर के दर्शन की उपरोक्त समीक्षा से स्पष्ट है कि वह असंगतियों और प्रवंचनाओं से भरा हुआ है। इसका कारण यह है कि उसके राजनीतिक दर्शन में दो भिन्न और परस्पर संगतिबद्ध न होने वाली प्रणालियाँ पाई जाती हैं। एक ओर तो वह उग्रतम व्यक्तिवाद का समर्थक है। वह अलग-अलग और असम्बद्ध व्यक्ति से प्रारम्भ करता है और राज्य से उसकी रक्षा करने के लिये बहुत उत्सुक है। वह व्यक्ति और राज्य में विरोध देखता है। वह राज्य और सरकार को बुरा समझता है, और आशा करता है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ उनका भी ह्रास होता जायेगा। प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त में विश्वास करने के कारण वह राज्य को संविदा का परिणाम समझता है, यद्यपि वह स्पष्ट रूप से कहीं भी संविदा सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता तथापि उसकी व्यक्ति-वादी प्रणाली में संविदा सिद्धान्त निहित ही है। दूसरी ओर, इसके विपरीत, विकास

सिद्धान्त का समर्थक होने के कारण वह सामाजिक सावयव के सिद्धान्त का उपदेश देता है और यह विश्वास प्रकट करता है कि संविधानों का निर्माण नहीं होता, उनका विकास होता है। एक विकासवादी समाजशास्त्री होने के नाते वह इस बात को मानने के लिये बाध्य है कि सामाजिक विकास की प्रवृत्ति एक आदिकालीन अराजक व्यक्तिवाद को छोड़कर एक पूर्ण साम्यवाद की एकता की ओर जाने की है; परन्तु एक ही प्रणाली में इन दो परस्पर विरोधी धारणाओं को संयुक्त कर देना असम्भव है। फलतः स्पेन्सर की प्रणाली असंगतियों और प्रवंचनाओं से भर गई। सामाजिक सावयव के सिद्धान्त के अधिवक्ता के लिये यह कहना कितना विलक्षण है कि समाज व्यक्तियों का योग है और उसका हित (घटकों से अलग) अभीष्ट साध्य नहीं है, और व्यक्तियों का हित ही साध्य है। स्पेन्सर ने इन दो परस्पर-विरोधी विचारों को संयुक्त करने का घोर प्रयास किया, किन्तु वह असम्भव को सम्भव नहीं बना सका।

स्पेन्सर के राजनीतिक दर्शन की असंगतियों और दोषों पर अधिक जोर देना उपयोगी न होगा; इससे अच्छा तो यह होगा कि हम उसकी उस देन को देखें जोकि उसने उन्नीसवीं शताब्दी के विज्ञान और दर्शन को दी है। मैक्सी ने उसे विक्टोरियन इंगलैंड और विक्टोरियन अमरीका का अरस्तू कहा है। उसका ज्ञान अत्यन्त विस्तृत था; उसने अपनी प्रणाली में आचारशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र, धर्मशास्त्र, प्राणीशास्त्र तथा प्राकृतिक विज्ञान को सम्मिलित कर लिया। विकासवादी सिद्धान्त की सहायता से उसने आचारशास्त्र तथा मनोविज्ञान में परस्पर विरोधी विचारधाराओं में सामंजस्य करने का प्रयास किया है। राजनीतिक विचार के क्षेत्र में उसे बढ़ते हुए समष्टिवाद के युग में व्यक्ति तथा उसकी स्वतन्त्रता के एक जोरदार समर्थक का उच्च स्थान प्राप्त है। उसका बुद्धि-विरोधी विकासवाद कॉम्टे के वैज्ञानिक अधिकारवाद के लिये एक पूर्ण उतार सिद्ध हुआ। स्वतन्त्र उद्योग के समर्थकों को आज के युग में जबकि राज्य अत्यन्त शक्तिशाली होता जा रहा है अपने विचारों की पुष्टि में स्पेन्सर में बहुत कुछ मिलेगा।

सहायक पुस्तकों की भूमि

Barker :	*Political Thought in England*. Chapter IV.
Brinton :	*English Political Thought in the Nineteenth Century*.
Hearnshaw :	*Social and Political Ideas of the Thinkers of the Victorian Age*, Chapter III
Maxey :	*Political Philosophies*.
Murray :	*Social and Political Ideas of the Nineteenth Century*.

वैज्ञानिक विचारधारा (पिछला शेष) ६

मनोवैज्ञानिक विचारधारा

(१) वालटर बेजहॉट (Walter Bagehot)

परिचयात्मक— गत विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जो बात हरबर्ट स्पेन्सर को राजनीतिक विचार के विकास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करती है वह है उसका प्राकृतिक विज्ञान को सामाजिक तथा नैतिक समस्याओं पर लागू करना। परन्तु इससे प्रवंचना उत्पन्न हुई और उसकी विचारधारा में असंगतियाँ आ गईं, इससे कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये। प्राणीशास्त्र और राजनीतिशास्त्र को सरलता से एक जगह नहीं जोड़ा जा सकता; दोनों के बीच एक चौड़ी खाई है और उसे पाटा नहीं जा सकता। प्रकृति-जगत् की जीवन-प्रक्रिया और मानव-समाज की नैतिक प्रक्रिया में आधारभूत अन्तर है जिसके कारण प्राणीशास्त्रीय जगत का प्राकृतिक चुनाव का कानून मानव-जगत के ऊपर लागू नहीं हो सकता। मनुष्य एक नैतिक प्राणी है, इसलिए उसका शुभ नैतिक शुभ होना चाहिए। इसलिए मनुष्य के विकास का मापदण्ड उसके नैतिक गुणों का विकास होना चाहिये। किन्तु प्राकृतिक चुनाव में सदाचार का कोई स्थान नहीं हो सकता; प्रकृति नैतिकता नहीं जानती और उसका कोई नैतिक मापदण्ड नहीं होता। वनस्पति और पशु-जगत में जो योग्यतम की विजय होती है, वे योग्यतम इस अर्थ में होते हैं कि वे अपने आपको पर्यावरण के अनुकूल ढाल सकते हैं। परन्तु मानव-जगत में जीवन संघर्ष में जिनकी विजय होती है वे नैतिक दृष्टि से योग्यतम होते हैं। इसलिए आचारशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र के प्रति प्राणीशास्त्रीय दृष्टिकोण से काम नहीं चल सकता। इस दृष्टिकोण के आधारभूत दोष को बार्कर के निम्नलिखित शब्दों से अधिक सुन्दर भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता :

"उसके (प्रकृति के) योग्यतम का मापदण्ड कोई निरपेक्ष मूल्य नहीं है, बल्कि पर्यावरण से अनुकूलीकरण का सापेक्षिक मापदण्ड है और यदि मानव-जीवन की स्थितियाँ निकृष्ट हैं तो प्रकृति के योग्यतम भी मानव-जीवन के मूल्यों के किसी भी मापदण्ड से निकृष्ट ही होंगे ......। उसके (प्रकृति के) कानून निर्दय तथ्यों के सरल कथन हैं; उसके अधिकार पाशविक शक्तियाँ मात्र हैं। इस क्षेत्र से स्वतन्त्रता अथवा समता के नैतिक अधिकारों का प्रवेश करना निरर्थक है।"*

* "Her (nature's) fittest are measured by no canons of absolute worth, but by the relative canon of adaptation to conditions ; and nature's fittest will be low in any scale of human values if the conditions prevalent

इसलिये राजनीति के प्रति प्राणीशास्त्रीय दृष्टिकोण में बहुत संशोधन करना पड़ा और अन्त में उसका परित्याग करना पड़ा। डार्विन ने अपना जीवन प्राकृतिक विज्ञान में लगाया और सामाजिक दर्शन के क्षेत्र में परिश्रम नहीं किया। हक्सले में भी प्राकृतिक विज्ञान और सामाजिक दर्शन में विभेद रखा गया है। वह कहता है कि प्राकृतिक व्यवस्था में मानव जाति के कल्याण की प्रवृत्ति नहीं होती; प्रकृति 'सदाचार की पाठशाला नहीं है, बल्कि वह नैतिक स्वभाव के शत्रु का मुख्य निवास स्थान है।' यह कहना गलत न होगा कि आचारशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में प्राणीशास्त्र के नियमों को प्रविष्ट कर देने से उनका कोई हित न होगा। उनके लिये मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण अधिक सहायक हो सकता है, क्योंकि समाज और राज्य मन की सृष्टि हैं। आधुनिक काल में समाजिक समस्याओं के निराकरण के लिये मनोविज्ञान को प्रयोग करने का श्रेय वाल्टर बेजहॉट को है। जबसे उसने 'Physics and Politics' नामक पुस्तक लिखी तभी से 'राजनीतिक सिद्धान्तवेत्ता सामाजिक मनोविज्ञानवेत्ता हो गये हैं; समूह जीवन पर विचार करते समय वे यह मान कर चलते हैं कि ये तथ्य समूह-चेतना के तथ्य हैं, और उनकी समस्या उन तथ्यों का उस पद्धति द्वारा वर्णन और व्याख्या करना है जोकि प्राकृतिक विज्ञान पदार्थ के तथ्यों का वर्णन और व्याख्या करने में करना है। उसका ग्रन्थ वास्तव में मनोवैज्ञानिक पद्धति का आरम्भ है।' बेजहॉट ने जिस मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का सूत्रपात किया वह राजनैतिक व्यवहार का अध्ययन करने में जहाँ तक प्राकृतिक विज्ञान की पद्धति अपनाता है वहाँ तक उसे वैज्ञानिक विचारधारा की ही एक शाखा समझा जा सकता है। अब हम इसी पर आते हैं।

बेजहॉट का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण :— हमें यह नहीं समझ बैठना चाहिये कि राजनीतिक समस्याओं के समाधान में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को बेजहॉट से पहिले किसी ने अपनाया ही नहीं। मानव स्वभाव के विषय में कुछ मान्यतायें तो प्रत्येक राजनीतिक दर्शन के मूल में होती ही हैं। अफलातून की दार्शनिक-राजा की धारणा उसकी मानव प्रकृति के विषय में मान्यताओं का तार्किक परिणाम है। मैकियावेली का सारा राजनीतिक सिद्धान्त उसकी इस धारणा पर आधारित है कि मनुष्य पूर्णरूपेण बुरा और अहंकारवादी है। हॉब्स, लॉक तथा रूसो के सिद्धान्त उसकी मानव स्वभाव के विषय में भिन्न धारणाओं पर आधारित हैं। उपयोगितावाद इस मान्यता पर आधारित है कि मनुष्य पूर्णरूपेण बुद्धिवादी है और उसका प्रत्येक कार्य सुख प्राप्त करने की इच्छा और दुख से बचने की कामना से प्रेरित होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भूतकाल से प्रत्येक सामाजिक विचारक ने मानव के स्वभाव तथा उसकी शक्तियों के विषय में कुछ मान्यतायें अपने सामने रखी हैं। बेजहॉट की

---

are low conditions................. Her (nature's) laws are simple statements of cruel facts : her rights are simply brutal powers. To import moral rights of freedom or equality into this sphere is meaningless.

—Barker : *Political Thought in England*, page 134.

नवीनता यह है कि उसने इन मान्यताओं को अलग करके उन्हें अध्ययन और विश्लेषण का विषय बनाया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वेजहॉट मैक्डूगल अथवा रॉम की भांति एक वैज्ञानिक वेत्ता था, या उसने मानव प्रेरणाओं का कोई विशेष अध्ययन किया है और यह दिखलाया है कि वे मानव चरित्र को किस प्रकार प्रभावित करती हैं। अभिप्राय केवल यह है कि उसने उन मनोवैज्ञानिक तथ्यों को प्रकट किया जिन के बिना प्रागैतिहासिक काल से आरम्भिक काल और आरम्भिक काल से आधुनिक काल तक के समाज के विकास की समुचित व्याख्या नहीं की जा सकती। जिस समस्या का समाधान करने का उसने प्रयास किया वह यह थी : "यदि हम प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्त की सत्यता को स्वीकार कर लें तो प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जीवन संघर्ष के पाशविक स्तर के सामाजिक संगठन और सहयोग के मानवीय स्तर तक यह महान् आवर्त्तन किस प्रकार हुआ? वेजहॉट के लिये यह आवर्त्तन की समस्या आधारभूत थी, और मानव जाति के सम्पूर्ण विकास को समझने की कुँजी भी।"* इस प्रकार उसका 'Physics and Politics' (हर्नशा के शब्दों में) : "उस जमाने में प्रचलित विकास सिद्धान्त पर एक समाजशास्त्रीय फुटनोट था।" क्योंकि यह हमारा ध्यान उन मनोवैज्ञानिक कारकों की ओर आकृष्ट करता है जोकि सामाजिक विकास में आदिम पशु स्तर से आधुनिक मानव स्तर पर आवर्त्तन में सहायक रहे हैं, इसलिये इस पुस्तक को जैसा कि बार्कर कहता है, 'Psychics and Politics' अथवा 'Psychology and Politics' कहना अधिक युक्तिसंगत होगा। 'Physics and Politics' नाम गलत है ; इससे उसके विषय का स्पष्ट आभास नहीं मिलता। बेजहॉट की मुख्य देन मनोवैज्ञानिक है, प्राणीशास्त्रीय नहीं।

इस प्रश्न के उत्तर देने में वेजहॉट ने मानव स्वभाव की उन बुद्धि-विरोधी और उप-बुद्धिमय शक्तियों को हमारे सामने रखा जोकि उसे युग-युगान्तरों से चली आई विकास की प्रक्रिया से विरासत में मिली हैं। निस्संदेह उसका उत्तर उस सीमित ज्ञान से प्रभावित था जोकि उस समय प्राप्त था और जिसका उसने पूरा प्रयोग किया, किन्तु वह अत्यन्त मौलिक है। उसकी विचार-पद्धति को बहुत से आधुनिक समाज-रचना-शास्त्रियों और सामाजिक मनोविज्ञान-शास्त्रियों ने अपनाया है जो कि इसके अधिक पूर्ण उत्तर के लिये सामग्री एकत्रित कर रहे हैं। इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि वेजहॉट का 'Physics and Politics' सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में अनुसंधान करने के लिये एक 'प्रॉस्पैक्टस' का कार्य करता है। यह याद रखना भी लाभप्रद होगा कि स्पेन्सर के विपरीत, जिसने यह सिखाया था कि प्रक्रिया का

* "Assuming the truth of the doctrine of natural selection, how are we to account for the momentous *transition* from the brute level of the struggle for existence to the human level of social organisation and co-operation ? To Bagehot this *transition* problem was the essential one, and the key to all subsequent development of the human race." —Hearnshaw : *op. ct.*, page 202.

अवसान एक पूर्णरूप से विकसित समाज में होगा और जिसने आदर्श समाज में आचरण के नियमों को निर्धारित करने का प्रयास किया था, बेजहॉट की धारणा यह थी कि सामाजिक विज्ञान का कार्य एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था की रचना करना नहीं है बल्कि प्रस्तुत सामाजिक संस्थाओं को समझना है और उन प्राकृतिक शक्तियों का अध्ययन करना है जोकि प्रस्तुत समाजों के विकास के रूप को निर्धारित करती हैं।

भौतिक-शास्त्र तथा राजनीतिक-शास्त्र—अब हम उस उत्तर पर आते हैं जो कि बेजहॉट ने इस प्रश्न का दिया है कि मनुष्य पशु अवस्था से सामाजिक अवस्था पर किस प्रकार आया है। प्रागऐतिहासिक से ऐतिहासिक मनुष्य तक आवर्त्तन की कहानी तो हम छोड़ सकते हैं। हम अपनी समीक्षा का आरम्भ सभ्यता की प्रथम अवस्था से ही करेंगे। इस प्रसंग में प्रथम तथा महत्त्वपूर्ण बात ध्यान में रखने की यह है कि सामाजिक विकास को व्यक्ति के विकास ने सम्भव बनाया है, और व्यक्ति का विकास इस कारण होता है क्योंकि मस्तिष्क 'एक विलक्षण ढंग से हमारे स्नायुओं पर कार्य करता है और हमारे स्नायु उतने ही विलक्षण ढंग से परिणामों को संचित कर लेते हैं और किसी प्रकार उसके परिणाम सामान्यतः हमारी संतति में संक्रान्त हो जाते हैं।' दूसरे शब्दों में समाज का विकास होता है क्योंकि व्यक्ति का विकास होता है, और व्यक्ति का विकास होता है क्योंकि उसके अनुभव किसी प्रकार हमारे मस्तिष्क के स्नायु तंतुओं में संचित हो जाते हैं और वंशानुक्रमण द्वारा हमारी सन्तति पर पहुँच जाते हैं। इससे लैमार्क के इस सिद्धान्त का समर्थन होता है कि संचित आदतें और स्वभाव वंशानुक्रमण द्वारा संक्रान्त हो जाते हैं जिसे स्पेन्सर ने स्वीकार किया था, किन्तु डार्विन ने इन्कार किया था। इस सिद्धान्त के लिये बेजहॉट, उसके समय में प्राणी-शास्त्र ने जो प्रगति की थी, उसका बड़ा ऋणी था। इस प्रगति के कारण वह उन्नति को एक दृष्टिकोण से देख सका। प्रगति इस बात से सम्भव होती है कि व्यक्तियों में सचेतन प्रयत्न द्वारा उन गुणों को प्राप्त करने जोकि उनमें पहिले नहीं थे और उन्हें अपनी संतति को संक्रान्त करने की सामर्थ्य होती है। प्रत्येक पीढ़ी अपनी पहली पीढ़ी से जो विरासत प्राप्त करती है उसका विश्लेषण करते हुये बेजहॉट ने देखा कि वह आंशिक रूप से भौतिक और आंशिक रूप से मनोवैज्ञानिक होती है। भौतिक भाग में वे परावर्त्तन होते हैं जोकि स्नायु तन्तुओं, हमारे परावर्त्त-नीय तथा स्वतः कार्यों, हमारे भावों और भावनाओं में अंकित हो जाते हैं। मनो-वैज्ञानिक भाग में प्रथायें और परम्परायें होती हैं जिनके बीच में हमारा विकास होता है और जो हमारे कार्यों को बहुत प्रभावित करते हैं। बेजहॉट ने इन दोनों भागों के परस्पर सम्बन्ध की व्याख्या करने और यह समझाने का प्रयास किया कि मनुष्य स्वयं अपने लिये परम्परा का निर्माण किस प्रकार करता है। उसने देखा कि आधुनिक राष्ट्रों के निर्माण में परम्परा का मुख्य हाथ होता है; हाँ, वादविवाद उसकी पूर्ति करता है।

इस प्रक्रिया में जिसके द्वारा आज के सामाजीकृत मनुष्य का आदिम काल से आविर्भाव हुआ है बेजहॉट तीन अलग-अलग अवस्थायें बतलाता है। समाजहीन प्रथम अवस्था में मनुष्य शक्तिशाली भावनाओं का प्राणी था; उसके पास न कोई परम्परा थी, न कोई सामान्य ज्ञान और न दूरदर्शिता। उसका जीवन ऐसा था जैसा कि हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्था में भी बताया है। परन्तु इस काल मे मनुष्य को एक अचेतन शिक्षा मिली जिसने उसके स्वभाव में गहरा संशोधन किया। इसके फलस्वरूप उसके जीवन में कुछ एकबद्धता आई; मनुष्य रक्त के आधार पर तथा एक प्रकार के नेतृत्व के अधीन समूहों में संगठित होने लगे। सामाजिक विकास की प्रक्रिया में यह दूसरी अवस्था थी। इसका आविर्भाव किस प्रकार हुआ, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है। बेजहॉट इसे प्राकृतिक चुनाव की क्रिया का परिणाम मानता है। सगोत्रता का सिद्धान्त सामाजिक जीवन में बहुत पहले से ही क्रियान्वित होना आरम्भ हो जाता है; एक ही पूर्वज की संतति भिन्न-भिन्न पूर्वजों की संतति की अपेक्षा अधिक सरलता से संगठित हो जाती है और समूह बना कर रहने लगती है। इस प्रकार समूहों का निर्माण होता है। प्रतिद्वन्द्वी समूहों के बीच में चलने वाले संघर्ष में उन समूहों को जोकि अधिक संगठित और अनुशासित होते हैं उन समूहों की अपेक्षा लाभ रहता है, जिसमें कि इन गुणों का अभाव रहता है; वे जीवित रह जाते हैं और अपने गुणों को अपनी संतति को दे जाते हैं। इस प्रकार संगठित राजनैतिक जीवन का उदय होता है और सामाजिक विकास की दूसरी अवस्था आरम्भ होती है।

संसार में संगठित समूहों के आविर्भाव की यह कोई समुचित व्याख्या नहीं है; इसका अभिप्राय तो केवल यह है कि उनका जन्म विकास की प्रक्रिया में और प्राकृतिक चुनाव की क्रिया के कारण होता है किन्तु इसमें एक गुण है। यह उन दो तत्वों का स्पष्ट रूप से उल्लेख करता है जिनके बिना संगठित समूहों का आविर्भाव असम्भव होता है, जो ये हैं: सगोत्रता तथा नेतृत्व। मनुष्य दूसरी अवस्था के द्वार पर इन दो गुणों को लेकर ही आता है। सगोत्रता के बिना व्यक्तियों को एक समूह में संगठित करने वाला कोई सूत्र ही न होता, अनुशासन बनाये रखने के लिये नेतृत्व के अभाव में कोई सामूहिक दृढ़ता ही नहीं होती। बेजहॉट कहता है कि इन्हीं शक्तियों ने प्रारम्भिक काल में मनुष्यों को एक सूत्र में गूंथ कर उन्हें समूहों के रूप में संगठित किया। आगे चलकर वह उस प्रक्रिया का वर्णन करता है जिसके फलस्वरूप सामाजिक संघटन समाजहीन प्रथमावस्था से स्थिर समाज की दूसरी अवस्था तक, और उससे परिवर्तनशील समाज की तीसरी अवस्था तक विकसित होता है।

प्रथमावस्था में कोई संगठित समाज नहीं होता; लोग इधर-उधर बिखरे हुये परिवारों में रहते हैं। परन्तु शीघ्र ही उन्हें यह ज्ञात हो जाता है कि जीवन संघर्ष में वे परिवार, जो किसी एक मुखिया के प्रति भक्ति के सूत्र में बधे होते हैं उन परिवारों की अपेक्षा अधिक सफल रहते हैं जोकि किसी की आज्ञा मानना नहीं

जानते और अपनी-अपनी चलाते हैं। इस प्रकार समूहों का जन्म हुआ। समूहों के रूप का कोई महत्त्व नहीं; एक समूह के व्यक्ति चाहे एक व्यक्ति के अनुशासन में रहें चाहे अनेक व्यक्तियों के, मूल बात तो यह है कि समूह में अनुशासन कायम रखने वाला कोई न कोई अवश्य होना चाहिये। दूसरे शब्दों में, प्रारम्भिक अवस्था में महत्त्व शासन के गुण नहीं बल्कि उसकी मात्रा का है; समस्या यह होती है कि जनता की आज्ञाकारिता किस प्रकार प्राप्त की जाये। दूसरी बात, जिस पर कि बेजहॉट जोर देता है, यह है कि संघर्ष में वे समूह बचते हैं और उन्नति करते हैं जोकि सबसे अधिक संगठित और अनुशासित होते हैं। वह लिखता है: 'यदि तुम में एक दृढ़ सहयोगी एकता सूत्र नहीं है तो एक ऐसा समाज, जिसमें कि एक ऐसा सूत्र है, तुम्हारे समाज को विजय कर लेगा और मार डालेगा।' इस सहयोगी सूत्र को वह समूह की प्रथा में पाता है। इस प्रकार सामाजिक विकास की दूसरी अवस्था आती है। जिसकी विशेषता यह होती है कि इसमें दृढ़ समूह प्रथायें पाई जाती हैं जिन्हें कठोरता के साथ लागू किया जाता है। जबकि प्रथम अवस्था में समाज की इकाई एक परिवार होता था, दूसरी अवस्था में उसका स्थान समूह ले लेता है। समूह की विशेषता ठोसता (Solidarity) होती है; एक समूह की ठोसता को व्यक्ति की स्वतन्त्रता से अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगता है। इसलिये ऐसी प्रथायें विकसित होने लगती हैं जोकि व्यक्ति के समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल आचरण कराती हैं और समाज को सम्बल पहुँचाती हैं। इस प्रकार प्रथा का निर्माण होता है जोकि व्यक्ति की स्वतन्त्रता को नष्ट कर देती है और सबके मस्तिष्क को एक सामान्य ढर्रे पर ढाल देती है। इस अवस्था में वे समूह सबसे अधिक शक्तिशाली और विजेता होते हैं जिसके घटक सबसे अधिक आज्ञाकारी और अनुशासन-प्रिय होते हैं। एक समूह में एकबद्धता लाने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि उसके घटक एक आचरण करें, एक भाषा बोलें और एक अंश तक एक से ही विचार रक्खें। सारांश यह कि अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में समाज में स्थिरता तथा व्यवस्था कायम रखने का सर्वोत्तम साधन कठोर एवं अधिकार-पूर्ण प्रथा है। बेजहॉट के विचार में प्रथा का बड़ा महत्त्व है। इसके द्वारा 'जीवन के समस्त कार्य एक ही उद्देश्य के लिए और एक ही नियम के अधीन रक्खे जाते हैं।' इसी की सहायता से बेजहॉट राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण की व्याख्या कर पाता है और यही उसे योग्यतम की विजय के सिद्धान्त को सामाजिक विषयों पर ठीक-ठीक लागू करने की कुंजी प्रदान करती है। राष्ट्रीय चरित्र उस समूह का चरित्र ही तो है जिसने कि संघर्ष में दूसरे समूहों को विजय करके अपने अधीन कर लिया है। विजित समूह विजेता समूह के चरित्र (उसकी विजय-शक्ति के कारण) को अपना लेते हैं। प्रभुत्व के लिये प्रतिस्पर्धा करने वाली समूह की अनेक विशेषताओं में उस विशेषता की विजय होती है जोकि समूह के घटकों को अनुशासित करने में सबसे अधिक सफल रहती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि योग्यतम की विजय के सिद्धान्त

की जो व्याख्या वेजहॉट ने की है उसमें उसने चरित्र के उन गुणों पर जोर दिया है जोकि मनुष्य को सहयोग के लिये प्रेरित करते हैं और संघटित समूहों के निर्माण में सहायक होते हैं; शारीरिक सामर्थ्य अथवा पाशविक बल पर वह जोर नहीं देता। इस प्रकार वह इस सिद्धान्त में एक ऐसे तत्त्व का प्रवेश करता है जोकि स्पेन्सर में नहीं पाया जाता।

समूह के घटकों का अपने प्रमुख का पूर्ण रूप से आज्ञाकारी रहना ही समूह को संघटित, शक्तिशाली तथा अनुशासित बनाता है। परन्तु प्रश्न यह खड़ा होता है: घटक अपने प्रमुख के प्रति आज्ञाकारी रहते क्यों हैं? राजनीतिक शक्ति निस्सन्देह आवश्यक है; किन्तु केवल वह अपर्याप्त है। उसके साथ धार्मिक बल और जोड़ना चाहिये। प्रारम्भिक राजनीतिक समुदायों में राजनीतिक शक्ति का भय इतना प्रभावक नहीं होता जितना कि देवताओं के कोप का भय। यह केवल संयोग की ही बात नहीं है कि मानव जाति के विकास की उस अवस्था में राज्य और धर्म का पृथक्करण नहीं था; स्थिरता के लिये दोनों की एकरूपता आवश्यक थी। वेजहॉट लिखता है:

"उस आज्ञाकारिता को प्राप्त करने की प्रथम शर्त यह है कि राज्य और धर्म में एकरूपता हो ...... वहाँ सम्पूर्ण मानव जीवन को विनियमित करने के लिये एक ही शासन की आवश्यकता है। उस समय शक्ति विभाजन खतरे से भरा हुआ है, सम्भवतः उससे विनाश भी हो सकता है। ऐसा नहीं होना चाहिये कि धर्म-पुरोहित एक उपदेश दे और राजा दूसरा; राजा को धर्म-पुरोहित होना चाहिये और धर्मावतार को राजा; दोनों को एक ही बात कहनी चाहिये क्योंकि वे हैं ही एक।"*

हमने ऊपर कहा था कि समूह के संघटन और एकता के लिये यह आवश्यक है कि उसके घटक एक-सा आचरण करें, एक-सी भाषा बोलें और एक अंश तक उनके एक-से ही विचार हों। स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि एक समूह के घटक ऐसा क्यों करते हैं। यह भी कहा जा चुका है कि राष्ट्रीय चरित्र वह समूह चरित्र है जोकि परस्पर प्रतिस्पर्धा करने वाले विभिन्न समूह चरित्रों में अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर चुका है। प्रश्न यह पूछा जा सकता है: कमजोर समूह शक्तिशाली समूह के चरित्र को क्यों अपनाते हैं? इन दोनों प्रश्नों का एक ही उत्तर है। एक ही समूह के घटकों के एक ही प्रकार आचरण करने, एक भाषा का प्रयोग करने और एक अंश तक एक-से ही

* "To gain that obedience the primary condition is the identity—not the union but the sameness— of what we now call church and state .... What is there requisite is a single government .... regulating the whole of human life No division of power is then endurable without danger— probably without destruction; the priest must not teach one thing and the king another: king must be priest, and prophet king; the two must say the same thing, because they are the same." —Bagehot.

विचार रखने, तथा असफल समूहों के सफल समूह के चरित्र को अपना लेने का कारण है अचेतन अनुकरण (Unconscious imitation)। सामाजिक जीवन में अनुकरण का कितना महत्त्वपूर्ण कार्य है, इस पर जोर देने वाला सर्वप्रथम आधुनिक लेखक बेजहॉट है। बार्कर के शब्दों में वह 'टार्डे के अपना ग्रन्थ Les Lois de l'Imitation लिखने के वर्षों पूर्व से ही टार्डेवादी था।' वह लिखता है: "सत्य यह है कि अपने सामने की चीजों का अनुकरण करने की प्रवृत्ति उसके स्वभाव का एक सबसे अधिक शक्तिशाली भाग है। हमें यह नहीं सोचना चाहिये कि यह अनुकरण स्वेच्छापूर्ण होता है अथवा सचेतन भी होता है। इसके विपरीत इसका स्थान मानव मानस के एक बहुत ही अज्ञात भाग में होता है जिसकी धारणाओं को सचेतन ग्रहण करने की तो बात ही दूर रही, उनके अस्तित्व की भी अनुभूति नहीं होती।"* अनुकरण करने की इसी प्रवृत्ति के कारण एक संघटित समूह के घटकों के आचार, विचार तथा भाषा इत्यादि में इतनी अधिक समता होती है। आदिकालीन समूहों में 'अनुकरण' ने प्रथा के निर्माण में बहुत बड़ा भाग लिया है और इसकी शक्ति आज भी नष्ट नहीं हुई है। मनुष्य आज भी अनुकरणशील प्राणी है। फैशन के साम्राज्य का इसके अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं हो सकता। बेजहॉट के इस कथन का, कि अधिकतर मानव विश्वास और कार्य अचेतन अनुकरण पर आधारित होते हैं, सचेतन तर्कना पर नहीं, इस बात से भी समर्थन होता है कि विश्वास की अपेक्षा अविश्वास के लिये प्राय: अधिक तर्कना की आवश्यकता होती है। इस प्रकार बेजहॉट राजनीति में बुद्धि-विरोधी बन जाता है; इस बात में उसका बेन्थम, मिल और यहाँ तक कि स्पेन्सर से भी मतभेद है, जोकि मानव कार्यों का आधार विवेकसम्मत स्व-हित बतलाते थे।

बेजहॉट के अनुसार आदिकालीन जातियों में सामान्यतया निर्दयी निरंकुश राजाओं का राज्य होता था। इसमें कोई आश्चर्य नहीं। निरंकुश राजाओं द्वारा शासित समूहों को बहु-शासित समूहों के ऊपर लाभ था। जब तक कि समूहों का मुख्य कार्य युद्ध था तब तक किसी न किसी प्रकार की निरंकुशता अपरिहार्य थी। एक सेना एक बुरे सेनापति के अधीन रहकर तो सफल हो सकती है किन्तु कई सेनापतियों के अधीन रह कर नहीं क्योंकि उनमें एक विवाद-सभा का रूप ग्रहण करने की प्रवृत्ति रहती है।

आदिकालीन राजनीतिक समुदायों की एक अन्य विशेषता भी ध्यान देने योग्य है। एकबद्धता, संघटन तथा ठोसता प्राप्त करने के लिये वे सांस्कृतिक रूप

* "The truth is that the propensity of man to imitate what is before him is one of the strongest parts of this nature .... We must not think that this imitation is voluntary or even conscious. On the contrary, it has its seats mainly in very obscure parts of the mind, whose notions, so far from having been consciously produced, are hardly felt to exist." —Bagehot.

में एक दूसरे से अलग अलग रहते थे और उनमें उन लोगों का दमन किया जाता था जोकि सुनिश्चित ढर्रे को मानने से इन्कार करते थे। प्रथा के द्वारा शासित समाज में स्थापित विश्वासों और व्यवहारों से हटने की कोई गुंजायश नहीं हो सकती। बेजहॉट लिखता है : "समस्त वन्य जातियों की दमन करने की प्रवृत्ति उनकी अनुकरण करने की प्रवृत्ति से भी अधिक स्पष्ट है। कोई भी बर्बर अपने राष्ट्र के किसी घटक को कबीले की बर्बरतापूर्ण प्रथाओं तथा रूढ़ियों से हटते हुए देखना सहन नहीं कर सकता।" इसलिये आदिकालीन समुदायों के लिये मतैक्य पर आग्रह करना और परिवर्तन को अवांछनीय और खतरनाक समझना स्वाभाविक था; वे एक सुकरात को उन प्रथाओं को भंग करने की अनुमति नहीं दे सकते थे जिन पर कि समाज आधारित था। समाज का पहिला कर्त्तव्य अपने को सुरक्षित रखना था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामाजिक विकास की दूसरी अवस्था की विशेषता प्रथा की प्रधानता थी; एक सामान्य जीवन पद्धति को लादा जाता था। इसीलिये बेजहॉट इसे स्थिर समाज (Fixed policy) की अवस्था कहता है। इसमें इकाई समूह था, व्यक्ति नहीं। प्रचलित व्यवहार से हटने वालों का दमन करके समूह का संगठन सुरक्षित रखा जाता था। इस अवस्था में सहिष्णुता को सम्भव नहीं समझा जा सकता था। उस समय प्रधानता अनुकरण की थी। विकास की तीसरी अवस्था (जिसमें कि आज हम रहते हैं) की विशेषता परिवर्तनशीलता है; वर्तमान समाज परिवर्तनशील है, इसकी इकाई व्यक्ति है, समाज नहीं, और उसे बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अपने को ढालने की स्वतन्त्रता दी जाती है। इसमें सहिष्णुता है, अन्धविश्वास और दमन नहीं। प्रश्न यह उठता है : प्रथा की स्थिरता में से एक परिवर्तनशील समाज का आविर्भाव किस प्रकार हुआ? इस प्रश्न का उत्तर देने में बेजहॉट एक नवीन मनोवैज्ञानिक शक्ति को प्रविष्ट करता है; वह शक्ति है विवाद की भावना; और इसकी व्याख्या करते समय वह कुछ सुन्दर तथा गहरे सुझाव देता है। वह कहता है कि एक बार अनुकरण के एक बड़े पैमाने पर सफल हो जाने पर विवाद और परिवर्तन सम्भव हो जाते हैं। जब तक कि अनुकरण मनुष्यों में आज्ञाकारिता की एक बलवती आदत उत्पन्न न कर दे तब तक मौलिकता को प्रोत्साहित नहीं किया जा सकता। बेजहॉट कहता है कि जब अनुकरण द्वारा समाज में संघटन और एकता उत्पन्न करने की समस्या हल हो जाती है तो इस बात का खतरा रह जाता है कि कहीं प्रथा समाज को गतिहीन न बना दे और गतिहीन होकर उसका अन्त न हो जाये। समाज की प्रगति के लिये प्रथा के शिकंजे को तोड़ना है, यद्यपि उसे तोड़ना बड़ा कठिन है। बहुत-सी सभ्यताओं का विकास प्रथा ने ही रुद्ध कर दिया, फल यह हुआ कि वे जीवन संघर्ष में न टिक सकीं। चीन को एक रुद्ध सभ्यता के उदाहरण के रूप में प्राय: पेश किया जाता है। इसके विपरीत अपनी परिवर्तन तथा अनुकूलन की क्षमता के कारण प्राचीन यूनानियों

श्रौर रोमनों की सभ्यताश्रों का विकास हुश्रा। हमारी भारतीय सभ्यता ने बहुत से उत्थान-पतन देखे, किन्तु वह जीवित रही क्योंकि उसमें अनुकूलीकरण की अद्भुत क्षमता पाई जाती है। अनुकूलीकरण की योग्यता वाद-विवाद करने की क्षमता में आती है। यदि एक समाज के घटक प्रथा के शिकंजे में इतने जकड़े हुये होते हैं कि वे उससे एक इंच भी इधर-उधर नहीं हिल सकते तो उनमें उन्नति की सामर्थ्य नहीं रह जाती; वे अवरुद्ध हो जाते हैं और उनका पराभव हो जाता है। परन्तु यदि उनमें कुछ ऐसे हों जोकि यह सोचते हों कि एक रीति या परम्परा का विकल्प भी हो सकता है और लकीर के फकीर बने रहना हानिकारक होगा तो उन्नति का मार्ग खुल जाता है। वाद-विवाद रचनात्मक बुद्धि को अपना कार्य करने का अवसर देता है, यह परिवर्तनशील और अचेतन अनुकरण द्वारा उत्पन्न परम्परा भक्ति में सामंजस्य स्थापित करता है। यह नवीन विचारों के प्रचार को सम्भव बनाता है और यह प्रारम्भिक मनुष्यों की जल्दबाजी का भी उपचार करता है। जिन्हें वाद-विवाद की आदत होती है वे 'कूदने से पहले देख लेते हैं', और इसलिये वे कम कूदते हैं और अच्छे रहते हैं।

वाद-विवाद का युग किस प्रकार आरम्भ हुआ? इसके बारे में बेजहॉट कुछ नहीं कहता। वह यह नहीं बतलाता कि प्रथाग्रस्त समुदायों में वाद-विवाद किस प्रकार आया? वह इस बात को बस मान लेता है कि विकास की प्रक्रिया में किसी प्रकार वाद-विवाद की भावना उत्पन्न हो गई। परन्तु एक बार इस प्रक्रिया के आरम्भ होने पर इसने समूह के अन्दर ऐसा मत-विवर्तन उत्पन्न कर दिया जिसमें कि नवीन विचार आ सकते थे। वाणिज्य, उपनिवेशीकरण तथा एक विश्वव्यापक चर्च सरीखे कारकों ने नवीन विचारों को प्रविष्ट किया और एक नवीन आलोचनात्मक प्रवृत्ति उत्पन्न की जिसके परिणामस्वरूप उत्तरोत्तर उन्नति हुई। यह बात ध्यान देने योग्य है कि वे ही समाज सबसे अधिक प्रगतिशील रहे हैं, जिन्होंने कि अपने घटकों में स्वतन्त्र विचार की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया है। भारतीय समाज के आज भी जीवित रहने का एक कारण यह भी है कि इसने अपने घटकों में स्वतन्त्र विचार और वाद-विवाद की भावना को कभी नहीं दबाया।

अपने सिद्धान्त में से बेजहॉट ने जो कुछ परिणाम निकाले हैं वे ध्यान देने योग्य हैं। सर्वप्रथम तो यह है कि इसके द्वारा निरंकुश तथा प्रथा द्वारा शासन के स्थान में 'स्वतन्त्र विचार विमर्श द्वारा शासन' की स्थापना होती है। इस प्रकार के शासन में व्यक्तियों को सार्वजनिक विषयों के ऊपर वाद-विवाद करने की स्वतन्त्रता रहती है और लोकतन्त्र का एक तत्त्व आ जाता है। इस सबसे सामाजिक उन्नति होती है। इस प्रकार बेजहॉट के राजनीतिक सिद्धान्त में उदारवाद का एक तत्त्व आ जाता है। परन्तु उसकी धारणा थी कि आज के युग में भी उदारवादी संस्थायें समस्त राष्ट्रों के अनुकूल नहीं हैं। उदारवाद केवल उन जातियों में सफल हो सकता है जिन्हें कानून व अनुशासन की एक बलवती भावना अपने पूर्वजों से विरासत में मिली है।

इस बात में बेजहॉट एक रूढ़िवादी था। दूसरे, बेजहॉट का विचार था कि वाद-विवाद से मानव-स्वभाव में संशोधन हो जायेगा। अतीत में मनुष्य कर्म अत्यधिक करते थे, विचारशीलता उनमें पर्याप्त नहीं थी, उनकी सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि वे शान्त रहकर विचार नहीं कर सकते थे। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, वाद-विवाद की आदत जल्दबाजी के कामों को रोकती है; इसने आधुनिक मनुष्य को कूदने से पहले सोचना सिखाया है। राष्ट्र संघ एक ऐसा ही साधन है जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विषयों के ऊपर विचार किया जाता है और जिसके फलस्वरूप जल्दबाजी के कार्यों को रोका जाता है। हमारी वाद-विवाद की आदत ने निश्चित रूप से ही हमारे जीवन और हमारी संस्थाओं पर गहरा प्रभाव डाला है। तीसरी बात यह है कि वाद-विवाद में बेजहॉट कामभावना में परिवर्तन तथा उसकी शक्ति के ह्रास की सम्भावना देखता है। अपनी अत्यधिक कामभावना के कारण हम आजकल बहुत ही द्रुत गति से सृष्टि कर रहे हैं। बेजहॉट आशा करता है कि जितना ही अधिक बौद्धिक जीवन हम व्यतीत करेंगे उतनी ही हमारी कामभावना कम हो जायेगी। बहुत अधिक सभ्य होने पर मनुष्य की मानव-सृष्टि की शक्तियाँ घट जाती हैं। यह बात कहाँ तक सत्य है, इस प्रश्न की समीक्षा करना हमारे लिये आवश्यक नहीं, हमारे लिए तो केवल यह देख लेना पर्याप्त है कि बेजहॉट हमारे जीवन में इस मनोवैज्ञानिक कारक को बहुत महत्त्व देता है और स्थिर तथा परिवर्तनशील समाज में मूलभूत अन्तरों का कारण इसी को समझता है निस्सन्देह वाद-विवाद नवीन विचारों को जन्म देता है, पुराने विश्वासों को हिलाता है और इस प्रकार उन्नति के लिए मार्ग प्रशस्त करता है।

The English Constitution : यहाँ संक्षिप्त रूप से हम बेजहॉट की एक अन्य महत्त्वपूर्ण रचना 'The English Constitution' का भी उल्लेख कर सकते हैं जोकि उसकी पुस्तक 'Physics and Politics' के दो वर्ष पश्चात् १८६९ ई० में प्रकाशित हुई थी। इसमें राजनीतिक विचार को उसकी कुछ महत्त्वपूर्ण देन भी पाई जाती है। 'Physics and Politics' ने सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण का सूत्रपात किया था; 'English Constitution' ने संविधानों की व्याख्या की और एक नवीन पद्धति का सूत्रपात किया। उस समय तक संविधान को केवल एक कानूनी ढाँचा समझा जाता था और विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से उसका अध्ययन किया जाता था; किन्तु बेजहॉट ने संविधान को जीवन से सम्बद्ध करके और उसे एक जीवित चीज समझ कर उसका अध्ययन करना सिखाया। इस ग्रन्थ का महान् गुण यह है कि इसने ब्रिटिश संविधान को केवल कानूनी दृष्टिकोण से अध्ययन करने की पुरानी परम्परा को तोड़ा और उसके वास्तविक कार्य करने पर ध्यान केन्द्रित किया। इंगलैण्ड के महत्त्वपूर्ण राजनीतिज्ञों के साथ अपने निकट के सम्बन्धों ने बेजहॉट के इस कार्य को काफी सरल बना दिया और संविधान के विषय में उसने जो कुछ लिखा उसमें काफी यथार्थता आ गई।

परन्तु प्राकृतिक चुनाव का सिद्धान्त जिसे उसने अपने 'Physics and Politics' में इतनी सफलता और दक्षता के साथ प्रयोग किया है, 'English Constitution' में यत्र-तत्र ही पाया जाता है; इसमें मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की ही प्रधानता है। इङ्गलैंड में संसदीय शासन प्रणाली की सफलता और अंग्रेज जाति की शक्ति का मूल तत्त्व वह एक सामान्य अंग्रेज के परम्परावादी चरित्र तथा एंग्लो-सैक्सन जाति के एक विलक्षण गुण (जिसे वह सुखद मूर्खता कह कर पुकारता है) में पाता है। जैसा कि ब्रिन्टन ने इतने सुन्दर ढंग से कहा है, जीवन तथा अच्छी प्रकार रहने के नीरस कार्य को चलाने के लिये नीरस व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है; एक दूरदर्शी मौलिकता तथा विचार में तीव्र रुचि सामान्यतया साधारण जीवन व्यापार में सफलता प्रदान नहीं करती। 'English Constitution' में बेजहॉट अपने पाठकों को अपने समय के राजनीतिक विचारों की सुन्दर भूमिका देता है।

बेजहॉट का मूल्यांकन— बेजहॉट एक बहुत अधिक संकेत देने वाला (Suggestive) लेखक था; जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है उसका ग्रन्थ 'Physics and Politics' आने वाली पीढ़ियों के लिये रिसर्च प्रॉस्पेक्टस अधिक है, एक पूर्ण दर्शन प्रणाली इतनी नहीं। उसका महत्त्व इस बात में है कि एक राजनीतिक मनोविज्ञानवेत्ता के रूप में उसके कार्य का स्थायी प्रभाव पड़ा है। राजनीतिक जीवन में अचेतन अनुकरण के महत्त्व और विशुद्ध तर्क की कमजोरी पर उसने जो बल दिया है उससे प्रेरित हो कर उसके बाद के विचारकों ने उसके कार्य को और आगे बढ़ाया। भावना तथा समूह-मानस (Group-mind) का पूर्णतर विश्लेषण आवश्यक समझा गया। ग्रैहम वैलास, मैक्डूगल, लॉयड मॉर्गन तथा हॉब्हाउस ने इस क्षेत्र में अधिक गहरा अनुसन्धान किया और सामाजिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में ठोस कार्य किया। इसलिए हम कह सकते हैं कि आधुनिक काल में बेजहॉट ने राजनीति में मनोवैज्ञानिक विचारधारा का सूत्रपात किया। यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि राजनीतिक व्यवहार में एक निर्धारक शक्ति के रूप में प्रतीकवाद के महत्त्व को देखने और संसदीय तथा अध्यक्षात्मक शासन प्रणालियों के बीच भेद पर पूर्ण रूप से लिखने वाले लेखकों में बेजहॉट का भी नाम है। उसने देखा और यह ठीक ही है कि संसदीय शासन प्रणाली को चलाने के लिए एक वंशानुक्रमगत राजा आवश्यक नहीं है; एक निर्वाचित अध्यक्ष से भी वह चल सकती है। यहाँ हम उसके विषय में उसके कुछ समकालीन विचारकों के विचार देंगे। उसकी पुस्तक 'Physics and Politics' के विषय में मेन का कहना है कि मुझ पर इस पुस्तक से अधिक अन्य किसी पुस्तक का कभी प्रभाव नहीं पड़ा। ब्राइस का कहना है कि यदि बेजहॉट अपनी पद्धति को क्रियान्वित करने के लिए जीवित रहता तो उसका भी उतना ही महान् प्रभाव पड़ सकता था जितना कि अठारहवीं शताब्दी के मध्य में मांटेस्क्यू का और उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में टॉकविल का पड़ा था। उसके 'English Constitution' के विषय में डायसी ने लिखा है: "इंगलिश राजनीति के सिद्धान्त

और व्यवहार को स्पष्ट करने के लिये वेजहॉट ने बर्क के बाद अन्य किसी भी मनुष्य की अपेक्षा जीवन के अधिक ज्ञान और मस्तिष्क की अधिक मौलिकता का परिचय दिया है।"

(२) ग्रैहम वैलास (Graham Wallas)

परिचयात्मक— वेजहॉट के सुविख्यात ग्रन्थ 'Physics and Politics' का संक्षिप्त विवरण देते समय यह कहा गया था कि राजनीतिक विचार को उसकी मुख्य देन प्राणीशास्त्रीय की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक अधिक थी। राजनीतिक विचार के इतिहास में वेजहॉट को अमर स्थान प्रदान करने वाली बात यह नहीं है कि उसने सामाजिक विकास की एक अवस्था से अगली अवस्था तक आवर्त्तन की प्राकृतिक चुनाव की शब्दावली में व्याख्या की है, बल्कि सामाजिक तथा राजनीतिक घटना-चक्र के प्रति उसका मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण है। राजनीतिक सिद्धान्त को निश्चित रूप से मनोविज्ञान की ओर मोड़ने वाला वह प्रथम व्यक्ति था। बहुत से प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखकों ने उसके पद-चिह्नों का अनुसरण किया और हाल ही में अमरीकन लेखकों ने मनोविज्ञान-शास्त्र को राजनीति पर आरोपित करने पर बहुत ध्यान दिया है। यहाँ पर हम केवल दो इंगलिश लेखकों— ग्रैहम वैलास तथा विलियम मैक्डूगल— का वर्णन करेंगे जिन्होंने कि अपने आपको सामाजिक जीवन में मनोवैज्ञानिक आधार के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करने में लगाया है।

जीवन तथा कृतियाँ— ग्रैहम वैलास के जीवन का अधिक विवरण देना आवश्यक नहीं। वह एक पादरी परिवार में १८५८ ई० में उत्पन्न हुआ और ऑक्फोर्ड में कौर्पस क्रिस्टी कालिज तथा श्रूबरी स्कूल में उसने शिक्षा प्राप्त की। वह लन्दन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स से भी सम्बन्धित था जिसमें 'राजनीति विज्ञान की चेयर' उसके पास थी, और जिस पद के प्रो० हैरोल्ड लॉस्की उसके बाद में उत्तराधिकारी बने। एक महान् विद्वान होने के अतिरिक्त वह एक योग्य प्रशासक भी था। वह लन्दन यूनिवर्सिटी सीनेट, लन्दन स्कूल बोर्ड तथा लन्दन काउन्टी काउन्सिल तथा रायल कमीशन ऑन सर्विस का सदस्य रहा। वह फेबियन सोसाइटी का भी सदस्य रहा और 'फेबियन ऐसेज़' में अपना योग दिया। उसकी महत्त्वपूर्ण रचनायें ये हैं: 'Human Nature in Politics' (१९०८), 'The Great Society' (१९१४) तथा 'Our Social Heritage' (१९२१)। इन समस्त रचनाओं में राजनीतिक घटना-चक्र की मनोविज्ञान की शक्तियों के शब्दों में व्याख्या करने की इच्छा पाई जाती है, उसके रूप और बनावट की नहीं। उसका दृष्टिकोण निश्चित रूप से ही बुद्धि-विरोधी है। वह कहता है कि राजनीति अधिकार 'आदत तथा भावना, संकेत तथा अनुकरण की अचेतन प्रक्रियाओं का विषय है, सचेत बुद्धि का विषय वह बहुत ही कम है'। अपने बाद के लेखकों में ग्रैहम वैलास विचार तथा इच्छा के संघटन की विवेचना करता है और राजनीतिक मनोविज्ञान में बौद्धिक तत्त्व पर अधिक ध्यान देता है। उसने अपने परिणामों को उस सामग्री पर आधारित

किया जोकि उसने एक शिक्षक, एक प्रचारक तथा एक राजनीतिज्ञ होने के अनुभव से प्राप्त की थी और जो इङ्गलैंड तथा अमरीका में उसके विद्यार्थियों तथा मित्रों ने अपने विचारों की प्रक्रियायें उसे बतलाई थीं। सारांश यह कि उसने राजनीति, चुनाव संग्राम, जनमत के निर्माण तथा प्रभावित होने में जीवन का जो स्वरूप देखा उसे उसने अपने विचारों के लिये एक प्रयोगशाला बनाई।

Human Nature in Politics— ग्रैहम वैलास अपने ग्रन्थ 'Human Nature in Politics' का आरम्भ यह कह कर करता है: 'राजनीति का अध्ययन अभी (१६०८) विलक्षण रूप से असंतोषजनक अवस्था में है।' अवस्था असंतोषजनक इसलिए थी क्योंकि विचारशील व्यक्तियों के मन में उत्पन्न की हुई आशायें पूरी न हो पाई थीं; लोकतन्त्र (जिसे कि शासन का सर्वोत्तम रूप समझा जाता था) के वास्तविक व्यवहार ने जनता को निराश कर दिया था। लोगों का विचार था कि जनतन्त्र की विफलता का कारण दोषपूर्ण राजनीतिक संस्थायें, सीमित मताधिकार तथा अपर्याप्त शिक्षा थी, परन्तु वैलास का मत इससे भिन्न था। उसका विचार था कि मानव स्वभाव के समझने पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया था। उसका कहना था कि राजनीति के अध्ययन को मानव स्वभाव के अध्ययन से अलग नहीं किया जाना चाहिये। उसकी अपनी रचनाओं में इन दोनों के पृथक्करण को दूर करने का प्रयास किया गया है जोकि उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तथा मध्य के लेखकों की एक विशेषता थी। राजनीति के विद्यार्थी को एक अमूर्त्त मनुष्य की विवेचना नहीं करनी चाहिये; उसे एक पूर्ण मनुष्य की विवेचना करनी चाहिये जोकि 'भावना तथा भावों और सचेतन बुद्धि का संघटित' प्राणी है। यदि राजनीति के एक विद्यार्थी को ऐसे राजनीतिक सिद्धान्त पढ़ाये जाते हैं जिनका आधार यह है कि मनुष्य एक बुद्धिप्रधान प्राणी है जोकि प्रत्येक कार्य बुद्धि द्वारा सोच समझकर करता है अर्थात् व्यक्ति पहले यह सोचता है कि उसका अभीष्ट लक्ष्य क्या है और फिर यह सोचता है कि कौन से साधनों से वह उसे सबसे अधिक प्राप्त कर सकता है, (जैसे कि उपयोगितावाद और आदर्शवाद है) तो जिस समय वह व्यावहारिक राजनीतिक और जीते-जागते मनुष्यों के संसर्ग में आयेगा तो उसे अपनी पाठ्य पुस्तकों को उठाकर एक ओर फेंक देना होगा और उसे अपने विचार बदलने पड़ेंगे; वह अनुभव करेगा कि उसके विचारों का वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये ग्रैहम वैलास अपने पाठकों से कोरे बुद्धिवाद का परित्याग करने का अनुरोध करता है। वह कहता है कि एक दिन में एक मनुष्य जो कुछ कहता है और करता है, यदि उसका सही-सही लेख तैयार किया जाय तो हमें ज्ञात हो जायगा कि उसके बहुत थोड़े से ही कार्य उसकी साध्य को प्राप्त करने के लिये साधनों की सचेतन खोज का परिणाम हैं। उनमें अधिकतर या तो आदत के प्रभाव में अर्द्ध-चेतन पुनरावृत्तियाँ होंगी जोकि मूल रूप से अधिक सचेतन थीं या उनका आधार मानव स्वभाव के भावात्मक और भावनात्मक गुणों में होगा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह निकलता है कि

राजनीति अधिकतर आदत, भावना, संकेत, तथा अनुकरण की उपचेतन प्रक्रिया का विषय है ; सचेतन बुद्धि की उत्पत्ति बहुत ही कम है। इसलिए ग्रैहम वैलास इस परिणाम पर पहुँचता है कि मनोविज्ञान को राजनीति में भी उसी प्रकार प्रयुक्त किया जाना चाहिये जिस प्रकार कि उसका प्रयोग शिक्षा और अपराधियों के साथ व्यवहार में किया जाता है।

राजनीतिज्ञ के लिये मनुष्य की समस्त भावनाओं और भावों का महत्त्व और मूल्य नहीं है, इसलिए वैलास उनमें से अधिक महत्त्वपूर्ण का ही वर्णन करता है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है प्रेम का भाव, इसके बाद आता है भय, और तीसरा स्थान है सम्पत्ति की कामना का। इनके साथ हम द्वन्द्व भाव, संदेह भाव, कौतूहल भाव तथा ख्याति-भाव को और जोड़ सकते हैं। यदि हम राजनीतिक सिद्धान्त और संगठन की पुनर्रचना करना चाहते हैं तो हमें बुद्धि और सुख की कामना पर ध्यान देना पड़ेगा क्योंकि ये भी मानव जीवन के निर्माण में मौलिक शक्तियाँ हैं। हमें यह ध्यान में रखना चाहिये कि ग्रैहम वैलास बुद्धि-विरोधी नहीं था। उसने राजनीति में से बुद्धि को बहिष्कृत नहीं किया ; वह तो केवल इस बात पर जोर देता है कि राजनीतिक जीवन में उपचेतन कारक आधारभूत भाग लेते हैं। उसके अनुसार व्यावहारिक राजनीति की कला अधिकतर इस बात में है कि उपचेतना तथा बुद्धिहीन भावनाओं को गुदगुदाकर जनमत का निर्माण किया जाये। अपने बाद के लेखों में, जबकि वह विचार और इच्छा के संगठन की विवेचना करता है वह राजनीति के मनोविज्ञान में बुद्धि तत्त्व पर और अधिक ध्यान देता है।

ग्रैहम वैलास कहता है कि मनुष्य का राजनीतिक व्यवहार न केवल मनोवैज्ञानिक तत्त्व से बल्कि राजनीतिक पर्यावरण से भी प्रभावित होता है। इस पर्यावरण में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है; नई-नई राजनीतिक अवस्थायें, आदतें, तथा भावनायें उत्पन्न होती हैं जोकि हमारे राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करती हैं। राष्ट्रीय ध्वजा, राष्ट्रीय गान तथा राजनीतिक दल प्रमुख राजनीतिक स्थितियाँ होती हैं जिनके चारों ओर विचार की आदतें तथा भावनायें विकसित होती हैं। वे बौद्धिक विचारों के प्रतीक होते हैं और इसलिए उनका मूल बौद्धिक होता है; किन्तु सर्वसाधारण के लिए वे कोरे विचारों से कुछ अधिक होते हैं; उनके लिये वे भावना से भरे हुए और भावना का निर्माण करने वाले नाम होते हैं। राजनीतिज्ञ की कला इस बात में है कि वह उनके साथ कुछ भावनाओं को सम्बद्ध करे और तब उन भावनाओं से लाभ उठाये। भावनाओं को अपील करना सभी चतुर राजनीतिज्ञों का मुख्य शस्त्र है। निर्वाचन काल में यह सबसे अधिक स्पष्ट हो जाता है। प्रत्येक दल कुछ नारे घड़ता है और उन्हें भावनाओं का प्रतीक बनाता है। फल यह होता है कि चुनाव मनोवैज्ञानिक युद्ध और 'वशीकरण' करने का प्रयास बन जाता है। बार्कर के शब्दों में, "दल के नाम तथा प्रतीक, दल की ध्वजायें, नारे तथा गाने निर्वाचक मण्डल की संकेतग्राहकता पर आक्रमण करने के लिये छोड़ दिये जाते हैं।"

उपरोक्त विवरण राजनीतिक जीवन की इस प्रचलित मान्यता का खण्डन है कि मनुष्य अपने पूर्व-निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये सर्वोत्तम साधनों को ध्यान में रखकर कार्य करते हैं। ग्रैहम वैलास की धारणा यह है कि राजनीति में 'मनुष्य प्रेम तथा भावना की तुरन्तकालीन प्रेरणा के अधीन काम करते हैं और उन्हें ऐसे राजनीतिक चिह्नों की ओर मोड़ा जा सकता है जोकि संसार के उन तथ्यों से बिल्कुल भिन्न होते हैं जिन्हें हम सचेत पर्यवेक्षण तथा विश्लेषण द्वारा जान सकते हैं।' आगे चलकर वह यह दिखाता है कि जब मनुष्य अपने कार्यों के परिणामों के सम्बन्ध में कुछ धारणायें बनाते हैं, तो वे ऐसी बुद्धि की किसी प्रक्रिया द्वारा नहीं, बल्कि बुद्धि-रहित प्रक्रिया करते हैं। उसके शब्दों में, मनुष्य के मस्तिष्क 'एक वीणा की भांति कार्य करते हैं जिसके समस्त तार एक साथ फड़कते हैं; इसलिये भावना, भाव इत्यादि प्राय: साथ-साथ चलते हैं और एक ही बौद्धिक अनुभव के एक दूसरे से मिले हुए पहलू होते हैं।' जिस समय हम उत्तेजना के वशीभूत होकर और एक ही भीड़ के अङ्ग के रूप में कार्य करते हैं तो हमारी मानसिक प्रक्रिया का बुद्धि-रहित चरित्र और भी अधिक तीव्र और स्पष्ट हो जाता है। वैलास यह दावा करता है कि अधिकतर मनुष्य, जहाँ तक कि उनके मानसिक और बौद्धिक जीवन का सम्बन्ध है, एक भीड़ की स्थिति में रहते हैं; वे बौद्धिक के स्थान में अबौद्धिक को प्रति-स्थापित करते हैं। नागरिक-गण ने इस प्रवृत्ति को बहुत गुणा बढ़ा दिया है। संकेत का प्रभाव ग्रहण करने के लिये अब एक स्थान पर एकत्रित होना भी आवश्यक नहीं रह गया। रेडियो, प्रेस तथा सिनेमा इस कार्य को भली-भांति कर देते हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध में हर कहीं पाई जाने वाली उत्तेजना और जिस प्रकार राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अमरीका की जनता को युद्ध में कूद पड़ने के लिये प्रेरित किया, वे इस बात का सुन्दर उदाहरण हैं कि संकेत तथा सहानुभूतिपूर्ण उत्तेजना किस प्रकार जनमत को प्रभावित करती हैं। जनमत किस प्रकार अबौद्धिक तत्त्वों से प्रभावित होता है, इसकी सूक्ष्म प्रक्रिया को स्पष्ट करना वैलास का एक महान् गुण है।

लोकतन्त्र— अबौद्धिक शक्तियाँ किस प्रकार जनमत का निर्माण करती हैं इसके विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है यदि वह सत्य है तो लोकतन्त्र का भविष्य अन्धकारमय है; वैलास की युक्तियाँ लोकतन्त्र के आधार पर ही कुठाराघात करती हैं। जनता की शिक्षा इसका कोई उपचार नहीं है क्योंकि इससे रोग घटने के बजाय बढ़ता है। प्रारम्भिक शिक्षा मतदाता को केवल पढ़ने की शक्ति प्रदान करती है इसलिये वह जनमत के निर्माता के और भी अधिक अधीन हो जाता है। परन्तु वैलास लोकतंत्र का विरोधी नहीं था; वह यह नहीं चाहता था कि प्रत्येक काम सबसे अधिक बौद्धिक व्यक्तियों के हाथ में ही छोड़ दिया जाये। उसका तर्क यह है कि सर्वोत्तम बुद्धिवादी भी स्वयं संकेत का शिकार हो सकते हैं, इसलिये प्रत्येक काम उन पर छोड़ देने से स्थिति में कोई सुधार नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त 'इच्छा के बिना शासन एक जटिल एवं भद्दी प्रक्रिया है।' वह यह भी आशा करता था कि

आधुनिक मनोविज्ञान-शास्त्र मानव स्वभाव की अधिक सच्ची, यद्यपि अधिक जटिल, धारणा हमारे सामने रक्खेगा जिसे कि राजनीतिज्ञ अपना आधार बना सकते हैं, और नवीन मात्रा-प्रधान पद्धतियों (जिनका उस समय प्रचलन हो रहा था) की सहायता से राजनीतिक विचारक अपनी समस्याओं को अधिक पूर्ण रूप से व्यक्त कर सकेंगे और उनका अधिक सही समाधान कर सकेंगे। इन प्रवृत्तियों से कदाचित् हम एक नवीन राजनीतिक विज्ञान का विकास कर सकें। वैलास सुधार की आशा शिक्षा से करता है और मार्ग दर्शन की आशा उन भावनाओं को अधिक स्पष्ट रूप से समझ लेने से करता है जोकि मनुष्य को कर्म करने के लिये प्रेरित करती हैं। कदाचित् एक निर्वाचन उत्तरोत्तर एक शिक्षात्मक प्रक्रिया बन जायेगी, जिसके लिये वह मिल की भांति उत्सुकतापूर्वक आशा करता है। अन्त में, ग्रैहम वैलास आशा करता है कि **मानवता** शब्द इतना भावनापूर्ण बन सकता है और उसका इतना भावनात्मक प्रभाव पड़ सकता है जितना कि आजकल राष्ट्रीय-ध्वजा, राष्ट्रीय-गान तथा पार्टी लेबिल का होता है। ग्रैहम वैलास एक महान् आशावादी था; वह 'सामाजिक आविष्कार' के द्वारा बहुत अधिक सामाजिक सुधार की आशा करता था, और वह सामाजिक नियंत्रण और निर्देशन पर जोर देता था। अपनी अन्य रचनाओं में उसने राजनीतिक स्वतन्त्रता और प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्तों को एक अधिक समाजीकृत तत्त्व देने का प्रयास किया है।

वैलास के दर्शन का मूल्यांकन— ग्रैहम वैलास के महान् ग्रन्थ 'Human Nature in Politics' को एक अत्यन्त और उच्चकोटि का संकेतपूर्ण ग्रन्थ समझा जाता है। राजनीतिक विचार को इसकी महान् देन यह है कि इसमें इस बात को देख लिया गया है कि राजनीतिक-व्यापार के निर्धारण में सामान्य रूप से और जनमत के निर्माण में विशेष रूप से अबौद्धिक (Non-rational) कारक महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा करते हैं। यह बतलाया जाना निश्चित रूप से ही एक बड़े लाभ की बात है कि मानव स्वभाव का एक महत्त्वपूर्ण उपचेतन पक्ष है जिस पर संकेत और अनुकरण कार्य करते हैं और जिसमें आदतें बनाई जाती हैं। यदि हम एक सच्चे राजनीतिक सिद्धान्त पर पहुँचना चाहते हैं तो हमें उसका अध्ययन और विश्लेषण करना चाहिये। प्रो० वैलास ने उसका विश्लेषण किया है, और इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसने ऐसे उपाय सुझाये हैं जिनके द्वारा हम समाज के रोगों को दूर कर सकते हैं। वह कहता है कि जब मनुष्य उन मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं को जान जाते हैं जिनसे वे अब तक अचेत या अर्द्ध-सचेत रहे हैं तो वे अपने आपको न केवल दूसरों के द्वारा शोषण से रक्षा कर सकते हैं, बल्कि आन्तरिक रूप से भी उन पर अधिक नियन्त्रण कर सकते हैं। यदि हम उन्हें एक बार नियन्त्रित करना सीख लें तो वे एक श्रेष्ठतर समाज की रचना करने में मानव बुद्धि की सहायता कर सकती हैं। यह सब तो ठीक ही है, किन्तु ऐसा लगता है कि वैलास राजनीतिक जीवन को अबुद्धिकृत करने में अति को पहुँच गया है। जैसा कि आदर्शवाद का

समर्थन करते समय हमने कहा था, राजनीतिक समाज के निर्माण में बुद्धि कार्य करती रहती है, चाहे उसका कार्य अचेतन रूप से ही हो। 'रिपब्लिक' में अफलातून का यही तर्क था कि जब तक बुद्धि तृष्णा और ओज के पूरक के रूप में नहीं आ जाती तब तक समाज का संघटन पूर्ण नहीं हो सकता। अचेतन रूप से कार्य करने से ही तो बुद्धि का निजत्व समाप्त नहीं हो जाता। इसलिये यदि यह नहीं दिखाया जा सकता कि राजनीतिक समाज सचेतन बुद्धि का स्पष्ट संघटन है तो इस आधार पर उसकी बौद्धिकता से इन्कार करना गलत होगा। मनोवैज्ञानिक विचारधारा के अन्य प्रतिनिधियों की भाँति ग्रैहम वैलास का एक गम्भीर दोष यह भी है कि वह निम्नतर से उच्चतर की व्याख्या करता है, प्रागैतिहासिक काल की जीवन स्थितियों से सभ्य जीवन की व्याख्या करता है और बार-बार मनुष्य तथा दूसरे प्राणियों को एक ही श्रेणी में रखता है। इस आलोचना की विवेचना हम इस अध्याय के अन्त में करेंगे। उससे पहले हम एक अन्य महान् अंग्रेज विचारक, प्रो० मैक्डूगल के विचारों का अध्ययन करेंगे, जिसकी मनोवैज्ञानिक विचारधारा को देन ग्रैहम वैलास से कुछ कम नहीं है।

(३) विलियम मैक्डूगल (William McDougall)

परिचयात्मक— मैक्डूगल ग्रैहम वैलास का समकालीन था ; वह उससे केवल तेरह वर्ष छोटा था। उसका जन्म १८७१ ई० में हुआ था। अमरीका में हारवर्ड विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान की कुर्सी को सुशोभित करने से पूर्व वह ऑक्सफोर्ड में था। वैलास की भाँति सामाजिक घटना-चक्र के प्रति उसका दृष्टिकोण भी बुद्धि-विरोधी है। वह मानव आचरण को उन सामाजिक शक्तियों का परिणाम समझता है जोकि व्यक्ति की वंशपरम्परागत भावनाओं और प्रवृत्तियों पर कार्य करती हैं ; वह उपयोगितावाद के इस सिद्धान्त को पूर्ण रूप से ठुकराता है कि प्रत्येक व्यक्ति बुद्धि-पूर्वक सोच समझ कर अपने अधिकतम लाभ के लिये कार्य करता है। इस प्रकार उसके विचार वैलास के विचारों की पूर्ति करते हैं। अन्तर केवल यह है कि वह संकेत, अनुकरण तथा आदत के स्थान में भावों (Instincts) को प्रतिस्थपित करता है। वैलास ने अपनी सामग्री जीवन की प्रयोगशाला से ली, किन्तु मैक्डूगल ने अपनी सामग्री विज्ञान की प्रयोगशाला से ली। वैलास की अपेक्षा वह अधिक विशुद्ध मनोविज्ञानवेत्ता था, और मानसिक प्रक्रियाओं के साथ होने वाली शारीरिक क्रियाओं में उसकी गहरी दिलचस्पी थी। मानव मानस के मूल तथा विकास की उसने बड़ी विस्तृत खोज की है। 'Introduction to Social Psychology' (१६०८ ई०) तथा 'Group Mind' (१६२० ई०) उसकी महत्त्वपूर्ण रचनायें हैं जिनकी हमें विवेचना करनी है।

Introduction to Social Psychology— इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक में, जिसके बहुत से संस्करण निकल चुके हैं और जिसने सामाजिक विज्ञानों पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला है, मैक्डूगल ने मनोविज्ञान के परम्परागत विचार (जिसके

अनुसार मनोविज्ञान चेतना की अवस्थाओं का गतिहीन अध्ययन है) के स्थान में उसकी एक गतिमान् धारणा प्रतिस्थापित की है जिसके अनुसार वह आचरण और व्यवहार का सामाजिक विज्ञान है। वैलास की भाँति उसकी यह भी धारणा है कि राजनीति विज्ञान यदि यथार्थवादी और उपयोगी होना चाहता है तो उसे मनोविज्ञान की सहायता लेनी चाहिये और मनुष्य की समस्त भावनाओं, भावों, कामनाओं तथा विचार को ध्यान में रखना चाहिये। वह स्वयं मनुष्य को भावनाओं का एक पुलिन्दा समझता है जिसमें बुद्धि उनके एक तुच्छ अनुचर के रूप में रहती है जोकि उनकी तृप्ति के लिये सदैव उद्यत रहती है। वह लिखता है: 'यदि मनुष्य में से इन शक्तिशाली वृत्तियों वाली भावनाओं को निकाल लिया जाये तो वह किसी भी प्रकार की क्रिया के लिये असमर्थ हो जायेगा; वह उस घड़ी के सदृश जड़ और गतिहीन हो जायगा जिसकी कि कमानियाँ निकाल ली गई हों, या वह उस भाप के एंजिन के सदृश हो जायगा जिसकी आग बुझा दी गई हो। ये भावनाएँ वे मानसिक शक्तियाँ हैं जोकि व्यक्तियों और समाज के जीवन को कायम रखती हैं और उनका रूप निर्धारित करती हैं और उनमें ही हम जीवन, मन तथा इच्छा का मुख्य रहस्य पाते हैं।"*

दूसरे शब्दों में मैक्डूगल भावनाओं में समस्त मानव क्रियाओं का प्रधान संचालक और समस्त सामाजिक सम्बन्धों का आधार देखता है, और इस परिणाम पर पहुँचता है कि मनुष्य बहुत थोड़े अंशों में ही विवेकशील होता है और वह अधिकतर विवेकहीनता से ही उद्वेलित होता है। वह ग्यारह मुख्य भाव गिनाता है और इस बात पर जोर देता है कि उनमें प्रत्येक के साथ प्रत्येक की अपनी-अपनी एक भावना संयुक्त रहती है। प्रत्येक भाव का सार प्रत्येक व्यक्ति की पर्यावरण में उपस्थिति एक स्फूर्तिविशेष के कारण एक विशिष्ट रूप से कार्य करने और अनुभव करने की प्रवृत्ति में होता है। विलक्षण तथा अपरिचित वस्तुओं के सामने आने पर हमें भयभीत होने और भाग खड़े होने की प्रवृत्ति होती है; जबकि भिन्न प्रकार के पदार्थों को हम प्रेम करते हैं और उन्हें ग्रहण कर लेना चाहते हैं। सात भाव, जिसमें से प्रत्येक के साथ एक भावना विशेष संयुक्त रहती है, ये हैं: (१) भय की भावना के साथ पलायन; (२) उपेक्षा की भावना के साथ घृणा; (३) आश्चर्य की भावना के साथ कौतूहल; (४) क्रोध की भावना के साथ कलह; (५) हीनता की भावना के साथ आत्म-निषेध; (६) उत्थान की भावना के साथ

* "Take away these instinctive dispositions with their powerful impulses and the organism would become incapable of activity of any kind; it would be inert and motionless like a wonderful clock-work whose mainsprings have been removed, or a steam engine whose fire has been drawn. These impulses are the mental forces that maintain and shape all the life of individuals and societies, and in them we are confronted with the central mystery of life, and mind, and will." —McDougall.

आत्माभिव्यक्ति; और (७) कोमलता की भावना के साथ वात्सल्य। शेष चार भाव जिनके साथ कोई भावनाविशेष संयुक्त नहीं होती, ये हैं— (१) काम भाव; (२) संचय भाव; (३) यूथधारी भाव; तथा (४) रचनाशील भाव। इन प्राथमिक भावों, अनुभवों द्वारा इनके संशोधित रूप, इनके ऊपर आधारित आदतों तथा इनमें से दो या अधिक के सम्मिश्रण से बनने वाले भाव (जैसे आतंक, श्रद्धा इत्यादि) को मैक्डूगल मानव की समस्त क्रियाओं का स्रोत समझता है।

निस्सन्देह व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में भाव बड़ा महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा करते हैं। मैक्डूगल ने एक भावहीन सावयव की कोयले से खाली भाप के एंजिन से जो तुलना की है वह एकदम ठीक है। परन्तु वे कभी शून्य में कार्य नहीं करतीं; सदैव एक सामाजिक स्थिति में ही उनकी अभिव्यक्ति होती है और उसी के द्वारा उनकी अभिव्यक्ति की रूपरेखा निर्धारित होती है। सामाजिक जीवन तथा संस्थाओं की रूपरेखा निर्धारित करने वाले भूख और प्यास, काम और प्रेम नहीं हैं, बल्कि वे ठोस और निश्चित क्रियायें हैं जिनके द्वारा वे संतुष्ट होते हैं और जोकि मनुष्य के अनुभव और विचार की उत्पत्ति करते हैं। बार्कर ठीक ही कहता है कि मैक्डूगल समाज में वरतने वाले भावों का एक पूर्ण विवरण तो देता है, परन्तु वह यह नहीं बतलाता कि वे समाज में अवतरित किस प्रकार होते हैं। यात्रा करने की तैयारियां तो खूब करता है, परन्तु उसे आरम्भ कभी नहीं करता। बुद्धिवादी काफी तैयारी चाहे न करता हो किन्तु वह राज्य में यात्रा और उसकी खोज अवश्य करता है।

बार्कर की आलोचना का अभिप्राय यह है: मानव स्वभाव का विश्लेषण करके भावों के महत्त्वपूर्ण कार्य पर जोर देकर मैक्डूगल ने सामाजिक विज्ञानों की एक महान् सेवा की है, परन्तु उसने उसके आधार पर किसी राजनीतिक सिद्धान्त की रचना नहीं की। वह एक मनोविज्ञान-शास्त्री, एक सामाजिक-मनोविज्ञान-शास्त्री है, किन्तु वह एक राजनीतिक-दार्शनिक नहीं है। हमने उसका उल्लेख यहाँ केवल इसलिये किया है क्योंकि उसने मनोवैज्ञानिक विचारधारा को एक बड़ी देन दी है।

Group Mind— अपने ग्रंथ 'Group Mind' में मैक्डूगल ने 'Introduction to Social Psychology' में प्रतिपादित मानव आचरण के मूल सिद्धान्तों के अनुकूल विभिन्न समूहों के व्यवहार की व्याख्या की है। भाव तथा भावना एक भीड़ के आचरण को भी उसी प्रकार निर्धारित करते हैं जिस प्रकार कि एक व्यक्ति के कार्यों को। समूह जीवन के तथ्य समूह-चेतना के तथ्य हैं, और मैक्डूगल समूह चेतना के तथ्यों की उसी पद्धति से समीक्षा करता है जिससे कि प्राकृतिक विज्ञान प्राकृतिक जगत की व्याख्या करता है। किन्तु यद्यपि वह अपनी सामग्री प्राणीशास्त्री, समाज-रचना-शास्त्री तथा इतिहासवेत्ता से प्राप्त करता है, वह कहता है: "सामाजिक समूह का एक सामूहिक मानसिक जीवन होता है, जोकि अपने घटकों के

मानसिक जीवन का योगमात्र नहीं होता। यह कहा जा सकता है कि एक समाज न केवल सामूहिक मानसिक जीवन का उपयोग करता है, बल्कि वह एक सामूहिक मानस अथवा एक सामूहिक आत्मा रखता है। समाज आत्मा की रचना ठीक उतनी ही विशुद्ध मानसिक होती है जितनी कि व्यक्ति के मानस की।" समाज के अन्दर और छोटे-छोटे समूह होते हैं, और इन समूहों अथवा समुदायों के द्वारा व्यक्ति-समूह मानस के साथ संयुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार मैक्डूगल बोज़ान्के के निकट आ जाता है। उसकी भाँति उसकी भी यह धारणा है कि समाज के अन्दर समूह राज्य के साथ होड़ नहीं करते (जैसा कि बहुलवादी करते हैं) बल्कि उसकी पूर्ति करते हैं। मैक्डूगल जनमत का बड़ा गुण-गान करता है; वह उसे एक बुद्धिमान और मान्य पथ-प्रदर्शन समझता है। उसका विश्वास है कि लोकमत की सर्वोत्तम व्याख्या समाज के सर्वोत्तम मस्तिष्क ही समझ सकते हैं। इससे व्यक्ति समाज के अधीन हो सकता है। कदाचित् इसीलिए रॉको (Rochow) मैक्डूगल को एक अफलातूनवादी कह कर पुकारता है। किन्तु ऐसे विशेषणों का प्रयोग न करना ही अच्छा है क्योंकि इनसे भ्रम उत्पन्न हो सकता है; अफलातून और मैक्डूगल में अधिक साम्य नहीं है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का मूल्य— सामाजिक तथा राजनीतिक घटनाचक्र की व्याख्या मनोविज्ञान के शब्दों में करने का प्रयास केवल इंगलैंड में ही नहीं हुआ, फ्रांस और अमरीका के भी कुछ प्रमुख विचारकों ने ऐसा किया है। फ्रांस के विचारकों में सबसे अधिक विख्यात नाम गबरील टार्डे (Gabriel Tarde) (१८४३–१९०४) तथा इमाइल डर्कहीम (Emile Durkheim) (१८५८–१९१७) का है। अमरीका में मनोविज्ञान का प्रभाव सर्वप्रथम लीस्टर एफ-वार्ड (१८४१–१९११) की रचनाओं में पाया गया। विलियम ग्रैहम समर (१८४०–१९१०) ने भी सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में प्रथाओं तथा परम्पराओं के महत्त्वपूर्ण भाग की ओर संकेत किया था। गिडिंग्स, रॉस तथा कूले समाज-शास्त्रियों ने भी सामाजिक घटना-चक्र के मनोवैज्ञानिक पहलू को महत्त्वपूर्ण देन दी है। कई कारणों से हम उनके सिद्धान्तों की वहाँ रूपरेखा मात्र भी नहीं दे सकते।

इस बात से तो कोई इन्कार नहीं कर सकता कि सामाजिक तथा राज नीतिक घटनाचक्र को समझने के लिये मनोवैज्ञानिक दृष्टि बहुत उपयोगी रही है; बहुत से पुराने प्रश्नों पर नवीन प्रकाश डाला गया है और अध्ययन का एक नवीन दिलचस्प क्षेत्र खोला गया है। ग्रैहम वैलास, मैक्डूगल, डर्कहीम तथा रॉस सरीखे व्यक्तियों के प्रयास ने हमें उन शक्तियों को दिखलाया है जोकि मानव मानस और सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करती हैं। आज हम राजनीतिक जीवन में भाव, भावना, तथा प्रथा और परम्परा के भाग को अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझा सकते हैं और इस बात को पूर्ण रूप से महसूस कर सकते हैं कि मानव जाति की सामूहिक समस्याओं पर ऐसे विचार करना मानो कि प्रत्येक व्यक्ति 'भावना-रहित विशुद्ध बुद्धि है' एक गलती है। चतुर तथा सिद्धान्तहीन राजनीतिज्ञ

जिन हथकण्डों से निर्वाचकों को प्रभावित करते हैं और जनमत का निर्माण करते हैं, उनका आज पर्दाफाश हो गया है। हम यह भी जान गये हैं कि अपने घटकों पर समाज के नियन्त्रण करने का ढंग राज्य द्वारा अपनी प्रजा पर अनुशासन थोपने के ढंग से बहुत अधिक भिन्न है; 'सामाजिक नियन्त्रण' के साधनों का ज्ञान सरकार के लियें भी निश्चित रूप से ही बहुत सहायक हो सकता है। हम यह भी अब अधिकाधिक महसूस करने लगे हैं कि मनोविज्ञान तथा वंशानुक्रमण का अध्ययन हमें वह सामग्री प्रदान करेगा जिसके आधार पर हम यह निर्णय कर सकते हैं कि वृद्धावस्था के लिये पेन्शन अथवा बेरोजगारों को सहायता देने के लिये प्रस्तावित कानूनों का व्यक्ति के चरित्र पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा या बुरा।

परन्तु राजनीति के प्रति मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के मूल्य की सीमायें हैं। ये सीमायें इसलिये हैं कि प्राकृतिक विज्ञान की पद्धतियों को राजनीतिक घटनाचक्र के अध्ययन में पूर्णरूपेण नहीं अपनाया जा सकता। राजनीतिक दार्शनिक मूल्यों का निर्णय करता है; वह केवल यही अध्ययन नहीं करता कि राज्य क्या है; बल्कि वह यह भी निर्णय करना चाहता है कि राज्य को क्या होना चाहिये। उसका सम्बन्ध मापदण्ड अथवा आदर्श से है। यहाँ पर आकर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण सीमित और दोषपूर्ण सिद्ध होता है। हरबर्ट स्पेन्सर की आलोचना में हमने देखा था कि 'प्राकृतिक चुनाव' और 'योग्यतम की विजय' की धारणाओं के साथ नैतिक मूल्यों का निर्वाह नहीं हो सकता। हम प्रो० बार्कर के इस कथन से सहमत हैं कि राजनीति पर विचार करते समय मनोविज्ञान-शास्त्री प्राणी-शास्त्री से अधिक भिन्न नहीं रहता। प्राकृतिक विज्ञान की पद्धति को अपनाने में मनोविज्ञान-शास्त्री तथा प्राणी-शास्त्री दोनों एक हैं। इस पद्धति में दो गम्भीर दोष हैं। एक तो यह कि इसमें मूल्यों के लिये कोई स्थान नहीं है; मूल्यों का क्षेत्र आचार-शास्त्री का है। राज्य का जन्म किस प्रकार हुआ और उसने वर्तमान रूप कैसे ग्रहण किया, इसका अध्ययन करने मात्र से ही हम इस परिणाम पर तो नहीं पहुँच सकते कि इसका रूप क्या होना चाहिये। आदर्श की ओर इंगित किये बिना तो राजनीति विज्ञान का हमारे लिये कोई महत्त्व और अर्थ ही नहीं रहेगा। प्राकृतिक विज्ञान के लिये यह कार्य करना असम्भव है; इसकी दृष्टि क्या रही है और क्या है, तक ही सीमित है। क्योंकि प्राकृतिक विज्ञान का सम्बन्ध मूल्यों से नहीं होता, इसलिये उसके लिये समस्त घटनाओं का समान मूल्य है; सामाजिक मनोविज्ञान-शास्त्र के लिये एक सम्बन्ध-सूचक चिह्न भी उतना ही मूल्यवान है जितनी कि ट्रेड यूनियन, जैसे कि रसायनशास्त्री के लिये नाइट्रोजन उतनी ही मूल्यवान है जितनी कि ऑक्सीजन। परन्तु राजनीति-विज्ञान के विद्यार्थी को सामाजिक जीवन के विभिन्न रूपों का मूल्यांकन करना होता है; उसके लिये सभ्य मनुष्य का व्यवहार अन्य मनुष्य के व्यवहार से अधिक महत्त्व रखता है। सामाजिक मनोविज्ञान का विद्यार्थी अपनी प्रणाली में कुछ मूल्यांकन का तत्त्व भी ला सकता है क्योंकि वह मानव-मानस का

विश्लेषण करता है, किन्तु वह तथ्यों का मूल्यांकन गलत ओर से करता है; वह 'आदि को अन्त से न केवल समय से पहिले रखता है बल्कि महत्त्व के दृष्टिकोण से भी वह उसे प्राथमिकता देता है; वह सभ्य जीवन की व्याख्या वन्य भावों की दृष्टि से करके एक भारी भूल करता है। दूसरी बात यह कि सामाजिक मनोविज्ञान-शास्त्री समाज का अबौद्धीकरण करता है; वह उसे भाव तथा अनुकरण की सृष्टि समझता है, बुद्धि की नहीं। वह अलग-अलग असम्बद्ध मानसों से आरम्भ करता है और फिर उन्हें एक इकाई में एकबद्ध करने के लिये अनुकरण अथवा यूथचारी (Gregarious) भावों सरीखे प्रारम्भिक कारकों की सहायता लेने के लिये विवश होता है। जैसा कि बार्कर कहता है :

"यह तो समाज की एक बुद्धिरहित संघटन के रूप में व्याख्या करना है, इसलिये यह कोई व्याख्या ही नहीं है। सामाजिक मनोविज्ञान पहिले तो निम्नतर के द्वारा उच्चतर की व्याख्या करके हमें भौतिकवाद में ले जाता है, और फिर अबुद्धिवाद की ओर ले जाता है क्योंकि वह समाज को अनुकरण का फल और उसके नागरिकों को मनमाने संकेतों की वशीकृत सृष्टि समझता है।"*

सहायक पुस्तकों की भूमि

Barker :	*Political Thought in England,* Chapter IV.
Brinton :	*Nineteenth Century Thought in England.*
Gettel :	*History of Political Thought,* Chapters XXV and XXVIII.
Maxey :	*Political Philosophies.*
Marriam and Barnes :	*History of Political Theories, Recent Times,* Chapter X.
Murray :	*Social and Political Thinkers of the 19th Century,* Vol. II, Chapter VII, pages 314-323.

'Human Nature in Politics' तथा मैक्डूगल की 'Social Psychology' और 'Group Mind' का अध्ययन करना भी विद्यार्थियों के लिए काफी लाभप्रद होगा।

---

* "This is to explain society as an irrational structure, and therefore not to explain society at all. Social psychology leads us first into the materialism of explaining the higher by the lower, and then into the irrationalism of seeing in society the result of imitation and in its citizens the hypnotised product of arbitrary suggestion." —Barker : *op. ct.,* pages 150-51.

कल्पनावादी तथा मार्क्स का पूर्ववर्ती समाजवाद ७

(UTOPIAN AND PRE-MARXIAN SOCIALISM)

परिचयात्मक— अब हम राजनीतिक विचार की एक ऐसी धारा पर आते हैं जिसने कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अन्य किसी भी विचारधारा (जिनकी चर्चा हमने अब तक की है) की अपेक्षा अधिक हलचल उत्पन्न की है, और जिसकी प्रधानता बीसवीं शताब्दी के चिंतन में भी पाई जाती है। यह धारा है समाजवाद। आज समाजवाद अन्य किसी भी विचारधारा की अपेक्षा अधिक छाया हुआ है, एक न एक रूप में यह संसार के करोड़ों व्यक्तियों का एक धर्म सा बन गया है, और उनके विचारों तथा कार्यों की रूपरेखा निर्धारित करता है। अपने वर्तमान रूप में इसका स्रोत सामान्यतया कार्ल मार्क्स तथा उसके साथी एंगिल्स (कुछ लोग एंजिल्स भी कहते हैं) में देखा जाता है, परन्तु इसके सूत्रपात के लिये हमें महान् फ्रेंच कल्पनावादी विचारक— सेंट साइमन तथा फोरियर और उनके अंग्रेज समकालीन रॉबर्ट ओवन, और कुछ अन्य जिन्हें कल्पनावादियों की श्रेणी में नहीं रक्खा जाता, की ओर जाना पड़ेगा। इन सब ने १९वीं शताब्दी में अपने विचार संसार के समक्ष रक्खे। साइमन फोरियर तथा ओवन के समाजवाद को कार्ल मार्क्स ने घृणात्मक स्वर में कल्पनावादी अथवा स्वप्नलोकीय (Utopian) कहकर उसकी निन्दा की है, और उसके विपरीत अपने समाजवाद को वैज्ञानिक कहकर पुकारा है। यद्यपि कल्पनावादी समाजवाद का अब कोई अस्तित्व ही नहीं रह गया है, और उपरोक्त तीन विचारकों द्वारा प्रतिपादित सामाजिक पुनर्रचना की योजनाओं में अब कोई भी व्यक्ति दिलचस्पी नहीं लेता, तथापि हम प्रस्तुत अध्याय में उन्हीं का अध्ययन करेंगे। आधुनिक राजनीतिक विचार के इतिहास में समाजवाद के इन संदेशवाहकों की पूर्णरूप से अवहेलना नहीं की जा सकती। १८वीं तथा १९वीं शताब्दी के बीच की वे कड़ी हैं। मार्क्स का वैज्ञानिक समाजवाद अगले अध्याय का विषय होगा। कल्पनावादी समाजवादियों के विचारों की समीक्षा करने से पूर्व समाजवाद के अर्थ और तत्त्व के विषय में दो शब्द कह देना आवश्यक होगा।

समाजवाद का अर्थ तथा इतिहास— 'समाजवाद' तथा 'समाजवादी' शब्दों को इतने विविध अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है कि कोई ऐसी परिभाषा देना असम्भव है जोकि उन सब पर लागू हो सके। समाजवाद के मूल तत्त्व के विषय में विशेषज्ञों

में मतैक्य नहीं है। आधुनिक राजनीतिक विचार के इतिहास में समाजवाद शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग १९वीं शताब्दी के आरम्भ में सेण्ट साइमन, चार्ल्स फोरियर तथा रॉबर्ट ओवन सरीखे व्यक्तियों की शिक्षाओं को इंगित करने के लिये किया गया था। क्योंकि उनके द्वारा प्रतिपादित कुछ विचार उनसे पहिले भी पाये जाते थे, इसलिये समाजवाद तथा समाजवादी शब्दों का प्रयोग उनसे पहले के सिद्धान्तों और विचारकों के लिये भी किया जाने लगा। इस प्रकार समाजवाद की वंश-परम्परा भूतकाल में अफलातून और यहां तक कि मूसा (Moses) तक जाने लगी। व्यापकतम अर्थ में प्रत्येक उस व्यक्ति को समाजवादी कहा जा सकता है जोकि गरीबों के प्रति सहानुभूति रखता है और उनके कष्टों का निवारण करने के लिये कर्म करने को प्रेरित होता है। इसी अर्थ में ईसाई मिशनरियों को समाजवादी कहा जा सकता है। किन्तु यह इस शब्द का उचित प्रयोग प्रतीत नहीं होता; समाजवाद केवल गरीबों के प्रति दया भावना नहीं है, यह केवल मानवतावाद अथवा परमार्थवाद नहीं है। यह महसूस करने का विषय नहीं है, बल्कि एक निश्चित उद्देश्य के लिये समाज को संगठित करने का विषय है। राष्ट्रीय धन का अधिक न्यायपूर्वक वितरण, जनता की दरिद्रता, रोग तथा अज्ञान से रक्षा, और व्यक्ति की स्वतन्त्रता उसके उद्देश्य के अंग हैं। संक्षेप में, वर्गों के स्थान में सर्वसाधारण का कल्याण उसके उद्देश्य का एक अभिन्न अंग है। नकारात्मक रूप से, आधुनिक समाजवादियों का उद्देश्य पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त करना है जिसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण होता है। मार्क्स से लेकर आज तक के सभी समाजवादी इस बात पर सहमत हैं कि पूँजीवाद का अन्त होना चाहिये। उनमें कुछ एक कदम और आगे जाते हैं और राज्य का उन्मूलन करना चाहते हैं क्योंकि उनके विचार से राज्य और पूँजीवाद का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु सभी समाजवादी राज्य-विरोधी नहीं हैं, कुछ राज्य को जनहित के एक यन्त्र के रूप में बनाये रखना चाहते हैं। समाजवादियों का परस्पर मतभेद इस बात पर और है कि पूंजीवादी वर्तमान व्यवस्था का अन्त करके एक नवीन समाज की स्थापना करने के लिये कौन से साधन अपनाये जायें। कुछ सांविधानिक साधनों को अपनाना चाहते हैं, जैसेकि अंग्रेज फेबियन्स (Fabians) तथा जर्मन पुनर्विचारवादी (Revisionists) अथवा विकासवादी समाजवादी। कुछ के विचार से सांविधानिक साधनों से समाज-वाद को नहीं लाया जा सकता; उसके लिए वे क्रान्तिकारी साधनों का अनुमोदन करते हैं। जिनका विश्वास वर्ग-युद्ध और श्रमजीवी वर्ग (Proletariat) की तानाशाही में है, उन्हें सामान्यतया साम्यवादी कहा जाता है; और जो आर्थिक क्षेत्र में प्रत्यक्ष कार्यवाही के साधन को अपनाते हैं, वे सिंडीकलिस्ट (Syndicalist) कहलाते हैं। समष्टिवादियों (Collectivists) तथा सिंडीकलिस्ट्स के बीच में गिल्ड समाजवादी (Guild Socialists) हैं। अब, समाजवाद एक मूल शब्द है जो कि फेबियनिज़्म, विकासवादी समाजवाद, साम्यवाद, सिंडीकलिज़्म, गिल्ड समाजवाद, और यहाँ तक कि अराजकतावाद तक पर भी लागू होता है। इसलिये इन सब पर लागू होने

वाली कोई एक परिभाषा देना असम्भव है। जोड ने ठीक ही समाजवाद की तुलना एक ऐसे हैट से की है जिसने अपना निश्चित रूप खो दिया है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति उसे पहिनता है। रेमजे म्योर ने इसकी तुलना एक गिरगिट से की है, जोकि पर्यावरण के अनुसार अपना रंग बदल लेता है।

• संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि समाजवाद का अर्थ समय-समय पर और एक विचारक से दूसरे विचारक के लिए बदलता रहा है; गत एक सौ वर्षों में इसके विकास काल में इसके अर्थ में भी बहुत कुछ जोड़ा गया है। परन्तु फिर भी इस शब्द का कोई केन्द्र-बिन्दु तो होना ही चाहिये। इस केन्द्र-बिन्दु की खोज हम सेण्ट साइमन, चार्ल्स फोरियर तथा रॉबर्ट ओवन की शिक्षाओं में तुलना करके कर सकते हैं जिनके लिये कि समाजवाद शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया गया था।

कल्पनावादी समाजवाद का सामान्य स्वरूप— ये तीनों विचारक स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा के ऊपर आधारित आर्थिक व्यवस्था के विरोधी थे और वे इस धारणा का भी विरोध करते थे कि सरकार जनहित की सर्वाधिक वृद्धि लैसे-फेयर की नीति अपनाकर ही कर सकती है। अपने जमाने की इस धारणा का उन्होंने खण्डन किया कि यदि राजनीतिज्ञ लोग अपने आपको आर्थिक विषयों के विनियमन से दूर रक्खें तो आर्थिक कानून की स्वतन्त्र क्रिया के फलस्वरूप अपने आप जनता की भलाई होगी। इसके विपरीत समाजवाद के इन संदेशवाहकों ने यह विश्वास प्रकट किया कि सामाजिक विषयों का विनियमन और निर्देशन होना चाहिए। संक्षेप में, उनके समाजवाद का जन्म लैसे-फेयर के उदार सिद्धान्तों की उनकी आलोचना में हुआ। उनके समय में व्यक्ति के अधिकारों पर जो बल दिया जाता था उसके विपरीत उन्होंने मानवी सम्बन्धों में सामाजिक तत्त्व के ऊपर जोर दिया और कहा कि जब तक स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा के ऊपर सामाजिक व्यवस्था कायम है तब तक कोई सुधार नहीं हो सकता। इन तीनों को ही राजनीति और राजनीतिज्ञों के प्रति अविश्वास था, और उनका विश्वास था कि सामाजिक विषयों का नियन्त्रण उत्पादकों के हाथ में होना चाहिए, मन्त्रियों के हाथ में नहीं।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस प्रारम्भिक समाजवाद में श्रमजीवी वर्ग तथा उसके और पूंजीवादी वर्ग के बीच में संघर्ष का कोई उल्लेख नहीं है। इसका कारण यह है कि ये तीनों समाजवादी सम्पत्ति के असमान वितरण की बुराइयों का कारण पूंजीवाद को नहीं (जैसा कि मार्क्स समझता था), बल्कि धनतन्त्र के विशेषाधिकारों को समझते थे। परन्तु उस युग में वर्ग-संघर्ष की धारणा का पूर्णतया अभाव नहीं था; सेन्ट साइमन तथा अन्य के समाजवादी विचारों के आविर्भाव से पूर्व भी वह पाई जाती थी। इसके मुख्य प्रतिपादक कुछ उग्र रेडीकल थे जोकि ग्रेकस बैबूफ (Gracchus Babeuf) से प्रेरणा प्राप्त करते थे। जिस तथ्य पर हम जोर देना चाहते हैं वह यह है कि उन दिनों में वर्ग संघर्ष की धारणा समाजवाद के अर्थ का एक अभिन्न अंग नहीं थी; वास्तव में उपरोक्त तीनों विचारों और बैबूफ के

अनुयायियों के सिद्धान्तों में विभेद किया जाता था। इन दोनों में समन्वय मार्क्स की प्रतिभा ने किया। इसी प्रकार समाजवाद और साम्यवाद का संयोग भी मार्क्स और एंजिल्स द्वारा रचित 'कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो' से हुआ है; आरम्भ में ये दोनों धारणायें अलग-अलग थीं।

एक अन्य बात भी ध्यान देने योग्य है। 'समाजवाद' और 'समाजवादी'— ये शब्द नये थे, किन्तु जिन विचारों को वे अभिव्यक्त करते थे वे नये नहीं थे। "व्यक्ति के अधिकारों के मुकाबिले में समाज के अधिकारों पर जोर देना कोई नई बात न थी; विषमताओं और धनिक द्वारा गरीबों के शोषण की निन्दा करना कोई नई बात न थी; नागरिकों को सामाजिक आचार की शिक्षा देने की आवश्यकता पर बल देना कोई नई बात न थी; सम्पत्ति के समाजीकरण की बात नई न थी। सामाजिक कल्पनावादी सिद्धान्तों की रचना करने में, अथवा समस्त मनुष्यों के लिए आर्थिक और नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों की मांग करने में निश्चित रूप से ही कोई नवीन बात न थी।"*

इसलिये इन नामों को पहिले के उन समस्त विचारकों पर आरोपित करना, जिन्होंने कि ऐसे ही विचारों का प्रतिपादन किया था, स्वाभाविक ही था। इसलिये अफलातूनी समाजवाद अथवा साम्यवाद और मध्यकालीन समाजवाद की चर्चा होने लगी; कुछ लोगों ने तो रूसो के 'Discourse on Inequality' में तथा अन्यत्र भी समाजवादी विचार पाये।

सारांश यह है कि अपनी प्रारंभिक अवस्था में समाजवाद का अर्थ केवल एक न्यायोचित सामाजिक व्यवस्था के ऊपर बल देना था। यह समाज को व्यक्ति से पहिले रखता था और अनियंत्रित व्यक्तिवाद से उत्पन्न संघर्ष और अव्यवस्था को स्पष्ट करता था; यह 'समाज के कष्ट निवारण के लिये प्रेरणा' का दूसरा नाम था। यह सम्पत्ति को समस्त रोगों का, विशेष रूप से दरिद्रता का, मूल समझता था, और इसलिये धन के विशेषाधिकारों को नष्ट कर देना चाहता था ताकि मानव स्वतन्त्रता आर्थिक दमन से स्वतन्त्र हो जाये। प्रारम्भिक समाजवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विरोधी नहीं था, वल्कि वह इस बात पर जोर देता था कि स्वतन्त्रता को सामाजिक कल्याण के संदर्भ के साथ ही देखना चाहिये। प्रारम्भिक विचारकों के सिद्धान्तों में वर्ग संघर्ष की धारणा का कोई स्थान न था; समाजवाद का एक अभिन्न अङ्ग तो इसे कार्ल मार्क्स ने बनाया। वर्ग संघर्ष को समाजवाद का एक आवश्यक

* "There was nothing novel in stressing the claims of society as against those of the individual; nothing new in denouncing social inequalities or in accusing the rich for exploiting the poor; nothing new in asserting the need of an education for all citizens in the principles of social morality; nothing new in proposing community of goods. Assuredly, there was nothing new in writing utopias, or in claiming for all men economic as well as civil and political rights."

—G. D. H. Cole: *Socialist Thought*: *The Fore-runners*, page 8.

अंग समझा जाना चाहिये या नहीं, यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है : हमारे विचार में वर्ग संघर्ष समाजवाद का आवश्यक अंग नहीं।

अब हम इन तीनों महान् कल्पनावादी समाजवादियों— सेन्ट साइमन, चार्ल्स फोरियर तथा रॉबर्ट ओवन के विचारों की समीक्षा करेंगे। यद्यपि इस प्रकार का समाजवाद अब बिल्कुल मुर्दा हो चुका है और उन्हें अब कोई याद भी नहीं करता, परन्तु, जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, उनकी अवहेलना भी नहीं की जा सकती क्योंकि वे १८वीं और १९वीं शताब्दी के बीच की एक कड़ी हैं। इसके अतिरिक्त उनकी विफलता से हमें यह सबक मिलता है कि नवीन समाज की रचना एक अत्यंत जटिल समस्या है, और इसका कोरे आदर्शवादी ढंग से निराकरण नहीं किया जा सकता। "पूर्णवादी समाज का निर्माण किसी के आदेश से, स्वयं सन्तों के आदेश से भी नहीं किया जा सकता।"*

कल्पनावादी (Utopian) **शब्द का अर्थ**— कल्पनावाद की व्याख्या के रूप में यहाँ दो शब्द कह देना अनावश्यक न होगा। साधारणतया, एक ऐसे सिद्धान्त को कल्पनावादी कहा जाता है जोकि एक ऐसे आदर्श लोक की कल्पना करके जिसमें कि उसके अभीष्ट मूल्यों का साम्राज्य रहता है, प्रस्तुत समाज के दोषों से बच निकलने का प्रयास करता है। ऐसे आदर्श और पूर्ण समाज कल्पना द्वारा ही बनाये जाते हैं; उनका इतिहास में कोई ठोस आधार नहीं होता। कल्पनावादियों का विषय सदैव प्रस्तुत समाज के दोष होते हैं जिन्हें वे मनुष्य की न्याय एवं नैतिक भावना को अपील करके दूर करना चाहते हैं। एथेन्स के नगर-राज्य में पाये जाने वाले भयंकर वर्ग संघर्ष और राजनीतिक स्वार्थपरता से बचने का प्रयास अफलातून ने एक दार्शनिक राजाओं द्वारा शासित आदर्श राज्य की रचना करके किया; और उससे बहुत बाद में सोलहवीं शताब्दी में इंगलैंड की दरिद्रता और जन-संकट के विरुद्ध विद्रोह के फलस्वरूप सर टॉमस मोर ने अपने कल्पनालोक की रचना की जिसमें समस्त वस्तुओं पर सबका स्वत्व था और प्रत्येक व्यक्ति सुखी था। ये कल्पना-लोक (Utopias) केवल कोरे सपने रह सकते हैं; किन्तु ये एक अत्यन्त उपयोगी उद्देश्य की पूर्ति करते हैं क्योंकि ये मानव जाति के समक्ष न्याय के कुछ आदर्श रखते हैं जिनको कि मनुष्य को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये।

सेन्ट साइमन (१७६०-१८२५)— काउण्ट हेनरी डी रूरॉय डी सेण्ट साइमन, जिसने कि आधुनिक राजनीतिक विचार— समाजवाद, विधेयात्मकवाद (Positivism) तथा अन्तर्राष्ट्रीयवाद के बहुत से उल्लेखनीय विचारों का पूर्वाभास दिया, का जन्म फ्रांस के एक सबसे अधिक प्राचीन और सामन्त परिवार में हुआ था; उसकी वंश-परम्परा शार्लमेन (Charlemagne) से बताई जाती है। उसका जीवन बड़ा रोमांचकारी था, परन्तु उसमें जाने की आवश्यकता नहीं। हमारे उद्देश्य

* "Perfectionistic societies can not be made to order, not even by the saints themselves."

के लिये तो केवल यह देखना काफी होगा कि उसे इस बात की चेतना थी कि मैं एक महान् उद्देश्य के लिये उत्पन्न हुआ हूँ और मुझे संसार का एक महानतम व्यक्ति बनना है जिसे कि मानव व्यापार को एक नवीन दिशा देनी है जैसे सुकरात ने दी थी। सेण्ट साइमन को विश्वास था कि एक नवीन युग का आविर्भाव होने वाला है और १८वीं शताब्दी के उपरान्त, जोकि आलोचना और विनाश की शताब्दी थी, निश्चित रूप से ही समाज की पुनर्रचना होगी। सामन्तवादी युग गुजर चुका था और औद्योगिक युग आने वाला था। पुराने युग के समाप्त हो जाने के साथ जीवन के पुराने पथ-प्रदर्शकों का अस्तित्व भी समाप्त हो गया था और यह आवश्यक था कि कुछ नवीन पथ-प्रदर्शक उनका स्थान ग्रहण करें। सेण्ट साइमन के सामने मुख्य प्रश्न यह था कि ऐसे पथ-प्रदर्शक कहाँ और कैसे मिलें। वह एक ऐसी नवीन लौकिक एवं आध्यात्मिक शक्ति को खोजने के लिये उत्सुक था जोकि विकास की एक उच्चतर अवस्था के लिए मानव जाति का पथ-प्रदर्शन कर सके और एक नवीन तथा अधिक अच्छे समाज के निर्माण करने में उसकी सहायता कर सके। उसके विचार तथा सिद्धान्त उसके 'Letters of a Resident of Geneva' (१८०२), 'The Reorganisation of European Society' (१८१४), 'The Industrial System' (१८२१) तथा 'The New Christianity' (१८२५) में पाये जाते हैं।

सेण्ट साइमन के मन में एक महान् विचार था जिसे उसने विभिन्न ढंगों से अभिव्यक्त किया है। वह यह है कि मानव समाज का संगठन और निर्देशन बुद्धिपूर्वक होना चाहिये। यह आवश्यक निर्देशन विज्ञान दे सकता था। अतीत में समाज के ऊपर प्रभुत्व कुछ विशेषाधिकार-प्राप्त वर्गों का था; कुछ मुट्ठी भर मनुष्यों के आराम और विलासित जीवन के लिये अधिकतर को घोर परिश्रम करना पड़ता था और फिर भी उनकी जीवन की नग्नतर आवश्यकतायें पूरी नहीं होती थीं। नवीन समाज का संघटन एक भिन्न सिद्धान्त पर होना था; उसका उद्देश्य दरिद्र-नारायण का कल्याण था। उनका जीवन-स्तर ऊँचा उठाने के लिये विज्ञान की सहायता आवश्यक थी और समाज का नेतृत्व औद्योगिक वर्ग, वैज्ञानिक तथा टेक्नीशियन के हाथ में देना था। सेण्ट साइमन का विश्वास था कि वैज्ञानिक आधार पर संगठित समाज की ओर कोई वास्तविक कदम तब तक नहीं उठाया जा सकता जब तक कि निजी सम्पत्ति की संस्था में आधारभूत परिवर्तन न किये जायें, किन्तु वह सम्पत्ति के समाजीकरण का अनुमोदन नहीं करता था। उसने यह घोषणा की थी कि सम्पत्ति को सार्वजनिक उपयोगिता समझा जाना चाहिये और जिस धन के उत्पादन में जो लोग योग देते हैं उन सबका अपने परिश्रम के अनुसार उस धन में भाग होना चाहिये। सेण्ट साइमन लोकतन्त्र का भक्त नहीं था; वह शासन की बागडोर सर्व-साधारण के हाथ में नहीं देना चाहता था। समाज को संगठित करने और उसका पथ-प्रदर्शन करने की शक्ति उद्योग के महान् नेताओं के हाथ में आनी थी। वह इस बात में कोई सन्देह नहीं करता था कि बड़े-बड़े उद्योगपतियों के हाथ में यदि शक्ति

आ जाये तो वे अपने को गरीबों का ट्रस्टी समझेंगे और उत्पादन तथा जनता की क्रय-शक्ति में वृद्धि करके उनके जीवन-स्तर को ऊँचा उठायेंगे। इसमें उद्योगपतियों तथा श्रमिकों के हितों में संघर्ष की सम्भावना का तनिक संकेत-मात्र तक नहीं है। सेण्ट् साइमन श्रमिकों की दरिद्रता का कारण उस बुरी सामाजिक व्यवस्था को समझता था जिसमें कि मालिकों की अहम् भावना पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता। उसका विश्वास था कि उन्हें यदि समुचित ज्ञान प्राप्त हो जाये और उनमें उत्तर-दायित्व की भावना जाग्रत हो जाये तो वे भी सर्वसाधारण के कल्याण के लिए कार्य करेंगे। यह बात याद रखने योग्य है कि उत्पादन को नियन्त्रित करने की शक्ति यद्यपि वह उद्योगपतियों को देना चाहता था, तथापि उसने यह व्यवस्था की कि उन्हें अपनी शक्ति का प्रयोग विद्वज्जन तथा कलाकारों के परामर्श से करना चाहिये। समाज का आध्यात्मिक नेतृत्व विद्वानों के हाथ में आना चाहिये जोकि मानवता के प्रकाश-वाहक हैं।

प्रश्न यह उठता है: इन सबमें समाजवाद कहाँ है? सेण्ट साइमन की शिक्षाओं के वे गुण कौनसे हैं जिनके आधार पर उसे समाजवाद का प्रवर्त्तक समझा जाता है। औद्योगिक वर्गों का जो गुणगान उसने किया है उसमें तो कहीं समाजवाद दिखलाई नहीं पड़ता; उसमे तो उसे बड़े उद्योगपतियों का हिमायती समझा जा सकता है। अलेग्जेण्डर ग्रे के अनुसार सेण्ट साइमन का समाजवाद के एक जनक होने के दावे का आधार बहुत उथला है। हम कह सकते हैं कि साइमन के समाजवाद के एक प्रवर्त्तक होने के दावे का आधार उसका यह सिद्धान्त है कि श्रम मूल कार्य और मनुष्य का कर्त्तव्य है, और प्रत्येक व्यक्ति को समाज में सम्मान उसकी समाज के प्रति सेवा के अनुपात में ही मिलना चाहिए। जहाँ तक कि वह जन्म और धन पर आधारित विशेषाधिकारों को ठुकराता है और धनिकों के बेकार पड़े रहकर विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करने के अधिकार से इन्कार करता है वह एक समाज-वादी है। वह सम्पत्ति का अधिकार केवल उस सीमा तक देता है जहाँ तक कि वह सामान्य हित की वृद्धि के लिए आवश्यक है। इसलिए भी वह एक समाजवादी है। वह उत्तराधिकारी का अन्त करना चाहता था क्योंकि उसकी संगति इस सिद्धान्त से नहीं बैठती कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्म के अनुसार फल मिलना चाहिये। यह बात भी उल्लेखनीय है कि सेण्ट साइमन नागरिक उत्पादन में लगे हुए समस्त व्यक्तियों, बैंकर से लेकर अकुशल श्रमिक तक, को भाग देना चाहता था। यदि उत्पादन के आयोजित संघटन और नियन्त्रण की माँग करने से कोई व्यक्ति समाज-वादी बन सकता है तो सेण्ट साइमन निस्संदेह एक समाजवादी था। परन्तु जो चीज सेण्ट साइमन को समाजवादी विचार के विकास से संयुक्त करती है वह उसके सिद्धान्त में उसके शिष्यों द्वारा किया हुआ संशोधन। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सेण्ट साइमन ने उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व के उन्मूलन का अनु-मोदन नहीं किया था, किन्तु उसके अनुयायियों ने उनके सामाजिक स्वामित्व का

प्रस्ताव किया, क्योंकि वे अपने समय के आर्थिक अन्याय का कारण निजी सम्पत्ति को समझते थे। यद्यपि सेण्ट साइमन के सिद्धान्तों को उसके शिष्यों ने लोकप्रिय बनाया और उनके प्रचार के कारण उन्होंने काफी लोगों का ध्यान आकृष्ट किया, तथापि हम उसका उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझते। अब हम अन्य महान् कल्पनावादी फ्रेंच समाजवादी— चार्ल्स फोरियर को लेते हैं।

चार्ल्स फोरियर (१७७२–१८३७)— यद्यपि एक कल्पनावादी समाजवादी होने के नाते फोरियर तथा सेण्ट साइमन को एक ही श्रेणी में रक्खा जाता है, तथापि उन दोनों में कई बातों में मतभेद है। सेण्ट साइमन के विपरीत, जोकि बड़े पैमाने के उद्योग-धन्धों में अनुराग रखता था, फोरियर किसी भी प्रकार के केन्द्रीकरण को नापसन्द करता था और मनुष्य की आवश्यकता पूर्ति के लिए छोटे समुदायों को सब से अधिक उपयुक्त समझता था।

उसके बाल्य-काल के कुछ अनुभवों ने उसके मस्तिष्क में उस समय की आर्थिक व्यवस्था के दोषों को स्पष्ट कर दिया और उसके विचारों के लिए दिशा निर्धारित कर दी। कहा जाता है कि जब उसकी आयु केवल पाँच वर्ष की थी तो उसके पिता ने उसे एक ग्राहक को अपने व्यापार का गुप्त भेद बतलाने के कारण दण्ड दिया था। इसके कारण उसे यह शिकायत हुई कि चर्च में तो उससे सत्य बोलने के लिए कहा जाता है, किन्तु अपने पिता की दुकान पर उसे असत्य भाषण करना पड़ता है। इससे स्वाभाविक रूप में उसके मन में उस सभ्यता के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई जोकि ऐसी बातों को सम्भव बनाती है। इस धारणा को दूसरे अनुभवों से सम्बल मिला जिनमें से केवल एक का उल्लेख यहाँ पर किया जा सकता है। मार्सी-लीज की बन्दरगाह में अपने कर्त्तव्यों का पालन करते समय उसने एक दिन देखा कि चावल को समुद्र में फेंका जा रहा है क्योंकि उसके मालिकों ने उसके मूल्य में वृद्धि की आशा को नष्ट करने के बजाय चावल को सड़ जाने देना अधिक अच्छा समझा था। इस घटना से फोरियर यह सोचने लगा कि इस सभ्यता में कोई आधारभूत दोष होना चाहिए जिसमें कि भोजन को सड़ने दिया जाता है और नष्ट किया जाता है जबकि उसकी घोर आवश्यकता होती है। वह एक ऐसी नवीन सामाजिक व्यवस्था के विषय में सोचने लगा जिसमें ऐसी बातें असम्भव हो जायें।

फोरियर किस प्रकार की नवीन समाज की रचना चाहता था उसे अच्छी तरह समझने के लिए यह याद रखना आवश्यक है कि फोरियर को सबसे अधिक दुख स्पर्धापूर्ण प्रणाली की व्यवस्था और अपव्यय को देखकर हुआ था, धन के असमान वितरण में निहित अन्याय और गरीबों के संकट से वह इतना दुखित नहीं हुआ था। अलेग्जेंडर ग्रे के शब्दों में '३०० छोटे-छोटे घरों में, तीन सौ छोटी-छोटी अग्नियाँ जला कर, तीन सौ छोटे-छोटे बर्तनों में अपने काम से लौट कर आने वाले ३०० छोटे-छोटे पुरुषों के लिए तीन सौ स्त्रियों के थोड़ा-थोड़ा भोजन बनाने के सुखद दृश्य' ने जबकि 'तीन या चार स्त्रियाँ एक बड़े बर्तन की सहायता से और एक बड़ी अग्नि

पर अधिक अच्छा काम कर सकती थीं' उसे पागल बना दिया। उसने देखा कि प्रतिस्पर्धा के दबाव में अधिकतर मनुष्यों को अपनी शक्ति का अधिकांश ऐसे कार्यों को करने और ऐसी वस्तुओं को बनाने में व्यय करना पड़ता है जिनसे उनके सुख में कोई वृद्धि नहीं होती, बल्कि उनके जीवन को नीरस बनाती हैं। क्रय-विक्रय की जटिल प्रणाली का अन्त करके उसके स्थान में उत्पादन तथा उपभोग की वह सरलतम पद्धति प्रतिस्थापित करना चाहता था जिसमें लोग सचमुच आनन्द उठा सकें। मैक्सी के शब्दों में फोरियर की इच्छा और उद्देश्य 'समाज की प्रतिक्रियाओं में व्यवस्था, कुशलता तथा मितव्ययता' लाना था।

नवीन सामाजिक संघटन की रूपरेखा देने में फोरियर की आधारभूत मान्यता यह थी कि मनुष्य स्वभावतः अच्छे होते हैं, और वे कुमार्ग पर तब जाते हैं जबकि उनकी स्वाभाविक कामनाओं अथवा भावनाओं को समाज द्वारा दबाया जाता है। मानव जाति के समस्त रोगों का कारण वह समाज द्वारा थोपे गये बन्धनों को समझता था। तथाकथित सभ्य समाजों में मानवी सम्बन्धों पर धोखे, छल-कपट और असत्य का आवरण पड़ जाता है क्योंकि मनुष्य की भावनाओं की स्वतन्त्र क्रीड़ा की छूट नहीं दी जाती। इसलिये उसने एक ऐसी नवीन सामाजिक व्यवस्था का चित्र खींचा जिसमें प्रत्येक को अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता होगी और जिसमें कहीं भी जबर्दस्ती न होगी। उसकी योजना का यह एक आवश्यक तत्त्व था कि किसी भी श्रमिक को किसी एक ही उद्यम तक सीमित नहीं रखा जायेगा और प्रत्येक व्यक्ति बहुत से कार्य करेगा, परन्तु किसी भी कार्य को अधिक समय तक नहीं करेगा। इस प्रकार के कार्य-परिवर्तन को वह नीरसता दूर करने और कार्य को सुखद बनाने के लिये आवश्यक समझता था। ऐसे समाज में शान्तिपूर्ण सामंजस्य पाया जायेगा क्योंकि उसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक किसी व्यावसायिक समूह से अपने को संयुक्त करेगा।

फोरियर के समाज की सबसे छोटी इकाई एक व्यावसायिक समूह है, जिसमें एक-सी रुचि और हित वाले लगभग सात व्यक्ति होंगे। पांच या अधिक समूह मिलकर एक बृहत्तर संगठन का निर्माण करेंगे जिसे फोरियर 'सीरीज' (Series) कहकर पुकारता है, और कोई पच्चीस से अट्ठाईस तक सीरीज मिलकर 'फैलेंक्स' (Phalanx) बनायेंगे जोकि सामाजिक संगठन की सबसे बड़ी इकाई होगी। जब काफी फैलेंक्स बन चुकेंगे तो वे एक संयोजक शासक के अधीन एक ढीले-ढाले संघात्मक संघटन में मिल जायेंगे।

फोरियर की कल्पना के नवीन समाज का आधारबिन्दु फैलेंक्स है, इसलिये उसके संघटन तथा कार्यों के सम्बन्ध में दो शब्द कह देना अनावश्यक न होगा। इसके सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य पहिली बात इसका लघु आकार है। इसमें लगभग १६०० और १८०० व्यक्ति होंगे— जिनमें पुरुष, स्त्री तथा बच्चे सभी सम्मिलित हैं; किसी भी दशा में यह संख्या २००० से अधिक नहीं हो सकती। अफलातून की भाँति (जो

कि आदर्श नगर-राज्य के वयस्क नागरिकों की आदर्श संख्या ५०४० को मानता था) फोरियर की १६२० की संख्या गणित-शास्त्र के अनुसार थी, यह कोई मनमानी संख्या न थी। इसे उन सम्भव रीतियों से निर्धारित किया गया था जिनमें कि विभिन्न मानव कामनाओं को व्यक्तियों में मिश्रित किया जा सकता है। इस संस्था के पीछे विचार यह था कि इकाई इतनी बड़ी हो जोकि अपने घटकों को व्यवसाय की व्यापक छांट प्रदान करने के लिये पर्याप्त हो, किन्तु वह उससे बड़ी न हो। कृषि, पशु-पालन, भोजन बनाना तथा सामान बनाना घटकों के मुख्य धन्धे होंगे। फैलेंक्स के समस्त घटक एक सामान्य भवन अथवा भवनों के समूह में रहेंगे जोकि 'सामान्य सेवाओं से पूर्ण रूप से सुसज्जित होंगे, जिनमें शिशुगृह भी होंगे, जिनमें बच्चों की सामूहिक रूप से देख-रेख की जायेगी।' भोजन सामान्य पाकशालाओं में और वे लोग तैयार करेंगे जोकि पाककला में निपुण होंगे और सामान्य भोजनकक्षों में बैठकर लोग भोजन करेंगे। प्रत्येक 'सीरीज' का अपना एक पुस्तकालय और गोदाम होगा। परन्तु प्रत्येक परिवार का अपनी आवश्यकताओं और आय के अनुसार अपना निजी निवास-स्थान होगा। रहने के मकान विभिन्न आकार के होंगे और आवश्यकताओं और आय के स्तरों के अनुसार होंगे। इससे सिद्ध होता है कि निरपेक्ष समानता से फोरियर को कोई प्रेम न था। फैलेंक्स के आर्थिक संगठन की कुछ अन्य विशेषताओं से भी यही सिद्ध होता है कि उसका स्वरूप साम्यवादी नहीं था (जैसा कि ओवन का है जिसका वर्णन अगले वर्ग में किया जायेगा)। फोरियर निजी पूंजी और पूंजी के उत्तराधिकार को भी स्वीकार करता था। "फैलेंक्स के प्रत्येक घटक के लिये सामान्य उत्पत्ति में से एक उदारतापूर्ण न्यूनतम भाग अलग रख लेने के बाद शेष को श्रम, पूंजी तथा बुद्धि में विभाजित कर दिया जाता है। श्रम को ५|१२, पूंजी को १|३ तथा बुद्धि को १|४ भाग मिलता है। यह विभाजन फैलेंक्स के अधिकारियों द्वारा किया जाता है। इसमें यह बात दिलचस्प है कि अधिकतम वेतन उन लोगों को मिलता है जोकि सबसे अधिक आवश्यक कार्य करते हैं, और सबसे कम उन लोगों को जोकि विशेष रूप से रुचिकर कार्य में लगे हुए हैं।"*

फोरियर का विश्वास था कि फैलेंक्स के संगठन के फलस्वरूप उत्पादकता बहुत गुणा बढ़ जायेगी। बहुत से स्त्री और पुरुषों के एक साथ कार्य करने से एक उच्चतर उत्पादक श्रम-विभाजन सम्भव हो जायेगा। फैलेंक्स के घटकों में पूर्ण सामंजस्य होगा, इसलिये उसमें पुलिस, सेना, वकीलों इत्यादि की कोई आवश्यकता न

---

* "After a generous minimum of the common product is set aside for each member of the phalanx, the surplus is divided between labour, capital and talent in the proportion of five-twelfths to labour, four-twelfths to capital, and three-twelfths to talent, the division being made by the officers of the phalanx. It is interesting to note that the highest pay goes to those performing the most necessary work and the smallest to those engaged in particularly agreeable work."

—Westmeyer : *Modern Economic and Social System*, page 34.

होगी। व्यर्थ की प्रतिस्पर्धा तथा विज्ञापनों में होने वाला व्यय भी बच जायेगा। व्यापार की साधारण क्रियाओं को दूर करके कुछ और बचत भी की जा सकती है। इस प्रकार वह फैलेंक्स की उत्पादकता में काफी बढ़ोतरी की आशा करता था।

यह बात भी उल्लेखनीय है कि फैलेंक्सों को स्वेच्छापूर्वक स्थापित करना है राज्य द्वारा नहीं। फोरियर ने पूँजीपतियों से अपनी योजना के सौन्दर्य को देखने और फैलेंक्सों की स्थापना में धन लगाने की अपील की। परन्तु उसकी अपील पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। उसके जीवन काल में उसकी कल्पना के किसी समाज की स्थापना नहीं हुई। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके कुछ भक्त अनुयायियों ने उसके विचारों को लोकप्रिय बनाया और फ्रांस में कुछ फैलेंक्सों की स्थापना की गई। उसके सिद्धान्तों का प्रचार इंगलैंड और अन्य देशों में भी हुआ; परन्तु सबसे अधिक सफलता उन्हें संयुक्त राज्य अमरीका में प्राप्त हुई जहाँ कि जेम्स रसल लॉवेल, हेनरी जेम्स तथा थोडोर पार्कर सरीखे व्यक्तियों के नेतृत्व में कई राज्यों में बहुत से फोरियरवादी समाजों की स्थापना की गई। उनमें से कुछ को काफी सफलता मिली। परन्तु उनमें से कोई भी कुछ वर्षों से अधिक जीवित न रहा। अमरीका में फोरियरवाद का सबसे अधिक प्रभावशाली प्रचारक अलबर्ट ब्रिस्बेन था जिसने कि डैना, फुलर, हाथोर्न तथा इमर्सन को बहुत अधिक प्रभावित किया।

आम तौर से यह माना जाता है कि चार्ल्स फोरियर ने जो कुछ लिखा उसका अधिकांश मूर्खता तथा प्रमाद पूर्ण है। प्रो० कोल का कहना है कि उसकी सबसे बाद की रचनाओं में बहुत कुछ 'कोरा प्रमाद' है। अलेग्जेण्डर ग्रे के अनुसार वह 'मूर्खता से अधिक दूर कभी न था।' उसकी रचनाओं के प्रमादपूर्ण भाग की समीक्षा करने की हमें आवश्यकता नहीं; इसकी अपेक्षा उसके स्थायी मूल्य के तत्त्व को चुन लेना अधिक अच्छा होगा। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि समाजवादी तथा सहयोगी विचारों को फोरियर ने काफी ऐसी देन दी है जिसका मूल्य स्थायी है। यदि समाजवाद को सबसे अधिक सरलता से अनियन्त्रित व्यक्तिवाद के दोषों की प्रतिक्रिया और आलोचना के रूप में समझा जाता है तो समाजवाद को फोरियर की देन निश्चित रूप से महान् है, क्योंकि अनियन्त्रित व्यक्तिवाद के अपव्यय का उससे अधिक कठोर आलोचक मिलना कठिन है। दूसरे, सहयोगी आन्दोलन के विकास पर भी उसका बड़ा प्रभाव पड़ा है; प्रतिस्पर्धा की प्रणाली से होने वाले कुपरिणामों को दूर करने के सर्वोत्तम साधन के रूप में सहयोग सिद्धान्त का फोरियर कदाचित् सबसे बड़ा प्रतिपादक है। तीसरे, यह कि इस बात पर जोर देने के लिए कि उत्पादकता को बढ़ाने का सर्वोत्तम उपाय कार्य की स्थितियों को सुखद बनाना है, भी वह हमारी कृतज्ञता का पात्र है। फोरियर की सम्पूर्ण विचारधारा इस विश्वास पर आधारित है कि अधिकतर प्रकार का उत्पादक श्रम समुचित संगठन के द्वारा काफी आकर्षक बनाया जा सकता है, और किसी भी व्यक्ति से उसकी इच्छा के विरुद्ध कार्य कराने की आवश्यकता नहीं है। उसकी धारणा थी कि जिस प्रकार भौतिक जगत में गुरुत्वाकर्षण का नियम

होता है, उसी प्रकार सामाजिक जगत में 'आकर्षण' का नियम होता है, और सामाजिक संगठन में उसका समुचित ध्यान रखा जाना चाहिए। उसका विश्वास था कि जो चीज आवश्यक है वह है एक श्रेष्ठतर और सुधरा हुआ सामाजिक पर्यावरण, मानव स्वभाव में परिवर्तन नहीं, जोकि वास्तव में असम्भव है। अगली बात यह है कि उसकी फैलेंक्स की धारणा मूल रूप से 'चलो भूमि की ओर' की नीति है जिसमें बाग़बानी और फल उत्पन्न करने पर जोर दिया गया है; वह उद्योगवाद का अधिवक्ता नहीं था। अन्तिम बात यह है कि फोरियर का क्रान्ति में कोई अनुराग न था; परिवर्तन के लिये अपनी प्रस्थापनाओं के निर्माण में उसने बड़ी सतर्कता से काम लिया है। ओवन की भाँति वह एक समाज-निर्माता था; उसका सरल विश्वास था कि यदि जनता उसके विचारों को सुन लेगी तो वह उन्हें स्वीकार कर लेगी। उसने गरीबों से अमीरों के विरुद्ध विद्रोह करने की अपील कभी नहीं की। पूँजी तथा श्रम के बीच समुचित सम्बन्ध रखने के सम्बन्ध में उसने जो कुछ कहा है वह आज भी सत्य प्रतीत होता है। समाजवाद के इतिहास के विद्यार्थियों के लिए उसका महत्त्व है क्योंकि वह ऐसा मुख्य स्रोत है जिसके द्वारा फ्रेंच समाजवादी अमरीका पहुँचे।

रॉबर्ट ओवन— रॉबर्ट ओवन का जन्म १७७१ ई० में, चार्ल्स फोरियर से एक वर्ष पूर्व और सेण्ट साइमन से ग्यारह वर्ष बाद हुआ था। उसका जीवन बहुत भव्य और सप्तरंगी रहा। वह एक दुकान पर नौकर, एक उद्योगपति, कल-कारखानों का सुधारक, शिक्षा-शास्त्री, समाजवादी, सहयोग आन्दोलन का प्रवर्त्तक, ट्रेड यूनियन नेता, धर्म-निरपेक्षवादी, आदर्श समुदायों का मूल प्रवर्त्तक तथा व्यावहारिक व्यापार का व्यक्ति, सभी कुछ रहा। किसी भी अन्य व्यक्ति ने इतने आन्दोलनों का आधार नहीं रक्खा। कोल के शब्दों में 'कोई भी व्यक्ति एक ही साथ इतना व्यावहारिक और इतना स्वप्नद्रष्टा, इतना प्रेम-पात्र तथा अपने साथ काम करने में इतना असम्भव, इतना उपहास केन्द्र तथापि इतना प्रभावशाली नहीं था जितना कि ओवन'।

रॉबर्ट ओवन को आम तौर से ब्रिटिश समाजवाद और ब्रिटिश सहयोग आन्दोलन का जनक समझा जाता है। उसके विचारों और सिद्धान्तों का वर्णन करने का सर्वोत्तम ढंग उसके जीवन की कहानी सुनाना है क्योंकि उसका समाजवाद और सहयोग में विश्वास उसके कारखाने के प्रबन्धक और मालिक के अनुभव का परिणाम था। ऐसा करने से पूर्व उसके दर्शन और जीवन के मूल सिद्धान्तों का एक संक्षिप्त विवरण दे देना ठीक होगा। उसका आधारभूत सिद्धान्त यह है कि मनुष्य का चरित्र स्वयं उसके द्वारा नहीं, बल्कि उन परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होता है जिनमें कि वह उत्पन्न होता है और जिनमें वह रहता है और कार्य करता है। जीवन की बुरी स्थितियों से बुरा चरित्र और अच्छी स्थितियों से अच्छा चरित्र उत्पन्न होता है। यह धारणा मार्क्स तथा उसके अनुयायियों की धारणा से बहुत कुछ मिलती जुलती है। उनका भी यही विश्वास है कि मनुष्य का चरित्र उसके

सामाजिक तथा आर्थिक पर्यावरण की सृष्टि है, इसलिये वे एक नवीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं जोकि वर्तमान समाज के स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा के सिद्धान्त के स्थान में सहयोग के ऊपर आधारित होगा। ओवन ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अपने "Essays on the Formation of Character" में किया है जोकि १८१३–१५ में प्रकाशित हुये थे। उसका कहना था कि एक समाज-सुधारक का सर्वप्रथम कार्य इसी सत्य का प्रचार करना होना चाहिये। उसका दूसरा सिद्धान्त यह था कि अच्छे पर्यावरण के निर्माण के लिये धन की प्रचुरता आवश्यक है। दरिद्रता एक बहुत बड़ी बुराई है; इससे अज्ञान, अस्वास्थ्य तथा कायरता का जन्म होता है। ओवन का विश्वास था कि क्योंकि औद्योगिक क्रान्ति ने अपूर्व मात्रा में धन के उत्पादन को सम्भव बना दिया था और चरित्र के निर्माण सम्बन्धी नवीन सत्य को अधिकाधिक देखा जा रहा था, इसलिये मानव-जाति के संकट और कष्टों से त्राण का समय दूर नहीं था।

ओवन ने नौ वर्ष की अवस्था में स्कूल छोड़ दिया और वह अपने गाँव में अपने एक पड़ौसी की दुकान पर नौकरी करने लगा। एक वर्ष बाद वह एक बजाज की दुकान पर एप्रेण्टिस हो गया और चौदह वर्ष की अवस्था में वह मैन्चेस्टर चला गया। वहाँ रूई के सामान के तैयार करने की पद्धति में महान् आविष्कार क्रांति ला रहे थे और साहसी लोग वहाँ बड़ी मात्रा में धन का संचय कर सकते थे। ओवन ने एक सौ पाउण्ड उधार लेकर एक मिस्त्री के साझे में व्यापार करना आरम्भ कर दिया। उसके साझी ने उसे शीघ्र ही छोड़ दिया और उसे स्वयं अपनी व्यवस्था करनी पड़ी। किन्तु उसे शीघ्र ही उससे कहीं अच्छा काम मिल गया; वह मैनचेस्टर के एक सबसे बड़े और सबसे अच्छे रूई मिल का मैनेजर बन गया। इस प्रकार २१ वर्ष की आयु में ही वह एक बड़े कारखाने का संचालक बन गया जिसमें कि ५०० श्रमिक कार्य करते थे। उसके प्रबन्ध काल में कारखाने ने बहुत उन्नति की और उसका तैयार किया हुआ माल प्रसिद्ध हो गया। ओवन भी एक सफल व्यापारी के रूप में विख्यात हो गया। फिर उसे एक और अच्छा अवसर मिला और वह न्यू लैनार्क कॉटन मिल्स में प्रबन्धक साझी बन गया; यह स्कॉटलैण्ड में सबसे बड़ा कताई का कारखाना था। न्यू लैनार्क में वह २५ वर्ष से अधिक रहा और उसे उसने न केवल एक सबसे अधिक सफल धन्धा बनाया, बल्कि उसे एक ऐसा नमूना भी बना दिया जिसे देखने के लिये संसार भर से लोग आया करते थे। ओवन के समाजवाद में न्यू लैनार्क का कितना केन्द्रीय स्थान है, यह ग्रे के इस कथन से प्रकट है कि रॉबर्ट ओवन न्यू लैनार्क है और रॉबर्ट ओवन के बिना न्यू लैनार्क का कोई महत्त्व नहीं है। न्यू लैनार्क एक नमूना था जिसके अनुसार रॉबर्ट ओवन सारे संसार को ढालना चाहता था।

जब ओवन ने न्यू लैनार्क मिल्स को खरीदा तो वह एक गन्दा, भद्दा तथा दरिद्र गाँव था और उसके ५०० निवासियों में से अधिकतर चोर-उचक्के और

शराबी थे। कारखाने के मजदूरों को प्रातःकाल ६ बजे से लेकर सायंकाल ७ बजे तक कार्य करना पड़ता था और उनकी मजदूरी केवल उन्हें जीवित रखने के लिये ही काफी होती थी। ६ वर्ष की आयु के बच्चे और दरिद्र एप्रेण्टिस भी काम में लगाये जाते थे। ओवन का विश्वास था कि एक मालिक का अपने मजदूरों को अपने लाभ के लिये साधन मात्र समझना गलत है। उसने सोचा कि उनको समुचित मजदूरी देना, काम करने के घन्टों को कम करना, उनके रहने के लिये साफ वातावरण का प्रबन्ध करना तथा उनके बच्चों के लिये शिक्षा की व्यवस्था करना उसका कर्त्तव्य है। इन विचारों को लेकर वह गाँव का कायाकल्प करने में लग गया। उसने सारे गाँव की सफाई कराई, मजदूरों के लिये मकान बनवाये और एक नये स्कूल की स्थापना की। उसने मदिरा की बिक्री बन्द कर दी और ऐसे स्टोर खुलवाये जहाँ से कि श्रमिक लागत भाव पर अपनी आवश्यकताओं का सामान खरीद सकते थे। उसने अधिक वेतन दिया, काम करने के घण्टों को कम किया और दस वर्ष से कम के बच्चों को काम में लगाने से इन्कार कर दिया। आश्चर्य यह है कि हर प्रकार के सुधार के काम पर व्यय करने के बावजूद उसके कारखाने में लाभ होता था। न्यू लैनार्क में ओवन का काम इस बात का एक जीवित उदाहरण था जिसे कि वह 'उच्च वेतन की मितव्ययिता' (Economy of high wages) कहकर पुकारता था। इसने उसके इस विश्वास को साकार रूप दिया कि पूँजी का प्रतिफल निश्चित मात्रा तक सीमित रहना चाहिये और बचा हुआ सम्पूर्ण लाभ श्रमिकों के आराम के लिये व्यय किया जाना चाहिये।

ओवन ने न्यू लैनार्क में जितने भी परिवर्तन और सुधार किये उन सबके पीछे विचार यह था कि मनुष्यों को एक दूसरे के साथ सहयोग करना सीखना चाहिये। उसकी धारणा थी कि यदि 'समाज की मूल इकाई एक छोटा सा सहयोगी समुदाय बन जाये, जोकि व्यक्तिगत लाभ के लिये नहीं बल्कि सामान्य हित के लिये कार्य करे तो इससे मनुष्य के चरित्र में एक आधारभूत परिवर्तन होगा और एक राष्ट्र के भीतर वर्ग-संघर्ष तथा विभिन्न राष्ट्रों में प्रतिस्पर्धा तथा युद्ध का खतरा जाता रहेगा।' इस बात का कि एक कारखाने को सबके हित के लिये और सहयोग के आधार पर चलाया जा सकता है एक प्रमाण ओवन ने तब दिया जबकि उसने उस समय अपने मजदूरों के साथ दूसरे मालिकों से भिन्न वर्ताव किया जबकि जेफर्सन द्वारा इंगलैड को अमरीकी रूई के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा देने के कारण इंगलैड की लगभग सभी कपड़ा मिलों को बन्द रहने के समय भी मजदूरों को पूरा वेतन दिया। इस महान् कार्य ने श्रमिकों को उसका भक्त बना दिया और उन्होंने सच्चे मन से परिश्रम करके उसके कारखानों को सफल बनाया। ओवन की नीति इस बात का प्रमाण है कि मजदूरों को अधिक वेतन देने और कार्य करने के वातावरण को अच्छा बनाने से स्वयं मालिक को भी लाभ रहता है। दूसरों से भिन्न सिद्धान्तों को

अपनाकर ओवन कारखानों तथा शिक्षा के प्रवन्ध में समाजवादी विचारों का प्रवर्तक बन गया। वह उन विचारों का एक अधिक व्यापक क्षेत्र में प्रयोग करना चाहता था। ऐसा करने का अवसर शीघ्र ही उसके सामने आया।

नैपोलियन की लड़ाइयों के अन्त ने इंगलैंड को एक उत्तरोत्तर गिरती हुई आर्थिक-स्थिति में डाल दिया। अधिक उत्पादन और बाजारों के कम हो जाने से बहुत बेकारी फैल गई। मजदूरियाँ बहुत नीचे गिर गईं और व्यापार की गति हर कहीं रुद्ध हो गई। सेना में से निकाले हुए सिपाही और नाविक भी रोजगार की माँग करते थे। मजदूर बेचैन हो गये और वे संसदीय सुधार की माँग करने लगे। क्रान्ति की संभावना से भयभीत होकर सरकार ने दमन-चक्र की नीति अपनाई। इस नीति से ओवन, जोकि आर्थिक कष्टों के उपचार के लिये श्रमिकों के दमन को मूर्खतापूर्ण समझता था, बहुत दुखित हुआ। उसने बेरोजगारों को सहयोगी ग्रामों में बसाने की एक योजना तैयार की। उसने यह योजना अपने न्यू लैनार्क के नमूने पर ही तैयार की थी। संक्षेप में, वह योजना यह थी कि ऐसे स्व-पर्याप्त ग्राम बसाये जायें जिनकी प्रत्येक की जन-संख्या ३०० से २००० तक हो, और जिनके पास १५० से ३००० एकड़ तक भूमि हो। प्रत्येक परिवार का अपना एक निजी रहने का स्थान हो, किन्तु पाकशाला, भोजनालय, वाचनालय तथा विनोद-गृह सब के सामान्य हों। प्रत्येक ग्राम का अपना स्कूल, उसकी अपनी वाटिकायें तथा कल-कारखाने हों। ग्राम निवासी आंशिक रूप से खेती पर और आंशिक रूप से उद्योग-धन्धों में काम करें। इन सामुदायिक ग्रामों के लिये धन की व्यवस्था सरकार अथवा स्थानीय निकाय या व्यक्तिगत दानी लोग करें। परन्तु ओवन का विचार था कि कुछ समय पश्चात सहयोग के आधार पर कार्य करके स्वयं निवासी आरम्भिक व्यय को अदा कर सकेंगे। यद्यपि इस योजना को बेरोजगारी का उपचार करने के लिये बनाया गया था, तथापि आशा यह की जाती थी कि अन्ततोगत्वा यह पूँजीवाद को नष्ट कर देगी। यह एक व्यावहारिक सामाजिक कल्पना-चित्र (Utopia) था। इस योजना को सरकार ने शिष्टता के साथ प्राप्त किया और उसे उठाकर अपनी अलमारियों में रख दिया। ओवन को बड़ी निराशा हुई। उससे कुछ पहिले उसका बाल-श्रम को रोकने, काम के घंटों को विनियमित करने तथा कारखाने की निरीक्षण प्रणाली जारी कराने के लिये एक फैक्टरी एक्ट पास कराने का प्रयास भी असफल रहा था; जो फैक्टरी कानून बनाया गया वह उसकी आशाओं से बहुत नीचे था। हताश होकर उसने अपनी योजना को संयुक्त राज्य अमरीका में जाकर क्रियान्वित करने की सोची जहाँ कि उसके विचार में, उसकी योजना के सामाजिक पुनर्निर्माण के लिये अधिक अनुकूल स्थितियाँ थीं। इसलिये १८२४ ई० में उसने अमरीका के लिये प्रस्थान किया और उससे अगले वर्ष उसने तीस हजार पाउण्ड की राशि लगाकर इण्डियाना में न्यू हार्मनी (New Harmony) नामक एक सहयोगी समाज की स्थापना की। यद्यपि यह प्रयोग सबसे अधिक अनुकूल वातावरण

में आरम्भ किया गया था, तथापि यह विफल रहा। इसे १८२८ ई० में छोड़ देना पड़ा। यदि ओवन स्वयं न्यू हार्मनी में रहता और उसके विषयों का संचालन एवं नियन्त्रण करता, तो सम्भव है कि यह प्रयोग सफल हो जाता। किन्तु इसकी विफलता ओवन के उत्साही अमरीकी अनुयायियों की ओहियो, टेनेसी तथा न्यूयार्क राज्यों में ऐसे ही समाज स्थापित करने से न रोक सकी। परन्तु वे सब बहुत थोड़े ही दिन चले।

न्यू हार्मनी के प्रयोग की विफलता के बाद ओवन का ध्यान फिर इंगलैंड की ओर गया, जहाँ कि उसे मजदूर नेताओं में नये शिष्य मिल गये थे। श्रमिक वर्गों ने परस्पर व्यापार के लिए छोटे-छोटे सहयोगी स्टोर और संघ स्थापित किये थे और उन्हें आशा थी कि बचे हुए धन की सहायता से वे एक दिन ओवन की कल्पना के सहयोगी ग्रामों की स्थापना कर सकेंगे। ओवन, जिसने कि न्यु लैनार्क मिल्स से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया था, इस आन्दोलन में कूद पड़ा और उसके नेतृत्व में इसे आरम्भिक सफलता मिली। उसके शिष्यों ने ट्रेड यूनियनों तथा श्रमिक वर्ग की अन्य संस्थाओं में अपने विचारों का प्रचार करना आरम्भ किया। एक-एक करके ट्रेड यूनियन उनके प्रभाव में आने लगीं और सहयोगी स्टोर और उत्पादक सहयोगी संघों की तीव्र गति से स्थापना होने लगी। बीच के दलालों और सरकारी मुद्रा के बिना ही इन संघों द्वारा उत्पन्न किये हुए माल की बिक्री के लिए और श्रमिकों को अपने माल की अदल-बदल करने में सहायता करने के लिए ओवन ने लन्दन में 'National Equitable Labour Exchange' की स्थापना की, जिसकी शाखायें बर्मिङ्घम, लिवरपूल तथा ग्लासगो में खोली गईं। इन ऐक्सचेंजों में ओवन का 'श्रम मूल्य' (Labour value) का सिद्धान्त लागू होता था, उत्पादकों के एक समूह के द्वारा उत्पादित माल को किसी ऐसी वस्तु से बदला जा सकता था जिसके बनाने में भी उतना ही 'श्रम समय' लगा हो। किस वस्तु के बनाने में कितना श्रम लगा, इसे इंगित करने के लिए श्रम की एक चिट रहती थी। जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, इस संगठन के पीछे मूल विचार यह था कि जहां तक हो सके मालिक तथा बीच के दलाल का भाग समाप्त कर दिया जाये और श्रमिकों को विश्वास दिलाया जाये कि उनका कल्याण ट्रेड यूनियनवाद तथा सहयोग द्वारा हो सकता है, राजनीतिक कार्यवाही द्वारा नहीं।

ओवन ने समस्त ट्रेड यूनियनों को एक 'Grand National Consolidated Trade Union' में संगठित करने का प्रयास किया। इसके द्वारा वह इङ्गलैंड का रूप बदल देने और एक नवीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना का सपना देखता था। ओवनवादियों की योजना यह थी कि नवीन सहयोगी प्रणाली की स्थापना के बाद एक आम हड़ताल कराई जाये। श्रमिक वर्गों की सम्भावित क्रान्ति से भयभीत होकर पूँजीवादियों ने इस संगठन को तोड़ने का प्रयास किया। आन्दोलन का दमन करके सरकार ने भी उनकी सहायता की। कुछ तो इन शक्तियों के कारण

और कुछ आन्तरिक कलह के कारण वह महान् ट्रेड यूनियन अपने निर्माण के एक ही वर्ष के अन्दर टुकड़े-टुकड़े होकर गिर पड़ी और ब्रिटिश श्रमिक वर्गों का नेतृत्व ओवन के हाथों से निकल गया। इस प्रकार ट्रेड यूनियन आन्दोलन के साथ अपने सम्बन्ध के टूट जाने पर उसने फिर से समुदाय निर्माण के अपने प्रिय विषय को ले लिया और दो संस्थाओं की स्थापना की, एक तो १८३९ ई० में हेम्पशायर में जिसका नाम 'हार्मनी हाल' (Harmony Hall) पड़ा और दूसरी ग्लास्गो के निकट ओरिस्टन में। परन्तु उसके ये प्रयास भी पहले की अपेक्षा अधिक सफल नहीं रहे। 'हार्मनी हाल' कभी सफल नहीं रहा, यद्यपि वह १८४६ ई० तक रहा। सहयोगी समाजों की योजना की विफलता के कारणों की समीक्षा करना आवश्यक नहीं है। केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि श्रमिक वर्ग जोकि समुदाय के प्रबन्ध को पूर्ण रूप से लोकतन्त्रवाद के आधार पर रखने की मांग करता था और उस समूह, जोकि उसके लिए धन की व्यवस्था करता था, में गम्भीर मतभेद उत्पन्न हो गये। धन की व्यवस्था करने वाला वर्ग कुछ नियन्त्रण अपने हाथ में रखने पर आग्रह करता था।

अब हम संक्षेप में समाजवादी विचार को ओवन की देन का वर्णन करेंगे। फ्रेंच कल्पनावादियों की भाँति वह भी अनियन्त्रित और स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा के ऊपर आधारित समाज के व्यक्तिवाद संगठन का घोर आलोचक था। वह कारखानों को 'धन का उत्पादन करने वाली स्वास्थ्य तथा सुख को नष्ट करने वाली' चीजें कहता था और उद्योगवाद पर आधारित सामाजिक व्यवस्था को 'नितान्त समाज-विरोधी, अराजनीतिक तथा विवेकहीन' समझता था। सर्वसाधारण के अज्ञान, दरिद्रता तथा संकटों का कारण वह उत्पादन तथा वितरण की दोषपूर्ण प्रणाली तथा तद्जनित कलुषित वातावरण को समझता था। उसका कहना था कि धन के उत्पादकों को उत्पादित धन में से समुचित भाग मिलना चाहिये। उत्पादन सहयोग पूर्ण प्रयत्न का फल है, इसलिए उसका वितरण भी सहयोग के आधार पर होना चाहिए, शोषण के लिए नहीं। मालिक को अपने नौकरों को अपने लाभ का साधन-मात्र नहीं मानना चाहिए बल्कि उन्हें न्यूनाधिक साझेदार समझना चाहिए और उनके लिए अच्छे जीवन की सामग्री की व्यवस्था करनी चाहिए। उसने ऊँचे वेतन की मांग इस आधार पर भी की कि जनता की अधिक क्रिया-शक्ति राष्ट्रीय समृद्धि में सहायता देती है। सारांश यह है कि ओवन ने एक ऐसी प्रणाली का प्रतिपादन किया, जिसमें प्रत्येक सहयोगी को अपने श्रम के उत्पादन में से सर्व-स्वीकृत योजना द्वारा भाग मिल सके। उसकी 'श्रम चिट' (Labour notes) की योजना इन्हीं सिद्धान्तों को क्रियान्वित करने के लिये थी। यह बात दिलचस्पी से खाली नहीं है कि अपने जीवन में आगे चलकर उसने निजी सम्पत्ति की संस्था की घोर निन्दा की; उसने इसे पतन करने वाली और असंख्य अपराधों तथा घोर अन्याय का मूल बतलाया।

यह बात याद रखने योग्य है कि यद्यपि ओवन ने एक अवस्था में आम हड़ताल की आवश्यकता को तो अनुभव किया, किन्तु उसने हिंसा का कभी समर्थन नहीं किया। साधारणतया वह ट्रेड यूनियन की भावना और वर्ग संघर्ष की धारणा के विरुद्ध था। उसका समाजवाद सहयोगात्मक था, हिंसात्मक नहीं। उसका विश्वास था कि घृणा तथा संघर्ष से प्रेम और सहयोग कभी उत्पन्न नहीं हो सकते। इसीलिये वह सच्चे मन से सहयोग आन्दोलन में कूदा था। हिंसा की तो बात ही दूर है ओवन ने श्रमिकों की ओर से राजनीतिक कार्यवाही तक का अनुमोदन नहीं किया। उसका विश्वास था कि महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का जन्म राज्य की अपेक्षा समाज में होना चाहिये।

उपसंहार— तीन महान् कल्पनावादी समाजवादियों की उपरोक्त समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके सिद्धान्त उस समय में पश्चिमी यूरोप में हो रही औद्योगिक क्रांति के दुष्परिणामों की प्रतिक्रिया थे। उद्योगपतियों के लाभ और शोषण ने अधिकतर मनुष्यों को जिस संकट में डाल दिया था उससे इनका हृदय विदीर्ण हो उठा। मनुष्यों के कल्याण की जो योजनायें उन्होंने बनाई उनमें महत्त्वपूर्ण बातों में भेद है, किन्तु उनमें कुछ सामान्य विशेषतायें हैं जो ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि यद्यपि उन सब ने गरीबों के प्रति संवेदना प्रकट की और वे सब उनके कष्टों का निवारण करना चाहते थे, किन्तु उन्होंने अपने आपको श्रमिक वर्ग के ध्येय से एकरूप नहीं बनाया जैसा कि आगे चलकर मार्क्स ने किया। उनका ध्येय सबके हित में समाज की पुनर्रचना करना था। इस बात में इनमें तथा महात्मा गांधी द्वारा आरम्भ किये गये सर्वोदय आन्दोलन में बहुत अधिक साम्य है, जिसका उद्देश्य सम्पूर्ण समाज का कल्याण करना है, उसके किसी वर्गविशेष का नहीं जैसा कि साम्यवादी चाहते हैं। यह कल्पनावादी समाजवाद की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है जोकि इसे 'प्रोलीटेरियन' समाजवाद से विभिन्न करती है। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि निजी पूंजी की संस्था पर आक्रमण करने में उन्होंने तथा उनके शिष्यों ने प्रोलीटेरियन समाजवाद पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला है।

दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि समस्त कल्पनावादी समाजवादी अक्रांतिकारी हैं। नवीन समाज व्यवस्था की स्थापना के लिये वे हिंसा, यहाँ तक कि राजनीतिक कार्यवाही का भी, अनुमोदन नहीं करते। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे शिक्षा तथा लेखन एवं भाषण द्वारा प्रचार पर निर्भर करते हैं। हम देख चुके हैं कि फोरियर ने शिक्षा पर जोर दिया था, और ओवन ने फोरियर से भी अधिक दिया था। ओवन ज्ञान को पुण्य तथा अज्ञान को पाप तथा विषाद समझता था। ये लोग हिंसा के विरोधी इसलिये थे क्योंकि ये मानव स्वभाव को मूलत: अच्छा समझते थे। इसे कल्पनावाद की तीसरी सामान्य विशेषता समझा जा सकता है। कल्पनावादियों का विश्वास था कि परमात्मा अच्छा है और उसने संसार को अच्छा बनाया है और अपनी सृष्टि को वह सुखी देखना चाहता है। दुख इसलिये है क्योंकि

मानव-जाति सहयोग और सद्भावना के मार्ग से हट गई है। उसे अपनी स्वाभाविक सामंजस्य की अवस्था में फिर से लाने के लिये व्यक्तियों के निरन्तर होने वाले संघर्षों को दूर करना चाहिये। उन्हें दूर करने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि मनुष्य की सद्भावना और विवेक को जाग्रत किया जाय। इसीलिये वे शिक्षा पर इतना जोर देते हैं। दूसरे शब्दों में, कल्पनावाद की प्रेरणा नैतिक थी; यह मनुष्य के विवेक को जाग्रत करके उसका सुधार करना चाहता था।

कदाचित् इसी बात में कल्पनावादियों की सबसे बड़ी कमजोरी थी। मनुष्य-स्वभाव से अच्छा हो सकता है, किन्तु वह भावों और भावनाओं का प्राणी भी है जिन्हें केवल उनके विवेक को अपील करके ही संयत नहीं किया जा सकता। मनुष्य के भीतर विद्यमान पशु को अनुशासित करने के लिये विवेक को अपील की अपेक्षा किसी दूसरे और अधिक शक्तिशाली यंत्र की आवश्यकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि कल्पनावादियों ने उन लोगों के विरोध की शक्ति को भी ठीक नहीं आंका जोकि वर्तमान प्रणाली से लाभ उठाते हैं और इसलिये उसे कायम रखना चाहते हैं। कल्पनावादियों की आशा ने नवीन समाज का स्वागत करने के स्थान में उन्होंने उसका घोर विरोध किया। ओवन की 'ग्रैण्ड ट्रेड यूनियन' के टूटने का कारण पूंजीवादियों का कटु विरोध ही था। अमरीका में ओवन द्वारा स्थापित 'न्यू हार्मनी' नामक समाज भी इसलिये विफल हुआ क्योंकि उसके सदस्यों में सामाजिकता की पर्याप्त भावना न थी। कल्पनावादियों की पद्धति एक आदर्श समाज की स्थापना का मार्ग नहीं है; यह आशा करना व्यर्थ है कि एक दार्शनिक के कमरे में बैठकर तैयार की हुई योजना एक दिन में ही समाज के ऊपर थोप दी जायेगी। सुधार की प्रक्रिया नीचे से आरम्भ होकर ऊपर की ओर जानी चाहिये। गांधीजी की यही पद्धति थी और सर्वोदय आन्दोलन में आचार्य विनोबा भावे तथा उनके साथियों की भी यही पद्धति है।

समाजवादी सिद्धान्त के विकास में इन विचारकों के महत्त्व को मार्क्स तथा एंजिल्स ने 'कम्यूनिस्ट मैनीफैस्टो' में स्वीकार किया है यद्यपि उसमें इनकी कटु आलोचना भी की गई है। 'मैनीफैस्टो' में कल्पनावादी समाजवाद को सामाजिक विकास की वह अवस्था माना गया है जोकि संगठित तथा वर्ग-चेतन सर्वहारा आन्दोलन के अविर्भाव से ठीक पहिले आई। कल्पनावाद उस समय आया जबकि सर्वहारा वर्ग क्रान्ति नहीं ला सकता था। साइमन, फोरियर तथा ओवन ने पूंजीवाद की जो आलोचना की है उसकी 'मैनीफैस्टो' में सराहना की गई है।

मार्क्स के पूर्ववर्ती समाजवादी

परिचयात्मक— मार्क्स के पहिले समाजवादी विचार के इतिहास में कल्पनावादी समाजवादियों के अतिरिक्त कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण व्यक्ति भी हुए हैं जिनका उल्लेख भी यहाँ किया जाना चाहिये। ये हैं— चार्ल्स हॉल, टॉमस हॉग्सकिन,

विलियम, थॉम्पसन तथा जॉन ग्रे। हम इनकी विवेचना वहुत ही संक्षिप्त रूप से करेंगे; हम केवल उन सिद्धान्तों की मुख्य विशेषतायें दिखलायेंगे और यह बतलायेंगे कि उन्होंने कार्ल मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद के लिये किस प्रकार मार्ग प्रशस्त किया। गॉडविन तथा प्रोधां (Proudhon) का उल्लेख हम अराजकतावाद के प्रसंग में करेंगे।

डा० चार्ल्स हॉल— इनकी जन्म तिथि (१७४० तथा १७४५ के बीच में) और निधन-तिथि (१८२० और १८२५ के बीच में) निश्चित नहीं है, हमारे अध्ययन का पात्र अपनी इस धारणा के कारण है कि सभ्यता से धनिकों को लाभ होता है जोकि विशेषाधिकार-प्राप्त अल्पसंख्या में होते हैं, और गरीबों का दलन होता है जोकि तिरस्कृत और अवहेलित बहुसंख्या में होते हैं। सभ्यता द्वारा प्रदान की हुई सुविधायें, आराम तथा विलासितायें आमतौर से धनिकों के लिये सुरक्षित रक्खी जाती हैं, गरीबों को उनसे वंचित रखा जाता है। यह अतिरिक्त मूल्य (Surplus value) के सिद्धान्त को जन्म देता है। हॉल इस घटना का कारण राज्य के स्वरूप में पाता है। मार्क्स के इस सिद्धान्त की, कि राज्य एक वर्ग-संगठन है, पूर्व-सूचना देते हुए वह हमें बतलाता है कि सभ्य राज्यों में विधानपालिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका की समस्त शक्ति मुट्ठी भर धनिक व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित हो जाती है। वह लिखता है: "हर कहीं धन शक्ति को अपने स्वामियों के हाथों में रख देता है।" उसका यह कथन, कि जैसे-जैसे सभ्यता का प्रसार होता है, वैसे ही श्रमिक वर्ग का अधिकाधिक पतन होता है, मार्क्स के इस विचार से मिलता है कि पूंजीवाद की उन्नति मालिकों को अधिक धनी और मजदूरों को अधिक गरीब बना देती है। डा० हॉल की धारणा है कि थोड़े से व्यक्तियों के धन तथा शक्ति में वृद्धि का अर्थ होता है सर्वसाधारण की दरिद्रता में वृद्धि होना। एक और बात में भी हॉल ने मार्क्स की पूर्व सूचना दी। उसका विश्वास था कि युद्ध अधिकतर धनिकों की महत्त्वाकांक्षा के कारण होते हैं; वे उनकी व्यापार वृद्धि या क्षेत्र विस्तार की इच्छा का परिणाम होते हैं। यद्यपि गरीबों के कष्टों के कारणों के विश्लेषण में वह मार्क्स के बहुत समीप है, किन्तु रोग का जो निदान उसने दिया है वह उससे बहुत भिन्न है। चार्ल्स हॉल व्यापार और कल-कारखानों का शत्रु था; वह कृषि का पक्षपाती था। उसके शब्दों में 'यदि प्रत्येक व्यक्ति के पास कुछ भूमि हो तो जनता का श्रम स्वतन्त्र रहेगा'।

विलियम थॉम्पसन (१७८५–१८३३)— थॉम्पसन को मेजर ने वैज्ञानिक समाजवाद का सबसे प्रमुख प्रवर्त्तक कह कर पुकारा है। उसके विषय में हम केवल इतना कह सकते हैं कि वह धन के गलत वितरण को मनुष्य के दुख का सबसे बड़ा कारण समझता था। अपनी धारणा के नए समाज में वह श्रम को स्वतन्त्र तथा स्वेच्छापूर्ण बनाना और उसे अपने द्वारा उत्पन्न किये हुए सम्पूर्ण धन का स्वामी बनाना चाहता था। उसका विश्वास था कि श्रम को कुशलतापूर्वक तथा मन लगाकर

काम करने के लिए केवल तभी प्रेरित किया जा सकता है जबकि जो कुछ उत्पन्न करने में सहायता करता है उसे ही प्राप्त हो।

टॉमस हॉग्सकिन (१७८७–१८६९)— हॉग्सकिन एक अन्य उल्लेखनीय मार्क्स का पूर्व-सूचक है। आरम्भ में वह समुद्री सेना में एक अधिकारी था, किन्तु 'सामुद्रिक अनुशासन पर एक निबन्ध' छपवाने के कारण उसे अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा। उसके राज्य के प्रति अविश्वास तथा व्यक्तिवाद के समर्थन में कदाचित् इस घटना का कुछ हाथ हो। पाठकों को याद होगा कि हॉग्सकिन के साथ सम्पर्क ने ही हरबर्ट स्पेन्सर के व्यक्तिवाद और रेडीकलवाद को दृढ़ और तीव्र बनाया था। इसलिए उसे मार्क्स के एक पूर्व-सूचक के रूप में देखते हुये आश्चर्य होता है। थॉम्पसन की भाँति वह कोई समाजवादी नहीं था, किन्तु अपनी सामाजिक न्याय की भावना, श्रम के पक्ष-पोषण तथा पूंजीवादी-विरोधी दृष्टिकोण के कारण ब्रिटिश समाजवादी विचार के इतिहास में वह जो स्थान रखता है, वह नगण्य नहीं है।

उसका 'Labour Defended against the Claims of Capital' नामक छोटा सा पैम्फलेट श्रम तथा समाजवादी आन्दोलन का एक सबसे अधिक आक्रामक तथा तर्क-युक्त अभिलेख्य है। उसका मुख्य विषय है कि उत्पादन प्रणाली में श्रम का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग होता है; भूमि तथा पूंजी को उत्पादन के कारकों के रूप में श्रम के समान नहीं समझा जा सकता; उनकी जो कुछ भी उपयोगिता होती है वह श्रम से ही आती है परन्तु श्रमिकों को अपने श्रम से उत्पन्न किया हुआ धन नहीं मिल पाता; उन्हें सदैव केवल इतना मिलता है जोकि उन्हें जीवित रखने मात्र के लिए पर्याप्त होता है। यह है रिकार्डो सरीखे अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रचारित विख्यात 'मजदूरी का लौह नियम' (Iron Law of Wages)। हॉग्सकिन को शिकायत थी कि यद्यपि अपनी बढ़ी हुई कुशलता और ज्ञान के कारण उसके समय में श्रमिक उससे दस गुणा उत्पन्न करता था जितना कि वह उससे दो शताब्दी पूर्व उत्पन्न करता था, तथापि उसे जो प्रतिफल मिलता था वह लगभग उतना ही था जितना कि पहिले मिलता था। और जब अपने उचित भाग को प्राप्त करने के लिए श्रमिक संगठित होते हैं तो उन्हें राष्ट्र के लिए एक खतरा समझा जाता है और उन्हें दण्ड दिया जाता है। इसलिए वह इस परिणाम पर पहुँचता है कि प्रत्येक देश में पूंजी और श्रम में ऐसा संघर्ष रहता है जिसे दूर नहीं किया जा सकता; पूंजीपति श्रमिक के उचित अधिकारों का अपहरण करता है। टॉमस चाहता है कि वितरण की यह गलत और अन्यायपूर्ण पद्धति समाप्त होनी चाहिये। श्रम द्वारा किया हुआ उत्पादन श्रमिकों में ही वितरित किया जाना चाहिये। परन्तु जब वह अपने सिद्धान्त को व्यवहार पर लागू करता है तो वह अपने को बड़ी कठिनाई में पाता है; वह इस सिद्धान्त को क्रियान्वित करने के लिए कोई संतोषजनक नियम नहीं पाता। उसका यह सुझाव कि इस प्रश्न को श्रमिकों के अनियन्त्रित निर्णय के ऊपर छोड़ देना चाहिये, व्यर्थ नहीं है। इस प्रसंग में यह बात और ध्यान देने योग्य है कि हमारा यह लेखक 'श्रम' शब्द

को केवल शारीरिक श्रम तक ही सीमित नहीं रखना चाहता ; वह बौद्धिक श्रम को भी उतना ही महत्त्व देता है जितना कि शारीरिक श्रम को। वह प्रबन्धक को भी वेतन देने को तैयार है ; प्रबन्धक को वह एक कुशल श्रमिक समझता है। इस बात से उसका समाजवाद काफी हद तक मध्यम पड़ जाता है।

जॉन ग्रे (१७६६-१८५०)— अन्त में हम कुछ शब्द जॉन ग्रे के विषय में कहेंगे। उसने भी वर्तमान प्रणाली की इस आधार पर निन्दा की है कि इसके अन्तर्गत उन श्रमिकों को जोकि धन का उत्पादन करते हैं, उनके उत्पन्न किये हुये धन के कोई ४|५ भाग से उनके द्वारा वंचित कर दिया जाता है जोकि समाज की उसी अनुपात में सेवा नहीं करते। उसी के शब्दों में : "वह धनिक, जोकि वास्तव में कुछ नहीं देता, सब कुछ ले लेता है, जबकि गरीबों को, जोकि वास्तव में सब कुछ देता है, कुछ नहीं मिल पाता।" यह बुराई विनिमय के सिद्धान्त से उत्पन्न होती है और प्रतिस्पर्धा उसे और तीव्र बना देती है। यदि समाज वस्तुओं के आदान-प्रदान (Barter system) के आधार पर संगठित होता तो वह बहुत सुखी रहता। परन्तु आदान-प्रदान की पद्धति को विनिमय सिद्धान्त ने समाप्त कर दिया और विनिमय के कारण व्यापारी तथा पूंजीपति श्रमिकों द्वारा उत्पन्न किये हुये धन का एक बहुत बड़ा भाग ले लेते हैं। ग्रे केवल उन्हीं लोगों के श्रम को उत्पादक समझता है जोकि खेतों, कारखानों और खानों में कार्य करते हैं ; शेष सबके कार्य को वह अनुत्पादक समझता है, यद्यपि उनमें से कुछ का कार्य उपयोगी हो सकता है जैसे कि चिकित्सकों, वैज्ञानिकों तथा कलाकारों का कार्य। व्यापारियों का कार्य न केवल अनुत्पादक है, बल्कि व्यर्थ भी है। दुकानदारों की सेवाओं का उसने इस व्यंगपूर्ण भाषा में वर्णन किया है : "निश्चित रूप से ही इन लोगों का कार्य अनुत्पादक नहीं है, क्योंकि संसार में किसी ने उनसे आधा भी धोखा, असत्य, मूर्खता तथा अपव्यय उत्पन्न नहीं किया जितना कि छोटे व्यापारियों ने। उनके समय का एक चौथाई या पांचवाँ भाग अपनी दुकानों की खिड़कियों को सजाने में, अर्थात् सामान को बिगाड़ने में, व्यय हो जाता है, और कम से कम आधा समय ग्राहकों की प्रतीक्षा करने में, अथवा कोई उपयोगी काम न करने में, लग जाता है।"* ग्रे ने जॉन ग्रे को भी 'कदाचित् सबसे अधिक प्रभावक मार्क्स का अंग्रेज पूर्ववर्ती— शायद कुछ स्थानों में सबसे अधिक मार्क्सवादी' कह कर पुकारा है। हमें, उसके विचारों का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है।

---

* "Certain it is that these men are not unproductive; for never, upon the face of the earth, was there anything half so productive of deception and falsehood, folly and extravagance ...... as the present system of retail trade .... A fourth or fifth of their time is expended in decorating their shop windows, that is in spoiling goods and at least half of it in waiting about for their customers or doing nothing useful." —Gray.

इस पृष्ठभूमि के साथ अब हम कार्ल मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद की समीक्षा कर सकते हैं जिसने कि १८४८ ई० में प्रसिद्ध 'कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो' के प्रकाशन के बाद से मानव इतिहास पर जबर्दस्त प्रभाव डाला है। उसकी समीक्षा हम अगले अध्याय में करेंगे।

सहायक पुस्तकों की भूमि

Cole, G. D. H.: *Socialist Thought and Its Fore-runners.*
Gray, Alexander: *The Socialist Tradition.*
Westmeyer: *Modern Economic and Social Systems.*

मार्क्सवादी समाजवाद

८

परिचयात्मक— गत अध्याय में हमने एक नवीन विचारधारा का मूल देखा है; उस विचारधारा को शब्द के व्यापकतम अर्थ में समाजवाद कहा जा सकता है। यह अठारहवीं शताब्दी की सामाजिक व्यवस्था, जोकि व्यक्तिवाद और स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा पर आधारित थी, के दोषों के विरुद्ध विद्रोह था। इन दोषों को औद्योगिक क्रान्ति ने बढ़ाया था। इसमें मानवीय सम्बन्धों में सामाजिक तत्त्व के महत्त्व और मूल्य पर बल दिया गया था। कल्पनावादियों ने दरिद्रता के दोषों की ओर ध्यान दिलाया और निजी सम्पत्ति तथा स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा को गरीबों की दुर्दशा का मूल कारण बताकर उसकी निन्दा की। जिस नवीन समाज का उन्होंने अनुमोदन किया वह स्वेच्छापूर्ण सहयोग पर आधारित होना था। सामाजिक पुनर्रचना की योजनाओं में उन्हें कोई विशेष सफलता नहीं मिली, क्योंकि वे पुरानी व्यवस्था के किसी स्पष्ट विश्लेषण पर आधारित नहीं थी और पुरानी व्यवस्था के स्थान में नवीन की स्थापना के लिये उन्होंने कोई स्पष्ट और सुनिश्चित योजना प्रस्तुत नहीं की। कार्ल मार्क्स ने, जिसने कल्पनावादियों की 'कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो में आलोचना की, उनकी विफलता से एक सबक सीखा और इतिहास का एक दर्शन प्रस्तुत किया जिसने दिखाया कि पुरानी व्यवस्था का जन्म किस प्रकार हुआ था और जिसने एक श्रेष्ठतर समाज की स्थापना का सुझाव भी पेश किया।' हॉल, हॉग्सकिन तथा ग्रे सरीखे अंग्रेज समाजवादियों ने भी व्यक्तिवाद की निन्दा की थी और ऐसे आर्थिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था जिन्हें आगे चलकर मार्क्स के समाजवाद में प्रमुख स्थान दिया गया। उनकी धारणा थी कि धन का वास्तविक स्रोत श्रम है, किन्तु धन का अधिकतर भाग पूँजीपतियों तथा बीच के दलालों द्वारा हड़प लिया जाता है। उन्होंने कुछ समष्टिवादी योजनाओं का सुझाव दिया जिनके द्वारा श्रमिक अपने उत्पन्न किये हुए धन का उचित भाग प्राप्त कर सकते थे। किन्तु वर्तमान व्यवस्था में कोई परिवर्तन वे न ला सके; और जब तक मार्क्स मंच पर न आया और इधर-उधर के अंगों को एकीकृत कर समाजवाद को एक संगठित रूप न दिया और उसे न केवल वैज्ञानिक बल्कि लड़ाकू भी न बना दिया तब तक समाजवाद प्रभावहीन ही रहा। उसने इसे एक शक्ति बनाया जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती थी। उसकी विचारधारा ने एक इतने महान् जन-आन्दोलन को जन्म दिया जितना कि ईसाई धर्म के आविर्भाव के बाद अब तक न हुआ था। केरयू हन्ट का कहना है कि 'आधुनिक जगत का यह सबसे बड़ा विध्वंसक आन्दोलन है,

यद्यपि पश्चिम को इसका ज्ञान रूस की क्रान्ति के बाद ही चला।' इसने मानव जाति को दो ऐसे विरोधी गुटों में विभक्त कर दिया है जिनमें कोई सामान्य आधार दिखलाई नहीं पड़ता। एक ओर तो करोड़ों मनुष्य ऐसे हैं जोकि मानव जाति का त्राणदाता कहकर उसका स्वागत करते हैं और उसे नवीन सभ्यता का संदेशवाहक समझते हैं, और दूसरी ओर करोड़ों व्यक्ति उसके वर्ग-संघर्ष और पूँजीपतियों से बलात् उनका धन छीनने के सिद्धान्त में बहुत बड़ी बुराई देखते हैं। आज जो संसार दो विरोधी गुटों में बंटा हुआ है उसका बहुत बड़ा कारण रूस तथा अन्य देशों में मार्क्सवाद की विजय ही है। इसलिये मार्क्स के सिद्धान्तों को समझना और उनका मूल्यांकन करना अति आवश्यक है।

मार्क्स का जीवन तथा उसकी रचनायें— मार्क्स का जन्म ५ मई १८१८ को पश्चिमी प्रशा में ट्रीविज में एक यहूदी परिवार में हुआ था। उसका पिता एक साधारण वकील और देश-भक्त प्रशियन था; उसकी माता एक डच यहूदी थी जोकि एक दक्ष गृहिणी थी, किन्तु 'बुद्धि के भार से वह मुक्त थी'। जब मार्क्स की अवस्था छः वर्ष की थी तो सारे परिवार ने यहूदी मत को छोड़ कर ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था। इस धर्म-परिवर्तन ने मार्क्स के भाव-जगत में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी; वह यहूदी धर्म का कटु विरोधी हो गया और आगे चलकर उस पर उसने गम्भीर आरोप लगाये। १८३५ में कार्ल मार्क्स को बोन विश्वविद्यालय में न्याय-शास्त्र का अध्ययन करने के लिये भेजा गया। कहा जाता है कि वहाँ उसने अध्ययन की अपेक्षा जैनी वॉन वेस्टफेलेन के साथ प्रेमालाप पर अधिक ध्यान दिया। आगे चलकर जेनी के साथ उसने विवाह कर लिया। अगले वर्ष वह बर्लिन विश्व-विद्यालय में गया जहाँ उसने अपना सारा समय अध्ययन में लगाया। परन्तु उसने न्यायशास्त्र छोड़कर इतिहास तथा दर्शनशास्त्र ले लिये; इससे उसके पिता बड़े क्षुब्ध हुये। वह विशेष रूप से हीगल के दर्शन की ओर आकृष्ट हुआ जोकि विश्व-विद्यालय पर आच्छादित था, यद्यपि हीगल ५ वर्ष पूर्व मर चुका था। मार्क्स विश्वविद्यालय की 'यंग हीगेलियन्स' नामक गोष्ठी का एक प्रमुख सदस्य बन गया। १८४१ में जेना विश्वविद्यालय से उसने डाक्टर की उपाधि प्राप्त की। उसने विश्व-विद्यालय में नियुक्त होने का प्रयास किया, परन्तु क्योंकि प्रशियन शिक्षा पद्धति के नेताओं को उसके विचार पसन्द न थे, इसलिये उसे कोई स्थान न मिल सका। यदि उसे वह काम मिल जाता जोकि वह चाहता था तो मार्क्स एक मेधावी प्राध्यापक होता और दर्शन-शास्त्र के ऊपर बड़े विशद ग्रंथ लिखता, किन्तु श्रमजीवी समाजवाद के जनक के रूप में वह ऐतिहासिक अमरता उसे प्राप्त न होती जोकि उसे निस्संदेह प्राप्त है। उस समय वह कदाचित् 'कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो' और 'कैपीटल' न लिखता। अपने अभीष्ट रोजगार के न मिलने पर वह पत्रकारिता की ओर प्रवृत्त हुआ। वह 'रीनिश टाइम्स' का अग्रिम लेख लिखने वाला सम्पादक बन गया और आगे चलकर वह उसका मुख्य सम्पादक बन गया। एक सम्पादक के रूप में उसे

लगा कि उसका इतिहास और दर्शन-शास्त्र का अध्ययन आर्थिक समस्याओं की विवेचना के लिये पर्याप्त नहीं था; इसलिये उसने समाजवाद, अर्थ-शास्त्र तथा राजनीति-शास्त्र का अध्ययन किया। उसने इङ्गलैण्ड, फ्रांस और जर्मनी का इतिहास, और मेकियावेली, रूसो, मॉन्टेस्क्यू तथा कल्पनावादी सेण्ट साइमन और फोरियर की रचनाओं का अध्ययन किया। वह 'रीनिश टाइम्स' के मालिकों से उनकी प्रशियन संस्कार के साथ समझौता नीति से सहमत न हो सका, इसलिये उसने उस पत्र से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया।

१८४३ के अन्त में वह अपनी पत्नी के साथ समाजवाद का अध्ययन करने के लिए उसके मुख्य स्थान पेरिस गया। वहाँ वह 'Franco-German Year Books' का सम्पादक बन गया। परन्तु वह कार्य असफल रहा और मार्क्स बेरोजगार हो गया। उसने इस बलात् अवकाश का सदुपयोग किया। वह बहुत से जर्मन तथा फ्रेंच रेडीकल विचारकों के सम्पर्क में आया। वहाँ उसकी भेंट फ्रेंच कल्पनावादी साम्यवादी कैवेट (Cabet) तथा दार्शनिक अराजकतावादी प्रोधाँ (Proudhon) से हुआ, जिनका उसके ऊपर अन्य किसी भी फ्रेंच समाजवादी नेता की अपेक्षा अधिक गहरा प्रभाव पड़ा। वहाँ वह साम्यवादी अराजकतावादी बैकुनिन (Bakunin), जो कि आगे चलकर उसका कट्टर शत्रु बन गया, रेडीकल कवि हीन तथा इटली के देश-भक्त मैजिनी से भी मिला। पेरिस में ही उसका सम्पर्क फ्रेडरिक एंजिल्स से हुआ, जोकि कपड़े के एक धनिक उद्योगपति का लड़का था जिसके इंगलैंड और जर्मनी दोनों में कारखाने थे। मार्क्स तथा एंजिलस आजीवन मित्रता के अटूट सूत्र में बंध गये। इस मित्रता को १९वीं शताब्दी की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक मित्रता कहा जाता है। एंजिल्स के बिना मार्क्स शायद एक कोरा बौद्धिक विचारक ही रह जाता। एंजिल्स के, जिसके जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य समाजवाद था, प्रभाव ने ही मार्क्स को वाम पक्ष की ओर प्रवृत्त किया। न केवल यह, बल्कि एंजिल्स ने मार्क्स का, जिसका विचार जर्मनी पर ही केन्द्रित था, ध्यान इंगलैंड के उस महत्त्वपूर्ण भाग की ओर आकृष्ट किया जोकि वह पूँजीवादी व्यवस्था के विकास में ले रहा था। १८४४ से आगे वैज्ञानिक समाजवाद के विकास में दोनों ने साथ मिलकर कार्य किया। मार्क्स का कार्य समाजवाद के सिद्धान्तवेत्ता का और एंजिल्स का प्रचारक और संगठनकर्त्ता का था। यह बात भी उल्लेखनीय है कि जिस समय मार्क्स लन्दन में एक देश-निर्वासित का जीवन व्यतीत कर रहा था तो उसकी आय उसके परिवार की आजीविका के लिए अपर्याप्त थी। उदारचित्त एंजिल्स ने उसकी आर्थिक सहायता की जिसके बिना मार्क्स ब्रिटिश म्यूजियम तथा पुस्तकालयों में अध्ययन करके अपने अमर ग्रंथ "डैस कैपीटल" (Das Capital) के लिए सामग्री एकत्रित नहीं कर सकता था। मार्क्स ने अपने विचारों के विकास में एंजिल्स के ऋण को स्वीकार किया और अपने समाजवादी सिद्धान्त को उसने 'हमारा सिद्धान्त' कहकर पुकारा।

पेरिस में रहते हुए मार्क्स ने एक लेख लिखा जिससे प्रशा की सरकार बड़ी क्रुद्ध हुई। प्रशियन सरकार ने फ्रांस की सरकार से उसे निष्कासित करने के लिये कहा। इसलिये मार्क्स को फ्रांस छोड़ना पड़ा; वह तथा अन्य रेडीकल विचारक ब्रूसल्स गये जहाँ एंजिल्स की सहायता से उसने समाजवादी प्रचार किया और १८४७ के अन्त में 'कम्युनिस्ट लीग' के लिये 'कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो' नामक अपना सब से अधिक प्रसिद्ध पैम्फलेट लिखा। जब १८४८ में पेरिस में क्रान्ति हुई तो वह भी उसमें भाग लेने के लिये दौड़ा हुआ आया किन्तु वहाँ वह देर से पहुँचा। क्रान्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया होनी आरम्भ हो चुकी थी। फ्रांस से वह जर्मनी गया जहाँ कि उसके विचार में क्रान्ति के लिये अधिक अनुकूल वातावरण था। उसे वहाँ गिरफ्तार कर लिया गया और उस पर देशद्रोह का अभियोग लगाया गया। किन्तु उसे मुक्त कर दिया गया। अन्ततोगत्वा वह एक देश-निर्वासित के रूप में लन्दन में बस गया और उसने अपने आप को समाजवाद के विषय पर पुस्तकों तथा पैम्फलेट लिखने और 'International Workingmen's Association' की सेवा करने में लगा दिया। यह ऐसोसियेशन इङ्गलैंड तथा महाद्वीपीय यूरोप के देशों के श्रमिक समुदायों के एक संघ के रूप में थी, और यद्यपि उसकी स्थापना में मार्क्स का कोई हाथ न था तथापि वह शीघ्र ही उसका बौद्धिक प्रधान बन गया। उसके कार्यक्रम तथा उद्‌घाटन भाषण को ऐसोसियेशन ने स्वीकार कर लिया। इसके तत्त्वाधान में विभिन्न नगरों में बहुत से सम्मेलन हुए, परन्तु इसका आकार कभी भी बड़ा नहीं हुआ और यह उस उद्देश्य की सिद्धि न कर सकी जिसके लिये यह बनाई गई थी। १८७२ में हेग कांग्रेस के बाद तो इसका अस्तित्व ही समाप्त हो गया।

मार्क्स की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रचनायें हैं: 'Communist Manifesto' (१८४८) तथा 'Das Capital' (१८६७) जोकि इसके रूढ़िवादी अनुयायियों के लिये, जो साम्यवादी कहलाते हैं, एक प्रकार की बाइबिल बन गई है। उसकी अन्य रचनाओं में 'Critique of Political Economy' (१८५९), 'Inaugural Address' (१८६४) तथा 'Value, Price and Profit' (१८६७) उल्लेखनीय हैं। मार्क्स का देहान्त लन्दन में १८८३ में हुआ।

मार्क्सवादी समाजवाद का स्वरूप— मार्क्सवादी समाज की समीक्षा से पूर्व हम दो शब्द उसके स्वरूप के विषय में कहेंगे। आमतौर से इसे वैज्ञानिक समाजवाद और सर्वहारा (Proletarian) समाजवाद कहा जाता है। इन शब्दों से न केवल इसमें तथा समाजवाद के अन्य रूपों में विभेद प्रकट होता है, जिनका उल्लेख गत अध्याय में किया गया था बल्कि ये उसकी कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताओं को भी इंगित करते हैं। इसे वैज्ञानिक कहने से मार्क्स का तात्पर्य यह था कि यह इतिहास के अध्ययन पर आधारित है, और 'ऐतिहासिक विकास की आवश्यक सृष्टि' है और यह पूँजीवाद के कुपरिणामों पर आक्रमण करने के स्थान में स्वयं पूँजीवादी प्रणाली पर ही आक्रमण करता है। सेण्ट साइमन, फोरियर तथा ओवन का समाजवाद वैज्ञानिक

नहीं था क्योंकि वह इतिहास के किसी दर्शन पर आधारित नहीं था। इन विचारकों ने एक नवीन समाज की रूपरेखा अपने मस्तिष्क से तैयार की, जिसका यथार्थ जगत के तथ्यों से कोई सम्बन्ध न था। यह कल्पनावादी था क्योंकि इसके प्रवर्त्तकों ने यह बताने की चेष्टा नहीं की कि इसकी सृष्टि किस प्रकार की जा सकती है और इसे किस प्रकार कायम रक्खा जा सकता है। जैसा कि वेपर कहता है, 'उन्होंने सुन्दर गुलाब के फूलों की कल्पना तो की परन्तु गुलाब के वृक्षों के लिये कोई भूमि तैयार नहीं की'। इस प्रकार के समाजवाद का कल्पनात्मक स्वरूप इस तथ्य से भी प्रकट होता है कि अपनी योजना को आरम्भ करने के लिये फोरियर एक पूँजीवादी को खोजना चाहता था। इसके अतिरिक्त मार्क्स की यह धारणा थी कि एक वैज्ञानिक समाज नैतिकता तथा न्याय की भावनाओं को अपील नहीं करना चाहेगा क्योंकि 'उससे हम एक इञ्च भी आगे नहीं बढ़ते'। सेण्ट साइमन, फोरियर तथा ओवन के विपरीत हॉल, थॉम्पसन, हॉग्सकिन तथा ग्रे का समाजवाद निस्सन्देह सर्वहारा था; किन्तु जैसा कि मैक्सी कहता है, उनका सर्वहारावाद मुख्यतया एक विरोध तथा प्रेरणा था। यह दावा करके कि विज्ञान उसके पक्ष में है और संगठन तथा आक्रमण की उसे एक निश्चित कला देकर और उसके द्वारा उसे डाकू बनाकर मार्क्स ने समाजवाद को वैज्ञानिक बनाया, मार्क्स के हाथों में समाजवाद एक जबरदस्त शक्ति बन गया।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि मार्क्स कोई मौलिक विचारक नहीं था; उसके लगभग प्रत्येक विचार की पूर्व सूचना उसका एक न एक पूर्ववर्ती दे चुका था। अलेग्जेण्डर ग्रे कहता है: "निस्सन्देह यह सत्य है कि मार्क्स के विचार के निर्मायिक तत्त्वों का मूल बहुत स्रोतों में खोजा जा सकता है। उसने अपनी ईंटों को बहुत से स्थानों से एकत्रित किया था; परन्तु उनका प्रयोग उसने बहुत कुछ अपने नमूने के अनुसार ही किया।"*

यह सत्य हो सकता है, किन्तु इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। विचार के इतिहास में बहुत थोड़े ही विचार ऐसे मिल सकते हैं जिनकी एक लम्बी वंश-परम्परा का पता नहीं लगाया जा सकता। मार्क्स का महत्त्व उसके विचारों की मौलिकता में नहीं हैं; वह इस बात में है कि उसने उन्हें मिला कर किस प्रकार एक गतिशील सम्पूर्ण विचारधारा बनाया है, और समाजवाद को एक महान् जन आन्दोलन और कर्म के लिये एक महान् प्रेरणा बनाया है।

मार्क्स के विचार के स्रोत— अब हम उन बौद्धिक प्रभावों का संक्षिप्त सा विवरण देंगे जिन्होंने मार्क्स के विचार की रूपरेखा को निर्धारित किया। उस पर

---

* "It is doubtless true that the component parts of Marxian thought can be traced to a multitude of sources. He collected his bricks from many masons' yards; but he used them very much according to his own design." —Gray: *The Socialist Tradition*, page 299.

हीगल के दर्शन, और फ्रेंच तथा इंगलिश समाजवाद का प्रभाव पड़ा है। पाठकों को स्मरण होगा कि हीगल के दर्शन ने, जिसकी कि बॉन तथा बर्लिन विश्वविद्यालयों में उस समय प्रधानता थी जबकि वह वहाँ एक विद्यार्थी था, मार्क्स को बहुत आकृष्ट किया था। हीगल से उसने इस महान् सत्य को सीखा था कि संसार का, जिसमें व्यक्ति और समाज भी सम्मिलित हैं, स्वरूप गतिशील है, वह स्थिर नहीं है बल्कि इसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। यदि हम इसके वास्तविक रूप को जानना चाहते हैं तो हमें इसे एक विकासशील वस्तु समझनी चाहिये। इसलिये इसका इतिहास घटनाओं की एक शृंखला मात्र नहीं हो सकता; यह विकास की क्रमिक प्रक्रिया है। विकास द्वन्द्वात्मक रूप में होता है; यह एक सीधी दिशा में नहीं होता; इसका मार्ग टेढ़ा मेढ़ा होता है। विकास वैषम्य और संघर्ष के द्वारा होता है। हीगल के द्वन्द्ववाद का सार तीन शब्दों में दिया जा सकता है: वाद (Thesis), प्रतिवाद (Anti-thesis) तथा सामंजस्य (Synthesis)। (इन तीन अंग्रेजी के शब्दों के चलन के कारण तथा इनके लिये उपयुक्त और प्रचलित हिन्दी शब्दों के अभाव के कारण हम अंग्रेजी शब्दों का ही प्रयोग करेंगे।) ये विकास की तीन अवस्थायें हैं। अपने अन्तर्हित विरोधों के कारण 'थीसिस' भंग हो जाती है और उससे उसकी विरोधी स्थिति अर्थात् 'एण्टी-थीसिस' का जन्म होता है। 'थीसिस, तथा 'एण्टी-थीसिस' सदैव एक दूसरे के विरोधी नहीं बने रह सकते; विकसित वृद्धि अथवा उन्हें एक उच्चतर सामंजस्य— 'सिन्थेसिस' में गूंथ कर उनके विरोध को दूर कर देती है। मार्क्स द्वन्द्व को विकास की औपचारिक प्रक्रिया का एक सच्चा विवरण मानता है, परन्तु उसका प्रयोग वह हीगल से सर्वथा भिन्न प्रकार से करता है। अपने ग्रन्थ 'डैस कैपिटल' के प्रथम भाग की भूमिका में वह यह लिखता है कि उसका अपना द्वन्द्ववाद 'हीगल से न केवल भिन्न है, बल्कि उसका ठीक उल्टा है।' दोनों में जो अन्तर है उसे हम आगे चलकर देखेंगे; यहाँ हम केवल इतना कह सकते हैं कि फ्युअरबैक के, जिसे कि १९वीं शताब्दी के भौतिकवादी पुनरुत्थान का प्रवर्त्तक समझा जाता है, प्रभाव में आकर मार्क्स ने आदर्शवाद का परित्याग कर दिया था और विश्व के प्रति भौतिकवादी दृष्टिकोण अपना लिया था।* हीगल का प्रकृति जगत विकासशील बुद्धि की बाह्य अभिव्यक्ति अथवा उसका साकार रूप है; किन्तु मार्क्स के अनुसार 'आदर्श मानव बुद्धि द्वारा प्रतिबिम्बित तथा विचारों में परिवर्तित भौतिक जगत के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।' हीगल के लिये जो कुछ बुद्धिसम्मत है वही

---

*हमें याद रखना चाहिये कि मार्क्स ने विचारों की सत्ता से इन्कार नहीं किया, इसके विपरीत उत्पादन के सम्बन्धों के निर्धारण में उसने विचारों के भाग को बड़ा महत्त्व दिया है। इस कारण उसका भौतिकवाद उग्र नहीं है; उसके दर्शन को व्यवहारत: द्विवादी (Dualistic) कहा जा सकता है। मनुष्य मन तथा शरीर दोनों है, शरीर अधिक आधारभूत है।

वास्तविक है ; मार्क्स के अनुसार 'आदर्श केवल वह भौतिक तत्त्व है जोकि मानव-बुद्धि के अन्दर प्रविष्ट हो चुका है और उसका एक अंग बन चुका है।' यह कहकर कि विचार मानव जीवन का आधार नहीं बल्कि भौतिक आधार पर खड़ा किया हुआ एक ऊपरी ढांचा है, मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद को उल्टा कर दिया।

दूसरी बात यह है कि मार्क्स पर फ्रेंच समाजवाद का काफी प्रभाव पड़ा था। यद्यपि मार्क्स की भाँति ही सेण्ट साइमन का दृष्टिकोण निश्चित रूप से ऐतिहासिक था और वह यह महसूस करता था कि आने वाले औद्योगिक युग के महत्त्व और उसकी सम्भावनाओं को केवल उसके आर्थिक आधार के विश्लेषण करने से ही समझा जा सकता है ; और यद्यपि चार्ल्स फोरियर ने यह प्रतिघोषणा की थी कि एक नवीन समाज के निर्माण के लिये मानव स्वभाव में परिवर्तन की नहीं, बल्कि मनुष्य के रहने की स्थितियों में सुधार करने की आवश्यकता है और इस प्रकार उसने आर्थिक निर्णयवाद का प्रतिपादन किया था तथापि मार्क्स कल्पनावादियों की अपेक्षा १८वीं शताब्दी के फ्रांस के साम्यवादी परम्परा की ओर, कैबेट (जोकि एक पूर्णरूपेण साम्य-वादी समाज की स्थापना करना चाहता था जिसमें कि समस्त मूल क्रियाओं के ऊपर राज्य का नियंत्रण होता) के साम्यवाद की ओर अधिक आकृष्ट हुआ। यह इस बात से भी स्पष्ट है कि उसने तथा एंजिल्स ने जब ब्रूसल्स में 'कम्यूनिस्ट लीग' की स्थापना की तो उन्होंने उसे 'समाजवादी' की अपेक्षा 'साम्यवादी' कहना अधिक उचित समझा। इससे कैबेट के प्रति उनकी सहानुभूति लक्षित होती है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि वे अपने सिद्धान्त तथा कल्पनावादियों के सिद्धान्तों में विभेद करना चाहते थे। तथापि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि 'वर्ग-संघर्ष' शब्द के लिये यदि निश्चित रूप से स्वयं इस धारणा के लिये भी नहीं तो, वह फ्रेंच समाजवादियों का ऋणी है। उन्होंने अमीर और गरीब के परस्पर-विरोधी हितों की चर्चा की थी। क्योंकि गरीबों में मार्क्स का कोई विशेष अनुराग न था, इसलिये उसने अमीर-गरीब के संघर्ष के विचार के स्थान में मालिक और नौकर के बीच संघर्ष के विचार को प्रतिस्थापित कर दिया।

तीसरे, मार्क्स ने ब्रिटिश समाजवादियों तथा अर्थशास्त्रियों से भी काफी सीखा था। जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं, ओवन की यह धारणा, कि चरित्र पर्या-वरण की सृष्टि है, मार्क्सवादी सिद्धान्त की एक बहुत ही पूर्व सूचना है। थॉम्पसन, हॉग्सकिन तथा अन्य ब्रिटिश समाजवादियों का यह विचार था कि श्रम मूल्य का एकमात्र स्रोत है। अतिरिक्त मूल्य (Surplus value) की धारणा भी उनके लेखों में पाई जाती है। अलेग्जेण्डर ग्रे का कहना है कि एक सीधे-सादे व्यक्ति के लिये तो मार्क्स का मूल्य का सिद्धान्त रूपान्तरिक रिकार्डो से अधिक कुछ नहीं है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जो विचार हमें मार्क्स में मिलते हैं उनमें से अधिकतर की पूर्वसूचना उसके फ्रेंच तथा इंगलिश पूर्ववर्ती दे चुके थे जिन्होंने उसे बहुत सी 'उपयोगी ईंटें और यन्त्र' प्रदान किये। मार्क्स की देन यह है कि उसने इन बिखरे

हुये विचारों को एकत्रित करके उनमें तर्कबद्धता उत्पन्न की। उसने उन्हें न केवल एक प्रणाली के रूप में संगठित किया, जो बात इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है वह यह कि उसने इस सिद्धान्त को आक्रामक और लड़ाकू बनाया। उसके द्वारा साम्यवाद एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन बन गया। प्रो० लास्की के शब्दों में मार्क्स ने 'साम्यवाद को एक अस्तव्यस्त स्थिति में पाया और उसे एक आन्दोलन बना दिया। उसके द्वारा उसे एक दर्शन मिला और एक दिशा मिली।'

यदि मार्क्स साम्यवाद में किसी नवीन तत्त्व को न भी लाता तो भी समाजवाद को एक स्फूर्तिहीन विषय के स्थान में, जैसा कि वह उसके पूर्ववर्तियों के हाथों में था, एक अत्यन्त विस्फोटक आन्दोलन बना देना कोई छोटा कारनामा नहीं है। किन्तु उसमें कुछ नवीनतायें भी हैं। चातुर्यपूर्ण ढंग से निर्मित ऐतिहासिक तथा आर्थिक सिद्धान्त से सम्बन्धित करके उसने इसे वैज्ञानिक बनाया और विशिष्ट रूप से उसे श्रमजीवी वर्ग का स्वरूप प्रदान किया। सारे संसार के श्रमिकों के सामान्य हितों पर निरंतर बल देकर उसने इसे एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाया।

मार्क्स का वैज्ञानिक साम्यवाद— अब हम मार्क्सवाद पर आते हैं जिसे सामान्यतया वैज्ञानिक समाजवाद कहा जाता है। अध्ययन की सुविधा के लिए हम उसे चार भागों में विभक्त करके उनकी अलग-अलग समीक्षा कर सकते हैं, यद्यपि वे सब एक अत्यन्त जटिल रूप में उसकी विचारधारा में जोकि अविभाज्य इकाई है, एक दूसरे से गुँथे हुये हैं। वे हैं— (१) उसका द्वन्द्ववादी भौतिकवाद, (२) उसकी इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, (३) मानव इतिहास को समझने के लिए एक कुंजी के रूप में उसका वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त, तथा (४) उसका अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त। द्वन्द्ववादी भौतिकवाद मार्क्स के सम्पूर्ण सिद्धान्त का आधार है; इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या तथा वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त उसका व्यावहारिक रूप है। वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त से बहुत घनिष्ठ रूप से संबद्ध है। हम इसी क्रम से इनकी समीक्षा करेंगे।

(१) **द्वन्द्ववादी भौतिकवाद** (Dialectical Materialism)— जैसा कि पहिले कहा जा चुका है द्वन्द्ववादी भौतिकवाद वह आधार है जिसके ऊपर मार्क्स के विचार का सारा ढांचा खड़ा हुआ है; समस्त साम्यवादी उसे स्वीकार करते हैं। वे इसे प्रत्येक समस्या के ऊपर लागू करते हैं। 'Short History of the Communist Party of the Soviet Union' में अधिकृत रूप से यह लिखा हुआ है कि "द्वन्द्ववाद की सहायता से दल प्रत्येक स्थिति के प्रति सही दृष्टिकोण बना सकता है, सामयिक घटनाओं के आंतरिक सम्बन्धों को समझ सकता है, उनकी दिशा को जान सकता है, और वह न केवल यह जान सकता है कि वे वर्तमान में किस प्रकार और कस दिशा में चल रही हैं, बल्कि वह यह भी देख सकता है कि उनकी भविष्य में दिशा क्या होगी।"*

* "Dialectic enables the party to find the right orientation to any situation, to understand the inner connections of current events, to

जहाँ तक कि यह हीगल के द्वन्द्ववाद का उल्टा किया हुआ रूप है पहिले हीगल के सिद्धान्त का वर्णन करना उपयुक्त होगा। हीगल महसूस करता था कि क्योंकि वास्तविकता (Reality) का स्वभाव प्रगतिशील तथा विकासवादी है, इसलिए उसे औपचारिक तर्क-शास्त्र (Formal Logic) की गतिहीन धारणाओं द्वारा नहीं समझा जा सकता जोकि अमूर्त्त बिचारों के गतिहीन जगत में ही लागू होते हैं। जो तर्क-शास्त्र निरन्तर परिवर्तनशील तथा विकासशील संसार को समझने में हमारी सहायता कर सकता है वह पुराने रूढ़िवादी तर्क-शास्त्र से भिन्न होना चाहिए। हीगल ने इस उद्देश्य के लिये नवीन तर्कशास्त्र की रचना की जोकि वैषम्य और विरोध द्वारा परिवर्तन तथा विकास की व्याख्या करने का प्रयास करता था: हीगल ने उसे द्वन्द्ववाद कहकर पुकारा है। हीगल के द्वन्द्ववाद के स्वरूप का वर्णन प्रो० कोल के निम्नलिखित शब्दों में किया जा सकता है :—

"उसने विश्व को दैविक न्याय की एक अभिव्यक्ति के रूप में देखा जोकि निरन्तर विरोध और संघर्ष की प्रक्रिया द्वारा अपने को प्रसारित करता है। सम्पूर्ण मानव इतिहास— और केवल उसी से हमारा यहाँ सम्बन्ध है— उसके समक्ष विचारात्मक संघर्ष की एक लम्बी प्रक्रिया के रूप में फैल गया जिसका निश्चित परिणाम विश्व-भावना की पूर्ण स्वानुभूति में विरोध का अन्तिम रूप से विनाश होगा। भौतिक स्तर पर समाज का विकास उसके लिये इस विचारात्मक प्रक्रिया की एक निस्रोतात्मक अभिव्यक्ति मात्र थी। मानव इतिहास में जो घटित हो रहा है वह यह नहीं है जिसकी प्रतीति होती है, बल्कि वह निरपेक्ष विचार में निहित वास्तविकता का क्रमिक तथा प्रगतिशील यथार्थीकरण है। प्रत्येक वस्तु विकास की सम्पूर्ण लौकिक प्रक्रिया में बीज रूप से वर्तमान थी, परन्तु बीज यथार्थ का रूप विचार के लम्बे संघर्ष के द्वारा ही धारण कर सकता था। यह संघर्ष, जैसा कि इतिहास में दिखाई पड़ता है, अपूर्ण विचारों के संघर्ष में होकर स्वानुभूति की ओर अग्रसर है।"†

---

foresee their course; and to perceive not only how and in what direction they are developing in the present, but how and in what direction they are bound to develop in the future."

—Quoted in Carew Hunt: *Theory and Practice of Communism*, page 28.

† "Hegel saw the universe as the expression of a Divine Logic working itself out by a process of perpetual contradiction and conflict. All human history— and with that alone we are here concerned— spread itself out before him as a long process of ideal conflict, leading irresistibly towards the final exclusion of contradiction in the perfect self-realisation of the Universal Idea. The evolution of societies upon the physical plane of existence was for him but the derivative expression of this ideal process. What was happening in human history was not what seemed to be happening, but gradual and progressive actualisation of the reality immanent in the Absolute Idea. Everything was present in potentiality through

संक्षेप में, हीगल के अनुसार प्रकृति जगत को, जिसका कि मानव जगत एक अंग कहा जा सकता है, हम सबसे अच्छी प्रकार **दैविक आत्मा** (Divine Spirit) तथा **बुद्धि** (Reason) की अभिव्यक्ति के रूप में समझ सकते हैं जोकि **निरपेक्ष विचार** (Absolute Idea) के रूप में अपने आपको पूर्णरूपेण जानने का प्रयास कर रहा है। मानव सभ्यता की प्रत्येक अवस्था और प्रत्येक राष्ट्रीय संस्कृति इसी **विश्व-आत्मा** की एक अपूर्ण और अपर्याप्त अभिव्यक्ति है ; एक आन्तरिक आवश्यकता के कारण यह अपने विरोधी को जन्म देती है। **विश्व-आत्मा** तब तक संतुष्ट नहीं हो सकती जब तक कि उसकी अभिव्यक्ति में न सुलझे हुये विरोध पाये जाते हैं, इसलिए इसका आन्तरिक तर्क एक उच्चतर स्तर पर उनके सामंजस्य की ओर ले जाता है। मानव इतिहास संघर्ष और निषेधीकरण के बीच में से विकसित होता है जब तक कि **विश्व-आत्मा** एक निरपेक्ष विचार के रूप में पूर्ण आत्म-चेतना प्राप्त न कर ले, जिसमें समस्त विरोध दूर हो जाते हैं। विकास का नियम नकारीकरण (Negation) का नकारीकरण है। इसके अनुसार 'थीसिस', 'एण्टीथीसिस' तथा 'सिन्थेसिस' विकास की अवस्थायें हैं। अपने आन्तरिक विरोधों के कारण 'थीसिस' भंग हो जाती है और अपने 'एण्टीथीसिस' को जन्म देती है। हम कह सकते हैं कि 'एण्टीथीसिस' उसका नकारीकरण कर देती है। परन्तु 'एण्टीथीसिस' जोकि 'थीसिस' के विरोधों को दूर करने का प्रयास करता है स्वयं इसी कारण भंग हो जाती है और उसके स्थान में 'सिन्थेसिस' की स्थापना हो जाती है जिसमें 'थीसिस' और 'एण्टीथीसिस' दोनों के मान्य तत्त्व सम्मिलित रहते हैं। इस प्रकार 'सिन्थेसिस' को नकारीकरण का नकारीकरण कहा जा सकता है। फिर 'सिन्थेसिस' भी 'थीसिस' बन जाती है और अपनी 'एण्टीथीसिस' को जन्म देता है, और इसी प्रकार यह प्रक्रिया चलती रहती है। ऐतिहासिक तथा सामाजिक परिवर्तनों के प्रति इस नवीन दृष्टिकोण के कारण हीगल इस परिणाम पर पहुँचा कि इतिहास घटनाओं की श्रृंखला मात्र नहीं है, बल्कि वह विकास की एक प्रक्रिया है, और विरोध उसका मुख्य प्रेरक सिद्धान्त है। मार्क्स हीगल की इस धारणा से बहुत प्रभावित हुआ, किन्तु हीगल के आदर्शवाद को उसने उपेक्षा की दृष्टि से देखा जिसके अनुसार विचार ऐतिहासिक प्रक्रिया के मुख्य कारण हैं, और पूर्णरूप से आत्म-चेतन निरपेक्ष विचार विकास की प्रक्रिया का लक्ष्य है। उसके लिए पदार्थ (Matter) अन्तिम वास्तविकता थी, और एक ऐसे समाजवादी समाज की स्थापना जिसमें एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग का शोषण न हो, विकास की प्रक्रिया का लक्ष्य था। उसने सोचा कि मैं द्वन्द्ववाद में अपने विश्वास और अपने भौतिकवाद को हीगल की विश्व-आत्मा

out the entire temporal process of development ; but the potential could become actual only by means of the long struggle of the idea towards self-realisation through the conflict of imperfect idea, as manifested in history."

—Cole : *Meaning of Marxism*, page 270.

को एक आर्थिक शक्ति मानकर संयुक्त कर सकता हूँ। इस उपाय से उसने न केवल उस महान् शक्ति को खोज निकाला जोकि मानवता को नकारीकरण से नकारीकरण तक संचालित करती रहती है, बल्कि उसने हीगल के द्वन्द्ववाद को भी ठीक उल्टा कर दिया। इसका परिणाम हुआ उसका द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, जिसका मुख्य उद्देश्य समाजवाद की अपरिहार्यता को सिद्ध करना है। द्वन्द्ववाद में अपने विश्वास के कारण मार्क्स इस परिणाम पर पहुँचा कि समाजवाद का भवन केवल पूँजीवाद की भस्म पर ही बन सकता है। उसकी धारणा थी कि पूँजीवाद अपने अन्दर अपने पतन के बीज इसी प्रकार रखता है जिस प्रकार कि हीगल की **अस्तित्व** (Being) की 'थीसिस' अपने अन्दर अपनी 'एण्टीथीसिस'— **अस्तित्वहीन** (Non-Being) को रखती है। पूँजीपति वर्ग तथा उसके शत्रु सर्वहारा वर्ग के बीच संघर्ष में से पूर्ण समाजवादी अथवा साम्यवादी समाज का जन्म होगा जिसमें न कोई वर्ग होगा और न कोई बाध्यकारी और दमनकारी राज्य। इस प्रकार श्रमजीवी वर्ग की अन्तिम विजय और पूँजीवादी व्यवस्था के विनाश में मार्क्स के अटल विश्वास का मूल उसके द्वन्द्ववादी भौतिकवाद में था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हीगल की इस धारणा के आधार पर कि संघर्ष अथवा विरोध के बिना कोई उन्नति नहीं हो सकती, मार्क्स ने अपने द्वन्द्ववाद के भवन का निर्माण किया जोकि हीगल से बहुत भिन्न है।

इन द्वन्द्ववादी सिद्धान्तों में अन्तर का कारण यह है जबकि हीगल के लिए विकासशील वास्तविकता **आत्मा** है, मार्क्स के लिए वह **पदार्थ** है। **विश्व-आत्मा** अपने आप को राष्ट्र राज्यों की विविध संस्थाओं में अभिव्यक्त करती है। हीगल के अनुसार मानव सभ्यता का इतिहास 'राष्ट्रीय संस्कृतियों की एक श्रृंखला है जिसमें प्रत्येक राष्ट्र अपनी विशिष्ट और समयानुकूल देन देता है।' ऐतिहासिक विकास राष्ट्रों के मध्य संघर्ष के कारण होता है; उसकी चालक शक्तियाँ विचार होते हैं। यह कहा जा सकता है कि हीगल के अनुसार इतिहास उत्तरोत्तर स्वतन्त्रता के विचार की अनुभूति की ओर बढ़ रहा है। इसके विपरीत मार्क्स की धारणा यह है कि इतिहास के विकास में मानवता जिन इकाइयों में संगठित हो जाती है वे आर्थिक वर्ग होते हैं, राष्ट्र नहीं। एक शब्द में, मार्क्स के अनुसार द्वन्द्ववादी भौतिकवाद की थीसिस, एण्टीथीसिस तथा सिन्थेसिस आर्थिक वर्ग हैं, विचार नहीं। जिस लक्ष्य की ओर मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद बढ़ रहा है वह एक ऐसे समाज की स्थापना है जिसमें न कोई वर्ग-भेद होगा और न कोई शोषण। यह अन्तिम सिन्थेसिस है जिसमें से एण्टीथीसिस का जन्म नहीं होगा। वर्ग-हीन समाज की स्थापना के साथ वर्ग-संघर्ष की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया रुक जाती है।

हीगल तथा मार्क्स के द्वन्द्व में जो अन्तर है उसे सैबाइन ने इन शब्दों में व्यक्त किया है: "जब कि हीगल की धारणा थी कि यूरोप के इतिहास का अवसान जर्मन राष्ट्रों के उत्थान में होता है और उसको आशा थी कि यूरोप की सभ्यता में

जर्मनी को आध्यात्मिक नेतृत्व का पद प्राप्त होगा, मार्क्स की धारणा थी कि इतिहास का अवसान सर्वहारा वर्ग के उत्थान में होता है जोकि पूंजीवाद के विकास का मुख्य सामाजिक परिणाम है, और उसे आशा थी कि आधुनिक समाज में उसी वर्ग को प्रधानता प्राप्त होगी। हीगल के इतिहास के सम्बन्ध में चालक शक्ति एक स्वयं विकसित होने वाला आध्यात्मिक सिद्धान्त था जोकि अपने आपको क्रमश: ऐतिहासिक राष्ट्रों में मूर्त्तिमान करता था; मार्क्स के सिद्धान्त में यह एक स्वयं विकसित होने वाली उत्पादन प्रणाली थी जोकि अपने आपको सामाजिक वर्गों और आर्थिक वितरण की आधारभूत व्यवस्थाओं में मूर्त्तिमान करती थी। हीगल के लिये ऐतिहासिक विकास का यंत्र राष्ट्रों के मध्य युद्ध था; मार्क्स के लिये वह क्रान्तिकारी वर्ग संघर्ष था। दोनों ही व्यक्ति इतिहास के प्रवाह को तार्किक दृष्टि से आवश्यक समझते थे, और उसे एक पूर्व-निश्चित लक्ष्य की ओर ले जाने वाली अवस्थाओं की एक व्यवस्था मानते थे।"*

यहाँ हम कुछ उन परिणामों का उल्लेख करेंगे जोकि मार्क्सवादियों ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त में से निकाले हैं। उनकी धारणा है कि जगत के पदार्थ और व्यापार में कोई भी वस्तु एक दूसरे से असम्बद्ध नहीं होती, बल्कि समस्त वस्तुयें अत्यधिक अन्योन्याश्रित होती हैं, इसलिये उनका अध्ययन हमें उनके सम्बन्धों को सामने रखते हुए करना चाहिये। केवल यही नहीं, उनका अध्ययन हमें उन्हें परिवर्तनशील और विकासशील मानते हुए करना चाहिये। हम पूँजीवाद को तब तक भली-भाँति नहीं समझ सकते जब तक कि हम ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में सामन्तवाद से समाजवाद के बीच की एक संक्रमण अवस्था समझकर उसका अध्ययन न करें। साम्यवादी इसे एक अटल सत्य समझते हैं कि पूँजीवाद का अवसान निश्चित रूप से ही समाजवाद में होगा। क्योंकि द्वन्द्ववाद के अनुसार समस्त विकास के पीछे चालक शक्ति संघर्ष है, इसलिये वे प्रकृति तथा समाज की प्रक्रियाओं में विरोधों की

---

* "Whereas Hegel had conceived that European history culminates in the rise of the Germanic nations and had looked forward to the advance of Germany to a position of spiritual leadership in European civilization, Marx conceived that history culminates in the rise of the proletariat, as the chief social consequence of a developing capitalism, and looked forward to the advance of that class to a dominant place in modern society. In Hegel's theory of history the driving force was a self-developing spiritual principle that embodied itself successively in historic nations; in Marx's it was a self-developing system of productive forces that embodied itself in basic pattern of economic distribution and social class. For Hegel the mechanism of history was warfare between nations; for Marx it was a revolutionary struggle between classes. Both men regarded the course of history as logically necessary; a pattern of stages advancing towards a predetermined goal."

—Sabine: *A History of Political Thought,* Chapter XXX, page 621.

खोज करते हैं; उदाहरण के लिये वे पूँजीवाद के अन्तर्हित विरोधों को दिखाने के लिये बड़े उत्सुक रहते हैं। उनका कहना है कि जबकि मनुष्य जो कुछ उत्पादन करता है उसे स्वयं उसका स्वामी होना चाहिये, पूँजीवाद के अन्तर्गत वह दूसरों के लिये काम करने वाला नौकर बन जाता है। जब कि मनुष्य को स्वयं अपने प्रयोग के लिये उत्पन्न करना चाहिये, पूँजीवाद के अन्तर्गत वह दूसरों के लिये उत्पादन करता है।

यह बड़े खेद की बात है कि यद्यपि उनके समाजवादी सिद्धान्त में द्वन्द्ववादी भौतिकवाद का आधारभूत स्थान है, तथापि उन्होंने इसके विषय में अपने विचारों को कभी स्पष्ट नहीं किया। अपनी समस्त रचनाओं में वे इसे मानकर चलते हैं, किन्तु इसकी विस्तृत विवेचना वे कभी नहीं करते। साधारणतया हम यह मान सकते हैं कि संघर्ष मानवी विषयों में एक महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा करता है, किन्तु उसे एक विश्व-व्यापी कानून मानना, या ऐतिहासिक विकास में उसे चालक मानना आवश्यक नहीं। हम केरियु हण्ट के इस कथन से सहमत हो सकते हैं कि 'यद्यपि द्वन्द्ववाद हमें मानव विकास के इतिहास में मूल्यवान् क्रान्तियाँ दिखाता है, किन्तु मार्क्स का यह दावा स्वीकार नहीं किया जा सकता कि सत्य का अनुसंधान करने के लिये यही एक-मात्र वैज्ञानिक पद्धति है।' केवल एक पक्का मार्क्सवादी ही गेहूँ के दाने के प्रस्फुटित होने, उसमें डण्ठल उगने तथा अन्त में गेहूँ के उत्पन्न होने में द्वन्द्ववाद की क्रीड़ा देख सकता है। प्रस्फुटन को वह 'दाने का नकारीकरण' और दाने की उत्पत्ति को वह 'नकारीकरण' का 'नकारीकरण' समझता है। एक सीधे सादे व्यक्ति के लिये तो गेहूँ के पौधे के विकास में या अन्य किसी ऐसी ही घटना में न तो संघर्ष है, और न विरोध और इसलिये न कोई द्वन्द्व : ऐसी घटनाओं को हम द्वन्द्व की सहायता के बिना भी भली-भाँति समझ सकते हैं। केवल इतना ही नहीं, स्वयं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की धारणा की मान्यता पर ही आपत्ति की जा सकती है। आदर्शवादी अध्यात्मशास्त्र के साथ संयुक्त होकर तो द्वन्द्ववादी पद्धति की कुछ मान्यता भी हो सकती है, किन्तु भौतिकवाद के साथ जुड़कर तो इसमें कोई मान्यता दिखाई नहीं पड़ती। विश्व-आत्मा अथवा बुद्धि जैसा एक आध्यात्मिक सिद्धान्त तो स्वयं विकसित होने वाला हो सकता है और अपने आपको अधिकाधिक पूर्ण रूप में मूर्तिमान करने की आन्तरिक आवश्यकता से संचालित हो सकता है, किन्तु यह बात समझ में आनी बड़ी कठिन है कि पदार्थ, जोकि स्वभाव से ही चेतनाहीन है, एक स्वयं विकसित होने वाला सिद्धान्त बन सकता है। इसमें तो कोई ऐसी आन्तरिक आवश्यकता नहीं होती जैसी कि आत्मा में अपनी अन्तर्हित शक्तियों को यथार्थ करने की होती है। पदार्थ में कोई अन्तर्हित शक्ति नहीं होती; उसमें विकास की सामर्थ्य नहीं होती। इसमें जो परिवर्तन होते हैं वे एक बाह्य शक्ति द्वारा किये जाते हैं जिसके कि यह अधीन होता है। यदि तर्क के लिये हम यह स्वीकार भी कर लें कि पदार्थ में स्व-विकास की सामर्थ्य होती है, तो इस बात को मानने का तो फिर भी कोई कारण नहीं है कि यह विकास विरोधी

तत्वों में संघर्ष के द्वारा ही होगा। भौतिक वस्तुओं में सम्बन्ध या तो साम्यता का होता है या अन्तर का, वे एक दूसरे की विरोधी कभी नहीं हो सकतीं। ठोस पदार्थ, तरल पदार्थ तथा गैस एक दूसरे से भिन्न हैं, किन्तु वे इस प्रकार एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं जिस प्रकार कि प्रेम तथा घृणा, सद् तथा असद् और न्याय तथा अन्याय। किसी भौतिक पदार्थ, जैसे— पानी को एक दूसरे पदार्थ, जैसे— गैस का विरोधी समझना निरर्थक है। यदि सामन्तवाद तथा पूँजीवाद सरीखी सामाजिक संस्थाओं और मानव सभ्यता की अवस्थाओं को विरोध के द्वारा विकसित होता हुआ समझा जा सकता है तो .इसलिये कि वे विचारों को प्रतिविम्बित करती हैं और उनका मूर्त्त रूप है। सामन्तवाद को अपूर्ण और अपने विरोधी पूँजीवाद का जन्मदाता केवल उसी सीमा तक समझा जा सकता है जिस तक कि वह निरपेक्ष बुद्धि की अपर्याप्त अभिव्यक्ति है। हमें इस प्रश्न का कि पदार्थ को स्वयं विकसित होने वाला सिद्धान्त कैसे माना जा सकता, मार्क्स और एंजिल्स से कोई उत्तर नहीं मिल सकता, क्योंकि उन्होंने यह समझाने का कभी प्रयत्न ही नहीं किया कि पदार्थ और भौतिकवाद से उनका तात्पर्य क्या था; उस समय सामान्यतया जिसे भौतिकवाद समझा जाता था, उसके प्रति अपना उपेक्षा भाव प्रकट करके ही उन्होंने संतोष कर लिया। यह कहा जा सकता है कि द्वन्द्ववादी भौतिकवाद की हमारी आलोचना अप्रासंगिक है, क्योंकि मार्क्स पदार्थ को क्रियाशील, स्फूर्ति अथवा गति का पुंज समझता था, वह उसे निष्प्राण और जड़ नहीं समझता था जैसा कि १८वीं शताब्दी के विचारक उसे मानते थे। हमारा उत्तर यह है कि मार्क्स ने कहीं भी पदार्थ के उस स्वभाव की व्याख्या करने का प्रयास नहीं किया है जिसके कारण उसे संघर्ष द्वारा स्व-विकास की आवश्यकता होती है। यह तो मार्क्स केवल मान बैठा है कि वह द्वन्द्ववादी ढंग से विकसित होता है। हमारा तर्क यह है कि स्वतः विकास की धारणा मानस अथवा बुद्धि सरीखे एक आध्यात्मिक सिद्धान्त पर ही लागू हो सकती है, पदार्थ पर नहीं।

उपरोक्त आलोचना का सारांश केरयू हन्ट के शब्दों में दिया जा सकता है जिसके ऊपर कि यह मुख्यतया आधारित है :

"द्वन्द्ववाद के मार्क्सवादी रूप के विरुद्ध एक गम्भीर आपत्ति उठाई जा सकती है। द्वन्द्ववाद को विरोधी तत्वों के बीच संघर्ष के द्वारा विचारों के विकास पर लागू करना उचित है, और हीगल उस विकास की एक बुद्धिसंगत व्याख्या देता है। तथापि यद्यपि द्वन्द्ववादी भौतिकवाद के भौतिक जगत में कुछ विरोधों के दृष्टान्त केवल एकदम मनमाने हैं, परन्तु यदि वे ऐसे न होते तो फिर भी यह तो एक रहस्य ही बना रहता है कि भौतिक जगत में वे दिखाई क्यों पड़ने चाहियें। द्वन्द्ववादी भौतिकवाद वास्तव में यह कहता है कि पदार्थ, पदार्थ है किन्तु इसका विकास विचारों की भाँति होता है। जब कि हम यह तो देख सकते हैं कि विचार उस प्रकार विकसित क्यों होते हैं जिस प्रकार कि वे होते हैं, जैसा कि, उदाहरण के लिये, वाद-विवाद में हम किसी ऐसे कारण की कल्पना नहीं कर सकते कि भौतिक वस्तुओं को भी उसी ढंग

से विकसित क्यों होना चाहिये।"*

मार्क्स इस स्पष्ट और सरल सत्य को क्यों न देख सका ? सबसे अधिक सम्भावना यह है कि उसने यह अन्धी मान्यता कि पदार्थ स्वयं विकसित होने वाला सिद्धान्त है इसलिये अपनाई क्योंकि इसका प्रयोग सरलता के साथ युद्ध कला के निर्धारित करने के लिये हो सकता था जोकि क्रांतिकारी श्रमजीवी दल की आवश्यकताओं के अनुकूल हो। हमें सदैव याद रखना चाहिये कि मार्क्स का अनुराग द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में एक दर्शन प्रणाली के रूप में न था; उसकी दिलचस्पी इसमें केवल वहाँ तक थी जहाँ तक कि वह उसके कार्यक्रम के लिये एक आधार प्रदान कर सकता था। उसने इसे अपनाया परन्तु उसने इसके आदर्शवाद रूप का परित्याग कर दिया जोकि हीगल की प्रणाली में था क्योंकि आदर्शवाद से वह घृणा करता था।

अब हम उसकी विख्यात इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की समीक्षा करेंगे जिसके लिये कि उसका द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आधार तैयार करता है।

(२) **इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या**— हमने ऊपर यह संकेत दिया था कि मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को अपनी विचारधारा का आधार इसलिये बनाया क्योंकि इसमें उसे एक ऐसा महान् शस्त्र मिला जिसकी सहायता से वह समाजवाद को उसकी भावुक, नैतिक तथा कल्पनावादी पृष्ठभूमि से स्वतन्त्र कर सकता था और उसे वैज्ञानिक बना सकता था। हमारी इस धारणा का समर्थन इस बात से भी होता है कि उसकी विचारधारा में इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का केन्द्रीय स्थान है। यह हमें सदैव याद रखना चाहिये कि सामाजिक विज्ञान का सामाजिक दर्शन में मार्क्स का अनुराग मूलतः व्यावहारिक था। वह सामाजिक तथा ऐतिहासिक परिवर्तन का एक ऐसा नियम और पद्धति खोजना चाहता था जिससे कि वह क्रान्तिकारी श्रमजीवी सिद्धान्त के अनुकूल युद्ध-कला का निर्माण कर सकता। इस उद्देश्य के लिये उसने द्वन्द्व की धारणा को बहुत उपयोगी पाया; हीगल ने इस पद्धति का जो प्रयोग धर्म की आलोचना करने के लिये किया था, वह क्रांतिकारी था। मार्क्स ने भी इसे शीघ्र ही अपना लिया। उसने इसका प्रयोग ऐतिहासिक तथा सामाजिक विकास

* "The Marxian version of the dialectic is indeed open to a serious objection. The dialectic can properly be applied to the development of ideas through the conflict of contradictions, and Hegel provides a rational explanation of that development. Yet, although dialectical materialism can point to something analogous to contradiction in the material world, not only are those analogies altogether arbitrary, but even if they were not, it would still remain a complete mystery why the material world should exhibit them. Dialectical materialism in fact asserts that matter is matter, but that it develops as ideas do. Only while we can see why ideas develop as they do, as for example in discussion, there is no conceivable reason why material things should develop in the same way."

—Carew Hunt: *Theory & Practice of Communism,* page 33.

की व्याख्या करने के लिये किया। इसके फलस्वरूप उस सिद्धान्त का जन्म हुआ जो कि इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के नाम से प्रसिद्ध है, और जो लेनिन के अनुसार वह केन्द्र बिन्दु है जिसके चारों ओर सम्पूर्ण विचार प्रणाली घूमती है।

इतिहास की भौतिकवादी धारणा की समीक्षा करने से पहिले हमें नामकरण (Nomenclature) के प्रश्न का निर्णय कर लेना चाहिये। यह नाम अत्यधिक भ्रमपूर्ण और अनुचित है। 'भौतिकवादी' शब्द का एक ऐसा अर्थ होता है जिसका कि मार्क्स के विचार के अर्थ का एक आवश्यक भाग होना आवश्यक नहीं। भौतिकवाद वह सिद्धान्त है जोकि बुद्धि की स्वतन्त्र सत्ता से इन्कार करता है और उसे पदार्थ की एक निस्रतात्मक (Derivative) उत्पत्ति समझता है; चेतन मस्तिष्क में एक पदार्थ विशेष की गति का फल है। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के नाम में मार्क्स ने इतिहास तथा सामाजिक परिवर्तन के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है उसमें बुद्धि के स्वरूप के विषय में ऐसी कोई धारणा निहित है। यदि वह इसका नाम 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' या जैसा कि कोल सुझाव देता है, 'इतिहास की यथार्थवादी व्याख्या' रख देता तो उसका अभिप्राय अधिक स्पष्ट हो जाता। वे भौतिक वस्तुयें जिन्हें कि वह इतिहास विकास के क्रियाशील निर्णायिक समझता है 'उत्पादन की शक्तियाँ' ही हैं। उत्पादन की शक्तियों में तीन चीजें सम्मिलित हैं— (१) प्राकृतिक साधन, जिसमें भूमि, जलवायु, भूमि की उपजाऊ शक्ति, खनिज पदार्थ (कोयला, लोहा इत्यादि), जलविद्युत शक्ति इत्यादि; (२) मशीन, यंत्र तथा अतीत से विरासत में मिली हुई उत्पादन कला; तथा (३) एक युग विशेष में मनुष्यों के मानसिक तथा नैतिक गुण। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता जाता है, मशीन, यंत्र तथा उत्पादन कला का, जोकि मानव बुद्धि की उपज हैं, प्रकृति के ऊपर मनुष्य की विजय कराने में अधिकाधिक भाग होता जाता है। इनको भौतिक वस्तुयें कहना और उससे यह विचार उत्पन्न करना, कि इतिहास के प्रवाह के निर्धारण में मनुष्य का कोई भाग नहीं होता, भाषा का गलत प्रयोग है। कदाचित् मार्क्स ने यह नाम इसलिए अपनाया होगा क्योंकि वह ऐतिहासिक विकास के अपने सिद्धान्त को हीगल के सिद्धान्त से अधिक से अधिक भिन्न रखना चाहता था। यदि हीगल की व्याख्या 'आदर्शवादी' थी तो उसकी 'भौतिकवादी' होनी ही चाहिए। परिणाम यह हुआ कि जब कि वास्तव में वह अपने सिद्धान्त को इस द्वैतवादी आधार पर रखना चाहता था कि इतिहास का विकास मानव बुद्धि तथा भौतिक पर्यावरण के दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया का फल है, उसने उसे ऐसे शब्दों में प्रस्तुत कर दिया जिससे उसके बहुत से पाठक इस भ्रम में पड़ सकते हैं कि उसके मतानुसार मानव इतिहास की रूपरेखा को केवल भौतिक पर्यावरण ही निर्धारित करता है: एंजिल्स ने यह कहकर कि मानव मानस भौतिक जगत का ही एक भाग है क्योंकि वह भौतिक वस्तुओं पर केवल शरीर के द्वारा ही क्रिया कर सकता है, स्थिति को और अधिक खराब कर दिया।

आइये अब हम इतिहास की आर्थिक व्याख्या की समीक्षा करें।

मार्क्स ने अपनी इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का प्रतिपादन हीगल के द्वन्द्ववाद के विरोध में किया था, इसलिए उसे समझने का सर्वोत्तम ढंग यह होगा कि हम दोनों की तुलना करते हुए इनमें भेद को समझें। हीगल इतिहास को 'निर्लिप्त विचार' (Absolute Idea) की आत्मानुभूति, उसकी एक क्रीड़ा समझता था। वह आत्मा जोकि प्रकृति में निवास करती है, समस्त परिवर्तनों के पीछे प्रमुख संचालन शक्ति है। इस अन्तर्वासिनी आत्मा की आंशिक अभिव्यक्ति संसार के उन महान् धर्मों में होती है जिसके प्रवर्त्तकों और नेताओं ने महान् और पवित्र आदर्शों का उपदेश दिया है। इसलिए, मानव इतिहास में विचारों और आदर्शों ने जो पार्ट अदा किया है, उसे उसने बड़ा महत्त्व दिया है। मार्क्स ने इस धारणा का पूर्ण रूप से खण्डन किया। उसका विश्वास था कि मनुष्य जो कुछ हैं अपने आदर्श प्रभावों के कारण नहीं हैं, उनके चरित्र उनके आजीविका कमाने के साधनों से बनते हैं; सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों के निर्णायक कारकों की खोज हमें जीवन की भौतिक स्थितियों में करनी चाहिये, परमात्मा या विश्वात्मा की क्रीड़ाओं, अथवा शाश्वत सत्य और न्याय की अमूर्त्त धारणाओं में नहीं। जीवन की भौतिक वस्तुओं से उसका अभिप्राय उन कारणों से था, जोकि धन के उत्पादन और वितरण को प्रभावित करते हैं। गत पैरा में उनका विश्लेषण किया जा चुका है। इसलिए हम कह सकते हैं कि मार्क्स के अनुसार वह शक्तियाँ, जोकि मानव तथा सामाजिक इतिहास को निर्धारित करती हैं, आर्थिक हैं, सांस्कृतिक अथवा राजनीतिक नहीं। सामाजिक संघटन के एक रूप के स्थान में दूसरे रूप का आवर्त्तन सत्य अथवा न्याय की नवीन धारणाओं अथवा नवीन बौद्धिक सिद्धान्तों द्वारा नहीं होता, वह आविष्कारों का परिणाम होता है जोकि उत्पादन के साधनों अर्थात् मनुष्य तथा उसके पर्यावरण के साथ सम्बन्ध में आमूलचूल परिवर्तन कर देते हैं। एक युग की वैधानिक तथा राजनीतिक संस्थायें और संस्कृति (जिससे हमारा तात्पर्य धार्मिक तथा नैतिक विश्वासों, कला तथा साहित्य से है) आर्थिक परिणामों के कारण नहीं, बल्कि उत्पादन के साधनों की उत्पत्ति हैं। मार्क्स के शब्दों में, 'जीवन के भौतिक साधनों के उत्पादन की पद्धति सामाजिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक जीवन की सम्पूर्ण प्रक्रिया की स्थिति निर्धारित करती है। मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, बल्कि इसके विपरीत उनकी सामाजिक स्थिति उनकी चेतना को निर्धारित करती है।' इस वाक्य के सार को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है। आर्थिक कारक, अर्थात् उत्पादन की शक्तियाँ ही अन्ततोगत्वा समस्त वस्तुओं को निर्धारित करती हैं। यह न केवल सामाजिक ढाँचे को निर्धारित करता है, बल्कि उसके धार्मिक विश्वासों तथा दर्शन की रूपरेखा भी निश्चित करता है। मानसिक का निर्माण भौतिक से होता है, भौतिक का मानसिक से नहीं। एक समाज की संस्कृति उसके आर्थिक जीवन के आधार पर खड़ा किया हुआ ऊपर का ढाँचा है। यह विश्वास, कि शाश्वत सत्य, न्याय, प्रेम, मानवता, दानशीलता इत्यादि की अमूर्त्त धारणायें

सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन लाती हैं, एकदम गलत है, इसलिये हमें इसका परित्याग कर देना चाहिये। मार्क्स के अनुसार उत्पादन की शक्तियाँ ही उत्पादन के सम्बन्धों को निर्धारित करती हैं और उत्पादन के सम्बन्धों के आधार पर ही समाज की संस्थाओं और विचारधारा का ऊपर का ढाँचा खड़ा होता है। फ्रेड्रिक एंजिल्स इस धारणा को इन शब्दों में व्यक्त करता है : "इतिहास के प्रत्येक काल में आर्थिक उत्पादन और विनिमय की पद्धति तथा तद्जनित सामाजिक संगठन वह आधार बनाते हैं जिसके ऊपर उसका निर्माण होता है, और केवल जिसके द्वारा ही उस युग के राजनीतिक और बौद्धिक जीवन की व्याख्या की जा सकती है।" इस प्रकार इतिहास की भौतिक अथवा आर्थिक व्याख्या का सार यह है कि सामाजिक परिवर्तन का अन्तिम निर्धारक उत्पादन तथा वितरण की पद्धति में परिवर्तन होना है; एक युग की संस्कृति की रूपरेखा उसकी धन उत्पादन की पद्धति से निर्धारित होती है।

इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है जहाँ कि एक युग में उत्पादन तथा वितरण की प्रणाली में परिवर्तन होने से उसी के अनुरूप सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक संस्थाओं में भी परिवर्तन हुए हैं। मध्य युग के अन्त के निकट आने पर जब सामन्तवाद का ह्रास हुआ और व्यापार तथा उद्योग का विकास हुआ तो वे समस्त सामन्तवादी संस्थायें, जोकि उसकी विशिष्ट आर्थिक आवश्यकताओं के अनुकूल थीं, समाप्त हो गई और उनके स्थान पर नवीन राष्ट्र-राज्य के, जिसका कि उस समय आविर्भाव हो रहा था अनुकूल नवीन सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं, नवीन नैतिक, वैधानिक तथा आर्थिक सिद्धान्तों का प्रतिष्ठान हो गया। निकट भूत में जब उद्योग की अपेक्षा वित्त पर अधिक जोर दिया जाने लगा तो राष्ट्र-राज्य की भावना तथा संस्थाओं में भी परिवर्तन हुआ। सोवियत रूस की सामाजिक, वैधानिक तथा राजनीतिक संस्थायें और उसका साहित्य, कला, विज्ञान तथा दर्शन सभी कुछ अमरीका तथा पश्चिमी यूरोप के देशों से, जहाँ कि पूँजीवादी व्यवस्था और उसके अपने उत्पादन के सम्बन्ध पाये जाते हैं, बहुत भिन्न हैं। महात्मा गाँधी ने धन के उत्पादन तथा वितरण की पद्धति और समाज की संस्थाओं और विचारधारा के ऊपर के ढाँचे में घनिष्ठ सम्बन्ध देखकर यह धारणा बनाई थी कि यदि मानव जाति जीवन के उच्चतर मूल्यों की रक्षा करना चाहती है तो उसे आधुनिक वित्त के ऊपर आधारित केन्द्रीकृत औद्योगिक प्रणाली को छोड़ कर फिर से विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था को अपनाना चाहिए।

अपनी इस धारणा का, कि सामाजिक परिवर्तन का चालक सिद्धान्त हमें आर्थिक कारणों में खोजना चाहिए, न कि अमूर्त्त सिद्धान्तों और महान् धार्मिक तथा राजनीतिक नेताओं की क्रियाओं में, मार्क्स एक सरल प्रमाण पेश करता है। वह 'उत्पादन की शक्तियों' और 'उत्पादन के सम्बन्धों' में विभेद करता है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, उत्पादन की शक्तियों में प्राकृतिक साधन, मशीन तथा

औजार, उत्पादन कला तथा मनुष्यों की मानसिक तथा नैतिक आदतें सम्मिलित हैं। ये सब बातें मिलकर मनुष्य के प्रकृति के साथ सम्बन्ध को अभिव्यक्त करती हैं। आज की भाषा में हम उन्हें यान्त्रिक तथा वैज्ञानिक ज्ञान कह सकते हैं। इन प्राप्त उत्पादन की शक्तियों का पूर्ण रूप से प्रयोग करने के लिये लोग उनके अनुकूल आर्थिक संस्थाओं का निर्माण करते हैं और उनकी सुरक्षा के लिये आवश्यक सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं, न्यायिक विधानों, नैतिक मानदण्डों और धार्मिक तथा दार्शनिक प्रणालियों की स्थापना करते हैं। दूसरे शब्दों में, उत्पादन की शक्तियों के आधार पर उसी के अनुकूल एक सामाजिक और राजनीतिक ऊपरी ढाँचा खड़ा किया जाता है और शिखर पर एक सानुकूल संस्कृति प्रतिष्ठित होती है। सामाजिक तथा राजनीतिक ढाँचा मनुष्यों के परस्पर सम्बन्धों को निर्धारित करता है। इन्हें मार्क्स ने 'उत्पादन के सम्बन्ध' कहकर पुकारा है। अपने ग्रंथ 'Today's Isms' में प्रो० एबिन्सटाइन यह सुझाव देते हैं कि इन उत्पादन के सम्बन्धों को 'सामाजिक संस्थायें कहना चाहिये।

संसार की प्रत्येक वस्तु की भाँति उत्पादन की शक्तियों में परिवर्तन होता रहता है। नये कच्चे पदार्थ, शक्ति के एक नये स्रोत की खोज या उत्पादन कला और यन्त्रों में सुधार के कारण उत्पादन की शक्तियों में परिवर्तन हो सकता है। इस प्रकार की खोज और सुधार के पूर्ण उपयोग के लिये यह आवश्यक है कि उत्पादन के सम्बन्धों अथवा सामाजिक संस्थाओं में भी उनके अनुरूप परिवर्तन हो। यदि ऐसे परिवर्तन नहीं हो पाते हैं तो उत्पादन की शक्तियों का पूर्ण उपयोग नहीं किया जा सकता। परन्तु दुर्भाग्यवश यह सदैव नहीं होता, या काफी द्रुत गति से नहीं होता। कुछ तो जड़ता के कारण, किन्तु उससे भी अधिक विशिष्ट हितों के कारण, जोकि उत्पादन के प्रस्तुत सम्बन्धों द्वारा उत्पन्न हो जाते हैं, सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थानों में आवश्यक परिवर्तन होने में विलम्ब हो जाता है; इसलिये उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धों में अन्तर पड़ जाता है। ऐसा ही एक अन्तर उस समय हो गया था जबकि सामन्तवाद के उत्पादन के सम्बन्ध, अर्थात् उसके सम्पत्ति सम्बन्ध, बाजारों पर नियन्त्रण, आन्तरिक कर-पद्धति इत्यादि औद्योगिक पूँजी की विकसित होती हुई शक्तियों के मार्ग में बाधक बन गये। ऐसा ही अन्तर आज दिखाई पड़ रहा है जबकि उन्नीसवीं तथा प्रारम्भिक २०वीं शताब्दी के आर्थिक राष्ट्रवाद में रंगे हुये विचारों तथा जीवन के ढंगों का सामंजस्य नवीन विश्व अर्थव्यवस्था से नहीं किया जा सकता। जबर्दस्त प्राविधिक (Technological) उन्नति ने जो साधन मनुष्य को दिये हुए हैं, उन्होंने आज से कोई २० वर्ष पुराने विचारों और धारणाओं को निरर्थक बना दिया है। आज संसार एक संकट में से गुजर रहा है और समाज में विघटन हो रहा है क्योंकि संस्थाओं, वर्ग-सम्बन्धों तथा विचार-प्रणालियों में इतनी द्रुत गति से परिवर्तन नहीं हो रहा है, जितनी तेजी से कि पिछले दशकों में उत्पादन के सम्बन्ध बदले हैं।

मार्क्स का यह पक्का विश्वास था कि जब कभी उत्पादन की शक्तियां उत्पादन के सम्बन्धों को पीछे छोड़ देती हैं, दूसरे शब्दों में, जब एक समाज की सामाजिक, कानूनी तथा राजनीतिक संस्थायें अपने आपको धन के उत्पादन और वितरण की प्रणाली में तेजी से होने वाले परिवर्तनों के अनुकूल नहीं बना पातीं, तो उस कठिनाई को पार करने का एकमात्र मार्ग क्रान्ति है। शक्ति के प्रयोग के बिना पुरानी व्यवस्था अपने स्थान में नवीन व्यवस्था को नहीं आने देती। अपने 'कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो' में मार्क्स तथा एंजिल घोषणा करते हैं कि सामाजिक संगठन को परिवर्तित करने का एकमात्र उपाय वर्ग-संघर्ष है। इस प्रकार वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त इतिहास की भौतिकवादी अथवा आर्थिक व्याख्या से सम्बद्ध है। मानव इतिहास की कुञ्जी के रूप में वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त की समीक्षा करने से पूर्व हम मार्क्स की इतिहास की व्याख्या के मूल्यांकन के रूप में दो शब्द कहना चाहेंगे।

ऐतिहासिक भौतिकवाद का मूल्यांकन— मार्क्स की इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' में जैसा कि उसे कभी-कभी कहा जाता है, उसके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अथवा उसके वर्ग-संघर्ष तथा अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक सत्य पाया जाता है। इसने सामाजिक शास्त्रों पर गहरा प्रभाव डाला है; जैसा कि केरयु हण्ट कहता है, सामाजिक शास्त्रों से सम्बन्ध रखने वाले समस्त आधुनिक विचारक मार्क्स के ऋणी हैं, चाहे वे उसे स्वीकार करें या न करें। अब हम मार्क्स से पहले के सामाजिक सिद्धान्तों पर लौट कर नहीं जा सकते। यदि 'आधारभूत' शब्द को उसके सामान्य तथा अनिश्चित अर्थ में प्रयुक्त किया जाये और उसके अर्थ पर अत्यधिक जोर न दिया जाये तो सरलता से यह माना जा सकता है कि सामाजिक संस्थाओं के विकास में आर्थिक कारक आधारभूत हैं। समाज को आर्थिक स्थितियों की पृष्ठभूमि में रखकर अध्ययन किया जाना सभी सामाजिक शास्त्रों के लिये हितकर होगा। किसी जाति की सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक समस्याओं को समझने और उनका निराकरण करने में हमें उस जाति की आर्थिक स्थितियों के ज्ञान से बहुत सहायता मिलेगी। मानव इतिहास को समझने में भी आर्थिक कारक के महत्त्व को माना जा सकता है; इतिहास के एक बहुत बड़े भाग को तो हम समझ ही अर्थशास्त्र की सहायता से सकते हैं। इस अर्थ में, मार्क्स का ऐतिहासिक भौतिकवाद, अर्थात् 'अर्थवाद', जैसा कि इसे कहना और भी अधिक उचित होगा, सामाजिक शास्त्र की पद्धतियों में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रगति का सूचक है। परन्तु समस्त ऐतिहासिक गतिविधियों की एकमात्र आर्थिक शब्दों में व्याख्या करना असम्भव है; और आर्थिक स्थितियों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे देना बहुत ही सरल है। मार्क्सवादी ये दोनों ही गलतियाँ करते हैं।

मानव जीवन इतना जटिल है कि अर्थशास्त्र, धर्म, दर्शनशास्त्र, जलवायु, इत्यादि किसी एक ही कारक के शब्दों में उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। इन समस्त कारकों, तथा लोभ, शक्तिमोह, प्रेम तथा काम इत्यादि अन्य बहुत से कारकों

ने मानव इतिहास के प्रवाह को निर्धारित करने में योग दिया है। लंका के ऊपर राम की चढ़ाई की आर्थिक व्याख्या देना सम्भव नहीं, और न ही हम महाभारत के युद्ध को समझ सकते हैं, यदि हम यह न जान लें कि मानव जीवन में ईर्ष्या तथा द्वेष क्या पार्ट अदा करते हैं। भारत पर इस्लाम की चढ़ाई का उद्देश्य आर्थिक की अपेक्षा धार्मिक अधिक था। इसी प्रकार धर्म-युद्धों (Crusades) में भी आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता की अपेक्षा धार्मिक कट्टरता का हाथ अधिक था। **पुनर्जागरण** (Renaissance) तथा **सुधार** (Reformation) इन दो महान् आन्दोलनों की, जिन्होंने कि मध्यकालीन यूरोप को आधुनिक में परिवर्तित कर दिया, निरी आर्थिक व्याख्या कर देना भी निरर्थक होगा। इस विषय में लास्की के निम्नलिखित शब्द उद्धरणीय हैं :—

"बलकान राज्यों के आत्मघाती राष्ट्रवाद की कोई आर्थिक व्याख्या नहीं हो सकती। १९१४ के युद्ध का एक बहुत बड़ा कारण संघर्षमय व्यापारिक साम्राज्यवाद हो सकता है; किन्तु उसमें राष्ट्रीय विचारों की प्रतिस्पर्धा का भी हाथ था जो कि किसी भी दृष्टि से आर्थिक नहीं थी। ऐतिहासिक रूप से भी, कम से कम वेस्टफेलिया की संधि तक, सामाजिक दृष्टिकोण के निर्माण में धर्म का उतना ही महत्त्वपूर्ण भाग रहा जितना कि भौतिक स्थितियों का। लूथर रोम द्वारा आर्थिक शोषण के विरुद्ध विरोध से कुछ अधिक का प्रतिनिधि है। वास्तव में मनुष्य के भावों का कभी भी कोई एक स्रोत नहीं हो सकता। शक्ति का प्रेम, समूह-भावना, प्रतिस्पर्धा, प्रदर्शन की इच्छा, ये सब संचय की भावना से, जोकि भौतिक पर्यावरण की शक्ति की व्याख्या करती है, कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।"*

इतिहास की आर्थिक व्याख्या के विरुद्ध इस आपत्ति का सार यह है कि सामाजिक सम्बन्ध इतने जटिल होते हैं कि कोई एक ही कारक उनका आधार नहीं हो सकता। एक मार्क्स का समर्थक इसका यह उत्तर दे सकता है कि यह सिद्धान्त वास्तव में इतना एकवादी नहीं है जितना कि इसे बताया जाता है। आर्थिक कारक, जिसको कि यह सामाजिक घटनाचक्र के निर्धारण में आधारभूत समझता है, स्वयं ही अत्यन्त जटिल है; इसमें विचारों का कार्य भी सम्मिलित है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वैज्ञानिक तथा प्राविधिक ज्ञान उत्पादन के साधनों का एक

* "No economic conditions can explain the suicidal nationalism of the Balkans. The war of 1914 may have been largely due to conflicting commercial imperialism; but there was also competition of national ideas which was at no point economic. Historically, too, the part played by religion in the determination of social outlook was, until at least the Peace of Westphalia, as important as that played by material conditions. Luther represents something more than a protest against the financial exactions of Rome. The impulses of men, in fact, are never referable to any single source. The love of power, herd instincts, rivalry, the desire of display, all these are hardly less vital than the acquisitiveness which explain the strength of material environment."

—Laski: *Karl Marx, An Essay.*

महत्त्वपूर्ण भाग है। धर्म और दर्शनशास्त्र सरीखे अनार्थिक कारक भी समाज के ऊपरी ढाँचे के भाग के रूप में अपना पार्ट अदा करते हैं। १८९० में एंजिल्स ने एक पत्र में लिखा था कि मैं और मार्क्स आंशिक रूप से इस बात के लिए उत्तरदायी हैं कि कभी-कभी "हमारे शिष्यों ने आर्थिक कारक पर उचित से अधिक जोर दिया है। हमारे जो विरोधी उससे इन्कार करते थे, उनके विरोध में हम उसके आधारभूत चरित्र पर बल देने को विवश हो गये और ऐतिहासिक प्रक्रिया में अन्य तत्त्वों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया की समुचित व्याख्या करने के लिये हमारे पास सदैव न तो समय था, न स्थान और न कोई अवसर ही।"*

एंजिल्स ने जिन 'दूसरे कारकों' का उल्लेख किया है यदि मार्क्सवादी उनमें बुद्धि, न्याय तथा नैतिकता के आदर्श विचारों और धार्मिक विरोध, व्यक्तिगत द्वेष, दरबारी छल-छन्द इत्यादि निकृष्ट मानवीय भावनाओं को सम्मिलित करने के लिये तैयार हों तो उनके साथ हमारा मतभेद काफी कम रह जायगा, परन्तु एक महत्त्व-पूर्ण मतभेद फिर भी रहेगा। ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में दूसरे कारकों के प्रभाव को तो एंजिल्स ने स्वीकार किया; किन्तु उसी पत्र में उसने यह दावा भी किया कि आर्थिक स्थिति आधार है और अन्य तत्त्व ऊपर का ढांचा है। हम आर्थिक तत्त्व के महत्त्व को तो स्वीकार करते हैं; किन्तु हम यह मानने के लिये तैयार नहीं हैं कि वह मूल शक्ति है और अन्य समस्त तत्त्व केवल निस्रेतात्मक (Derivative) हैं और उनका महत्त्व केवल द्वितीय श्रेणी का है, और वे आर्थिक सम्बन्धों के आधार पर बने हुए केवल एक ऊपरी ढांचे का भाग हैं। हम धर्म, नीति, दर्शन, मानव भावनाओं तथा व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धाओं को स्वतन्त्र तथा समान तत्त्व मानते हैं, यद्यपि उनमें से कुछ विभिन्न समय पर दूसरों से अधिक प्रभाव डाल सकते हैं। हमारी धारणा है कि यदि आर्थिक प्रणालियाँ विचारधाराओं को उत्पन्न करती हैं तो विचार-धारायें भी आर्थिक प्रणालियों को जन्म देती हैं। १९१७ की क्रांति के उपरान्त रूस में जिस सोवियत प्रणाली का जन्म हुआ वह साम्यवादी विचारधारा की सृष्टि थी और उससे बहुत भिन्न जिस फासिस्ट प्रणाली का जन्म इटली में हुआ वह फासिज्म की उत्पत्ति थी। हमारे देश में गांधीवादी विचारधारा ने आज के बड़े पैमाने के उत्पादन के युग में भी कुटीर उद्योगों का पुनरुत्थान कर दिया।

मार्क्स के अर्थवाद, अथवा ऐतिहासिक भौतिकवाद, को अमान्य सिद्ध करने के लिये कुछ अन्य तर्क भी पेश किये जा सकते हैं। यदि केवल 'उत्पादन की शक्तियाँ' ही 'उत्पादन के सम्बन्धों' को निर्धारित करती हैं तो इस बात का कोई संतोषजनक

---

* "...... Our disciples have laid more weight upon the economic factor than belongs to it. We were compelled to emphasise its central character in opposition to our opponents who denied it, and there was not always time, place, and occasion to do justice to the other factors in the reciprocal interactions of the historical process."

—Quoted by Wayper: *Political Thought,* page 202.

कारण बताना बड़ा कठिन हो जाता है कि विभिन्न 'उत्पादन से सम्बन्ध' एक सी ही 'उत्पादन की शक्तियों' पर आधारित हो सकते हैं। "अधिकतर एक ही प्रकार की उत्पादन कला को सामाजिक उत्पादन के लिये महत्त्वपूर्ण विविध रूपों में अपनाया जा सकता है, और उसका प्रयोग स्पष्ट रूप से भिन्न-भिन्न आर्थिक सम्बन्धों और संस्थाओं के लिये प्राविधिक आधार प्रस्तुत करने के लिये किया जा सकता है। अमरीकी, ब्रिटिश तथा रूसी अर्थ-व्यवस्था के प्राविधिक आधार इतने भिन्न नहीं हैं जितने कि इन देशों में पाये जाने वाले 'उत्पादन के सम्बन्ध'। इस बात का महत्त्व केवल बौद्धिक दिलचस्पी से कुछ अधिक है, क्योंकि यह इस चीज को स्वीकार करती है कि वर्तमान प्राविधिक व्यवस्था के आधार पर हमारे समाज के संघटन की व्यापकतर वैकल्पिक सम्भावनायें हैं, इसलिये हमें उनको खोजना चाहिये।"*

यदि मार्क्स का यह कथन सही है कि एक समाज की कानूनी, राजनीतिक तथा सामाजिक प्रणाली उसकी आर्थिक प्रणाली से ही निर्धारित होती है, और जब उसमें परिवर्तन हो जाता है तो शेष सब भी बदल जाते हैं, तो उसके लिये इस बात का उत्तर देना बड़ा कठिन होगा कि क्यों ईसाई धर्म को अलग-अलग एक दूसरी से इतनी भिन्न जातियों ने स्वीकार कर लिया जितनी कि एक ओर तो सभ्य रोमन तथा दूसरी ओर अर्द्ध-बर्बर स्लाव तथा आयरिश। और न ही मार्क्सवाद इस बात का कोई उत्तर देता है कि 'एक ही बौद्धिक पृष्ठभूमि के लोग सर्वथा विभिन्न विचार-धाराओं को क्यों स्वीकार करते हैं, और समाज के प्रवर्त्तकों का, जिनमें स्वयं मार्क्स और एंजिल्स तथा १६वीं शताब्दी के श्रम आन्दोलन के अधिकतर नेता सम्मिलित हैं, आविर्भाव सम्पत्तिशाली वर्ग (Bourgeoisie) में क्यों हुआ'। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या इतनी अपूर्ण है कि वह अनुभव के समस्त तथ्यों की व्याख्या नहीं कर सकती।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या इस मान्यता के ऊपर आधारित है कि उत्पादन के साधनों का स्वामित्व ही समाज में शक्ति प्राप्त करने का साधन है। निस्संदेह यह बात एक बहुत बड़ी हद तक सच है, आधुनिक पूँजीवादी समाज में राजनैतिक शक्ति, आर्थिक शक्ति की चेरी है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि केवल आर्थिक शक्ति ही ऐसी शक्ति है जोकि राजनैतिक शक्ति प्रदान करती है, जैसा

* "Closely similar technology can be applied to social production in significantly different ways, and can be made to provide the technological foundations for distinctly different economic relations and institutions. The technological basis of the American, the British, and the Soviet economy are not as different as are the 'relations of production' obtaining in these countries respectively. This is a point of more than academic interest; because it admits— and by admitting urges us to explore wider alternative possibilities of organising our society on the basis of existing and available technology."

—Amlan Datta; *For Democracy*, pages 104-5.

कि मार्क्सवादी मानते हैं। प्राचीन भारत में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्गों के हाथ में महान् शक्ति थी जिसका कोई आर्थिक आधार न था। मध्य युग में पोपशाही ने अनार्थिक साधनों से ही जबर्दस्त शक्ति प्राप्त की थी और उसे बहुत समय तक कायम रखा था। इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि बुद्धिमत्ता, साहस तथा अन्य प्रकार की प्रतिभाएँ विभिन्न प्रकार के सामाजिक संघटनों में व्यक्तियों को शिखर पर पहुँचा सकती हैं और उन्हें प्रभुत्व प्रदान कर सकती हैं। आधुनिक राज्यों में ऊँचे प्रशासकीय अधिकारियों के हाथों में भारी शक्ति रहती है। विभिन्न राज्यों में सेनाओं द्वारा शक्ति हरण भी मार्क्सवादी सिद्धान्त को असत्य सिद्ध करता है। इसलिये हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यद्यपि यह सच है कि आर्थिक शक्ति राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति में सहायक होती है, तथापि मार्क्स का सिद्धान्त एकपक्षीय है। उत्पादन तथा वितरण की प्रणाली एक देश की राजनीति और संस्कृति को प्रभावित अवश्य करती हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अन्य अनार्थिक शक्तियों को भुला दें। धन संचय की इच्छा से अधिक शक्तिशाली ऐसी भावनायें होती हैं जोकि प्रत्येक काल में और प्रत्येक देश में व्यक्तियों और समुदायों के जीवन को प्रभावित करती हैं। उनकी अवहेलना करके मार्क्सवादी गलती करते हैं।

उपरोक्त विवेचना का सार प्रो० अम्लन दत्त के निम्नांकित शब्दों में दिया जा सकता है :—

"आर्थिक कारक निश्चित रूप से राजनीति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है, परन्तु हमें पहिले से ही यह नहीं मान बैठना चाहिए कि यह प्रभाव प्रत्येक स्थिति में निर्णयात्मक होता है, या प्रधान भी होता है। राजनीतिक विचारणाओं के पीछे कुछ आर्थिक विचारणायें प्रायः अवश्य रहती हैं, किन्तु उतने ही अनिवार्य रूप से, दूसरी विचारणाओं का भी सर्वथा अभाव नहीं होता, और बहुत बार ये विचारणायें वास्तव में अधिक विवशकारी होती हैं। सिकन्दर के आक्रमणों का एक आर्थिक उद्देश्य था, किन्तु उनका विस्तार उन सीमाओं का उल्लंघन करता था जोकि केवल आर्थिक कारक लगा सकते थे। व्यक्तिगत ऐश्वर्य का प्रलोभन तथा साहसी भावना का इसमें निर्णायक भाग दिखलाई पड़ता है। यह बात कम से कम उन भारतीय शासकों के बारे में भी सत्य है जोकि भारत में एक चक्रवर्ती राज्य की स्थापना का प्रयास करते थे। मध्य काल ऐसे राजनीतिक आक्रमणों से भरा पड़ा है जोकि किसी सम्भावित भौतिक लाभ की अपेक्षा व्यक्तिगत सम्मान की भावना से अधिक प्रेरित थे। हमारा विचार है कि यदि संतुलित आर्थिक हितों के आधार पर ही निर्णय किये जाते तो आधुनिक और प्राचीन काल में अधिकतर युद्ध या तो छेड़े ही न जाते और यदि छेड़ भी दिये जाते तो वे शीघ्र ही समाप्त हो जाते।

अन्त में, हम एक अन्य कठिनाई का उल्लेख करेंगे जिसका कोई समाधान मार्क्सवादी सिद्धान्त के पास नहीं है। यह इतिहास में आकस्मिक तत्त्व के लिए कोई

स्थान नहीं छोड़ता। बहुत से उदाहरण ऐसे दिये जा सकते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि बहुत छोटे-छोटे और अनार्थिक कारणों के बड़े जबर्दस्त परिणाम हो जाते हैं। द्रौपदी के इस व्यंग ने, कि एक अन्धे पिता के पुत्र से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह पालिश किये संगमरमर के फ़र्श तथा एक जलाशय में विभेद कर सके, महाभारत के युद्ध की आधार-शिला रख दी। एक दुखित मनुष्य तथा श्मशान भूमि को ले जाते हुये एक शव के दृश्य ने गौतम बुद्ध के जीवन की सम्पूर्ण दिशा ही बदल दी। यदि १७६८ में जनोआ कॉर्सिका फ्रांस को न दे देता तो नैपोलियन, जिसका कि अगले वर्ष वहाँ जन्म हुआ था, एक इटली का नागरिक रहता और फ्रांस में उसकी कोई जीवनवृत्ति (Career) न होती। यदि १९१७ में जर्मन सरकार लेनिन को रूस में लौट आने की अनुमति न दे देती तो रूस के इतिहास की उसके बाद की सम्पूर्ण दिशा ही बदल जाती। यदि कोई एक मन्त्री उस समय 'हाँ' के बदले में 'नहीं' कह देता तो रूस में बॉलशेविक क्रांति न हो पाती। इसी प्रकार इंगलैंड की रानी एलिजाबेथ प्रथम यदि विवाह कर लेती और उसके कोई सन्तान उत्पन्न हो जाती तो इंगलैंड और स्कॉटलैंड के बीच सम्बन्ध उनसे कुछ भिन्न होते जोकि उनके एकीकरण के फलस्वरूप हुये। इस प्रकार की आकस्मिक घटनाओं की, जिनका कि निर्णायक प्रभाव होता है, इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या के साथ संगति नहीं बैठती।

ऐतिहासिक निर्णयवाद— वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को लेने से पूर्व, जिसका कि इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या से घनिष्ठ सम्बन्ध है, दो शब्द उसके एक परिणाम के विषय में कहने भी आवश्यक हैं, जिसका कोई प्रत्यक्ष उल्लेख ऊपर नहीं किया गया। वह है मार्क्स का समाजशास्त्रीय अथवा ऐतिहासिक निर्णयवाद।

पाठकों को स्मरण होगा कि द्वन्द्ववाद का विचार मार्क्स ने हीगल से लिया था। हीगल के अनुसार द्वन्द्ववाद वह तार्किक प्रक्रिया है जिसके द्वारा 'नकारीकरण के नकारीकरण' (Negation of the Negation) के नियम द्वारा प्रकृति एक अवस्था से विकसित होकर दूसरी अवस्था पर आती है। उसका उद्देश्य इतिहास को **विश्व-आत्मा** के एक निरन्तर और व्यवस्थित प्रस्फुटन के रूप में दिखाना था। द्वन्द्ववादी प्रक्रिया हमारी इच्छा से स्वतन्त्र होकर चलती रहती है। मार्क्स के द्वन्द्ववादी भौतिकवाद में भी ये समस्त विशेषतायें पाई जाती हैं। हीगल की भाँति हमारा दार्शनिक ऐतिहासिक आवश्यकता में विश्वास करता है। उसकी धारणा है कि एक के बाद दूसरा ऐतिहासिक युग एक आन्तरिक आवश्यकता के अनुसार आता रहता है जिसे हम बदल नहीं सकते। इतिहास की अवस्था का निर्धारण ऐतिहासिक आवश्यकता द्वारा होता है। मनुष्य 'उसके विकास की स्वाभाविक अवस्थाओं को एक कलम की नोक से न तो बदल सकता है न संसार से बाहर निकाल सकता है।' मार्क्स इस बात को एक वैज्ञानिक रूप से निश्चित तथ्य समझता था कि पाश्चात्य सभ्यता के इतिहास की अगली अवस्था समाजवाद होगी। उसने यह मान कर लिखा कि समाजवाद का आना तो अपरिहार्य है, हाँ केवल उसके आगमन की निश्चित तिथि

और निश्चित ढंग को निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता था। सचेतन रूप से क्रांतिकारी श्रमजीवी वर्ग द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था के विनाश को कोई नहीं रोक सकता; स्वयं ऐतिहासिक प्रवृत्तियाँ एक 'लौह आवश्यकता' से उसी दिशा में काम कर रही हैं। एक शब्द में, मार्क्स की शिक्षाओं का सार यह है कि आर्थिक शक्तियाँ मनुष्य की इच्छा से स्वाधीन रहते हुए इतिहास के प्रवाह को निर्धारित करती हैं। परन्तु यह बात कितनी विलक्षण है कि अपने ऐतिहासिक निर्णयवाद के साथ ही साथ वह इस विश्वास पर भी जोर देता है कि 'मनुष्य स्वयं अपने इतिहास का निर्माण करते हैं', यद्यपि ऐसा वह स्पष्ट रूप से नहीं कहता। वास्तव में, यदि कोई मनुष्य, मनुष्य की इतिहास को निर्दिष्ट करने की शक्ति में विश्वास नहीं करता तो वह क्रांतिकारी नहीं हो सकता। मार्क्स की धारणा थी कि यह 'ऐतिहासिक आवश्यकता' मनुष्यों को भाग लेने और सहयोग करने के लिये आमंत्रित करती है, अपने कौशल से एक वर्गचेतन क्रांतिकारी समूह उस क्रांति की प्रसव-वेदना को कम कर सकता है जिसका आना निश्चित है। मानव विचार और मानव हित 'उस आवश्यकता के उत्पन्न करने में सहायक हो सकते हैं, तथापि वह आवश्यकता विचार को तथा हितों की दिशा को पहिले से ही निर्धारित कर देती है।' यह बात ध्यान देने योग्य है कि श्रमजीवी वर्ग की विजय और पूँजीवादी वर्ग की पराजय में उस अटल विश्वास ने, जो मार्क्स का उतना निश्चित था जितना कि टेनीसन का उस 'सुदूर भविष्य की दैविक घटना में, जिसकी ओर को सम्पूर्ण सृष्टि चलती है', विश्वास, एक बड़ी हद तक श्रमिकों को अपने शत्रु के विरुद्ध संघर्ष में संगठित होने और अन्त तक लड़ने के लिये प्रेरित किया।

'ऐतिहासिक आवश्यकता' की धारणा के कारण हीगल की भाँति मार्क्स ने भी ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में व्यक्तियों के भाग को कम से कम महत्त्व दिया। जिस प्रकार हीगल की इतिहास की व्याख्या में व्यक्ति का नहीं, बल्कि राष्ट्र का महत्त्व है, ठीक इसी प्रकार मार्क्स के सिद्धान्त में महत्त्वपूर्ण इकाई वर्ग है, व्यक्ति नहीं। व्यक्ति जो भी पार्ट अदा करता है, वह वर्ग का एक घटक होने के नाते और वर्ग की सदस्यता के द्वारा ही करता है; उसके विचार मुख्य रूप से उसके वर्ग के विचारों का प्रतिबिम्ब ही होते हैं। जैसा कि हम अगले अनुच्छेद में दिखलायेंगे—, मार्क्स के अनुसार इतिहास की दिशा को निर्धारित करने वाली सक्रिय शक्तियाँ आर्थिक वर्ग हैं जिनमें वह व्यक्तियों से अलग वास्तविकता देखता था। उसके लिये व्यक्ति, चाहे वे पूँजीपति हों अथवा श्रमिक, अमूर्त्त धारणायें थीं; वास्तविकता थी पूँजीवादी वर्ग तथा श्रमिक वर्ग। जहाँ तक कि मार्क्स वर्गों को वास्तविकतायें समझता था, वह अपने आपको हीगलवाद से पूर्ण रूप से स्वतन्त्र न कर सका।

वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त— अपनी इतिहास की भौतिकवादी अथवा आर्थिक व्याख्या के साथ-साथ मार्क्स अपना वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त रखता है। यदि पूर्वोक्त को हम उसका सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त कह सकते हैं तो उपरोक्त को उसका

यन्त्र, उसका साधन समझा जा सकता है जिसके द्वारा ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया एक अवस्था से दूसरी अवस्था पर आती है। विश्व इतिहास को राष्ट्रों के युद्धों और व्यक्तियों, राजाओं अथवा सेनापतियों के कारनामों का एक लेखा जोखा समझने के स्थान में मार्क्स उसे आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति के लिये विरोधी वर्गों में संघर्षों की शृंखला समझता है। वर्ग संघर्ष में वह मानव इतिहास को समझने की कुंजी पाता है। उसके अनुसार 'आजकल के समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।' इसका अर्थ यह है कि इतिहास के प्रत्येक प्रमुख युग में एक आर्थिक वर्ग की प्रधानता रहती है और उस युग के बाद दूसरा युग आता है जिसमें उस आर्थिक वर्ग की, जिसका कि पहिले युग में शोषण होता था, एक घोर संग्राम के बाद अपने पहिले शोषकों के ऊपर विजय होती है। एक शब्द में, मार्क्स के अनुसार इतिहास का निर्माण करने वाले सामाजिक आन्दोलन वर्ग आन्दोलन होते हैं। प्रत्येक काल में और प्रत्येक देश में समाज दो प्रमुख विरोधी वर्गों में विभक्त हो जाता है, एक तो विशेषाधिकार-प्राप्त और उत्पादन के साधनों के स्वामियों का छोटा-सा वर्ग और दूसरा श्रमिकों का बड़ा वर्ग। आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के लिये इन दोनों वर्गों में निरन्तर संघर्ष रहता है। इतिहास में महान् आन्दोलन इसी संघर्ष का फल होते हैं। "प्राचीन रोम में कुलीन, सरदार, साधारण मनुष्य तथा दास होते थे; मध्य युग में सामन्त सरदार, जागीरदार, गिल्ड मास्टर, जर्नीमैन, एप्रेन्टिस तथा सेवक होते थे; प्राय: इन समस्त वर्गों में इनकी उप-श्रेणियाँ होती थीं। ये समूह दलन करने वाले तथा दलित, निरन्तर एक दूसरे का विरोध करते थे, और इनमें कभी गुप्त और कभी खुल्म-खुल्ला, निरन्तर युद्ध चलता रहता था, और प्रत्येक समय इस युद्ध के परिणामस्वरूप या तो समाज की क्रान्तिकारी पुनर्रचना होती थी या लड़ने वाले दोनों वर्ग नष्ट हो जाते थे।*

वर्गों के विरोध आधुनिक समाज में भी पाये जाते हैं; इस युग में नवीन वर्ग हैं, दमन के नवीन रूप और नवीन पद्धतियाँ हैं और संघर्ष के नवीन रूप हैं। पुराने और नये वर्गों में मुख्य भेद यह है कि आज के युग में वर्ग विरोध बड़े सरल हो गये हैं। आज का समाज दो बड़े गुटों—पूँजीवाद तथा श्रमिक—में विभक्त है जो एक दूसरे के आमने सामने डटे हुये हैं। प्राचीन काल तथा मध्य काल के वर्ग संघर्षों को छोड़ते हुये हम आधुनिकतम संघर्ष अर्थात् शोषक पूँजीपतियों और शोषित श्रमिकों

* "In ancient Rome we have patricians, knights, plebians, and slaves; in the Middle Ages there were feudal lords, vassals, guild masters, journeymen, apprentices and serfs; in almost all of these classes, again, subordinate gradations." These groups, oppressors and oppressed, "stood in constant opposition to one another, carried on an uninterrupted, now hidden, now open, fight, a fight that at each time ended, either in a revolutionary re-construction of society at large, or in the common ruin of the contending classes." —*Communist Manifesto*.

के संघर्ष पर आते हैं जोकि पाश्चात्य सभ्यता की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इन संघर्ष का मार्क्स ने बड़ा गहरा विश्लेषण किया है।

सबसे पहिले तो हमें मार्क्स की इस आधारभूत धारणा को समझना चाहिये कि उत्पादन की प्रत्येक प्रणाली में समाज दो ऐसे विरोधी गुटों में विभक्त हो जाता है जिनके परस्पर-विरोधी हित होते हैं। आजीविका कमाने के साधनों के आधार पर हम समाज को मोटे रूप से दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—पूँजीवादी वर्ग तथा श्रमिक वर्ग। सामान्य अर्थों में पूँजीवादी वह होता है जोकि उत्पादन के भौतिक साधनों—भूमि, कारखाने, कच्ची सामग्री तथा पूँजी का स्वामी होता है। श्रमिक अपने श्रम को बेच कर आजीविका कमाता है; वह या तो भूमिपति की भूमि पर काम करता है या पूँजीपति के कारखाने में कच्ची सामग्री को प्रयोजनीय वस्तुओं का रूप देता है। दोनों वर्गों को एक दूसरे की आवश्यकता है; यदि श्रमिक न हों तो भूमिपति की भूमि और पूँजीपति के कारखाने बेकार पड़े रहेंगे; इसी प्रकार यदि भूमिपति या कारखानों के स्वामी मजदूरों को काम पर न लगायें तो वे बेरोजगार हो जायेंगे और भूखे मरने लगेंगे। परन्तु दोनों वर्गों को एक दूसरे की कितनी ही आवश्यकता क्यों न हो, उनके हितों में संघर्ष होता है; एक वर्ग को लाभ दूसरे वर्ग को हानि पहुँचा कर ही हो सकता है। पूँजीपति स्वाभाविक रूप से ही मजदूरों को वेतन कम से कम देना और उनसे अधिक से अधिक काम लेना चाहता है। इसी उपाय से वह अधिक लाभ प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत श्रमिक अपने श्रम का अधिकतम मूल्य प्राप्त करना चाहते हैं। परन्तु इस द्वन्द्व में श्रमिक बड़े घाटे में रहते हैं, क्योंकि श्रम नाशवान् होता है, इसलिए या तो उनके श्रम का खरीदार उन्हें शीघ्र मिलना चाहिए, अन्यथा वे भूखे मरने लगते हैं, उनके श्रम को संग्रह करके नहीं रक्खा जा सकता। पूँजीपति के सामने इस प्रकार की कोई कठिनाई नहीं होती; वह प्रतीक्षा कर सकता है और प्रतीक्षा करके श्रमिकों को अपने सामने झुकने के लिये विवश कर सकता है। यह सम्बन्ध पूँजीपति मालिकों के हाथों में दमन तथा शोषण का एक बहुत बड़ा शस्त्र रख देता है जिसे श्रमिक कभी पसन्द नहीं कर सकते। इसलिये जब भी उन्हें अपने शोषण का ज्ञान हो जाता है वे अपने शोषकों के विरुद्ध विद्रोह करते हैं और उन्हें नष्ट करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार उत्पादन की प्रत्येक प्रणाली में पूँजीपति मालिक और शोषित मजदूरों में एक स्थायी और दूर न होने वाला विरोध उत्पन्न हो जाता है। आधुनिक पूँजीवादी प्रणाली में यह विरोध और भी बढ़ जाता है और तीव्र हो जाता है। यह दमनकारी इसलिये है क्योंकि यह मजदूरों को जीवित भर रहने के स्तर पर रहने के लिये विवश करता है, और यह अन्यायपूर्ण इसलिये है क्योंकि इसके अन्तर्गत मजदूरों को उनकी सहायता से उत्पन्न धन के एक बड़े भाग से वंचित कर दिया जाता है।

यहाँ आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था की एक-दो महत्त्वपूर्ण विशेषतायें उल्लेखनीय हैं; इनसे हमें उपरोक्त वर्गों के बीच संघर्ष को अधिक अच्छी तरह समझने में

सहायता मिलेगी। सामन्तवादी पद्धति में उत्पादन स्थानीय उपभोग के लिये होता था, जैसाकि कुछ ही दिन पहिले तक हमारी ग्रामीण व्यवस्था में होता था। खाद्य-सामग्री, कपड़े तथा अन्य वस्तुओं का उत्पादन श्रमिक लोग अपने तथा अपने-अपने सामन्त स्वामियों के लिये करते थे। पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन स्थानीय उपभोग के बदले में लाभ के लिये होने लगा। इस प्रकार लाभ के लिये उत्पादन पूँजीवादी व्यवस्था की एक मूल विशेषता है। उत्पादन की यह प्रणाली एक ओर तो ऐसे व्यक्तियों की माँग करती है जिनके पास कल-कारखाने खड़े करने और उन्हें मशीनों से सुसज्जित करने के लिये पर्याप्त धन हो और दूसरी ओर इसके लिये ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता होती है जिन्हें उन कारकानों में नौकर रक्खा जा सके क्योंकि उनके पास अपने उत्पादन के साधन नहीं होते। श्रमिक वस्तुओं का उत्पादन अपने लिये नहीं करते, बल्कि अपने मालिकों के लिये करते हैं जोकि उन्हें बेच कर लाभ कमाता है। मार्क्स के अनुसार उत्पादन में भौतिक साधनों के स्वामियों को लाभ इसलिये होता है क्योंकि वे 'अतिरिक्त मूल्य' (Surplus value) को हड़प जाते हैं। यहाँ मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं; यहाँ तो हम केवल इतना कह सकते हैं कि अतिरिक्त मूल्य श्रम द्वारा उत्पन्न किसी वस्तु के विनिमय मूल्य तथा श्रम-शक्ति के मूल्य का अन्तर होता है। मार्क्स का दावा है कि किसी भी कल-कारखाने में 'श्रमिकों' को मिलने वाला वेतन उनके उत्पादन के पूरे मूल्य के समान नहीं होता, बल्कि उससे आधा या उससे भी कम होता है। उसका शेष उसके मालिक द्वारा हड़प लिया जाता है। मालिक द्वारा लिया हुआ यह अधिक मूल्य ही 'अतिरिक्त मूल्य' होता है। मालिक इसकी मात्रा को बढ़ाने का निरन्तर प्रयास करता रहता है। पूँजीवादी व्यवस्था की यही विशेषता इसे शोषणात्मक बनाती है और पूँजीपति तथा श्रमिक में संघर्ष को जन्म देती है।

कुछ ऐसे अन्य कारक भी हैं जो पूँजीपति तथा श्रमिक— इन दो वर्गों में संघर्ष उत्पन्न करते हैं। मार्क्स का कहना है कि उत्पादन के साधनों के स्वामी न केवल समाज के आर्थिक जीवन पर नियन्त्रण रखते हैं, बल्कि उनकी सामाजिक, वैधानिक तथा राजनीतिक संस्थाओं को भी अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये ढाल लेते हैं। शासनाधिकार उन्हीं के हाथ में होता है, और अपने हितों के लिये कानून बनाने के लिये वे उसका प्रयोग करते हैं। जैसा कि लास्की कहता है:

"वे सामाजिक हित और अपनी सुरक्षा को एकरूप समझते हैं। अपने ऊपर आक्रमण करने वालों को वे राजद्रोह के अपराध का दण्ड देंगे। शिक्षा, न्याय, धार्मिक शिक्षा सब को उनके हितों की पूर्ति के लिये ढाला जाता है। हमें इस बात को अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये कि सामाजिक लाभ में से सम्पत्तिहीन वर्ग को वंचित रखने का वे जानबूझ कर कोई प्रयत्न नहीं करते; यह भौतिक पर्यावरण के प्रति स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। परन्तु सम्पत्ति के अधिकारों से वंचित वर्ग भी स्वाभाविक

रूप से उसमें भाग लेना चाहता है। इसलिये, प्रत्येक समाज में, उसके नियन्त्रण के लिये वर्गों के बीच संघर्ष उत्पन्न हो जाता है।"*

भूमिपति सामन्तवर्ग और पूँजीपति वर्ग में जिसे सामन्तवादी समाज ने पुष्ट किया था, संघर्ष इसी प्रकार था ; इसने सामन्तवादी व्यवस्था की जड़ें हिला दीं और अन्त में उसे नष्ट कर दिया। आजकल पूँजीपतियों और तीव्र वर्गचेतना से भरे हुए मजदूरों के बीच जो संघर्ष चल रहा है वह पूँजीवाद की जड़ें खोखली कर रहा है. और उसका अंतिम परिणाम निश्चित रूप से पूँजीवाद का विनाश और श्रमिक वर्ग की विजय होगा। कम से कम मार्क्स और एंजिल्स का तो यह सपना और हार्दिक विश्वास था। अपने सुविख्यात 'कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो' में जिसे लास्की ने 'समस्त-काल का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक अभिलेख्य' कह कर पुकारा है, और जिसकी तुलना उसने १७७६ के अमरीकी **'स्वाधीनता की घोषणा'** (Declaration of Independence) और १७८९ के फ्रेंच **'अधिकारों की घोषणा'** (Declaration of Rights) से की है, वे आधुनिक रूप में वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त की बड़ी विस्तृत विवेचना करते हैं और एक ऐसी योजना की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं जिसे अपनाकर वर्गचेतन तथा क्रान्तिकारी श्रमजीवी-वर्ग अपने पूँजीवादी विरोधियों पर अन्तिम विजय प्राप्त करेगा। इस संघर्ष की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं।

मैनीफैस्टो— इस सामान्य कथन से सिद्ध होता है कि 'आज तक के सम्पूर्ण समाज का इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास है।' भूतकाल में समाज के विभिन्न वर्गों में विभक्त होने के इतिहास का वर्णन करके वह कहता है कि आज के युग में, जिसे 'पूँजीवाद का युग' कहकर पुकारा गया है, वर्ग-विरोध का रूप बड़ा सरल हो गया है। उसमें कहा गया है कि आधुनिक समाज दो बड़े विरोधी-गुटों— पूँजीवादी-वर्ग तथा श्रमिक-वर्ग में विभक्त है। फिर यह वर्तमान पूँजीवादी-वर्ग के उत्थान का विवरण देता है और यह दिखलाता है कि उत्पादन के यन्त्रों में, निरन्तर क्रान्ति लाये बिना, और उसके द्वारा उत्पादन के सम्बन्धों, और उसके साथ समाज के समस्त सम्बन्धों, में परिवर्तन लाये बिना यह जीवित नहीं रह सकता। उत्पादन के यन्त्रों में निरन्तर परिवर्तन यह लाभ प्राप्त करने के लिये करता है। यह हमें सदैव याद रखना चाहिये कि लाभ के लिये उत्पादन, उत्पादन की पूँजीवादी प्रणाली की मूल विशेषता है। इसकी एक विशेषता यह भी है कि इसे सदैव प्रसारित

* "They identify social good with their own preservation. Attacks upon them they will punish as sedition. Education, justice, religious teachings are tempered to serve their interests. This is not, it should be insisted, a conscious effort on their part to exclude members of the non-possessing class from a share in social benefit ; it is simply the natural reaction to the material environment. But the class excluded from the privileges of possession naturally also desires a share in them. Hence arises, in every society, a struggle between classses for its control."

—Laski: *Communism*, page 63.

होते हुए बाजारों की आवश्यकता रहती है। जब घरेलू बाजार में और अधिक प्रसार की गुंजाइश नहीं रहती तो पूँजीपति नये बाजारों की खोज में संसार भर का चक्कर काटते हैं। यूरोपीय जातियों ने अपने कारखानों में बने हुए सामान को बेचने के लिये और अपने कारखानों के लिये कच्चे माल को प्राप्त करने के लिये सम्पूर्ण अफ्रीका तथा एशिया के अधिकतर भाग को आपस में विभक्त कर लिया था। संसार को कच्चा माल लेने तथा तैयार माल बेचने के लिये एक बाजार के रूप में प्रयोग करके उसका शोषण करने से पूँजीवाद को एक विश्व-व्यापी स्वरूप प्रदान कर दिया है। 'प्रतिगामियों के हृदय में तीव्र रोष उत्पन्न करते हुए इसने उद्योग के नीचे से वह राष्ट्रीय आधार निकाल लिया है जिस पर कि वह खड़ा हुआ था। समस्त प्राचीन स्थापित राष्ट्रीय उद्योग नष्ट कर दिये गये अथवा प्रत्येक दिन नष्ट किये जा रहे हैं।'*

यह प्रणाली सभ्यता के प्रसार में भी सहायक हुई है। उत्पादन के समस्त उपकरणों में द्रुतगति से होने वाले सुधारों, और सब से बढ़कर संवादवाहन तथा यातायात की अपूर्व सुविधाओं द्वारा पिछड़े हुए और कम उन्नत राष्ट्र सभ्यता की परिधि में आ गये और एक प्रकार से वे पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली को अपनाने के लिये विवश हो गये।

पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली की प्रवृत्ति केन्द्रीकरण की ओर रहती है। जैसे-जैसे व्यापार का आकार बढ़ता है, उसके लिये आवश्यक पूँजी जुटाने वाली व्यक्तियों की संख्या थोड़ी होती जाती है। बड़े व्यापारी छोटे व्यापारियों को बाहर निकाल देते हैं; और उसके फलस्वरूप उत्पादन के साधनों की थोड़े से बड़े-बड़े पूँजीपतियों के हाथ में केन्द्रित हो जाने की प्रवृत्ति हो जाती है। जैसे-जैसे कल-कारखानों का आकार बड़ा होता जाता है और श्रमिकों की संख्या बढ़ती है, बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों का जन्म होता है जिनकी जनसंख्या बहुत अधिक होती है। इस प्रकार उत्पादन की पूँजीवादी व्यवस्था के फलस्वरूप बड़े नगरों में जनसंख्या का केन्द्रीकरण हुआ है और उद्योगों का केन्द्रीकरण तथा सम्पत्ति का पहिले से थोड़े व्यक्तियों के हाथों में एकाग्रण हुआ है। पूँजीपति-वर्ग के लिये यह श्रेय की बात है कि इसने 'समस्त गत पीढ़ियों के योग की अपेक्षा उत्पादन की अधिक महान् शक्तियों को जन्म दिया है। प्रकृति की शक्तियों पर मनुष्य की विजय, मशीन, उद्योग और कृषि के क्षेत्र में रसायनशास्त्र का प्रयोग, भाप के एंजिन, रेलगाड़ियाँ, बिजली द्वारा जाने वाले तार, नदियों पर नियन्त्रण .... इससे पहिले की कौन-सी शताब्दी ने इस बात की कल्पना भी की थी कि सामाजिक श्रम की गोद में उत्पादन की ऐसी शक्तियाँ विश्राम करती हैं।' (*Communist Manifesto*).

---

* "To the great chagrin of reactionists, it has drawn from under the feet of industry the national ground on which it stood. All old-established national industries have been destroyed or are daily being destroyed."
—*Communist Manifesto.*

परन्तु मार्क्स और एंजिल्स का कहना है कि उत्पादन की पूँजीवादी प्रणाली की उपयोगिता समाप्त हो चुकी है। पूँजीवादी समाज, जिसने कि उत्पादन और विनिमय के इतने भारी महाकाय साधनों को जन्म दिया है, 'उस जादूगर के सदृश है जोकि उस मायावी जगत की शक्तियों पर नियन्त्रण करने में अपने को असमर्थ पाता है जिन्हें कि उसने स्वयं जादू द्वारा उत्पन्न किया है।' यह इतना संकुचित है कि इसमें अपने द्वारा उत्पन्न किया हुआ धन नहीं समा सकता, और इसका ह्रास हो रहा है। आवश्यकता से अधिक उत्पादन से वार-बार उत्पन्न होने वाले संकट, जिन्हें अपने द्वारा उत्पन्न किये हुए धन को बड़े पैमाने पर नष्ट करके दूर करने का प्रयास किया जाता है, इसकी आन्तरिक अस्थिरता को प्रकट करते हैं। बार-बार होने वाले संकटों की बढ़ती हुई तीव्रता का सामना करने के लिये वह जिन साधनों को अपनाती है उनसे वे संकट और अधिक भयंकर हो जाते हैं। इस प्रकार पूँजीपति वर्ग ने ऐसे शस्त्र तैयार किये हैं जो स्वयं उसी का अन्त कर देंगे; 'उसने ऐसे मनुष्यों को जन्म दिया है जोकि उन शस्त्रों को संभालेंगे; वे मनुष्य हैं आधुनिक श्रमिक।' प्राय: उद्धृत शब्दों में 'पूँजीवाद अपने में ही स्वयं अपने पतन का बीज रखता है।' यह देखना दिलचस्पी से खाली न होगा कि पूँजीवाद किस प्रकार ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न करता है जोकि एक न एक दिन निश्चित रूप से इसका अन्त कर देंगी।

यह हम पहिले ही देख चुके हैं कि लाभ के लिए उत्पादन, जोकि पूँजीवादी प्रणाली की एक प्रमुख विशेषता है, किस प्रकार समाज को दो विरोधी वर्गों में विभक्त कर देता है जिसमें से एक अपनी सम्पत्ति से तथा दूसरा अपने को वेचकर अपनी आजीविका कमाता है। अब हमें यह समझना है कि पूँजीपति-वर्ग के विकास से श्रमिक वर्ग की शक्ति किस प्रकार बढ़ती है। मार्क्स का कहना है कि श्रमिक वर्ग भी उसी अनुपात से बढ़ता है जिसमें कि पूँजीवादी-वर्ग का विकास होता है; जैसे-जैसे पूँजीवादी प्रणाली का प्रसार होता है श्रमिक-वर्ग की संख्या, शक्ति तथा संगठन की क्षमता भी बढ़ती है। 'कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो' में जो विवरण दिया हुआ है उसमें से निम्न बातें मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं: (१) यन्त्र प्रणाली के अन्तर्गत श्रमिक अपना व्यक्तिगत चरित्र खो देता है जोकि मध्यकाल की गिल्ड प्रणाली में उसका होता था और वह यन्त्र का एक दास होकर रह जाता है। यन्त्रीकरण में वृद्धि के साथ कार्य कम कुशल तथा अधिक उपेक्षाजनक हो जाता है, और श्रमिक एक वस्तु बन जाता है। पुरुषों के श्रम का स्थान अधिकाधिक स्त्रियों का श्रम ले लेता है और शिल्पकार, दुकानदार तथा छोटे मालिक सरीखे निम्नतर मध्यवर्ग के लोग जोकि परिस्थितियों के कारण अपने पहिले व्यवसाय को छोड़ने के लिए विवश हो जाते हैं श्रमजीवी-वर्ग में मिलकर उसकी संख्या को बढ़ाते हैं। श्रमजीवी-वर्ग में सभी वर्गों के लोग आते हैं जिनमें खेतिहर श्रमिक भी सम्मिलित होते हैं जिन्हें भूमि से हटा दिया जाता है। इस प्रकार जैसे पूँजीवाद का विकास होता है और पूँजी पहिले की अपेक्षा थोड़े और थोड़े हाथों में संचित होती जाती है, श्रमजीवी-वर्ग की संख्या बढ़ती जाती है।

इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अपनी बढ़ती हुई साम्यता और व्यक्तिगत चरित्र के लुप्त हो जाने के कारण श्रमिकों में वर्ग-चेतना उत्पन्न हो जाती है। (२) पूँजीवादी उत्पादन के केन्द्रीकरण के कारण हजारों मजदूर छोटे-छोटे क्षेत्रों में आ जाते हैं और इन सम्बन्धों के कारण उन्हें अपनी कठिनाइयों और आवश्यकताओं का अधिक ज्ञान हो जाता है, और उनमें वर्ग-चेतना का भी विकास होता है। उनमें सहयोग सरल हो जाता है। इसका उनके पूँजीवादी मालिक के साथ संघर्ष के स्वरूप पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। वह युद्ध जोकि पहिले श्रमिक व्यक्तिगत रूप से करते हैं, और फिर एक कारखाने के श्रमिक करते हैं, और तब तक व्यवसाय अथवा स्थान के श्रमिक उस व्यक्तिगत मालिक के विरुद्ध करते हैं, जोकि उनका शोषण करता है, एक अत्यन्त संगठित रूप धारण कर लेता है। मजदूर लोग पूँजीपतियों के विरुद्ध अपने संगठन बनाने लगते हैं, मजदूरी की दर को ऊँचा रखने के लिए वे संगठित होने लगते हैं; और समय-समय होने वाले विद्रोहों के लिए पहिले से ही व्यवस्था करने के लिये स्थायी संस्थायें बनाने लगते हैं। वर्ग-संघर्ष के लिए वे अधिक संगठित हो जाते हैं, और अधिकाधिक बड़ी और व्यापक ट्रेड यूनियन बनाते हैं। अब युद्ध एक अधिक ऊँचे स्तर पर किया जाता है; वह अब व्यक्तिगत पूँजीपतियों के विरुद्ध नहीं रह जाता, बल्कि स्वयं पूँजीवादी प्रणाली के विरुद्ध हो जाता है। यह वर्ग-संघर्ष का रूप धारण कर लेता है; श्रमिकों का संगठन पूँजीपतियों के संगठन को ललकारता है। श्रमजीवी वर्ग में वर्ग-चेतना का विकास होता है, और उसी अनुपात में उसकी शक्ति भी बढ़ती है। उद्योग के केन्द्रीकरण के कारण इसमें आम हड़ताल द्वारा समाज के सम्पूर्ण ढाँचे को अस्त-व्यस्त करने की सामर्थ्य आ जाती है। (३) निरन्तर प्रसारित होते हुए बाजारों और द्रुतगति से विकसित होते हुए संवाद तथा यातायात के साधनों की पूँजीवाद की आवश्यकता संसार भर के श्रमिकों में विचार-विनिमय सम्भव बना देती है और इस प्रकार श्रमिक आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय बन जाता है। यदि पहिले श्रमजीवी पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध अपना युद्ध राष्ट्रीय-राज्य के विधान के अन्तर्गत रखते हैं तो 'शीघ्र ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यह संघर्ष एक व्यापक अन्यर्राष्ट्रीय नाटक का केवल एक अंक है।' अन्त में, जैसे श्रम-जीवी-वर्ग की शक्ति में वृद्धि होती है और पूँजीवादी वर्ग का ह्रास होता रहता है, तो यह संघर्ष एक क्रान्ति का रूप धारण कर लेगा; यह संघर्ष पहिले राष्ट्रीय, और फिर अन्तर्राष्ट्रीय होगा। पूँजीवादी वर्ग को पराजित कर दिया जायेगा और श्रमजीवी वर्ग अस्थायी रूप से अपनी तानाशाही स्थापित कर लेगा। राजनीति शक्ति पर प्रभुत्व स्थापित कर लेने पर श्रमजीवी-वर्ग व्यक्तिगत पूँजीपतियों से उत्पादन के समस्त भौतिक साधनों को छीन लेगा और उनका नियन्त्रण तथा स्वामित्व राज्य के हाथों में सौंप देगा। (४) हमने ऊपर देखा था कि एक संसारव्यापी बाजार उत्पन्न करने और पिछड़ी हुई जातिवों में सभ्यता का प्रसार करने की अपनी प्रवृत्ति के कारण आधुनिक उद्योग एक विश्वव्यापी रूप धारण कर लेता है। पूँजीवाद के इसी स्वरूप के

समानान्तर श्रमजीवी वर्ग का राष्ट्रीय चरित्र भी नष्ट हो जाता है। 'मैनीफैस्टो' में इस बात का दावा किया गया है कि आधुनिक उद्योगवाद की स्थिति में श्रमजीवी वर्ग की समस्त राष्ट्रीय विशेषतायें जाती रहती हैं। श्रमिक के पास कोई सम्पत्ति नहीं होती; अपनी पत्नी और अपने बच्चों के साथ उसका जो सम्बन्ध होता है वह पूँजीवादी परिवार के सम्बन्धों से सदा भिन्न होता है। जहाँ तक कि पूँजी के प्रति अधीनता का सम्बन्ध है, मजदूर की स्थिति इंगलैंड, फ्रांस और जर्मनी में तथा अन्यत्र एक ही है। फलतः श्रमजीवी वर्ग के लिये कानून, नैतिकता, तथा धर्म पूँजीवादी धारणायें बन जाती हैं जिनके पीछे पूँजीपतियों के हित छिपे रहते हैं। इसलिये विभिन्न देशों के मजदूरों के लिये अपने सामान्य शत्रु, अर्थात् पूँजीपति-वर्ग के विरुद्ध मिल जाना और अपने आपको अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संगठित कर लेना सरल हो जाता है। पूँजीवाद एक विश्व-व्यापी तथ्य है इसलिये इसे नष्ट करने वाली क्रांति भी विश्व-व्यापी होनी चाहिये। चाहे आरम्भ में प्रत्येक देश के श्रमिकों को अपने पूँजीपति-वर्ग से निबटना आवश्यक हो, किन्तु अन्त में संसार भर के श्रमिकों को अपने सामान्य शत्रु, पूँजीवाद को नष्ट करने के लिये संगठित होना है। अपनी अन्तिम अवस्था में श्रमिक क्रांति का स्वरूप निश्चित रूप से अन्तर्राष्ट्रीय हो जायेगा। (५) अन्त में हम पूँजीवाद के एक अन्य विरोध का उल्लेख कर सकते हैं। यह है उसकी श्रमिकों को पतित करने और उनके कष्टों को बढ़ाने की प्रवृत्ति। श्रमिक वर्ग के बढ़ते हुए कष्ट का सिद्धान्त 'मैनीफैस्टो' में इस प्रकार वर्णित है।

"इसके विपरीत, आधुनिक मजदूर का उद्योग की उन्नति के साथ उत्थान होने के बजाय, वह अपने सामाजिक-वर्ग की सामाजिक स्थितियों के नीचे गहरा और गहरा डूबता चला जाता है। श्रमिक कंगाल हो जाता है, और कंगाली जनसंख्या और धन की अपेक्षा भी अधिक द्रुत गति से बढ़ती है।"

'बढ़ते हुये संकट' का सिद्धान्त उत्पादन की पूँजीवादी प्रणाली के स्वरूप का तार्किक परिणाम प्रतीत होता है। इसका सार उस वर्ग के शोषण में है जोकि पूँजीपतियों के हाथों अपनी श्रम-शक्ति को बेचकर अपनी आजीविका कमाते हैं। पूँजीपतियों का लाभ श्रमिकों द्वारा उत्पन्न किया हुआ अतिरिक्त मूल्य है, इसलिए वह श्रमिक का शोषण करके ही बढ़ाया जा सकता है। ज्यों-ज्यों प्रतिस्पर्धा तेज होती जाती है और उसका लाभ घटने लगता है त्यों-त्यों उसकी कमी को पूरा करने के लिये पूँजीपति अपने श्रमिकों का, विना वेतन के अधिकाधिक काम लेकर, शोषण करने के लिये विवश हो जाता है। बढ़ता हुआ संकट और बेरोजगारी, जोकि पूँजीवादी प्रणाली से अलग नहीं किये जा सकते, श्रमिकों के कष्टों को और बढ़ा देते हैं। अपने बढ़ते हुए संकट के साथ उनका उस प्रणाली के प्रति असंतोष और विरोध भी बढ़ता है, और वे अधिकाधिक क्रांतिकारी हो जाते हैं।

एक और दूसरे ढंग से भी पूँजीवाद अपने पतन के तन्तु अपने अन्दर रखता है। इसका मूल स्वरूप प्रतिस्पर्धापूर्ण है। आरम्भ में प्रतिस्पर्धा एक ही क्षेत्र में एक

ही सा व्यापार करने वाले व्यापारियों तक सीमित रहती है। इस प्रतिस्पर्धा का फल यह होता है कि कमजोर व्यापारियों का अस्तित्व समाप्त हो जाता है और व्यापार केवल कुछ मुख्य व्यक्तियों के हाथों में ही केन्द्रित हो जाता है। पूँजी के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति का उल्लेख हम पहिले ही कर चुके हैं। यहाँ हम अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न राष्ट्रों के बीच होने वाली प्रतिस्पर्धा का उल्लेख करेंगे। जब घरेलू बाजार की अन्तिम सीमा आ जाती है तो विदेशी बाजारों की आवश्यकता महसूस होने लगती है। औद्योगिक रूप से उन्नत प्रत्येक देश अपने लाभ के लिये कम उन्नत देशों पर अधिकार जमाना और उसका शोषण करना चाहता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय प्रति-द्वन्द्विता और तद्जनित युद्धों का जन्म होता है। इस प्रकार साम्राज्यवादी युद्ध पूँजी-वाद के तार्किक परिणाम होते हैं। हो सकता है कि स्वयं ये युद्ध पूँजीवाद के अन्त के कारण न हों, किन्तु इनसे पूँजीवादी प्रणाली के आन्तरिक विरोध अवश्य स्पष्ट हो जाते हैं; यह इस बात का प्रमाण होते हैं कि एक निश्चित अवस्था के उपरान्त पूँजी-वाद उत्पादन के उपलब्ध साधनों के समुचित प्रयोग के मार्ग में बाधक बन जाता है।

पूँजीवाद किस प्रकार उन परिस्थितियों को जन्म देता है जोकि स्वयं उसी का अन्त कर देती है, इसका जो विवरण हमने ऊपर दिया है उसका सारांश कोकर के निम्नलिखित शब्दों में दिया जा सकता है :—

"इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था श्रमिकों की संख्या बढ़ाती है, उन्हें संगठित समूहों में एक साथ लाती है, उनमें वर्ग चेतना भरती है, उन्हें विश्व व्यापी स्तर पर सहयोग करने और परस्पर मिलने-जुलने के साधन प्रदान करती है, उनकी क्रिया शक्ति को घटाती है और उनका अधिकाधिक शोषण करके उन्हें संगठित विरोध करने के लिए उत्प्रेरित करती है। पूँजीपति, जोकि अपनी स्वाभाविक आवश्यकताओं के अनुसार और उस प्रणाली को कायम रखने के लिए जोकि लाभ को बनाये रखने पर निर्भर है प्रति क्षण ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न कर रहे हैं जोकि एक ऐसे समाज का निर्माण करने के, जोकि उनकी आवश्यकताओं के अनुकूल होगा, स्वाभाविक प्रयत्नों को स्फूर्ति तथा बल पहुँचाती है।"*

मार्क्स का कार्यक्रम— 'कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो' की समालोचना करते हुये प्रो० लास्की का कहना है कि 'एक दर्शन का इतिहास' और 'समाजवादी सिद्धान्तों का

* "Thus the capitalist system enlarges the number of workers, brings them together into compact groups, makes them class-conscious, supplies them with means of intercommunication and co-operation on a world-wide scale, reduces their purchasing power, and by increasingly exploiting them arouses them to organised resistance. Capitalists, acting persistently in pursuit of their natural needs and in vindication of a system dependent upon the maintenance of profits, are all the time creating conditions which stimulate and strengthen the natural efforts of workers in preparing for a system that will fit the needs of a working-men's society."

—Coker: *Recent Political Thought*, page 52.

एक आलोचनात्मक विश्लेषण' होने के अतिरिक्त यह 'क्रांतिकारी कार्यक्रम के लिये एक उत्तेजनापूर्ण आह्वान' भी है। इसका ध्येय श्रमिक-वर्ग को एक महान् ऐतिहासिक उद्देश्य की चेतना से भरना है, और उद्देश्य को तुरन्त प्राप्त करने की उनमें वह अग्नि प्रज्वलित करना है जोकि स्वयं मार्क्स और एंजिल्स के हृदय में धधक रही थी। कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो के दूसरे भाग में एक कार्य-क्रम दिया हुआ है जिसे अपनाकर मजदूर लोग एक स्वःचालित आर्थिक संघर्ष को एक बुद्धि द्वारा संचालित राजनीतिक संघर्ष में बदल सकते हैं और पूँजीवादी-वर्ग पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकते हैं। यह इस कथन से आरम्भ होता है कि साम्यवादियों का श्रमिक-वर्ग के अन्य दलों के विरोध में अपना अलग कोई दल नहीं होता और श्रमिकों के हितों से अलग उनके अपने कोई निजी हित नहीं होते। मजदूरों के एक ऐसे वर्ग के नाते जोकि ऐतिहासिक विकास में निहित आर्थिक शक्तियों की ऐतिहासिक प्रवृत्ति को सब से अधिक समझता है उनका कार्य श्रमिक-वर्ग का प्रतिनिधित्व करना और उसे उस संघर्ष के लिये संगठित करना है जो कि उसे निश्चित रूप से ही शक्ति प्रदान करेगा।

'मैनीफैस्टो' घोषणा करता है कि 'श्रमिक-वर्ग द्वारा क्रांति में पहला कदम श्रमजीवी-वर्ग को शासक-वर्ग के पद पर प्रतिष्ठित करना, लोकतन्त्र के युद्ध को जीतना है। एक लोकतन्त्र राज्य में लोकतन्त्र के युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिये श्रमिकों के सामने सामान्य उपाय अपना एक राजनीतिक दल बनाना, निर्वाचक मण्डल को अपील करना, और निर्वाचन की साधारण पद्धतियों द्वारा राष्ट्रीय संसद में बहुमत प्राप्त करना है। इस प्रकार से प्राप्त राजनीतिक शक्ति का प्रयोग धीरे-धीरे पूँजीवादी-वर्ग से समस्त पूँजी छीनने, उत्पादन के समस्त साधनों को राज्य अर्थात् एक शासक वर्ग के रूप में संगठित श्रमजीवी-वर्ग के हाथों में केन्द्रित करने और अधिकतम द्रुतगति से उत्पादक शक्तियों में वृद्धि करने के लिये किया जाना चाहिये। इससे स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि पूँजी के समाजीकरण की प्रक्रिया क्रमिक होगी; पूँजीवाद को एक चोट से समाप्त नहीं किया जा सकता। इस प्रक्रिया में पूँजीवादी राज्यों में मान्यताप्राप्त तथा रक्षित सम्पत्ति के अधिकारों और उत्पादन की पूँजीवादी स्थितियों पर भी धीरे-धीरे अधिकार जमाना होगा। ऐसा किये बिना उत्पादन की पद्धति में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। क्रांति लाने के उपाय विभिन्न राज्यों में अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न होंगे, किन्तु निम्नलिखित उपायों को सामान्यतया सभी के लिये उपयुक्त समझा गया है।

१. भूमि पर निजी सम्पत्ति का उन्मूलन और भूमि के समस्त प्रकार के लगान का सार्वजनिक उद्देश्यों के लिये प्रयोग।

२. एक भारी, उत्तरोत्तर वृद्धिशील आयकर।

३. उत्तराधिकार के समस्त अधिकारों का अन्त।

४. देश से भागे हुये और देशद्रोहियों की सम्पत्ति की जब्ती।

५. एक राष्ट्रीय बैंक स्थापित करके, जिसके पास राजकीय पूँजी हो और एकाधिकार हो, साख का राज्य के हाथों में केन्द्रीकरण।

६. संवादवाहन तथा यातायात के साधनों का राज्य के हाथों में केन्द्रीकरण।

७. राज्य के कारखानों तथा उत्पादन के साधनों का वितरण।

८. सब का श्रम करने का दायित्व। औद्योगिक सेवाओं की, विशेष रूप से कृषि के लिये स्थापना।

९. कृषि का उद्योग के साथ सम्मिश्रण।

१०. सब बच्चों की निःशुल्क शिक्षा। कलों में बाल श्रम का अन्त।

समाज सुधार के इन कार्यों को केवल तभी किया जाना है जबकि राजनीतिक साधनों द्वारा श्रमिकगण राज्य-शक्ति के ऊपर अधिकार कर लें। जब तक ऐसा न हो, तब तक श्रमिकों तथा उनके साथ सहानुभूति रखने वालों को असमाजवादियों के उन कामों का समर्थन करना चाहिये, जो कि वे श्रमिकों की दशा सुधारने के लिये करें, जैसेकि काम के घन्टे घटाना, न्यूनतम वेतन निर्धारित करना, इत्यादि। १८४७ के 'British Ten Hours Act' को मार्क्स ने मजदूरों के लिये बड़े नैतिक और आर्थिक लाभ का बतलाया था।

इस सबसे यह सिद्ध होता है कि 'मैनीफैस्टो' एक क्रमिक, द्रुतगति से, पूँजीवादी व्यवस्था से नवीन समाजवादी व्यवस्था के अवस्थान में विश्वास करता है। यह अवस्थान उस राज्य द्वारा होगा जोकि श्रमिकों की शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। हो सकता है कि दृढ़ता से जमे हुये पूँजीपति, श्रमिक-वर्ग को लोकतन्त्र के युद्ध में शान्तिपूर्ण तथा संवैधानिक उपायों से विजय प्राप्त न करने दें और श्रमजीवी-वर्ग की सरकार द्वारा ऐसे कानूनों को बनाने और लागू करने में, जोकि उन पर आघात करते हों, भारी बाधायें उपस्थित करें। मार्क्स की धारणा थी कि ऐसी परिस्थितियों में श्रमिकों को संगठित शक्ति का प्रयोग करना होगा; पूँजीपतियों द्वारा क्रान्तिकारी वर्ग का विरोध, जोकि निश्चित रूप से कड़ा होगा, क्रांति को आवश्यक बना देता है। मार्क्स को इतिहास में एक भी ऐसा उदाहरण न मिल सका जहाँ कि किसी बड़ी सामाजिक या आर्थिक व्यवस्था ने स्वेच्छापूर्वक अपने विरोधी को अपना स्थान लेने दिया हो। इस मान्यता के आधार पर कि भविष्य अतीत के सदृश होगा, 'मैनीफैस्टो' यह घोषणा करता है कि श्रमिक अपने उद्देश्य की पूर्ति केवल समस्त वर्तमान सामाजिक स्थितियों को बलात् नष्ट करके ही कर सकते हैं। यद्यपि 'श्रमजीवी-वर्ग की तानाशाही' ये शब्द 'मैनीफैस्टो' में नहीं मिलते तथापि लेखक उसमें जो कुछ कहते हैं वह उन्हीं से मिलता-जुलता है। इस प्रसंग में हमें यह बात याद रखनी चाहिये कि सेण्ट साइमन, चार्ल्स फोरियर, ओवन और उनके अनुयायियों द्वारा आदर्श समुदायों की अपेक्षा फ्रांस तथा जर्मनी में श्रमिकों की क्रान्तिकारी गतिविधियों से मार्क्स अधिक प्रभावित हुआ था। कोकर कहता है

कि मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी स्वरूप का पूर्व-इतिहास इंगलैंड के **'चार्टिस्ट'** आन्दोलन और क्रान्तिकारी श्रम-संघवादियों की हलचलों में पाया जा सकता है।

इस प्रकार मार्क्स का कार्यक्रम विकासवादी और क्रान्तिकारी दोनों हैं। जहाँ तक कि मार्क्स की यह धारणा थी कि पूँजीवादी समाज में से समाजवादी समाज का आविर्भाव क्रमिक रूप से और पूँजीवादी समाज के उत्तरोत्तर और स्वाभाविक ह्रास के फलस्वरूप होगा यह विकासवादी है। यह इस सीमा तक भी विकासवादी है कि मार्क्स के अनुसार इंगलैंड, अमरीका और सम्भवतया हालैंड सरीखे देशों में भी जहाँ कि लोकतन्त्री परम्परायें पाई जाती हैं, श्रमिक अपने उद्देश्य की पूर्ति शान्तिमय उपायों से कर सकते हैं। अन्य देशों में, जहाँ कि परिस्थितियाँ इतनी अनुकूल नहीं हैं, वर्ग-युद्ध, हिंसा तथा क्रान्ति के बिना आधारभूत सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन का आना असम्भव है। जहाँ तक कि यह वर्तमान प्रणाली का अन्त करके उसके स्थान में नवीन प्रणाली की स्थापना के लिये हिंसा और क्रान्ति को आवश्यक समझता है, यह निश्चित रूप से क्रान्तिकारी है। हमें याद रखना चाहिये कि श्रमिकों को पूँजीवादी प्रणाली के अन्तर्गत होने वाले अपने शोषण और दुर्दशा से सचेत करना, उन्हें यह समझाना कि यह सब कुछ इस प्रणाली का आवश्यक परिणाम है और उन्हें यह बतलाना कि उनकी युक्ति स्वयं उन्हीं के हाथों में है, मार्क्स का जीवन-ध्येय था। मार्क्स का कार्यक्रम क्रान्तिकारी है क्योंकि वह यह आग्रह करता है कि पूँजी तथा श्रम के हितों में कभी न मिटने वाला विरोध है और वर्ग-युद्ध एक अटल ऐतिहासिक आवश्यकता है। यह इसलिये भी क्रान्तिकारी है क्योंकि यह 'अपने आदर्श के विरुद्ध निशिष्ट हितों के लिये कोई सम्मान नहीं रखता और परिस्थिति अनुकूल होने पर अपने उद्देश्य की ओर यह कोई भी कदम उठाने को तैयार है; औपचारिक अथवा परम्परायादी औचित्य की धारणायें इसे नहीं रोक सकतीं।'

पूँजीवादी व्यवस्था को नष्ट करके उसके स्थान में एक समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करने की सम्पूर्ण प्रक्रिया में क्रांति का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसे अधिक अच्छी प्रकार समझने के लिये हमें यह याद रखना चाहिये कि मार्क्स क्रांति को दो अवस्थाओं में विभक्त करता है। प्रथम अवस्था में पूँजीवादी-वर्ग द्वारा राजनीतिक क्रांति होती है। उसका उद्देश्य सामन्त वर्ग तथा धर्म-पुरोहित वर्ग की राजनीतिक प्रभुता को नष्ट करना और राजनीतिक शक्ति प्राप्त करना है, पहिले पूंजीवादी-वर्ग के लिये और फिर सर्व-साधारण के लिये। इस राजनीतिक क्रांति की प्रवृत्ति नागरिक स्वतन्त्रताओं को सबको समान रूप से प्रदान करने और विशेषाधिकारों को नष्ट करने की होती है। उसका उद्देश्य आर्थिक विषमताओं को दूर करना या श्रमजीवी-वर्ग के हाथ में शक्ति दे देना नहीं होता। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये एक दूसरी क्रान्ति, अर्थात् श्रमिक क्रान्ति की आवश्यकता होती है। इंगलैंड में प्रथम क्रान्ति १७वीं शताब्दी में हुई थी, जिसे १६८८ की 'रक्तहीन क्रान्ति' कहा जाता है। १८३२ के

'सुधार अधिनियम' से भी इसी प्रकार की क्रांति हुई। यह क्रांति शान्तिपूर्ण हो सकती है, किन्तु ऐसा होना आवश्यक नहीं है। दूसरे प्रकार की क्रांति १९१८ में रूस में हुई थी; इसमें शक्ति और हिंसा का प्रयोग किया गया। क्योंकि मार्क्स के अनुसार वास्तविक समाजवाद तब तक नहीं आ सकता जब तक कि श्रमजीवी-वर्ग की क्रांति न हो जाये, हम यह कह सकते हैं कि यह साधन निश्चित रूप से ही क्रांतिकारी है क्योंकि इसमें हिंसा और शक्ति का प्रयोग होता है किन्तु हमें यह याद रखना चाहिये कि वह हिंसात्मक क्रांति जोकि श्रमजीवी-वर्ग को शक्ति प्रदान करती है और नवीन समाज की स्थापना करती है, दो वर्गों के बीच निरन्तर संघर्ष की ... अवस्था है। मार्क्स के अनुसार यह केवल तभी आ सकती है जबकि पूँजीवाद में अन्तर्हित विरोध उसके लिए मार्ग तैयार कर देते हैं और उत्पादन की प्रस्तुत प्रणाली अपनी शक्ति खो देती है। जिन देशों में इसके लिए स्थितियाँ परिपक्व नहीं होतीं उनमें इसे जल्दी लाने का प्रयास करना बुद्धिहीनता है। इसलिए हम इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि श्रमिक क्रांति के एक अंग के रूप में लोकतन्त्र के युद्ध को जीतने की आवश्यकता के विषय में मार्क्स ने चाहे कुछ भी कहा हो किन्तु उसके तर्क की प्रवृत्ति निश्चित रूप से क्रांतिकारी है। पूँजीवाद में सुधार करना वह असम्भव समझता था और उसके हिंसात्मक विनाश को वह निश्चित मानता था।

वर्ग-संघर्ष का अन्त— हम देख चुके हैं कि द्वन्द्ववाद में अपने विश्वास के कारण मार्क्स इस परिणाम पर पहुँचा कि श्रमजीवियों तथा पूँजीपतियों के बीच संघर्ष का केवल एक परिणाम हो सकता है— श्रमिक-वर्ग की अन्तिम विजय और पूँजीपति-वर्ग का विनाश। वह इस परिणाम पर इसलिए पहुँचा क्योंकि उसका विचार था कि पूँजीवाद अपने विकास का चक्र पूरा कर चुका है; वह बड़े पैमाने की अपनी कला को प्राय: पूर्णता तक पहुँचा चुका है और अब उसका विघटन हो रहा है। उत्पादन की उस नवीन प्रणाली में, जोकि दो विरोधी शक्तियों, पूँजी और श्रम, के समन्वय से निकलेगी, उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण तथा उनका निर्देशन सम्पूर्ण समाज के हाथों में होगा। इसलिये उसने पूँजीवादी शोषकों के विरुद्ध युद्ध में शोषित श्रमिक वर्ग की विजय की भविष्यवाणी की। इस विषय का परिणाम यह होगा कि समाज में वर्ग-भेद का लोप हो जायगा; और उसके साथ वर्ग-संघर्ष का भी अन्त हो जायगा। श्रमिक वर्ग अपनी राजनीतिक शक्ति का प्रयोग उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व का अन्त करने के लिए करेगा। जब यह हो जायेगा तो समस्त वर्ग-भेद समाप्त हो जायेंगे और समाज वर्गहीन बन जायेगा। इस नवीन आदर्श समाज का चित्र अंकित करने में मार्क्स और एंजिल्स का विशेष अनुराग न था; उनका मुख्य उद्देश्य तो श्रमिक-वर्ग में अपने लक्ष्य की चेतना भरना तथा उसे कर्म के लिये प्रेरित करना था। तथापि उन्होंने हमें उस समाज की एक झांकी दिखाई है जिसका कि श्रमिक वर्ग की विजय के फलस्वरूप आविर्भाव होगा। 'मैनीफैस्टो' में वे लिखते हैं :—

"जब विकास की प्रक्रिया में वर्ग-संघर्ष लुप्त हो जाते हैं और सम्पूर्ण उत्पादन सम्पूर्ण राष्ट्र के एक वृहद् समुदाय के हाथों में केन्द्रित हो जाता है, तो राजकीय शक्ति का राजनीतिक स्वरूप जाता रहेगा। सच्चे अर्थों में राजनीतिक शक्ति केवल एक वर्ग को दूसरे वर्ग का दलन करने के लिये संगठित शक्ति है। यदि श्रमजीवी वर्ग, पूँजीवादी वर्ग के साथ अपने संघर्ष में, परिस्थितियों द्वारा अपने आपको एक शासक वर्ग के रूप में संगठित करने के लिये विवश हो जाता है, यदि क्रान्ति द्वारा वह अपने आपको एक शासक-वर्ग बनाता है और अपने इस रूप में वह उत्पादन की पुरानी स्थितियों को समाप्त कर देता है, तो वह उन स्थितियों के साथ ही साथ उन स्थितियों का जोकि वर्ग-विरोध को उत्पन्न करती हैं और सामान्यतः वर्गों को जन्म देती हैं, भी अन्तर कर लेगा और ऐसा करके एक वर्ग के रूप में स्वयं अपना प्रभुत्व भी समाप्त कर लेगा।"

"वर्गों तथा वर्ग-भेद से भरे हुये पुराने पूँजीवादी समाज के स्थान में एक ऐसे समाज की स्थापना हो जायेगी जिसमें कि प्रत्येक का स्वतन्त्र विकास समस्त के स्वतन्त्र विकास की शर्त होगी।"

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रमजीवी वर्ग की विजय के फलस्वरूप जिस नवीन समाजवादी अथवा साम्यवादी समाज की स्थापना होगी उसकी दो मुख्य विशेषतायें होंगी : वर्ग-हीनता तथा राज्य-हीनता। इस समाज का उद्देश्य सबके विकास की शर्त के रूप में प्रत्येक का विकास करना होगा। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस उद्धरण में इस आधारभूत साम्यवादी सिद्धान्त का कोई उल्लेख नहीं है। "प्रत्येक में उसकी योग्यता के अनुसार, प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार।" इसका उल्लेख मार्क्स अपनी एक अन्य रचना 'The Criticism of the Gotha Programme' में करता है। इस सिद्धान्त के आधार पर संगठित साम्यवादी समाज की स्थापना को क्रान्ति का अन्तिम ध्येय समझा जा सकता है, उसका तुरन्त का लक्ष्य नहीं। यह बात उल्लेखनीय है कि क्रान्ति के चालीस से भी अधिक वर्ष बीत जाने के उपरान्त भी रूस में इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने के कोई चिह्न दिखलाई नहीं पड़ते।

मार्क्स का राज्य का सिद्धान्त— 'कम्यूनिस्ट मैनीफैस्टो' का उपरोक्त अवतरण एक अन्य कारण से भी महत्त्वपूर्ण है ; इसमें मार्क्स का राज्य का सिद्धान्त भी पाया जाता है जोकि इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की एक उपसिद्धि-मात्र है। इसके विश्लेषण से पूँजीवाद से साम्यवादी व्यवस्था पर आने के मूलतः क्रान्तिकारी स्वरूप पर और अधिक प्रकाश पड़ेगा, इसलिये इसकी यहाँ पर समीक्षा करना उपयोगी होगा। क्रान्ति के बाद के समाज की रचना और राज्य के कार्यकलाप के विषय में तो मार्क्स चुप है, किन्तु उसकी तथा एंजिल की रचनाओं में राज्य का सिद्धान्त बड़े स्पष्ट और सुनिश्चित शब्दों में व्यक्त किया गया है।

इसे समझने का सरलतम मार्ग परम्परावादी सिद्धान्त से इसका वैषम्य देखना है जिससे कि यह मूलतः भिन्न है। प्राचीन सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक निगमात्मक समूह है जिसमें कि विभिन्न समूह अथवा वर्ग सबके सामान्य हित के लिये एक दूसरे से सहयोग करते हैं। अरस्तू के शब्दों में, राज्य का जन्म जीवन के लिये हुआ और वह शुभ जीवन के लिये जीवित है। दूसरे शब्दों में समाज की सामान्य भलाई ही इसके अस्तित्व का कारण और औचित्य है। यह वे स्थितियाँ जुटाता है जिनमें कि प्रत्येक नागरिक अपने व्यक्तित्व का पूर्ण तथा स्वतन्त्र विकास कर सकता है। यह एक ऐसा स्तर प्रदान करता है जिस पर कि मनुष्य जाति, वर्ण, धर्म तथा वर्ग से ऊपर उठकर नागरिकों के रूप में मिल सकते हैं और सामान्य हित की वृद्धि के लिये एक दूसरे से सहयोग कर सकते हैं। इस प्रकार यह एक सार्वत्रिक समुदाय है। यह 'समाज के विभिन्न तत्त्वों में एक उचित संतुलन कायम रखने का' प्रयास करता है। 'यह अपनी नीति द्वारा नागरिकों के सम्बन्धों को इस प्रकार सन्तुलन करने का प्रयत्न करता है जिससे प्रत्येक नागरिक, यदि वह ऐसी इच्छा करता है, मानव-व्यक्तित्व का पूर्णतम विकास कर सके।'*

राज्य अपने नागरिकों की भलाई करने के अतिरिक्त सभ्यता के विकास में भी सहायता देता है। जैसे-जैसे मानव जाति उन्नति करती है, राज्य अपने ध्येय से अधिकाधिक सचेत हो जाता है और उसकी पूर्ति के लिये और अधिक निकट आ जाता है।

मार्क्सवादी सिद्धान्त इस सबसे इन्कार करता है। उसकी धारणा यह है कि राज्य सबके हित को अपना उद्देश्य समझने वाला एक समुदाय न कभी रहा है और न कभी हो सकता है। यह सदैव एक ऐसा संघटन रहा है और सदैव ऐसा ही रहेगा जिसके द्वारा प्रधान आर्थिक-वर्ग दूसरे आर्थिक-वर्गों के ऊपर शासन करता है और उनका शोषण करता है। 'कम्युनिस्ट-मैनीफैस्टो' में राज्य को 'पूँजीवादी' वर्ग की कार्यकारिणी समिति' बताया गया है। अन्यत्र मार्क्स ने कहा है कि राज्य एक ऐसा संगठन-मात्र है जिसे कि पूँजीवादी-वर्ग आवश्यक रूप से वाह्य और आन्तरिक उद्देश्यों के लिये, अपने हितों और सम्पत्ति की परस्पर सुरक्षा के रूप में रखता है। एंजिल्स के अनुसार यह 'एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के दलन के लिये एक यन्त्रमात्र' है। यह एक स्वाभाविक समुदाय नहीं है, जैसे कि अफलातून और अरस्तू की धारणा थी; इसका इतिहास की प्रक्रिया में उस समय जन्म होता है जबकि समाज ऐसे दो विरोधी गुटों में विभक्त हो जाता है जिनके हित परस्पर विरोधी होते हैं और जिनमें कोई सामंजस्य नहीं किया जा सकता। संक्षेप में मार्क्स और एंजिल्स के अनुसार,

---

* The state strives "to hold a just balance between the different elements in society. It strives by its policy of effect such an adjustment of the relationship between citizens as will enable each of them to realise, if he so desires the fullest implication of human personality."

—Laski: *Communism*, page 124.

राज्य वर्ग-संघर्ष की उत्पत्ति है ; यह आधारभूत आर्थिक ढाँचे, अर्थात् उत्पादन के सम्बन्धों पर उत्पादन के भौतिक साधनों के स्वामियों द्वारा अपनी सुरक्षा के लिये खड़ा किया हुआ ऊपरी ढाँचा है। यह आर्थिक व्यवस्था की उत्पादक शक्तियों को अभिव्यक्त करता है और इसका उद्देश्य प्रधान वर्ग को अधीनस्थ वर्गों का शोषण करने, अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने तथा उसे चुनौती देने वाले समस्त विचारों को कुचलने की सामर्थ्य प्रदान करता है। कानून तथा पुलिस की सारी मशीन और अन्त में राज्य की सैनिक शक्ति, पूँजीवादी-वर्ग के उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण को सुरक्षित रखने के लिये ही है।

सारांश यह है कि मार्क्स तथा एंजिल्स के अनुसार राज्य एक वर्ग-संगठन है, एक ऐसा यन्त्र है जिसके द्वारा एक वर्ग दूसरे वर्गों का दमन और दलन करता है। इसका मूल उद्देश्य वर्ग-दमन है। इसे सर्वोदय तथा मानव सभ्यता का साधन समझना तथ्यों के विरुद्ध है ; यह केवल प्रधान वर्ग के विचारों और हितों का प्रतिनिधि है।

साम्यवादी इतिहास में अपने विश्वास के पक्ष में साक्ष्य पाते हैं। उनकी धारणा है कि सर्वसाधारण की भलाई करना शासक-वर्ग का कभी भी और कहीं भी सचेतन उद्देश्य नहीं रहा ; शासक-वर्ग ने राज्य की शक्ति का प्रयोग सदैव अपने तथा अपने समर्थकों के हितों की सिद्धि के लिये किया है। आज का पूँजीवादी राज्य पूँजीपतियों द्वारा श्रमिकों के शोषण में सहायता देता है। श्रमिकों के अतिरिक्त मूल्य के छीनने में राज्य पूँजीपतियों की सहायता करता है और शोषण की प्रक्रिया में उनको सुरक्षित रखने के लिये यह पुलिस तथा सैनिक शक्ति रखता है। यहाँ तक कि उसकी न्याय पद्धति को भी भ्रष्ट करके पूँजीवाद के हितों की रक्षा के लिये प्रयुक्त किया जाता है। लॉस्की के शब्दों में, इसका दण्ड विधान 'सम्पत्ति के विरुद्ध अपराधों की अपेक्षा कठोर है क्योंकि पूँजीवाद मानव जीवन की अपेक्षा सम्पत्ति के हितों के लिये अधिक सदय है।' राज्य के राजद्रोह सम्बन्धी कानून इस प्रकार बनाये जाते हैं कि श्रमिकों का पूँजीपतियों के विरुद्ध विद्रोह करना कठिन हो जाता है। "जर्मन राज्य लीब्कनैक्ट् को जेलखाने में डालता है क्योंकि वह उसकी सुरक्षा को चुनौती देता है, किन्तु उसे लीब्कनैक्ट् के हत्यारों को छोड़ने में कोई कठिनाई नहीं होती।"*

साम्यवादियों का यह भी विश्वास है कि आधुनिक पूँजीवादी राज्य शिक्षा तथा धर्म-संस्थाओं जैसी सांस्कृतिक संस्थाओं का प्रयोग भी श्रमिकों पर अपने शिकंजे को जकड़ने और उन्हें दासता के फंदे में रखने के लिये करता है। उनका विचार है कि शिक्षा संस्थाओं को आज्ञापालन तथा समर्पण की भावना को भरने के लिये

* "The German State sends Liebknecht to prison because he threatens its security, but it has no difficulty in acquitting the murderers of Liebknecht."
—*Communism*, page 128.

प्रशिक्षा का क्षेत्र बना दिया गया है। श्रमिकों के बच्चों के मस्तिष्क पर विद्रोह की बुराई और राष्ट्र-भक्ति की अच्छाई अंकित करने के गम्भीर प्रयत्न किये जाते हैं। धर्म-संस्थाओं को भी ऐसे ही उद्देश्य के लिये प्रयुक्त किया जाता है। राज्य के विरुद्ध विद्रोह को परमात्मा के विरुद्ध पाप समझा जाता है। 'पूँजीवादी राज्य श्रमिकों के विद्रोह के विरुद्ध एक प्रहरी के रूप में खड़ा हुआ है।' इस प्रकार राज्य आधुनिक व्यवस्था के शिकारों की जंजीरों को और अधिक कस देता है।

राज्य के सम्बन्ध में इस धारणा के कुछ अन्तर्हित परिणाम हैं जिन्हें स्पष्ट करना आवश्यक है। प्रथम, यह वर्ग-संघर्ष के मार्क्सवादी सिद्धान्त से निकट रूप से सम्बन्धित है। इसके अनुसार राज्य वर्ग विरोध की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति है। "कहाँ, कब और किस हद तक राज्य का जन्म होता है यह प्रत्यक्ष रूप से इस बात के ऊपर निर्भर करता है कि कब, कहाँ और किस हद तक एक राज्य विशेष के विरोधों में सामंजस्य स्थापित नहीं किया जा सकता। और इसी के व्यतिक्रम से राज्य का अस्तित्व यह सिद्ध करता है कि वर्ग सम्बन्धी विरोधों में कभी सामंजस्य नहीं हो सकता।"* दूसरे, इसका यह अर्थ है कि श्रमिकगण वर्तमान पूँजीवादी राज्य के प्रति कभी आस्था नहीं रख सकते। जब राज्य पूँजीवादियों के हाथों में श्रमिकों के शोषण का एक यन्त्र है तो श्रमिकों का ऐसे राज्य के प्रति आस्था रखने का अर्थ यह होगा कि वे अपने शोषक और पीड़क के प्रति ही आस्था रखते हैं। श्रमिक तो राज्य के प्रति केवल अथक और निरन्तर विरोध का रवैया ही अपना सकते हैं; उन्हें तो नष्ट करके अपने को मुक्त करने का प्रयास करना चाहिये। तीसरे यह कि यह सिद्धान्त राज्य के दमनकारी स्वरूप पर जोर देता है। इसके अनुसार राज्य का मूल कार्य प्रस्तुत व्यवस्था, उसके वर्ग भेद तथा वर्गों के विशेषाधिकारों को कायम रखना है, तथाकथित सामान्य हितों की सिद्धि करना या व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास में सहायता देना नहीं। राज्य का दमनकारी स्वरूप उस समय पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है जब कि वह श्रमिकों की हड़तालों तथा अन्य कार्यों को यह बहाना लेकर कुचलता है कि वह राजद्रोह है। इस प्रकार इसने अपना लगभग सम्पूर्ण ध्यान राज्य के दमनकारी कार्यों पर ही केन्द्रित कर दिया और जनहित के ऐसे कार्यों की जैसे कि स्वास्थ्य की व्यवस्था करना, संवादवाहन तथा यातायात के साधन जुटाना, शोध कार्य में सहायता देना इत्यादि की उसने अवहेलना की। चौथे यह कि इसी के कारण मार्क्स की यह धारणा भी हुई कि, क्योंकि भविष्य का समाजवादी समाज वर्गहीन होगा, इसलिये वह राज्यहीन भी होगा क्योंकि राज्य का जन्म ही वर्गभेद के कारण होता है, इसलिये श्रमजीवी वर्ग की विजय और पूँजीवाद वर्ग के विनाश द्वारा उत्पन्न

* "Where, when and to what extent, the state arises depends directly on when, where and to what extent the class antagonisms of a given society cannot be objectively reconciled. And, conversely, the existence of the state proves that class antagonisms are irreconcilable."

—Lenin ; Quoted by Laski in his *Communism*, page 129.

वर्गहीन समाज में राज्य का कोई अस्तित्व ही नहीं हो सकता। जब एक ऐसी संस्था के रूप में, जिसके द्वारा एक आर्थिक वर्ग निर्बल आर्थिक वर्गों पर शासन करता है और उनका शोषण करता है, राज्य नष्ट हो जायेगा तो सार्वजनिक कार्यों का 'राजनीतिक स्वरूप जाता रहेगा और वे सच्चे सामाजिक हितों की देखभाल करने के साधारण प्रशासकीय कार्य बन जायेंगे।' एंजिल्स की इस प्रसिद्ध उक्ति का कि साम्यवादी समाज में व्यक्तियों के शासन के स्थान में वस्तुओं का प्रशासन स्थापित होगा यही अर्थ है। अन्तिम बात यह है कि इस सिद्धान्त के अनुसार वर्ग-विरोध तथा पूँजीवादियों द्वारा श्रमिकों के शोषण का अन्त करने का एकमात्र उपाय क्रांति है क्योंकि वर्तमान राज्य शक्ति का मूर्त्त रूप है और अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वह शक्ति के प्रयोग पर निर्भर करता है। इसलिए हिंसा का प्रयोग किये बिना उसे नष्ट नहीं किया जा सकता। आधुनिक पूँजीपति से शक्ति छीन कर श्रमिकों के हाथ में आने के लिए, जोकि उसे नष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं, पुरानी व्यवस्था के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग अवश्य करना पड़ेगा। मार्क्स लोकतन्त्र के युद्ध को जीतने के मूल्य को भी जानता था, किन्तु उसका अनुरोध यह था कि वह सम्पूर्ण युद्ध का एक भाग मात्र है और केवल उसी के द्वारा एक नवीन समाज की स्थापना नहीं की जा सकती। समाजवादियों के अनुसार पशु बल का प्रयोग न केवल राज्य शक्ति को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है, बल्कि वह उसे कायम रखने के लिए भी आवश्यक है। शक्ति प्राप्त करने का कोई लाभ नहीं, यदि वह छिन जाये और उसे छीने जाने से रोकने के लिए पशु बल का प्रयोग आवश्यक है। इस प्रसंग में ट्रॉटस्की के कुछ शब्द उद्धरणीय हैं। वह लिखता है :—

"एक क्रांतिकारी वर्ग, जिसने शस्त्र हाथ में लेकर शक्ति प्राप्त की है, अपने हाथों में से शक्ति छीने जाने के समस्त प्रयत्नों को अवश्य ही राइफिल हाथ में लेकर कुचलेगा। जहाँ भी उसकी विरोधी सेना है, वह अपनी सेना से उसका विरोध करेगा। जहाँ भी उसे सशस्त्र षड्यन्त्र, हत्या के प्रयत्न, अथवा विद्रोह का सामना करना पड़ेगा, वह शत्रुओं के सिरों पर निर्मम आघात करेगा।"*

संक्रांतिकालीन श्रमवर्गीय राज्य की विशेषतायें :—

श्रमवर्गीय क्रांति को दोहरे उद्देश्य की सिद्धि करनी है; एक तो इसे पूँजीवादी राज्य और उसकी समस्त राजनीतिक तथा कानूनी संस्थाओं को नष्ट करना है, और दूसरे उसके स्थान में एक नवीन प्रकार के राज्य की तथा श्रमजीवी वर्ग की आवश्यकताओं के अनुकूल उसकी नवीन संस्थाओं की स्थापना करनी है। श्रमिक वर्ग

---

* "A revolutionary class; which has conquered power with arms in hand is bound to, and will suppress, rifle in hand, all attempts to tear power out of its hands. Where it has against it a hostile army, it will oppose to it with its own army. Where it is confronted with armed conspiracy, attempt at murder, or rising, it will hurl at the heads of its enemies an unsparing penalty."

—Quoted by Laski in his *Communism*, page 140.

प्रस्तुत राज्य के यन्त्र पर अपना अधिकार जमाकर उसका अपना ध्येय की पूर्ति के लिये प्रयोग नहीं कर सकते। पूँजीवादी वर्ग द्वारा बनाये हुए नौकरशाही तथा सेना के सम्पूर्ण भवन को पूर्ण रूप से धाराशायी कर देना चाहिये, और उसके स्थान में एक नवीन व्यवस्था को स्थापित करना चाहिये। स्पष्ट है कि इस सब काम में समय लगेगा। इसलिए मार्क्स श्रमजीवी वर्ग द्वारा शक्ति विजय तथा नवीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के बीच एक संक्रांति काल की कल्पना करता है। 'Criticism of the Gotha Programme' में वह लिखता है :—

"पूँजीवादी तथा साम्यवादी समाज के बीच में एक का दूसरे में परिवर्तित होने का क्रांतिकारी काल रहा है। इसी के अनुरूप एक राजनीतिक संक्रांति काल भी होता है जोकि केवल क्रांतिकारी श्रमजीवी-वर्ग की तानाशाही ही हो सकता है।"*

दुर्भाग्यवश श्रमवर्गीय राज्य के विषय में मार्क्स ने कुछ अधिक नहीं लिखा। केवल इतना कहने के अतिरिक्त कि पूँजीवादी राज्य को नष्ट करके श्रमजीवी-वर्ग शासन शक्ति स्वयं अपने हाथों में ले लेगा, 'कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो' में और कुछ नहीं कहा गया। श्रमजीवी-वर्ग की तानाशाही भी उतना ही वर्ग संघटन होगा जितना कि पूँजीवादी राज्य; वह एक स्वतन्त्र समाज नहीं होगा और इसमें पुरानी व्यवस्था की कुछ विशेषतायें बनी रहेंगी। यह अपने पूर्ववर्ती के बाध्यकारी यन्त्र को बनाये रखेगी। परन्तु नई और पुरानी व्यवस्था में दो महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं। जबकि पुराने पूँजीवादी राज्य में अल्पसंख्यक राजनीतिक शक्ति का प्रयोग बहुसंख्यकों का शोषण और दमन करने के लिए करते थे, नवीन राज्य में बहुसंख्यक अल्पसंख्यकों की सम्पत्ति का हरण करेंगे। दूसरे, जबकि पुराने पूँजीवादी राज्य का उद्देश्य वर्ग-भेद को बनाये रखना और सम्पत्तिशाली वर्ग की सुरक्षा थी, श्रमजीवी-वर्ग की तानाशाही समस्त वर्ग-भेदों को मिटाने का प्रयास करेगी और ऐसा करके स्वयं अपने अन्त के लिये मार्ग तैयार करेगी। जब दमन किये जाने के लिये कोई वर्ग ही न रह जायेगा तो एक विशिष्ट दमनकारी शक्ति की कोई आवश्यकता न रहेगी; और वर्ग संघटन के रूप में राज्य का धीरे-धीरे अन्त हो जायेगा।

अपने ग्रन्थ 'Civil War in France' में मार्क्स हमें श्रमजीवी-वर्ग की तानाशाही का कुछ विवरण देता है। पूँजीवादी वर्ग की पराजय को पूर्ण करने और वाह्य तथा आन्तरिक शत्रुओं से नवीन व्यवस्था की रक्षा करने के लिए श्रमजीवी-वर्ग अपनी निजी केन्द्रीकृत शक्ति का संगठन करेगा। श्रमजीवी-वर्ग के दल की अधीनता में यह एक पूर्णरूपेण नवीन व्यवस्थापिका, एक नवीन श्रमजीवीय न्यायपालिका तथा न्यायविधान, एक नवीन श्रमजीवीय पुलिस तथा सैनिक शक्ति की स्थापना करेगा। संक्षेप में, पूँजीवादी संसद, नागरिक सेवा (Civil Service), पुलिस इत्यादि सब

---

* "Between capitalist and communist society lies the period of the revolutionary transformation of the one into the other. There corresponds to this also a political transition period in which the state can be nothing but *the revolutionary dictatorship of the proletariat.*"

कुछ मिटा दिया जायेगा और एक नवीन चीज उसका स्थान ग्रहण करेगी। सोवियत रूस में शक्ति प्राप्त करके साम्यवादियों ने जो कुछ किया वह पूर्ण रूप से मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुकूल था; अपने आप को बचाने तथा उसके शत्रुओं से नवीन राज्य की रक्षा करने के लिये उन्हें राज्य के संगठन को कायम रखना पड़ा।

मार्क्स और लोकतन्त्र—राज्य के मार्क्सवादी सिद्धान्त के विवरण का अन्त करने से पूर्व हम उसकी एक महत्त्वपूर्ण उपसिद्धि के विषय में कुछ कहेंगे। यदि राज्य केवल एक वर्ग-दमन और वर्ग-शासन का यन्त्र है तो लोकतन्त्र, जिसे आम तौर से जनता का, जनता द्वारा तथा जनता के लिये शासन बताया जाता है, जैसी कोई चीज हो ही नहीं सकती। कारण स्पष्ट है। जब तक उत्पादन की पूँजीवादी प्रणाली रहती है, और भूमि तथा उत्पादन के भौतिक साधनों का स्वामित्व निजी रूप से थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में रहता है, तो 'जनता' जैसी कोई चीज हो ही नहीं सकती। 'जनता' तो केवल एक वर्ग-हीन समाज के अन्तर्गत ही हो सकती है। पूँजीवादी समाज में तो केवल वर्ग रहते हैं। जब तक कि समाज परस्पर विरोधी आर्थिक हित रखने वाले वर्गों में विभक्त रहता है तब तक सरकार निश्चित रूप से ही शासित वर्ग के ऊपर शासक वर्ग की तानाशाही होगी। इसलिए पूँजीवादी समाज में जिस चीज को जनतन्त्र कहा जाता है वह एक धोखा है और उसमें 'जनता' को मताधिकार देने तथा उसे उसका समुचित प्रयोग करने की शिक्षा देने की बात करना निरर्थक है, यदि धोखा भी नहीं है तो 'जनता' की धारणा एक पूँजीवादी कल्पना मात्र है। सारांश यह है कि जब तक एक छोटा-सा वर्ग भूमि तथा उत्पादन के अन्य भौतिक साधनों का स्वामी रहता और इस स्वामित्व के द्वारा अपने हित में राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करता है तब तक कोई जनतन्त्र नहीं हो सकता।

यदि ऐसी बात है तो मार्क्स का ऐसा कहने से क्या अभिप्राय हो सकता था कि समाजवादी कार्य-क्रम में पहिला कदम 'लोकतन्त्र का युद्ध जीतना' है। इसमें और एंजिल्स के इस कथन में कि 'यदि कोई बात निश्चित है तो वह यह है कि हमारा अपना दल एक लोकतंत्री गणतंत्र में ही शक्ति प्राप्त कर सकता है', किस प्रकार संगति हो सकती है? इस प्रकार के कथन को हम यह कह कर समझा सकते हैं कि मार्क्स तथा एंजिल्स ने 'जनतंत्र' शब्द का प्रयोग साधारण अर्थ में किया; उनका विचार था कि संसदीय लोकतंत्र की संस्थाओं का प्रयोग श्रमजीवी-वर्ग अपने शोषकों और पीड़ितों के विरुद्ध संघर्ष में कर सकता है; परन्तु उनका उस तानाशाही में कोई स्थान न होगा जिनको कि वे स्थापित करना चाहते थे। मार्क्स का संसदीय संस्थाओं में कोई विश्वास न था; वह समाजवादी लोकतंत्रवादियों की इस धारणा का पूर्ण रूप से खंडन करता था कि वर्तमान राज्य पर अधिकार करके उसे एक सच्चा लोकतंत्रवादी राज्य बनाना चाहिये। इसके विपरीत मार्क्स पूँजीवादी राज्य तथा उसकी संस्थाओं को पूर्ण रूप से नष्ट कर देना चाहता था। जैसाकि पहिले ही कहा जा चुका है, श्रमजीवी वर्ग श्रमजीवीय दर्शन पर आधारित एक नवीन

व्यवस्थापिका, एक नवीन न्यायपालिका, एक नवीन न्यायविधान, एक नवीन पुलिस तथा एक नवीन सेना की स्थापना करेगा। इस बात की मार्क्स कल्पना भी नहीं कर सकता था कि समाजवादियों को पूँजीवादी ढर्रे की संसद द्वारा शासन करने का प्रयास करना चाहिये।

वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त की समालोचना— मार्क्स की इस धारणा से सहमत होना कठिन है कि आज तक के समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है; हमारी यह भी धारणा है कि मार्क्स का श्रमजीवी-वर्ग की अन्तिम विजय में अटल विश्वास केवल एक ऐसी मान्यता है जिसे सिद्ध नहीं किया गया है। समाज में सामाजिक वर्गों के अस्तित्व से कोई इन्कार नहीं कर सकता, कोई भी सभ्य समाज ऐसा नहीं रहा जिसमें कि जन्म, सम्पत्ति, पद, वर्ण, प्रतिभा इत्यादि के आधार पर भेद न रहे हों। यह भी असंदिग्ध है कि राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करने के लिये विभिन्न वर्गों में युद्ध ऐतिहासिक घटनाओं के शक्तिशाली निर्धारक रहे हैं। प्राचीन भारत में राजीतिक प्रभुता के लिये ब्राह्मणों और क्षत्रियों के विभिन्न वंशों में संघर्ष था। प्राचीन यूनान में धनतन्त्रवादियों तथा जनतन्त्रवादियों में शक्ति के लिए संघर्ष प्राय: प्रत्येक राज्य में था। ऐसी ही स्थिति प्राचीन रोम में थी। इतिहास में सामाजिक वर्गों के महत्त्वपूर्ण भाग पर जोर देकर मार्क्स समाजशास्त्र की महान् सेवा की है। उसके पहिले, अर्थशास्त्री सामाजिक वर्गों को कोई विशेष मान्यता न देते थे; जिन वर्गों की वे विवेचना करते थे वे केवल व्यक्तियों के समूह थे जिनमें कुछ समान्य विशेषतायें दिखाई पड़ती थीं; वे जीवित इकाइयाँ न थीं। ऐतिहासिक घटनाओं की वर्ग-हितों और वर्ग-प्रवृत्तियों के शब्दों में व्याख्या करने वाला मार्क्स सबसे पहिला विचारक था। हमारे विचार में उसने भूल यह की कि उसने सामाजिक वर्गों और आर्थिक वर्गों को एकरूप समझा और वर्ग-संघर्ष को शोषक तथा शोपित वर्गों में युद्ध के अनुरूप बताया। ब्राह्मणों और क्षत्रियों, अथवा धनतन्त्रवादियों, अथवा पेट्रीशियन्स और प्लीबियन्स को आर्थिक-वर्ग मान लेने से पूर्व वर्ग तथा वर्ग-चेतना की धारणाओं का उससे अधिक स्पष्ट और निश्चित विश्लेषण करना आवश्यक है जितना कि मार्क्स ने दिया है। वर्ग-संघर्ष की धारणा से उसका मस्तिष्क इतना भरा हुआ था और अपने क्रान्तिकारी उद्देश्य के लिए उसका प्रयोग करने के लिए वह इतना उत्सुक था कि उसका कोई गहरा विश्लेषण उसने नहीं किया; इसके विपरीत उसने इसका अत्यधिक सरलीकरण कर दिया। यह बात ध्यान में रखना महत्त्वपूर्ण है कि इतिहास में किसी भी समय सामाजिक-वर्गों में वह ठोसता तथा उद्देश्य की एकता नहीं रहती जोकि वर्ग-संघर्ष के लिए आवश्यक है; उनमें आन्तरिक विरोध रहे हैं। जैसाकि पॉपर कहता है:—

"वास्तव में, शासक तथा शासित वर्गों के हितों में आन्तरिक विरोध इतना गहरा है कि मार्क्स के वर्ग सिद्धान्त को एक खतरनाक अत्यधिक सरलीकरण समझा जाना चाहिये, चाहे हम यह मान भी लें कि अमीर और गरीब के बीच संघर्ष का

सदैव आधारभूत महत्त्व है। मध्यकालीन इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण विषय, पोपों तथा सम्राटों के बीच युद्ध, शासक-वर्ग के आन्तरिक विरोधों का एक उदाहरण है। उस कलह को शोषक और शोषित के बीच संघर्ष कहना सम्भवतया असत्य होगा।"*

एक ही देश के असंख्य भूमिपतियों, कारखानों के स्वामियों तथा उद्योगपतियों को एक ऐसा सफल पूँजीवादी-वर्ग नहीं समझा जा सकता जोकि वर्गचेतना से प्रेरित हो और जिसमें वर्ग की एकता की भावना पाई जाती हो। सारे संसार के पूँजीपतियों का एक ही वर्ग मान लेना तो और भी अधिक गलत होगा। ब्रिटेन के पूँजीपतियों और भारत तथा जापान के पूँजीपतियों के कोई हित सामान्य नहीं हैं; बल्कि यह कहना अधिक सत्य होगा कि उनके हितों में संघर्ष है। इसी प्रकार किसी भी देश में पुरुष और स्त्री, कुशल तथा अकुशल, और श्वेतवर्ण तथा रंगदार श्रमिकों में जो सम्बन्ध पाये जाते हैं, उनसे भी श्रमिकों की एकता की धारणा गलत सिद्ध होती है। विभिन्न देशों के श्रमिकों के हितों में तो और भी कम एकता है। ये कारण हमें मानव इतिहास को समझने की एक कुंजी के रूप में वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत को ठुकराने को विवश करते हैं। मार्क्स तथा एंजिल्स और उनके आधुनिक अनुयायियों का श्रमिकों से बार-बार एक होने के लिए अपीलें करना भी यही सिद्ध करता है कि उनमें कोई स्वाभाविक एकता नहीं है। दो विश्व-युद्धों में समस्त देशों के श्रमिक अपनी तथा-कथित वर्गचेतना को भूलकर जिस प्रकार अपनी-अपनी राष्ट्रीय सरकारों के साथ हो गये थे उससे भी वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त और मार्क्स का यह दावा कि आधुनिक परिस्थितियों में मजदूर लोग अपने राष्ट्रीय स्वभाव को खो देते हैं, गलत सिद्ध हो जाता है। प्रो० केरयू हन्ट भी वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को इतिहास की एक व्याख्या के रूप में गलत समझता है। वह लिखता है:

"अन्त में, मार्क्स की यह धारणा कि मनुष्यों में समस्त संघर्षों का स्रोत वर्ग-संघर्ष है, यद्यपि एक युद्धकला के रूप में इसका मूल्य असंदिग्ध है क्योंकि इसका ध्येय सर्व-साधारण को यह विश्वास दिलाना है कि उनके संकटों का कारण पूँजीवादी प्रणाली है और श्रमजीवी-वर्ग की विजय के साथ वे दूर हो जायेंगे, फिर भी असत्य है। क्योंकि जीवन में संघर्ष का सब से बड़ा कारण निश्चित रूप से व्यक्ति तथा समाज के दावों में विरोध है। यह एक ऐसा संघर्ष है जिसे केवल वर्ग-संघर्ष नहीं

---

* "Indeed, the divergence of interests within the ruling and the ruled classes goes so far that Marx's theory of classes must be considered as a dangerous oversimplification, even if we admit that the issue between the rich and the poor is always of fundamental importance. One of the great themes of medieval history, the fight between popes and emperors, is an example of dissension within the ruling class. It would be probably false to interpret this quarrel as one between exploiter and exploited."

—Popper : *The Open Society and Its Enemies*, page 307.

कहा जा सकता और जिसका कोई द्वन्द्वात्मक निराकरण नहीं हो सकता क्योंकि यह अपरिवर्तनशील मानव स्थिति का एक अंग है।"*

आज हमारे नवयुवकों को, जो अपने आदर्शवाद के कारण समाज के सम्पत्ति-हीन वर्ग की दुर्दशा को देखकर दुखित हो उठते हैं, वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त बहुत प्रभावित करता है। इस बात को देखते हुये हम इस सिद्धान्त की आलोचना एक दूसरे दृष्टिकोण से करेंगे। हमारा विश्वास है कि बावजूद उस प्रतिस्पर्धा के जोकि मनुष्य-मनुष्य में हमारे चारों ओर पाई जाती है, विश्व को धारण करने वाला तथा उन्नति की ओर ले जाने वाला नियम संघर्ष और प्रतिस्पर्धा का नियम नहीं है; वह प्रेम, सहयोग और बलिदान का नियम है। अफलातून की यह धारणा कि समाज सामान्य आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए परस्पर सहयोग की आवश्यकता पर आधारित है मार्क्स की धारणा से कहीं अधिक सत्य है; मनुष्य में प्रेम और सहयोग की भावना उससे कहीं अधिक होती है जितनी कि मार्क्स के सिद्धान्त में मानी गयी है। यदि मानव जाति में ये गुण न होते और यदि मानव जाति की मुख्य विशेषतायें संघर्ष और शोषण के होते तो बहुत पहिले विश्व का दुःखद अन्त हो गया होता। यदि वह आज भी कायम है और संघर्ष के बीच में भी मनुष्य प्रगति कर रहा है तो उसका मूल कारण यही है कि संसार को धारण करने वाला प्रेम और बलिदान का नियम है। इस नियम का प्रतिपादन गीता के उदात्त शब्दों में किया गया है। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है:

"यज्ञ के निमित्त किये हुए कर्म के अतिरिक्त कर्ममात्र इस लोक में बन्धन का कारण होता है। अतः आसक्ति को छोड़कर, हे अर्जुन, तू यज्ञ के लिये कर्म कर।"

"पूर्वकाल में प्रजापति ने प्रजा के साथ-साथ ही यज्ञ को भी रचा। उसने प्रजा से कहा— इस (यज्ञ) के द्वारा तुम उत्पत्ति करो। यह (यज्ञ) तुम्हारी मनोकामना को पूर्ण करने वाला हो।"

"इस यज्ञ के द्वारा तुम देवताओं को पुष्ट करो, वह देवता तुम्हें पुष्ट करें। एक दूसरे को पुष्ट करते हुए तुम सभी परम श्रेय की प्राप्ति करोगे।"

"यज्ञ द्वारा पुष्ट किये हुए देव निश्चित रूप से तुम्हारी मनोकामनाओं को

---

* "Finally, Marx's thesis that all conflict among men arises from the class struggle, albeit of undoubted tactical value as calculated to convince the masses that their misfortunes are attributable to the capitalist system and will disappear with the victory of the proletariat, is nonetheless fallacious. For the supreme source of the conflict in life is the inevitable opposition between the claims of the individual and those of society, a conflict which is not reducible to class-struggle and cannot be dialectically resolved because it is a part of the

पूर्ण करेंगे। जो व्यक्ति उनको दिये बिना उनके दिये हुये भोगों का उपभोग करता है वह तो चोर ही है।"

"यज्ञ शेष को खाने वाले सन्त सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं, परन्तु जो लोग केवल अपने लिये ही भोजन बनाते हैं, वे पाप का भोग करते हैं।

"प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं; अन्न बादल से उत्पन्न होता है; बादल यज्ञ से उत्पन्न होता है, और यज्ञ की उत्पत्ति कर्म से होती है।"

"कर्म को तू ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जान, ब्रह्म अक्षर से उत्पन्न होता है। इसलिये सर्वगत ब्रह्म नित्य ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है।"

"इस प्रकार से चलाये हुए चक्र के साथ जो नहीं चलता, पापमय उसका जीवन है, सुख भोग में वह इन्द्रियों का दास है, उसका जीना ही व्यर्थ है।"*

श्रीकृष्ण के उपरोक्त कथन का अर्थ यह है कि विश्व एक महान् यज्ञ है जिसमें हम में से प्रत्येक अपने आपको तथा अपने कार्यों को सृष्टिकर्त्ता भगवान् के सामने एक आहुति के रूप में प्रस्तुत करता है, और इस यज्ञ के द्वारा ही जीवन-चक्र चलता हुआ रक्खा जाता है। प्रकृति का समस्त कार्यकलाप अपने सच्चे स्वरूप में, एक यज्ञ है और परमात्मा समस्त कार्यों तथा यज्ञ का उपभोक्ता है। यदि ऐसा है तो हमारे जीवन का नियम यज्ञ भाव के साथ सम्पूर्ण की भलाई के लिये कर्म करना होना चाहिये, अपने स्वयं के सुख के लिये नहीं। बीज यदि एक वृक्ष के रूप में प्रस्फुटित

---

* यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽन्यं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥९॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥१०॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भाव्यन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।
इष्टान्भोगन्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥१२॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यंते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥१३॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥१४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥१५॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥१६॥
(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ३ से उद्धृत श्लोक ९ से १६ तक।)

होना और फल उत्पन्न करना चाहता है तो उसे पहिले अपनी बलि देनी होगी; माता पिता यदि सन्तानोत्पत्ति करना और सन्तान का पालन पोषण करना चाहते हैं तो उन्हें अपने व्यक्तिगत सुखों और सुविधाओं का बलिदान करना होगा। इसी प्रकार श्रमिकों तथा पूँजीपतियों, दोनों को ही सबकी भलाई के लिये अपने स्वार्थों का बलिदान करके परस्पर सहयोग करना सीखना चाहिये। हम इस धारणा को मानने के लिए तैयार नहीं कि इन दोनों में एक शाश्वत शत्रुता है; यह कहना अधिक सत्य होगा कि धन के उत्पादन के लिये दोनों को एक दूसरे की आवश्यकता है। इसलिये आवश्यकता इस बात की नहीं है कि एक को हानि पहुँचाकर दूसरे को लाभ पहुँचाया जाये बल्कि आवश्यक यह है कि सामाजिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिये दोनों में सामंजस्यपूर्ण सहयोग की स्थापना की जाये। ऐसा तभी हो सकता है जबकि हम व्यापक रूप से जीवन के एक अधिक सच्चे दर्शन को स्वीकार करलें और राज्य दोनों का विनियमन करें।

वर्ग संघर्ष के सिद्धान्तों की इस सामान्य आलोचना से अब हम 'कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो' में दी हुई इसकी विशिष्ट अवस्थाओं की समीक्षा पर आते हैं। हम मानते हैं कि कुछ बातों में पूँजीवाद का विकास उसी दिशा में हुआ है जिसकी कि मार्क्स और एंजिल्स ने भविष्यवाणी की थी। उत्तरोत्तर बढ़ते हुए उद्योगों और उसके साथ उत्पादन पर बड़े पूँजीपतियों की घटती हुई संख्या के हाथ में नियन्त्रण के केन्द्रीकरण की ओर एक स्पष्ट प्रवृत्ति रही है, बड़े-बड़े कार्टल, ट्रस्ट तथा संघटन जोकि आजकल औद्योगिक विकास की मुख्य विशेषतायें हैं, मार्क्स के सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। अपनी पुस्तक 'Modern Economic and Social Systems' में वैस्टमीयर एक तालिका देता है जिससे यह सिद्ध होता है कि १९१४ और १९२९ के बीच में संयुक्त राज्य अमरीका में बड़े पैमाने के कारखानों की संख्या और उनके उत्पादन के मूल्य में वृद्धि हुई और उसके अनुरूप ही छोटे पैमाने के उद्योगों की संख्या और उसके उत्पादन के मूल्य में कमी हुई। औद्योगिक क्षेत्र में केन्द्रीकरण की ओर प्रवृत्ति १९२९ के बाद में और अधिक हो गई है। उत्पादन की पूँजीवादी प्रणाली के अन्तर्गत न केवल उत्पादन में जबर्दस्त वृद्धि हुई है, बल्कि उत्पादन की कला में भी नित्यप्रति क्रांतिकारी परिवर्तन किये जा रहे हैं। बाजारों का बड़ा भारी विस्तार हुआ है; तेजी से बढ़ने वाले संवादवाहन और यातायात के द्रुतगति साधनों के कारण सम्पूर्ण संसार ही एक बड़ा बाजार बन गया है। छोटे व्यापार में भी, जिस पर कि अब तक छोटे व्यापारियों का दृढ़ अधिकार रहा है, केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। जैसाकि वैस्टमीयर कहता है, 'डाक-आदेश द्वारा माल भेजने वाले बड़े-बड़े व्यापारगृह (Mail-Order Houses), एक ही मालिक के बहुत से स्थानों में खुले हुए स्टोर (Chain Stores) और बड़े-बड़े डिपार्टमेंट स्टोर' बड़ी द्रुतगति से छोटे व्यापार का स्थान लेते जा रहे हैं। पुराना मध्य वर्ग लुप्त हो गया है और श्रमजीवी वर्ग की संख्या तथा शक्ति में बड़ी वृद्धि हुई है। श्रमिकों के ट्रेड यूनियनों में

संगठित हो जाने से उनमें तथा पूँजीपतियों में संघर्ष और अधिक घोर तथा तीव्र हो गया है।

परन्तु अन्य बातों में मार्क्स की भविष्यवाणियाँ गलत सिद्ध हुई हैं। उसकी यह भविष्यवाणी सत्य नहीं हुई कि संख्या में घटते हुए पूँजीपति वर्ग के धन में वृद्धि और संख्या में बढ़ते हुए श्रमिक वर्ग के बढ़ते हुए कष्टों के कारण समाज दो स्पष्ट वर्गों— पूँजीवादी तथा श्रमजीवी— में विभक्त हो जायेगा और समस्त अन्य वर्ग लुप्त हो जायेंगे या कम से कम उनका महत्त्व समाप्त हो जायेगा। यद्यपि बड़े पैमाने के व्यापार का महत्त्व बढ़ा है और उससे छोटे पैमाने के व्यापार का महत्त्व घटा है और धन की प्रवृत्ति पहिले से थोड़े से हाथों में केन्द्रित हो जाने की दिखाई देती है किन्तु इससे छोटे पूँजीपतियों की संख्या नहीं घटी, क्योंकि परिमित दायित्व के मिश्रित पूँजी के व्यापार ने लाखों व्यक्तियों के लिये हिस्से लेना और उसके द्वारा एक प्रकार से पूँजीपति बन जाना सम्भव बना दिया है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि औद्योगिक मजदूर दिन प्रतिदिन दरिद्र होते जाने के बजाय, जैसाकि मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी, पूँजीपतियों की समृद्धि में भागीदार बन रहे हैं; उनके रहने सहने का स्तर आज उससे कहीं ऊँचा है जितना कि कोई एक सौ वर्ष पूर्व उनके पूर्वजों का था। इस प्रकार श्रमिक वर्ग के बढ़ते हुए संकट और पतन का नियम खण्डित हो गया है। इससे भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि समाज में दो सर्वथा परस्पर-विरोधी वर्गों में विभक्त हो जाने की प्रवृत्ति दिखलाई नहीं पड़ती; छोटे व्यापारी, दुकानदार, और निवृत्ति-प्राप्त व्यापारी, शिल्पकार तथा किसान धीरे-धीरे मजदूर नहीं बनते जा रहे जैसी कि मार्क्स को आशा थी; पुराने मध्य वर्ग का स्थान एक नवीन मध्य वर्ग ले रहा है। यह नवीन मध्य वर्ग, जिसमें प्रोफेसर, वकील, डाक्टर, व्यापार-प्रबन्धक, तथा प्रशासकगण सम्मिलित हैं, श्रमजीवी-वर्ग की अपेक्षा पूँजीवादी वर्ग से अधिक सहानुभूति रखता है, क्योंकि उसकी समृद्धि पूँजीवादी वर्ग की समृद्धि से सम्बद्ध है। इस प्रकार मार्क्स की इस भविष्यवाणी के विपरीत कि समाज स्पष्ट रूप से दो वर्गों में विभक्त हो जायेगा हम अपने बीच में कई वर्ग पाते हैं। पूँजीवादी तथा औद्योगिक श्रमजीवी-वर्ग के अतिरिक्त बड़े और छोटे भूमिपति, खेतिहर मजदूर तथा नवीन उदीयमान मध्यवर्ग भी हैं।

इसके अतिरिक्त एक यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि मजदूरों की संख्या में भारी वृद्धि हुई है, तथापि उनमें उसके अनुरूप श्रमजीवीय वर्ग-चेतना नहीं आई है। जो लोग वेतन के लिये कार्य करते हैं उनका एक काफी बड़ा भाग ऐसा है जिनमें और औद्योगिक मजदूरों में कुछ भी सामान्य नहीं है। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, शिक्षक, क्लर्क, सरकारी नौकर, शिल्पकार, प्रबन्धक इत्यादि, जिनसे कि श्रमजीवी-वर्ग से सहानुभूति रखने की आशा की जा सकती थी, उनके उद्देश्य के प्रति कोई उत्साह नहीं दिखाते बल्कि उनकी सहानुभूति दूसरे पक्ष अर्थात् पूँजीपतियों के साथ है। उनमें से अधिकतर पूँजीवादियों के विचारों को ही प्रतिबिम्बित करते हैं

और अपना स्थान ऊँचा उठाने की और कभी शिखर पर पहुँचने की आशा करते हैं।

ये सब बातें इसलिये हुई हैं क्योंकि पूँजीवाद ने अपने को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल ढालने की विलक्षण शक्ति का परिचय दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें सुधार की क्षमता उससे कहीं अधिक है जितनी कि मार्क्स तथा उसके अनुयायी उसमें मानने को तैयार थे। अपनी इसी शक्ति के कारण वह आज तक जीवित रहा है। यह कहना गलत न होगा कि १९वीं शताब्दी का पूँजीवाद जिसके विरुद्ध मार्क्स ने रोष प्रकट किया था अब समाप्त हो गया है और उसका स्थान एक नवीन पूँजीवाद ने ले लिया है। सम्भवतया इसी कारण श्रमजीवी क्रांति, जिसको कि मार्क्स तथा एंजिल्स बहुत निकट समझते थे, सबसे अधिक उद्योग-प्रधान देशों में, जहाँ कि उसके होने की आशा थी, अभी तक भी नहीं हुई है। क्रांति हुई अवश्य, किन्तु वह वहाँ हुई जहाँ कि उसके होने की सबसे कम आशा थी, और एक प्रकार से वह मार्क्स की धारणा की क्रान्ति से भिन्न थी। 'मैनीफैस्टो' में जो क्रान्ति-पथ निर्धारित किया गया है, यह सब उससे भिन्न है।

मार्क्सवादी सिद्धान्त के विरुद्ध हमारी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण आपत्ति यह है कि श्रमजीवी-वर्ग की अन्तिम विजय और उसकी तानाशाही की स्थापना की भविष्यवाणी का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। यह मार्क्स की कामना और आशा की अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है, तथ्यों पर आधारित तर्क-सम्मत परिणाम नहीं। यदि हम मार्क्स की इस बात को भी मान लें कि पूँजीवाद का विनाश निश्चित है तो भी उसका आवश्यक परिणाम साम्यवाद की विजय ही तो नहीं हो सकता। इतिहास एक आवृत्त प्रणाली नहीं है; उसमें विकल्प के लिये भी स्थान है। जैसा कि लास्की कहता है: "हो सकता है कि पूँजीवाद के विनाश का परिणाम साम्यवाद न हो, बल्कि अराजकता हो जिसमें से एक ऐसी तानाशाही का जन्म हो सकता है जिसका कि सिद्धान्त में साम्यवादी आदर्शों से कोई सम्बन्ध न हो।"*

ऐसा ही इटली में हुआ था जहाँ कि कमजोर संसदीय शासन के पतन के उपरान्त एक फासिस्ट तानाशाही स्थापित हुई जो शान्ति स्थापित करने में सफल हुई। जर्मनी में भी वाइमर गणतन्त्र के नष्ट होने पर हिटलर की अधीनता में नाजी तानाशाही का उदय हुआ, साम्यवाद की स्थापना नहीं। इसके अतिरिक्त मार्क्स ने कहीं भी यह सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया कि श्रमिक उस 'रोल' (Role) के योग्य भी है जोकि उसे दिया गया है। हो सकता है कि पुरानी व्यवस्था के नष्ट हो जाने पर श्रमिक-वर्ग में प्रशासन चलाने की योग्यता न हो। यह भी सम्भव है कि "पूँजीवाद के विनाश के फलस्वरूप एक नवीन वर्ग का आविर्भाव हो जोकि निश्चित

* "The breakdown of capitalism might result not in communism, but in the anarchy from which there might emerge some dictatorship unrelated in principle to communist ideals."

Laski: *Communism,* pages 87–88.

रूप से न तो पूँजीवादी हो और न श्रमजीवी। मानव की पूर्णता को प्राप्त करने की क्षमता में विश्वास के कारण, जोकि उसे १८वीं शताब्दी से उत्तराधिकार में मिला था, उसका यह विश्वास बन गया कि एक वर्ग-हीन समाज जोकि नैतिक दृष्टि से मूल रूप से वांछनीय ही है, निश्चित रूप से सामाजिक विकास की अगली अवस्था होगी, जबकि एक क्रांतिकारी और आन्दोलनकर्त्ता होने के नाते उसने श्रमिक-वर्ग को तात्कालिक भविष्य में अपने उद्देश्य की सिद्धि का एकमात्र उपलब्ध शासन समझा, और इस प्रकार उसे अन्तिम 'नकारीकरण का नकारीकरण' समझने लगा।"†

अन्तिम बात यह कि मार्क्स का यह परिणाम कि श्रमिक-वर्ग की विजय के फलस्वरूप एक वर्ग-हीन समाज की स्थापना हो जायेगी, सही नहीं दिखाई पड़ता। हो सकता है कि एक सामान्य शत्रु, अर्थात् पूँजीवादी वर्ग, के विरुद्ध संघर्ष का दबाव समाप्त होने पर श्रमिकों की एकता भी भंग हो जाये और उनमें विभिन्न वर्ग तथा विरोध उत्पन्न हो जायें। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त हमारे देश में कांग्रेस में जिस प्रकार विभिन्न दल और गुट उत्पन्न हुए वह इस बात का सूचक है कि श्रमिक-वर्ग की एकता का क्या हो सकता है। यदि श्रमिक-वर्ग की एकता नष्ट हो गई और उसमें विभिन्न विरोधी गुट उत्पन्न हो गये तो द्वन्द्व चलता रहेगा और वर्ग-संघर्ष एक नवीन रूप धारण कर लेगा। यह मान बैठना, कि श्रमजीवी-वर्ग की विजय पर द्वन्द्व रुक जायेगा, तर्कहीन है।

प्रो० कोल का विचार है कि 'कम्यूनिस्ट मैनीफैस्टो' में श्रमजीवी-वर्ग की क्रांति के मार्ग को निर्धारित करते समय मार्क्स पर इंगलैंड की तत्कालीन परिस्थितियों का बड़ा प्रभाव पड़ा। वहाँ उत्पादन के साधनों में क्रान्ति ने उत्पादन शक्ति को बहुत अधिक बढ़ा दिया था, किन्तु धन में वृद्धि से श्रमिकों को कोई आराम और सुख प्राप्त न हुआ, इसके विपरीत उससे उनके दुःख और अरक्षा में बहुत वृद्धि हो गई। अपने संकट के कारण श्रमिक ट्रेड यूनियन बनाने के लिये प्रेरित हुए और उन्होंने १८४५ में रॉबर्ट ओवन के नेतृत्व में 'Grand National Consolidated Trades Union' का निर्माण किया। इस आन्दोलन की विफलता के बाद 'चार्टिस्ट' आंदोलन का उदय हुआ जिसमें घोर संकट के कारण भूख विद्रोह के समस्त चिह्न मौजूद थे। ऐसी परिस्थितियों में मार्क्स का इस परिणाम पर पहुँचना स्वाभाविक था कि पूँजीवाद के विकास मजदूरों का वेतन कम होते-होते इतना रह जाता है जितना कि

† "........... negation of capitalism may lead to the emergence of a new class which is strictly speaking neither capitalist nor proletarian. The belief in human perfectibility that he had inherited from the eighteenth century led him to believe that a classless society, inherently desirable— on ethical grounds— must be the next stage in social evolution, while as a revolutionary and agitator he saw in the working class movement the only available instrumeut for the achievement of this aim in the immediate future, and was thus induced to regard it as the final 'negation of the negation'."

—Carew Hunt : *op. ct.*, page 42.

जीवित भर रहने के लिये पर्याप्त हो, और उससे छोटे-छोटे स्वतन्त्र निर्माताओं का उद्योग समाप्त हो जाता है। उसके लिये यह विश्वास करना भी स्वाभाविक ही था कि पूर्ण रूप से असन्तुष्ट तथा रुष्ट मजदूर एक जोरदार राजनीतिक जन-आन्दोलन उत्पन्न करेंगे जिसके फलस्वरूप पूँजीवादी प्रणाली का अन्त हो जायेगा। यदि 'मैनीफैस्टो' दस वर्ष बाद भी लिखा जाता जबकि स्थितियाँ बदल चुकी थीं 'और 'चार्टिस्ट आन्दोलन' भंग हो चुका था या मार्क्स बदली हुई स्थितियों के प्रकाश में 'मैनीफैस्टो' में संशोधन कर देता, तो सम्भवतया वह भिन्न परिणामों पर पहुँचता। इसलिये हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मजदूरों के बढ़ते हुए संकट की बात और पूँजीवाद के निश्चित पतन और साम्यवादी समाज के निश्चित आविर्भाव की धारणा (जैसी कि 'मैनीफैस्टो' में पाई जाती है) तथ्यों के अनुसार नहीं है। मार्क्स के बाद पूँजीवाद के विकास ने यह असंदिग्ध रूप से सिद्ध कर दिया है कि मार्क्स की शिक्षाओं में संशोधन की आवश्यकता है। आधुनिक परमाणु युग में वह कोई अच्छा पथ-प्रदर्शक नहीं है जिसके ऊपर हम पूर्ण रूप से निर्भर कर सकें।

मार्क्स के राज्य के सिद्धान्त की समालोचना— द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा मानव इतिहास को समझने की एक कुंजी के रूप में वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का हमने जो खण्डन किया है उसमें मार्क्स के राज्य-विषयक सिद्धान्त का, जोकि उन्हीं की एक उप-सिद्धि है, खण्डन भी निहित है। क्योंकि हम पूँजीपति और श्रम के हितों को एक दूसरे का इतना घोर विरोध नहीं समझते जितना कि मार्क्स समझता था, और हमारी धारणा है कि यदि हम सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिये गांधीवादी पद्धति अपनायें तो उन दोनों में सामंजस्य और सहयोग स्थापित हो सकता है, इसलिये हम इस धारणा को स्वीकार नहीं कर सकते कि राज्य वर्ग-प्रभुत्व तथा दमन का एक यन्त्र है। हमारा विचार है कि परम्परावादी अथवा प्राचीन सिद्धान्त राज्य के मूल स्वरूप का मार्क्स की अपेक्षा अधिक पूर्ण और अधिक सच्चा वर्णन करता है। मार्क्सवादी सिद्धान्त एक रोग-ग्रस्त राज्य का अध्ययन करता है, यह उसके वास्तविक निर्माण की व्याख्या नहीं करता; यह राज्य के सर्वोत्तम रूप का विवरण नहीं देता। निस्संदेह यह तो सत्य है कि कभी-कभी शासकों ने एक सीमित समूह या वर्ग विशेष के संकुचित स्वार्थों की सिद्धि का प्रयास किया है, किन्तु ऐसे उदाहरणों के आधार पर राज्य के सिद्धान्त का निर्माण करना उतना ही गलत होगा जितना कि चोर, डाकुओं, हत्यारों और अन्य अपराधियों के कुकृत्यों के आधार पर मानव स्वभाव के सिद्धान्त की रचना करना। प्राचीन तथा मध्यकालीन राजाओं और सम्राटों को एक आर्थिक वर्ग का प्रतिनिधि समझना और यह मान लेना कि वे जान-बूझ कर उस वर्ग के स्वार्थों की साधना करते थे गलत तथा अनुचित होगा। उनमें से कुछ तो अपनी न्यायप्रियता तथा उदारता के लिये प्रसिद्ध रहे हैं और उन्होने सम्पूर्ण समाज की भलाई के लिये शासन चलाया है।

जिस समय इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया था उस समय तो चाहे

इसका कुछ भी औचित्य रहा हो (यह मानना पड़ेगा कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राज्य अपनी 'लैसे-फेयर' की नीति के कारण बहुत बड़ी सीमा तक पूँजीपतियों के पक्ष में था), किन्तु बीसवीं शताब्दी के मंगलकारी राज्य पर उसे आरोपित नहीं किया जा सकता। द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् ब्रिटेन में श्रम दल (Labour Party) की सरकार बनी और उसने बहुत से समाजवादी कानून बनाये। किन्तु इसने शक्ति पूँजीपतियों के ऊपर श्रमिकों की विजय के फलस्वरूप प्राप्त नहीं की और शक्ति प्राप्त करके इसने पूँजीवादी राज्य को नष्ट नहीं किया जैसा कि साम्यवादियों ने रूस में किया। लोकतन्त्री साधनों से प्रगतिशील तत्त्वों की विजय के फलस्वरूप अन्य देशों में भी श्रम सरकार बनीं और पूँजीपतियों ने उनका ऐसा कोई विरोध नहीं किया जैसा करने की मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी। हमारे अपने देश में भी जहाँ कि औद्योगिक मजदूर यहाँ की कुल जनसंख्या का एक नगण्य भाग हैं, शासक दल जोकि समाजवाद पद्धति पर समाज का निर्माण करने के लिये प्रतिज्ञाबद्ध है और जो समाजवादी कानून बना रहा है, श्रमजीवी-वर्ग का दल नहीं है। कई देशों में, जिनमें हमारा देश भी सम्मिलित है, समाजवाद द्रुतगति से आ रहा है, या धीरे-धीरे, इस बात से हमारा यहाँ कोई सम्बन्ध नहीं; हमारा सम्बन्ध तो केवल इस बात से है कि ये उदाहरण मार्क्स के इस सिद्धान्त को असत्य सिद्ध कर देते हैं कि राज्य मूल रूप से वर्ग-दमन और वर्गशोषण का यन्त्र है।

इंगलैंड, भारत तथा अन्य देशों में जिस प्रकार पूँजीवाद के स्थान में समाजवाद आ रहा है वह इस बात का प्रमाण है कि इस ध्येय की पूर्ति के लिये एक श्रमजीवीय क्रांति अपरिहार्य नहीं है; परिवर्तन शन्तिपूर्ण तथा सांविधानिक उपायों द्वारा भी हो सकता है। और न ही पुरानी संस्थाओं—संसद, नागरिक सेवा (Civil Service), पुलिस, सेना इत्यादि—को नष्ट करना ही पूर्ण रूप से आवश्यक है। जारवादी रूस जैसे सैनिक तथा स्वेच्छाचारी राज्य में ऐसा करना भले ही आवश्यक हो, किन्तु इंगलैंड जैसे देश में, जहाँ कि लोकतन्त्र की इतनी गहरी जड़ें हैं, ऐसा करना आवश्यक नहीं है। हमें आशा है कि मार्क्स और उसके साम्यवादी अनुयायियों की धारणा का युद्ध हमारे देश में आवश्यक नहीं होगा और समाजवादी पद्धति के समाज की स्थापना सांविधानिक उपायों से ही हो जायेगी, यद्यपि वह क्रमिक रूप से होगी।

अपनी दिलचस्प पुस्तक 'Today's Isms' में प्रो० विलियम एबिन्स्टाइन कहते हैं कि मार्क्स उन महान् क्रांतिकारी परिवर्तनों के महत्त्व को समुचित रूप से न समझ सका जोकि अमरीका में राष्ट्रपति जैक्सन द्वारा और इंगलैंड में १८३२ के अधिनियम द्वारा निर्वाचन सम्बन्धी सुधार द्वारा हुए हैं। इन दोनों देशों में जो परिवर्तन हुये वे केवल राजनीतिक न थे; उन्होंने इन राष्ट्रों में सामाजिक तथा आर्थिक शक्ति के वितरण की दिशा में एक स्थायी परिवर्तन करना आरम्भ कर दिया। यह एक ऐसा मूल परिवर्तन था जैसा कि मार्क्स लाना चाहता था। आगे चलकर एबिन्स्टाइन

कहता है : "यदि मार्क्स राजनीतिक कारक को उचित महत्त्व देता है, यदि वह इंगलैंड में 'सुधार अधिनियम' और अमरीका में जैक्सन द्वारा किये गये क्रांतिकारी परिवर्तनों के महत्त्व को समझ पाता, तो वह यह जान सकता था कि उन देशों में जिनमें कि लोकतन्त्री परम्परायें इतनी सबल पाई जाती हैं कि वहाँ महत्त्वपूर्ण सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन भी बिना गृह-युद्ध के हो सकते हैं, समाजवाद की स्थापना भी बिना हिंसा के हो सकती है। परन्तु परिवर्तन की प्रक्रिया में सांस्कृतिक तथा राजनीतिक कारकों के महत्त्व को स्वीकार करने का अर्थ होता मार्क्स के इस आधार-बिन्दु का परित्याग कि इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है और शासक-वर्ग अपने हितों की रक्षा के लिए अन्त तक लड़ते हैं।"*

यदि समाजवाद का अर्थ एक ऐसी नवीन सामाजिक व्यवस्था से है जिसमें कि राष्ट्रीय सम्पत्ति का अधिक न्यायपूर्ण वितरण होगा और जहाँ मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण न होगा और जहाँ जीवन का आधार सहयोग, प्रेम और बलिदान की भावना होगी, तो सर्वोदय आन्दोलन, जिसका सूत्रपात गाँधी जी ने किया था और जिसे आचार्य विनोवा भावे ने मूर्त्त रूप दिया है, इस बात का सबसे अधिक निश्चित प्रमाण है कि उसकी (समाजवाद की) प्राप्ति पूर्ण रूप से शांतिमय तथा अहिंसात्मक साधनों से हो सकती है। शांतिपूर्ण परिवर्तन का फल अधिक स्थायी होगा। सामाजिक कायाकल्प के लिए एक हिंसात्मक क्रान्ति अनिवार्य नहीं है ; वर्ग-युद्ध समाजवाद का कोई आधारभूत अंग नहीं है। महात्मा बुद्ध और महात्मा ईसा द्वारा की गयीं महान् क्रांतियाँ इसी सत्य के अन्य उदाहरण हैं।

मार्क्स के राज्य तथा क्रांति के सिद्धान्त की समालोचना समाप्त करके अब हम उसके मूल्य के सिद्धान्त पर आते हैं।

मार्क्स का मूल्य का सिद्धान्त—यद्यपि पूँजीवाद के विरुद्ध मार्क्स की सारी आलोचना का आधार उसका मूल्य तथा अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त है, तथापि उसकी समीक्षा में हम अधिक समय व्यय नहीं करना चाहते; वर्ग-संघर्ष, पूँजीवाद के निश्चित पतन और समाज की निश्चित विजय के सम्बन्ध में उसकी धारणाओं को उसके मूल्य के सिद्धान्त के बिना भी समझा जा सकता है और उनकी समीक्षा

* "If Marx had accorded the political factor its due weight, if he had fully grasped the importance of the Reform Act in England and of the Jacksonian revolution in the United States, he might have realized that socialism, too, might be accomplished without violence in countries that possessed democratic traditions strong enough to absorb far-reaching social and economic changes without resorting to civil war. A recognition of the cultural and political factors in the equation of social change, would have amounted, however, to a virtual abandonment of the central position of Marx: that history is the history of class-wars and that ruling classes defend their position to the bitter end."
—Ebenstein : *Today's Isms*, page 11.

की जा सकती है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि बहुत से अर्थशास्त्रियों का विश्वास है, यह असत्य है।

मार्क्स के मूल्य के सिद्धान्त के विषय में याद रखने के लिये मुख्य बात यह है कि यह मूल्य (Value) के अन्य सिद्धान्तों की भाँति कीमतों (Prices) का सिद्धान्त नहीं है। यह इस बात की व्याख्या नहीं करता कि जो कीमतें हैं वे क्यों हैं और उनमें उतार-चढ़ाव क्यों होता रहता है। यह उत्पादन की पूँजीवादी प्रणाली के अन्तर्गत पूँजी द्वारा श्रम के शोषण का सिद्धान्त है; इसलिये यह केवल पूँजीवादी प्रणाली पर लागू होता है। इसका मुख्य उद्देश्य यह दिखाना है कि पूँजीपति श्रमिक वर्ग के परिश्रम पर सुखी रहता है और उनकी सहायता से उत्पन्न किये हुए धन के अधिकांश से उन्हें वंचित कर देता है।

मार्क्स कहता है कि एक वस्तु के दो भिन्न प्रकार के मूल्य होते हैं— एक प्रयोग मूल्य और दूसरा विनिमय मूल्य। एक व्यक्ति रोटी, मक्खन तथा कपड़ा इस लिये खरीदना चाहता है, क्योंकि इन वस्तुओं का उसके लिये कुछ प्रयोग-मूल्य है। प्रयोग-मूल्य व्यक्ति-व्यक्ति के लिये भिन्न-भिन्न होता है। मदिरा तथा मांस का कुछ व्यक्तियों के लिये बहुत बड़ा प्रयोग-मूल्य होता है, कुछ के लिये बिल्कुल नहीं होता। एक ही समय एक ही व्यक्ति के लिये कपड़े का प्रयोग-मूल्य रोटी से अधिक हो सकता है और दूसरे समय कम हो सकता है। एक वस्तु का विनिमय मूल्य आम-तौर से कीमत द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है और एक समय में समस्त व्यक्तियों के लिये सामान्यतया एक ही होता है। मार्क्स के अनुसार यह सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम की उस मात्रा द्वारा निर्धारित होता है जोकि उसके उत्पन्न करने के लिये आवश्यक होती है और उसकी मात्रा विनिमय की प्रक्रिया द्वारा निर्धारित होती है। यदि किसी वस्तु की पूर्ति सीमित होती है और उसकी मांग अधिक होती है, तो उसका विनिमय मूल्य बढ़ जाता है। इसमें तथा उत्पन्न करने के लिये सामाजिक रूप से उपयोगी श्रम के बीच में जो अन्तर होता है वह अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) है जिसको पूँजीपति हड़प लेता है। यदि एक वस्तु की मांग और पूर्ति बराबर-बराबर भी होती है तो भी उसमें से कुछ अतिरिक्त मूल्य निकलता है। यह इस प्रकार से होता है: एक श्रमिक दस घण्टे काम करके एक वस्तु को उत्पन्न करता है। मार्क्स की धारणा थी कि इस समय में अपने श्रम से उसने जो मूल्य उत्पन्न किया है उसका पूरा प्रतिकार उसे नहीं मिलता; मजदूरी के लौह नियम के अनुसार उसे केवल उतनी मजदूरी दी जाती है जोकि उन्हें जीवित रखने भर को ही पर्याप्त हो। यदि हम यह मान लें कि प्रतिदिन छः घण्टे का कार्य उतना उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त है जोकि श्रमिक तथा उसके परिवार को जीवित रखने के लिये पर्याप्त हो तो शेष चार घन्टों में उत्पन्न किया हुआ मूल्य अतिरिक्त मूल्य होता है। यह मालिक की जेब में जाता है क्योंकि श्रमिक मालिक के लिये काम कर रहा है, अपने लिये नहीं। मार्क्स का सिद्धान्त इस मान्यता के ऊपर आधारित है कि

श्रमिक सदैव अपनी मजदूरी से अधिक धन उत्पन्न करता है। पूँजीवादी प्रणाली में श्रमिकों के हाथ में उत्पादन के यन्त्र नहीं होते; इस पद्धति के इस अन्तर्हित दोष के कारण अतिरिक्त मूल्य को वह पूँजीपति ले लेता है जोकि उत्पादन के यन्त्र और कच्ची सामग्री देता है। मार्क्स के मूल्य तथा अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की कोई विस्तृत समीक्षा करना आवश्यक नहीं; इसका महत्त्व एक आर्थिक सत्य की अपेक्षा एक राजनीतिक तथा सामाजिक नारे के रूप में ही अधिक है। अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से यह सिद्धान्त सही नहीं है। यह गलत मान्यताओं के ऊपर आधारित है। यह कहना सत्य नहीं है कि श्रम (जिससे मार्क्स का अभिप्राय, यदि शोषण के तथ्य को उससे नियमित करना है, मजदूरी के लिये श्रम से ही होगा) ही मूल्य का उत्पादन करने वाला एकमात्र साधन है। यह तो निःसन्देह सत्य है कि बिना श्रम के पूँजी अनुत्पादक रहती है; मूल्य का उत्पादन यह श्रम की सहायता से ही कर सकती है। परन्तु यह भी उतना ही अधिक सत्य है कि बिना पूँजी के श्रम भी उत्पादन नहीं कर सकता। जोखिम उठाने वाले, कारखाने के प्रबन्धक और बुद्धि से काम करने वाले अन्य व्यक्तियों का श्रम भी उतना ही आवश्यक है जितना कि दक्ष अथवा अदक्ष श्रमिकों का। लास्की का कहना है कि अर्थशास्त्री मार्क्स के लिए तो किसी वस्तु के विनिमय मूल्य में वह समस्त प्रयास सम्मिलित हैं जोकि उसके उत्पादन में सामाजिक रूप से आवश्यक हैं चाहे वह प्रयास प्रबन्धक का हो, पूँजी-पतियों का हो अथवा शारीरिक या बौद्धिक श्रमिक का हो; परन्तु वह यह स्वीकार करता है कि आन्दोलनकर्त्ता मार्क्स ने कभी-कभी ऐसे वाक्यों का प्रयोग किया है जिनसे कि उसका विश्लेषण इससे अधिक संकुचित प्रतीत होने लगता है। किन्तु यदि हम किसी वस्तु को उत्पन्न करने के लिए 'सामाजिक रूप से आवश्यक' श्रम में प्रबन्धक, पूँजीपति, इत्यादि का योग भी सम्मिलित कर लेते हैं तो पूँजीवाद का अन्यायपूर्ण और शोषक स्वरूप लुप्त हो जाता है और पूँजीवादी पर प्रहार करने के लिए मार्क्स के हाथ में कोई शस्त्र नहीं रह जाता। दूसरी बात यह है कि 'मजदूरी का लौह नियम' जोकि उसने रिकार्डो से उधार लिया था सही नहीं है। एक श्रमिक की 'श्रम-शक्ति' एक मेज, कुर्सी की भाँति एक वस्तु नहीं है जिसकी कीमत उसके उत्पादन व्यय से निर्धारित होती है। 'श्रम-शक्ति' को ऐसा कह कर मार्क्स ने मूल्य और अतिरिक्त मूल्य की अत्यन्त अमूर्त्त धारणाओं के रूप में विवेचना की है; उसके हाथों में ये कोई ठोस और मूर्त्त चीजें नहीं रहीं, बल्कि विशुद्ध अमूर्त्त कल्पनायें बन गईं। मार्क्स के मूल्य के सिद्धान्त को ठुकराते हुए भी हम यह मान सकते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था में श्रमिक को अपने श्रम का समुचित पुरस्कार नहीं मिल पाता। मार्क्स का यही सार है, मूल्य का सिद्धान्त नहीं।

मार्क्स तथा प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संघ (First International Union)—यहाँ पर हम उस प्रभाव का और उल्लेख करेंगे जोकि मार्क्स ने १८६४ में स्थापित हुये प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संघ के कार्यों में भाग लेकर समाजवाद के व्यावहारिक आन्दोलन पर

डाला। इसके बिना मार्क्स के सिद्धान्त की उपरोक्त समीक्षा अपूर्ण ही रहेगी। जैसा कि मैक्स बियर कहता है, उसकी वास्तविक देन 'अर्थशास्त्र में नहीं है, समाजशास्त्र में भी नहीं है, बल्कि इस बात में है कि उसने श्रमिक-वर्ग के आन्दोलन के महत्त्व को समझा।' श्रमजीवी-वर्ग के 'रोल' और महत्त्व को समझने वाला मार्क्स सबसे पहिला समाजवादी था। जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं, 'मार्क्स ने साम्यवाद को एक अस्त-व्यस्त अवस्था में पाया और उसने उसे एक आन्दोलन के रूप में छोड़ा।' उसने समाजवाद को एक महान् शक्ति बना दिया।

'श्रमिक अन्तर्राष्ट्रीय संघ', अथवा प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना लन्दन में अंग्रेज ट्रेड यूनियन नेताओं, रैडीकल फ्रेंच श्रम समूह के नेताओं, तथा अन्य यूरोपीय देशों के राजनीतिक शरणार्थियों के संयुक्त प्रयास द्वारा हुई थी। मार्क्स के उद्घाटन भाषण (Inaugural Address) से ऐसा प्रतीत होता है कि इसका मुख्य उद्देश्य तत्कालीन आर्थिक प्रणाली के विनाश के लिये संसार भर के श्रमिकों को संगठित करना था। मैजिनी के एक सहायक तथा ओवन के एक अनुयायी द्वारा सिद्धान्तों तथा नियमों के मसविदों को निरस्त करके इसने मार्क्स द्वारा तैयार की गई सिद्धान्तों और नियमों की उद्घोषणा को स्वीकार किया जोकि उसके 'श्रमिक वर्गों को सम्बोधन' (Address to the Working Classes) के रूप में थी। उसके सिद्धान्तों की स्वीकृति से मार्क्स का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया; उसे संघ की कार्यकारिणी का सदस्य बना दिया गया।

अपने उक्त 'सम्बोधन' में मार्क्स ने मजदूरों को यह महत्त्वपूर्ण बात समझाने की चेष्टा की कि वे अपनी मुक्ति स्वयं ही और अपने प्रयत्नों द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। जब तक कि उत्पादन के साधनों का स्वामित्व व्यक्तिगत हाथों में है तब तक मशीनों के सुधार, उद्योग में विज्ञान के प्रयोग और उत्पादन कला में किसी भी सुधार से श्रमिकों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हो सकता। इसलिये उनका अन्तिम लक्ष्य पूँजीवाद का विनाश होना चाहिये। इस ध्येय की पूर्ति के लिये उन्हें सर्वप्रथम अपने-अपने देशों में शासन यन्त्र पर अधिकार करके उसका अपने हितों की सिद्धि के लिये प्रयोग करना चाहिये। परन्तु उन्हें याद रखना चाहिये कि श्रमिक की मुक्ति न तो एक स्थानीय समस्या है और न राष्ट्रीय। यह सम्पूर्ण विश्व के औद्योगिक रूप से उन्नत देशों की एक सामान्य सामाजिक समस्या है। 'मैनीफैस्टो' की भाँति यह 'सम्बोधन' भी संसार भर के मजदूरों को संगठित होने के आह्वान पर समाप्त होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय संघ का मुख्य उद्देश्य श्रमिकों का एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तैयार करना और उसे श्रमिक-वर्ग की क्रियाओं का शक्ति-स्रोत तथा निर्देशन-बिन्दु बनाना था। मार्क्स ने श्रमिकों को यह परामर्श दिया कि उन्हें अपने स्वतन्त्र श्रमिक संघ बनाने चाहियें, धारासभाओं में सामाजिक सुधारों और कारखानों के कानूनों की माँग करनी चाहिये तथा ऐसी कूटनीति का विरोध करना चाहिये जोकि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर

पर श्रम संगठन के मार्ग में बाधक हो। और वर्ग-संघर्ष तो उन्हें अथक रूप से करना ही था।

यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय संघ १८६५ से १८६९ तक नियमित रूप से अपने वार्षिक अधिवेशन करता रहा, और यद्यपि उसके नेताओं का विश्वास था कि श्रमिक-वर्ग की अन्तिम मुक्ति तात्कालिक औद्योगिक प्रणाली में आमूल-चूल परिवर्तन करके ही प्राप्त की जा सकती थी, तथापि इसे कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। १८६७ तक यह कोई विशिष्ट रूप से समाजवादी कार्यक्रम न अपना सका। १८६९ में बर्न अधिवेशन के तीन वर्ष पश्चात् १८७२ में हुये हेग अधिवेशन के पश्चात् इसका लगभग विघटन ही हो गया। इसके विघटन का कारण यह था कि नीति और साधनों के ऊपर इसके नेताओं में मतैक्य न था, विशेष रूप से संसदवाद के ऊपर उनमें मत-भेद था। मार्क्स तथा उसके अनुयायी संसदीय कार्यवाही का अनुमोदन करते थे; जबकि बहुत से फ्रेंच, इटालियन, स्पेनिश तथा रूसी प्रतिनिधि क्रान्तिकारी आर्थिक कार्यवाही या विद्रोह करने के लिये गुप्त षड्यन्त्रों का समर्थन करते थे। जर्मन समूह का इसकी कार्यवाहियों में अनुराग इसलिये कम हो गया क्योंकि वह अपनी उदीयमान 'सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी' की राजनीतिक क्रियाओं में दिलचस्पी लेने लगा। मार्क्स तथा बैकुनिन में, जोकि मार्क्स के केन्द्रवादी तथा अधिकार-प्रधान कार्यक्रम का विरोधी था और जो राजनीतिक कार्यवाही को बिल्कुल समाप्त कर देना चाहता था, भी घोर विरोध था। हेग कांग्रेस में बड़ी गरमागरम बहस के पश्चात् बैकुनिन को संघ से निकाल दिया गया। उसी समय जनरल काउंसिल का, जिस पर कि मार्क्स का नियंत्रण था, प्रधान केन्द्र लन्दन से हटाकर न्यूयार्क ले जाने का निर्णय किया गया। १८७६ में फिलाडेलफिया अधिवेशन में संघ ने अपने विघटन का निर्णय किया।

यद्यपि आन्तरिक विरोध तथा फ्रांस और अन्य देशों की सरकारों के, जिन्होंने उसकी क्रियाओं के ऊपर कठोर प्रतिबन्ध लगाये थे, विरोध के कारण संघ कमजोर हो गया था, तथापि श्रमजीवी-वर्ग में एकता की भावना को उत्पन्न करने के लिये इसने बहुत कुछ किया। इसके द्वारा विभिन्न देशों के बहुत से मजदूरों के प्रतिनिधि एक मंच पर आये और उनमें हितों की एकता की भावना बढ़ी। इस प्रकार इससे मजदूरों की अन्तर्राष्ट्रीय एकता परिपुष्ट हुई। इसने बहुत से देशों में समाजवादी दलों की स्थापना को भी बहुत प्रोत्साहन दिया। प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संघ के विघटित हो जाने के पश्चात् मार्क्स ने दूसरे संघ की स्थापना का प्रयत्न नहीं किया; उसने सोचा कि उसकी भावना विघटन के बाद भी जीवित थी और पहले से अधिक सबल थी। इसलिये १८८० में कुछ बेल्जियन समाजवादियों द्वारा उसे पुनर्जीवित करने के प्रयत्न का उसने विरोध किया। १८८३ में मार्क्स का देहान्त हो गया।

मार्क्स की मृत्यु के समय तक इंगलैंड, जर्मनी तथा अन्य औद्योगिक देशों में शक्तिशाली ट्रेड यूनियन स्थापित हो चुकी थी। कुछ समय तक तो उद्योग की उन्नति

हुई, किन्तु व्यापार में मन्दी आई और मजदूरों के वेतन गिरने लगे। श्रमिक-वर्ग में फिर जागृति आई और १८८९ में 'श्रमिक-वर्ग का अन्तर्राष्ट्रीय संघ' (Workers International Union) स्थापित करने का प्रयास किया गया। इसे 'द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ' कहा जाता है। अनियमित रूप से दो या तीन वर्ष पश्चात् इसकी बैठकें होती रहीं और कोई २५ वर्ष तक यह चलता रहा जब तक कि प्रथम विश्व-युद्ध आरम्भ हुआ। यह युद्ध की परीक्षा में पूरा न उतर सका, इसलिए इसका अन्त हो गया। युद्ध समाप्त होने पर लेनिन के नेतृत्व में समाजवादियों ने एक नवीन 'श्रमिक अन्तर्राष्ट्रीय संघ' की स्थापना की। इसे 'तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ' (Third International Union) अथवा कॉमिन्टर्न (Comintern) कहा जाने लगा। यह एक विशुद्ध रूप से साम्यवादी संगठन था और केवल पक्के साम्यवादी मजदूर ही उसके सदस्य हो सकते थे। जब सोवियट रूस तथा मित्र राष्ट्र मिलकर अपने सामान्य शत्रु नाजियों से लड़ने लगे तो इसे भंग कर दिया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जब साम्यवादियों तथा उसके युद्ध-कालीन मित्रों में मनमुटाव हो गया तो साम्यवादियों ने 'कामिन्फॉर्म' नामक एक नवीन अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना की। इसके विस्तार में जाना हमारे उद्देश्य के लिये अप्रासंगिक होगा।

मार्क्सवाद का सारांश— सुविधा के लिये हमने मार्क्स की शिक्षाओं को चार भागों में विभक्त किया था और प्रत्येक भाग का यथासम्भव निष्पक्ष दिग्दर्शन करने के पश्चात् हमने उसकी आलोचना की। अब पाठकों को एक अत्यन्त एकीकृत मार्क्सवादी प्रणाली का एक पूर्ण चित्र देने के लिये हम उसका एक संक्षिप्त सारांश यहाँ देना चाहते हैं।

मार्क्सवाद का केन्द्र बिन्दु यह है कि मानव समाज को समुचित रूप से समझने के लिए हमें उसे एक निरन्तर परिवर्तनशील और विकासशील चीज समझना चाहिये। एक अविरल विकास की प्रक्रिया में से गुजरते रहने के कारण उसे हम इसके सम्पूर्ण भूत इतिहास के प्रकाश में ही समझ सकते हैं। इससे मार्क्सवाद एक प्रकार का इतिहासवाद बन गया है। इसका दूसरा तथ्य यह है कि प्रत्येक ऐतिहासिक युग में समाज की आर्थिक व्यवस्था वास्तविक आधार होता है जिसके ऊपर उसका वैज्ञानिक और राजनीतिक ऊपरी ढांचा बनाया जाता है। आर्थिक व्यवस्था, जोकि किसी समाज में पाये जाने वाले उत्पादन के सम्बन्धों का योगमात्र है, उत्पादन की पद्धति में परिवर्तन के अनुसार, मानव इच्छा से स्वतन्त्र रहते हुए, विकसित होती है, यह उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की अवस्था के अनुरूप होती है। मार्क्स के शब्दों में, 'भौतिक जीवन में उत्पादन की पद्धति जीवन की सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक प्रक्रिया के सामान्य स्वरूप को निर्धारित करती है।' यह है उसकी इतिहास की भौतिकवादी अथवा आर्थिक व्याख्या। अपने इतिहास के अध्ययन से वह इस परिणाम पर पहुँचा कि उत्पादन की किसी भी प्रणाली के अन्तर्गत समाज ऐसे दो आर्थिक वर्गों में विभक्त हो जाता है जिनके हित परस्पर विरोधी होते हैं।

आर्थिक रूप से अधिक शक्तिशाली वर्ग राज्य को अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिये और कमजोर वर्ग को अपनी अधीनता में रखने के लिये एक यंत्र बना लेता है। समय आने पर पीड़ित वर्ग विद्रोह करता है और दोनों वर्गों में संघर्ष के परिणामस्वरूप एक नवीन आर्थिक व्यवस्था का आविर्भाव होता है। मार्क्स उत्पादन की एशियाई, प्राचीन, सामन्तवादी तथा आधुनिक पूँजीवादी पद्धतियों को मानव जाति के आर्थिक विकास की प्रगतिशील अवस्थायें मानता है। पूँजीवादी प्रणाली जिसके अन्तर्गत धन के उत्पादन में जबर्दस्त वृद्धि हुई है, अपनी उपयोगिता खो चुकी है और उसका विनाश निश्चित है। यह मार्क्सवाद का एक आधारभूत सिद्धान्त है कि पूँजीवाद में आन्तरिक विरोध है जोकि इसके पतन का कारण होंगे। यह उस श्रमजीवी-वर्ग को जन्म देता है जिसकी पूँजीवादी वर्ग के विरुद्ध युद्ध में अन्तिम विजय होनी निश्चित है। वर्ग-संघर्ष का अन्तिम परिणाम एक ऐसा समाज होगा जिसमें समस्त वर्ग-भेद नष्ट हो जायेंगे और इसलिए जिसमें एक विवशकारी राज्य के लिये भी कोई स्थान न होगा। मार्क्सवाद की यह एक आधारभूत धारणा है कि वर्तमान और पूँजीवाद व्यवस्था का अन्त होकर उसके स्थान में भविष्य में समाजवादी समाज की स्थापना बिना क्रांति के असम्भव है। यथासम्भव घोरतम विरोध किये बिना पूँजीपति शस्त्र नहीं डालेंगे।

मार्क्सवाद का मूल्यांकन— हम मार्क्स के सिद्धान्तों के विभिन्न अंगों की अलग-अलग समीक्षा कर चुके हैं और हमने उन्हें अमान्य पाया है। हीगल द्वन्द्ववाद को उलटा करके मार्क्स ने द्वन्द्व की सम्पूर्ण धारणा को ही निरर्थक कर दिया, उसका इतिहास का भौतिकवादी निर्वाचन और उसका वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त बहुत ही एक-पक्षीय हैं। उनमें उसने आर्थिक कारक को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है और सामाजिक समस्या की जटिलता का उचित से अधिक सरलीकरण कर दिया है; सामाजिक सम्बन्ध इतने जटिल होते हैं कि उनकी किसी भी एक कारक से व्याख्या नहीं की जा सकती। हम कह सकते हैं कि मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद को दर्शनशास्त्र तथा समाजशास्त्र दोनों ने ही गलत सिद्ध कर दिया। आज बहुत थोड़े लोग ही यह विश्वास करते हैं कि मानव इच्छा से स्वतन्त्र आर्थिक शक्तियाँ ऐतिहासिक विकास के प्रभाव को निर्धारित करती हैं। आर्थिक शक्तियों के साथ ही साथ हमें मनुष्य की आदर्श भावनाओं का प्रभाव, बुद्ध, ईसा, मौहम्मद तथा गांधी सरीखे धर्म-गुरुओं की शिक्षाओं का प्रभाव और न्याय, प्रेम, इत्यादि अमूर्त्त सिद्धान्तों का प्रभाव भी याद रखना चाहिये। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि मनुष्य एक नैतिक प्राणी है, और इस नाते वह एक नैतिक आदर्श की प्राप्ति की चेष्टा करता है; और उसका मार्ग संघर्ष कभी नहीं हो सकता। संघर्ष का कानून जंगल का कानून हो सकता है, मानव जीवन का नहीं। हम मार्क्स को इस आधार पर निरस्त करते हैं कि मनुष्य के उस उच्चतर स्वभाव के साथ, जोकि उसे प्रकृति जगत के ऊपर उठाता और उसे दैविक बनाता है, इसकी संगति नहीं बैठती।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से भी मार्क्सवाद हमें मान्य नहीं। पॉपर के शब्दों में, अपने आर्थिक इतिहासवाद के कारण मार्क्स 'इतिहास के मंच पर मानव अभिनेताओं को' चाहे वे कितने ही बड़े क्यों न हों, कठपुतली-मात्र समझता था, जोकि आर्थिक डोरियों से निर्विरोध रूप से खिचती हैं, जो ऐसी ऐतिहासिक शक्तियों के हाथ में खिलौने मात्र हैं जिनके ऊपर उनका कोई नियंत्रण नहीं है। इतिहास का मंच एक सामाजिक प्रणाली में, जिससे कि हम सब बंधे हुए हैं, बना हुआ है; यह 'आवश्यकता के राज्य में बना हुआ है'। किन्तु मनुष्य ऐतिहासिक शक्तियों के हाथों का खिलौना-मात्र नहीं है; वह इतिहास का निर्माता भी है; यदि हममें से प्रत्येक भी नहीं तो महान् व्यक्ति तो अवश्य ही इतिहास का निर्माण करते हैं। परन्तु प्रत्येक के अन्दर अपने भाग्य का निर्माण करने की शक्ति होती है। जिस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य आर्थिक शक्तियों के हाथ की कठपुतली-मात्र है वह सही नहीं हो सकता। यदि आर्थिक परिस्थितियाँ हमारे जीवन को प्रभावित करती हैं तो हम भी अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल आर्थिक पर्यावरण को ढालते हैं। मनुष्य आर्थिक परिस्थितियों की सृष्टि है, और उनका स्रष्टा भी।

पॉपर मार्क्सवाद के एक अन्य परिणाम की ओर ध्यान आकृष्ट करता है जिसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि समाज की वैधानिक और राजनीतिक संस्थायें आर्थिक आधार पर बना हुआ एक ऊपरी ढाँचा-मात्र हैं तो राजनीति तो नपुंसक बन जाती है, उसका कोई मौलिक महत्त्व नहीं रह जाता और हम कभी भी राजनीतिक कार्यवाही से आर्थिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं कर सकते। फिर तो राजनीतिक शक्ति का कार्य केवल यह देखना रह जायेगा कि वैधानिक तथा राजनीतिक संस्थाओं में आधारभूत सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तनों के अनुकूल परिवर्तन होता रहे। राजनीति को नपुंसक बतलाने वाला कोई भी सिद्धान्त तथ्यों के विरुद्ध है। आर्थिक समस्याओं के निराकरण के लिये मनुष्य ने सदैव राज्य का आश्रय लिया है। राजनीतिक शक्ति आर्थिक व्यवस्था को कहाँ तक निर्धारित कर सकती है, इसका सबसे अच्छा उदाहरण रूस है। धीरे-धीरे समाप्त होने के बजाय वहाँ राज्य पहिले से भी अधिक शक्तिशाली हो गया है और उसके कार्य दिन-प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं। इंगलैंड, आस्ट्रेलिया तथा अन्य देशों की सरकारों के समाजवादी कार्यक्रम भी इसी बात के साक्षी हैं। आजकल राजनीतिक शक्ति आधारभूत है और वह प्रत्येक वस्तु को नियन्त्रित करती है।

यह बात भी उल्लेखनीय है कि मार्क्स ने इतिहास का जो प्रयोग किया है वह बहुत सही नहीं है। वेपर कहता है कि उसका इतिहास का एशियाई अथवा आदि-कालीन, प्राचीन (यूनानी-रोमन), सामन्तवादी तथा पूँजीवादी— इन चार युगों में विभाजन मनमाना है; यह इसलिये किया गया क्योंकि द्वन्द्ववाद इसकी माँग करता था।

"आधुनिक समाजजन्मशास्त्र (Anthropology) उसके आदिकालीन साम्य-वाद के विवरण को सत्य नहीं मानता। प्राचीन संसार के विषय में उसकी धारणा का कोई औचित्य नहीं है। एन्टोनाइन्स के युग के महान् कारनामे उस समय सुविख्यात थे जबकि वह लिख रहा था। ऐसे युग के विषय में यह कहना कि ईसाई धर्म दलित श्रमजीवी-वर्ग की कुचली हुई आशाओं की अभिव्यक्ति था, कोरा प्रमाद है। ऐसे युग के नीचे स्तर से उच्चतर 'सामन्तवादी' स्तर की गति के विषय में यह कहना, कि वह केवल एक कल्पनात्मक द्वन्द्ववाद की आवश्यकताओं के अनुकूल थी, और भी बड़ा प्रमाद है। इतिहास का एक ऐसा दर्शन जोकि एक सौ वर्षों के अनुभव पर आधारित है और जो उससे पहिले हजारों वर्षों के अनुभव की अवहेलना करता है, बहुत अधिक सन्तोषजनक नहीं होगा।"*

हम पहिले ही देख चुके हैं कि इस परिणाम पर पहुँचने में कि कमजोर आर्थिक वर्गों के हित में सामाजिक तथा आर्थिक शक्ति के वितरण में स्थायी परि-वर्तन आने के लिये क्रान्ति ही एकमात्र उपाय है, मार्क्स इंगलैंड के १८३२ के 'सुधार अधिनियम' और अमरीका में जैक्सन द्वारा किये गये परिवर्तनों के वास्तविक महत्त्व को न समझ सका। पूँजीवाद से समाजवाद पर शान्तिमय अवस्थान न केवल सम्भव है, वरन् कई देशों में सचमुच हो रहा है। अत्यन्त विध्वंसक वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का उपदेश देने के बजाय शान्तिपूर्ण परिवर्तन के लिये कार्य करना मानवता तथा नैतिकता के नियमों के अधिक अनुकूल है।

एक अन्य कारण से भी हम हिंसात्मक क्रान्ति को नवीन समाजवादी समाज की स्थापना का एक उपयुक्त साधन नहीं समझ सकते। समाजवाद की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि एक समाज के घटकों में परस्पर साहचर्य की भावना तथा सर्व-हित की कामना हो, और वे समाज सेवा की भावना से प्रेरित हों, अपने निजी स्वार्थ से नहीं। वर्ग-संघर्ष का नारा और हिंसात्मक वृत्तियों को प्रोत्साहन क्या मनुष्य को ऐसा दृष्टिकोण दे सकेंगे? हमें संदेह है। हिंसा के दीर्घकालीन प्रयोग के फल-स्वरूप सबल का शासन स्थापित होगा, विवेक का नहीं। समाज में आत्म-बलिदान की भावना के प्रसार में इससे बाधा पड़ेगी। रूस से बॉलशेविक क्रान्ति ने जारों के आततायीयंत्र के स्थान में साम्यवादियों का आततायीयंत्र स्थापित कर दिया जिसमें समाजवाद के वास्तविक उद्देश्य भुला दिये गये हैं। हो सकता है कि मार्क्स के हृदय में दरिद्र और दलित के लिये सच्चा प्रेम और सहानुभूति हो किन्तु यह बहुत कम सम्भव है कि उत्तर क्रान्तिकाल के शासक भी उतने ही निष्काम हों जितना कि मार्क्स था; सम्भावना यह है कि वे महत्त्वाकांक्षी और शक्ति-लोलुप होंगे तथा अपनी स्थिति को बनाये रखने का प्रयास करेंगे। परन्तु वे अपनी शक्ति-लोलुपता को क्रान्तिकारी विचारधारा के आवरण में छिपायेंगे। रूस में जो कुछ हुआ है वह इसका साक्षी है। इन कारणों से हम पॉपर के इस कथन से पूर्ण रूप से सहमत हैं कि व्यावहारिक

* Wayper: *Political Thought,* page 216.

राजनीति के दृष्किोण से हिंसात्मक क्रांति की भविष्यवाणी मार्क्सवाद में सम्भवतया सबसे अधिक हानिकारक तत्त्व है। प्रो० जोड भी ऐसे ही परिणाम पर पहुँचता है। वह कहता है : "यह मानने के लिये पर्याप्त कारण दिखलाई पड़ता है कि विकासवादी समाजवादियों के अभीष्ट क्रमिक सुधार क्रांति और वर्ग-संघर्ष की अपेक्षा अधिक स्थायी प्रगति ला सकते हैं, यद्यपि वे कम चकित करने वाले होंगे।"*

अन्त में, यह बात भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि मार्क्स ने फोरियर और ओवन सरीखे व्यक्तियों के सिद्धान्तों की इस आधार पर खिल्ली उड़ाई है कि वे कोरे कल्पना-वादी थे, किन्तु मार्क्स का एक वर्ग-हीन और राज्य-हीन समाज की स्थापना का सपना भी कुछ कम कल्पनावादी नहीं है। यह उतना ही उसकी कल्पना की सृष्टि है जितनी कि 'फैलेंक्स' की धारणा फोरियर की और 'हारमनी हाल' की धारणा ओवन की कल्पना की उपज थी। मार्क्स ने कहीं भी यह दिखलाने का प्रयास नहीं किया कि वर्ग-हीन समाज ऐतिहासिक विकास की आवश्यक उत्पत्ति है। स्वयं उसके द्वन्द्ववाद को भी एक अनुभूति-प्रधान सामान्यकरण नहीं समझा जा सकता; वह हीगलवाद का एक संशोधित रूप था। मार्क्स के कल्पनावाद के दो ऐसे दोष पाये जाते हैं जिनसे फोरियर तथा ओवन का कल्पनावाद मुक्त है। 'फैलेंक्स' तथा 'हारमनी हाल' की स्थापना तो मनुष्य के सचेतन प्रयास द्वारा होनी थी, किन्तु वर्ग-हीन समाज के स्वर्ग की अवतारणा अव्यक्तिगत ऐतिहासिक शक्तियों की क्रिया के फलस्वरूप होनी है। फोरियर तथा ओवन ने मनुष्य की नैतिकता तथा न्याय की भावना को गुदगुदाया, 'किन्तु मार्क्स ने उसे यह कह कर ठुकरा दिया कि इससे मानव जाति एक इञ्च भी आगे नहीं बढ़ सकती।' ऐसा करके मार्क्स निकृष्टतर रह जाता है। साम्यवादी जीवन पद्धति के दोषों की विवेचना अन्यत्र की जायेगी।

यदि मार्क्सवाद में ये सब, और कदाचित् इनसे भी कुछ अधिक, दोष पाये जाते हैं तो यह करोड़ों नर-नारियों को इतना उद्वेलित किस प्रकार कर पाया? इसमें कुछ गुण होने चाहियें। आइये उन पर दृष्टिपात करें।

यद्यपि हम इतिहास के भौतिकवादी निर्वचन को अपर्याप्त समझकर उसे अस्वीकार करते हैं, तथापि इतना हमें अवश्य स्वीकार करना चाहिये कि समस्त सामाजिक संस्थाओं में आर्थिक कारक के भाग पर जोर देकर मार्क्स ने सामाजिक शास्त्रों की महान् सेवा की है। जैसाकि हम पहिले ही कह चुके हैं, उसका सामाजिक शास्त्रों पर गहरा प्रभाव पड़ा है; पूर्व-मार्क्स सामाजिक सिद्धान्त पर लौट कर जाने का अब प्रश्न ही नहीं उठता। वैधानिक और राजनीतिक संस्थाओं तथा आर्थिक प्रणाली की अन्योन्याश्रितता को देखने के कारण वह उन्नीसवीं शताब्दी का सब से अधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक दार्शनिक बन गया है। एक शब्द में, उसका अर्थवाद, बावजूद अत्युक्ति के, सामाजिक विज्ञान की पद्धति में एक मूल्यवान प्रगति का सूचक है। दूसरी बात यह कि यद्यपि हम उसकी इस भविष्यवाणी को सत्य नहीं मानते कि

* Joad : *Modern Political Thought*, page 183.

समाजवाद निश्चित रूप से ही स्थापित होकर रहेगा— हो सकता है कि पूँजीवाद के विनाश के पश्चात् जो नवीन व्यवस्था स्थापित हो वह समाजवाद से भिन्न हो जैसा कि इटली में हुआ— तथापि इतनी बात तो स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि पूँजीवाद के सम्भावित भविष्य और गति को पहिले ही से देखकर, जोकि इसके समकालीन न देख पाये थे, मार्क्स ने सामाजिक प्रवृत्तियों की समझने की एक महान् और गहरी अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया। मार्क्स की यह धारणा निश्चित रूप से ही सही थी कि यद्यपि पूँजीवाद ने धनोत्पादन में बड़ी भारी वृद्धि की है और उत्पादन में वृद्धि की यह प्रवृत्ति जारी रहेगी, किन्तु वह अपने उस रूप में अधिक दिन तक जीवित नहीं रह सकता जिसमें कि वह उस समय पाया जाता था। उन्नीसवीं शताब्दी का निर्बाध पूँजीवाद अब इतिहास का विषय ही रह गया है, बीसवीं शताब्दी का पूँजीवाद उससे बहुत भिन्न है। इसमें राज्य हस्तक्षेप करता है, और वह श्रमिकों का शोषण अब उस प्रकार नहीं कर सकता जिस प्रकार की गत शताब्दी में कर सकता था। आज उसे संगठित श्रम से बरतना पड़ता है। मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त ने औद्योगिक श्रमिकों में महान् वर्ग-चेतना तथा एकता उत्पन्न कर दी है और वे अब अपने मालिकों को अपनी शर्तें मानने के लिए विवश कर सकते हैं। हमें यह भी मानना चाहिये कि मार्क्स के इस कथन में भी कि व्यापार चक्र (Trade Cycle) तथा अति उत्पादन (Over-production) और बेरोजगारी में घनिष्ठ सम्बन्ध है सत्य का अंश मौजूद है। उसकी यह भविष्यवाणी कि यांत्रिक उद्योग राष्ट्रीय सीमाओं तक ही परिमित नहीं रह सकता, वह विश्वव्यापी हो जायगा, सत्य सिद्ध हुआ है। अन्तिम बात यह है कि समस्या पर श्रमजीवी वर्ग के दृष्टिकोण से देखकर उसने समाजवाद के स्वरूप को ही बदल दिया; उसने उसे श्रमजीवी तथा वैज्ञानिक बना दिया।

यह सब कुछ सामाजिक विचार की एक महान् देन है। इसके कारण पश्चिम में समाजवाद के विकास में मार्क्स का एक ऊँचा स्थान निश्चित है। परन्तु यह इस बात का समुचित कारण नहीं है कि मार्क्स युवकों और युवतियों के हृदयों को आज इतना प्रभावित कर रहा है। मार्क्स की ओर वे उसकी वैज्ञानिक देन के कारण आकृष्ट नहीं होते, जिससे उसे यह ऐतिहासिक अमरता प्राप्त नहीं हो सकती थी जोकि उसे प्राप्त है; वे क्षुब्ध हैं मार्क्स के उस अथक संग्राम पर, जोकि उसने पूँजीवाद के अन्याय और अमानवता के विरुद्ध किया है। दलितों, पीड़ितों और शोषितों की सहायता करने की तीव्र इच्छा की अग्नि मार्क्स के हृदय में धधक रही थी; वह केवल बातों से नहीं बल्कि अपने कामों से उनकी सहायता करना चाहता था। इसलिए उसने अपनी प्रतिभा का प्रयोग उस चीज के तैयार करने के लिए किया जिसे कि वह ऐसे वैज्ञानिक शस्त्र समझता था जिनकी सहायता से दलित वर्ग दलन के विरुद्ध लड़ सकता था। यदि हम मार्क्स के साथ न्याय करना चाहते हैं तो हमें यह याद रखना चाहिये कि सामाजिक विज्ञान तथा सामाजिक दर्शन में मार्क्स का

अनुराग मूल रूप से व्यावहारिक था। यह उसकी इस घोषणा से सिद्ध होता है : 'दार्शनिकों ने संसार की व्याख्या करने की चेष्टा की है। किन्तु वास्तविक बात को उसे बदलना है।' वह ज्ञान को संसार को बदलने और मानव को उन्नति के पथ पर ले जाने का एक साधन समझता था।

शोषित श्रमिक-वर्ग की ओर से एक महान् योद्धा के रूप में मार्क्स की सफलता और लोकप्रियता उसके कुछ गुणों के कारण प्राप्त हुई। उसमें उत्तेजक वाक्य घड़ने की विलक्षण शक्ति थी जिनका उसके अनुयायी चातुर्यपूर्ण ढंग से प्रयोग करते थे। दीन के प्रति दया और धनाढ्य की निर्दयता पर अपने नैतिक विक्षोभ के कारण उसने पूँजीपतियों के विरुद्ध अरोपों की अग्नि-वर्षा की। उसका यह विश्वास, कि पूँजीवादी सभ्यता जर्जरित हो चुकी है और द्वन्द्ववादी भौतिकवाद के कारण निश्चित रूप से ही पूँजीवाद का विनाश होगा और समाजवाद की स्थापना होगी, इतना अटल और दृढ़ था जितना कि एक धार्मिक विश्वास होता है। मार्क्सवाद प्रायः एक धर्म ही बन गया; उसमें दीक्षित हो जाना एक धर्म-दीक्षा-सी हो गई और उसके अनुयायी मार्क्सवादी सिद्धान्त की सत्यता में अटल विश्वास रखने लगे। उसका पूँजीवाद का और सामाजिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण तथा उसका ऐतिहासिक विकास के नियमों का रहस्योद्घाटन केवल कुछ गिने चुने व्यक्तियों को ही आकृष्ट कर सकता था; समाजवाद का उपदेश उससे कुछ अधिक व्यक्तियों को आकृष्ट कर सकता था; किन्तु बहुत अधिक व्यक्तियों को नहीं। जिस बात ने मार्क्स को एक महान् सामाजिक शक्ति बनाया वह था उसमें सामाजिक, वैज्ञानिक तथा उपदेशक का सम्मिश्रण। वेपर के शब्दों में, 'उस उपदेश के, जोकि विश्लेषण होने का दावा कर सकता था, और उस विश्लेषण के, जिसमें कि मानव की तीव्रतम आवश्यकताओं के प्रति एक धार्मिक अनुराग था, सम्मिश्रण ने ऐसा उत्साह उत्पन्न कर दिया और उसके प्रति एक ऐसी तीव्र भक्ति उत्पन्न कर दी जिससे कि अन्तिम विजय का विश्वास दूर-दूर तक फैल गया।' मार्क्स को सफलता इसलिए मिली क्योंकि वह 'हिब्रियु धर्मावतार तथा राजनीतिक आर्थिक सिद्धान्त के वैज्ञानिक प्रतिपादक का एक विस्फोटक सम्मिश्रण था।'

सहायक पुस्तकों की भूमि

Cole : *The Meaning of Marx.*

Coker : *Recent Political Thought,* Chapter II.

Ebenstein : *Today's Isms,* Chapter I.

Emile Burns : *What is Marxism?*

Gray : *Socialist Tradition.*

Hunt, Carew : *The Theory and Practice of Communism,* Part I.

Laski : *Communism.*

Maxey : *Political Philosophies,* Chapter XXVII.

Popper : *The Open Society and Its Enemies,* Chapter XIII.

Sabine : *History of Political Theory,* Chapter XXXII.

Wayper : *Political Thought,* Chapter IV.